* ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन *

भाग १७ संख्या १ | नवम्बर १९४० | क्रमसंख्या ६३

प्रधान सम्पादक—

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल. (आक्सफोर्ड)

आफिसर अकेडेमी (फ्रांस)

सूचना—

सम्पादक लेखकों के लेख का उत्तरदाता नहीं होगा।

प्रकाशक—मि० सदीक अहमदखां

श्रीकृष्ण दीक्षित प्रिंटर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड, लाहौर ने मि० सदीक अहमद खां पब्लिशर ओरियण्टल कालेज लाहौर के लिये छापा।

॥ ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन ॥

विज्ञप्ति

उद्देश्य—इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य यह है कि प्राच्यविद्या सम्बन्धी परिशीलन वा तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जाय और विशेषतः उन विद्यार्थियों में अनुसन्धान का शौक पैदा किया जाए जो संस्कृत, हिन्दी और पञ्जाबी के अध्ययन में संलग्न हैं।

किस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करना अभीष्ट है—

यत्न किया जायेगा कि इस पत्रिका में ऐसे लेख प्रकाशित हों जो लेखक के अपने अनुसन्धान का फल हों। अन्य भाषाओं से उपयोगी लेखों का अनुवाद स्वीकार किया जायगा और संक्षिप्त तथा उपयोगी प्राचीन हस्तलेख भी क्रमशः प्रकाशित किए जायेंगे। ऐसे लेख जो विशेषतः इसी पत्रिका के लिए न लिखे गए हों, प्रकाशित न होंगे।

प्रकाशन का समय—

यह पत्रिका अभी साल में चार बार अर्थात् कालेज की पढ़ाई के साल के अनुसार नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्त में प्रकाशित होगी।

मूल्य—

इसका वार्षिक चन्दा ३) रुपये होगा विद्यार्थियों से केवल १॥।) लिया जायगा।

पत्र व्यवहार और चन्दा भेजना—

पत्रिका के खरीदने के विषय में पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना आदि प्रिंसिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर के नाम से होना चाहिये। लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नाम होने चाहिएं।

प्राप्ति स्थान—

यह पत्रिका ओरियण्टल कालेज लाहौर के दफ्तर से खरीदी जा सकती है।

पञ्जाबी विभाग के सम्पादक सरदार बलदेवसिंह बी. ए. हैं। वही इस विभाग के उत्तरदायी हैं।

विषय-सूची

यास्क और निर्वचन, भाषाविज्ञान तथा अर्थविज्ञान

[लेखक—लक्ष्मण स्वरूप एम० ए०, डी० फिल०; आफिसर एकेडमी (फ्रांस)]

(१) यास्क का भाषाविषयक ज्ञान

इससे पूर्व कि हम यास्क के निर्वचन अथवा भाषाविज्ञानविषयक सिद्धान्तों की विस्तार पूर्वक समालोचना करें, यह उचित प्रतीत होता है कि पहले इस बात को जान लिया जाय कि क्या यास्क इस काम को हाथ में लेने के लिए उचितरूप से योग्य भी था ? अर्थात् क्या उसे भाषा-शास्त्र के उपपन्न नियमों का ज्ञान भी था ? अथवा दूसरे शब्दों में, क्या उसने भाषा-विज्ञान-विषयक कोई शिक्षा भी प्राप्त की थी ? और यदि कोई शिक्षा प्राप्त की थी, तो वह किस प्रकार की थी ? इस समय प्राचीन भारत का इतिहास पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है और नां हीं भारतीय पूर्वजों के जीवनचरित्रसम्बन्धी साक्ष्य विद्यमान हैं। यदि प्राचीन इतिहास अथवा प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित्र लिखे भी गए हों तो वे नष्ट हो चुके हैं। अतः यास्क के जीवन और उसके समय के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हम यह भी नहीं जानते कि यास्क के समय में शिक्षा की पद्धति कैसी थी। ऐसे साक्ष्य के अभाव में यास्क की शिक्षा अथवा उसके भाषा-वैज्ञानिक नियमों के परिचय के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। फिर भी इस विषय पर प्रकाश डालने वाली इधर उधर बिखरी हुई उपादेय सामग्री को एकत्रित करके थोड़ा बहुत जो परोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उसी के लिए हमारा प्रयत्न है। निरुक्तमीमांसानामक लेख में हमने निरुक्तपाठ की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक इत्यादि के पाठ से तुलना की है। इस तुलना से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य से यास्क का परिचय बहुत विस्तृत है। निरुक्त में उदाहरणरूप से जो असंख्य अवतरण उद्धृत हुए हैं, उनसे निस्सन्देह प्रकट है कि यास्क ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शुक्लयजुर्वेद और उनके पदपाठ, तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता, काठकसंहिता, ऐतरेयब्राह्मण, गोपथब्राह्मण, कौषीतकिब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, प्रातिशाख्य और अनेक ग्रन्थों से परिचित था। इससे प्रकट है कि यास्क बहुश्रुत था। उसका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उसका ज्ञान अगाध था। दूसरे, यास्क ने अपने समय में प्रचलित बहुत से सम्प्रदायों का

उल्लेख किया है, कितने ही स्थलों में उनके सिद्धान्तों का विवरण भी दिया है और उनके मत की समालोचना की है। यास्क ने नैरुक्तों, वैयाकरणों एवम् प्राचीन और अर्वाचीन याज्ञिकों, पौराणिकों तथा नैदानों के सम्प्रदायों का परिचय दिया है। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती और समकालिक बहुत से विद्वानों का भी उल्लेख किया है और उनके सिद्धान्तों की समालोचना की है। इन सम्प्रदायों और विद्वानों की पूर्ण सूची परिशिष्ट में दे दी जायगी। प्रमुख २ विद्वानों तथा उनके मत का उल्लेख इस बात को सिद्ध करता है कि ये विद्वान् अपने २ विषय में विशेषज्ञ थे। इससे सूचित होता है कि उन्होंने अवश्य ही शिक्षा प्राप्त की होगी। उस समय शिक्षा की कोई न कोई पद्धति अवश्य ही प्रचलित रही होगी। यह बात भी स्वयं सिद्ध है कि उस समय शिक्षा केवल प्रारम्भिक अवस्था में ही न होगी अपितु उच्च कोटि की होगी। यह भी मानना पड़ेगा कि शिक्षापद्धति बहुत काल से चली आ रही होगी और यास्क के समय से शताब्दियों पहले से लोग यथाक्रम अध्ययन और विद्याभ्यास करते चले आ रहे होंगे। यदि अध्ययन और विद्याभ्यास का कोई विशेष क्रम बहुत समय से प्रचलित न होता तो भिन्न २ विषयों में विशेषज्ञों, सम्प्रदायों तथा उनके पक्षों और प्रतिपक्षों एवं विविध सिद्धान्तों के अस्तित्व की कल्पना करना कठिन है। किसी विशिष्ट शिक्षा-पद्धति के अभाव में विशेषज्ञ विद्वान् तथा सम्प्रदाय उत्पन्न ही नहीं हो सकते। विशेषज्ञ विद्वानों, अनेक सम्प्रदायों, तथा विविध सिद्धान्तों के अस्तित्व से हम निस्सङ्कोच अनुमान कर सकते है कि यास्क के समय किसी विशेष शिक्षा-पद्धति का अवश्य प्रचार था, और यास्क ने विविध सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय, या एक से अधिक सम्प्रदायों के शिक्षणालयों में अवश्य शिक्षा प्राप्त की होगी। यास्क न केवल अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना करता है अपितु वह दूसरे सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है, इससे प्रतीत होता है कि उसने दूसरे सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से भी सामान्य अथवा विशेष परिचय प्राप्त किया था। तीसरे यास्क ने प्रातिशाख्यों अर्थात् भाषा-विषयक शास्त्रों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इन प्रातिशाख्यों में उद्गमस्थान, प्रयत्न, उच्चारण, शब्द, विभक्ति, सन्धि, स्वर, भाषा-विश्लेषण इत्यादि विविध विषयों पर भारत के प्राचीन विद्वानों के द्वारा किए गए शिक्षासम्बन्धी-अनुसन्धान सर्वाङ्गपूर्णतया सुरक्षित हैं। इन ग्रन्थों के विषय में यास्क ने कहा है 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' (निरु० १. २०)। प्रातिशाख्यों में प्रतिपादित विषय से भी यास्क के कथन की पुष्टि होती है। इससे

स्पष्ट है कि पद-पाठ प्रातिशाख्यों से पहले विद्यमान था। पदपाठ में संहिता के प्रत्येक पद को उसकी विश्लिष्ट अवस्था में दिखलाया गया है, अर्थात् पदों की सन्धि तोड़ दी जाती है और इसी प्रकार समासों को उनके अवयवों में पृथक् २ खोल कर रख दिया जाता है। पद-पाठ इस बात का साक्षी है कि उसके निर्माण-काल में व्याकरण अथवा भाषा-विश्लेषण का ज्ञान भारत में उच्च कोटि पर पहुंच चुका था।

पद-पाठ के समय से लेकर यास्क के समय तक प्राचीन भारत में भाषा-विश्लेषक विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। यास्क के समय के आस पास तो भारतीयों के भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धानों में बहुत उन्नति हुई। इस उन्नति का केवल एक उदाहरण हम यहां देते हैं—वर्तमानयुग में योरुप ने अद्भुत, अपूर्व और आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उन्नति की है। इस उन्नति के होते हुए भी योरुप की भाषाओं के अक्षरों पर दृष्टि डालिए। अङ्गरेजी लिपि को ही लीजिए। A 'ए' के पीछे B 'बी' आता है, B 'बी' के पीछे C सी—इत्यादि। इस क्रम से स्पष्ट है कि स्वरों और व्यञ्जनों का परस्पर अवाञ्छनीय साङ्कर्य कर दिया गया है। 'बी' ओष्ठ्य है और 'सी' तालव्य। इसी प्रकार G 'जी' कण्ठ्य है और F. 'एफ' ओष्ठ्य। 'जी' के पहले 'एफ' आता है। अधिक विस्तार में न जाते हुए यह लिखना पर्याप्त होगा कि अन्य लिपियों में स्वर और व्यञ्जनों के इस अवैध सम्मिश्रण से उनके स्वतन्त्र स्वत्व की रक्षा नहीं की गई और व्यञ्जनों का उनके स्थान के अनुसार वर्गीकरण नहीं किया गया, नां हीं स्थानक्रम के अनुसार उनका सन्निवेश किया गया है। इसके विपरीत संस्कृत वर्णमाला में वर्णसाङ्कर्य नहीं है, स्वरों को व्यञ्जनों से पृथक् कर दिया गया है और व्यञ्जनों का यथास्थान तथा यथाक्रम सन्निवेश एवं वर्गीकरण किया गया है। वर्णों के जिस वैज्ञानिक अत एव शृङ्खलाबद्ध वर्गीकरण को बीसवीं सदी का वैज्ञानिक योरुप अभी तक नहीं कर सका वही सर्वतोभद्र वर्गीकरण यास्क से बहुत पहले भारत में हो चुका था। यास्क को भाषा-विज्ञान के विषय में उतनी योग्यता थी जितनी कि उस समय के पाण्डित्य के मानदण्ड के अनुसार प्रर्याप्त कही जा सकती थी। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि भाषा-विज्ञान के नियमों से यास्क का परिष्कृत परिचय है। निरुक्त में स्थान २ पर उसके गूढ़ ज्ञान की झलक दिखाई देती है। थोड़े से उदाहरण यहां दिए जाते हैं। शब्द के उपपादन के कारणों का दिग्दर्शन कराते समय यास्क कहते हैं:—

(१) उपधालोप, जैसे गम् धातु से जग्मु:।

(२) वर्णागम, जैसे असु धातु (फैंकना) से आस्थत्, वृ (ढकना) से द्वार, भ्रस्ज् (भूनना) से भरुजा: आदि २।

(३) वर्णविपर्यय,[1] जैसे श्चुतिर् धातु से स्तोक (विन्दु) कस् से सिकता, कृत् से तर्कु, आदि २ ।

(४) वर्णद्वयलोप, (Haplology) जैसे तृच्=त्रि+ऋच् अर्थात् तीन ऋचाएं ।[2] ये चारों नियम व्याकरण में भी लागू होते हैं ।

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे यह परिणाम निकलता है कि यास्क का अध्ययन बहुत विस्तृत और उसका ज्ञान अगाध था । उसने एक व्यवस्थित पद्धति से शिक्षा प्राप्त की थी और उसका भाषा-विज्ञान में अव्याहत प्रवेश था ।

जिस परिणाम पर हम पहुंचे हैं, उसकी पुष्टि एक और बात से भी होती है । यास्क द्वारा किए गए व्याख्यान वैज्ञानिक और युक्तियुक्त हैं । उनमें याज्ञिक और परिव्राजक सम्प्रदायों के व्याख्यानों की तरह काल्पनिक तथा भ्रमोत्पादक अंश नहीं है । उदाहरण के लिए, यास्क की वृत्र शब्द की व्याख्या को देखिए । वेदों के विषय में कौत्स के विषम तथा नास्तिक सिद्धान्त की समालोचना करते समय यास्क ने किसी प्रकार की भी धर्मान्धता या असहिष्णुता के लेश मात्र का भी समावेश नहीं होने दिया । उसने कौत्स के आक्षेपों का बड़ा युक्तिपूर्ण उत्तर दिया है । जब वह देवताओं के विषय में भी कुछ कहता है तो भी उसमें वैज्ञानिक चित्तवृत्ति पाई जाती है । उदाहरण के लिए, उसने देवताओं के कर्म, भक्ति और साहचर्य के अनुसार उनको विभिन्न वर्गों में विभक्त किया है, अर्थात् पृथिवी लोक के देवता, अन्तरिक्ष लोक के देवता, और द्युलोक के देवता, और प्रत्येक देवता के उसने कर्म और भक्ति का निर्देश किया है कि अमुक देवता का काम यह है और अमुक का वह । यास्क ने देवताओं के जो विभाग किए हैं, उनकी समानता किसी भी दूसरी जाति के धर्म-ग्रन्थों में नहीं मिलती। दूसरी बात यह है कि उसने समानार्थक और भिन्नार्थक, एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों का जो निरूपण किया है वह भी वैज्ञानिक है । पहले वह किसी शब्द का अर्थ बता देता है फिर प्रमाण के लिए किसी ऐसे अवतरण को उद्धृत करता है, (साधारणतया वह

१—संस्कृतलिपि के विषयविभाग के अनुसार अक्षर से स्वरों का तथा वर्ण से प्राय: व्यञ्जनों का तात्पर्य रहता है। अत: वर्णविपर्यय से व्यञ्जनपरिवर्तन का तात्पर्य है ।

२ निरुक्त २.१-२ में इस प्रकार के अनेक उपपादन तथा उदाहरण पाए जाते हैं। स्वयं यास्क द्वारा दिए गए उदाहरण ही यहां उद्धृत किए गए हैं । यास्क समीकरण (Assimilation) सिद्धान्त से भी परिचित हैं और निरुक्त ५. २४ में 'कुटस्य' की व्याख्या 'कृतस्य' से करते हुए उसने ऋग्वेद में प्राकृत के प्रभाव का एक उदाहरण भी दिया है ।

वैदिक-साहित्य को उद्धृत करता है) जिस में वह शब्द उस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। शब्दों के जो अर्थ यास्क ने किए हैं उनसे हम सहमत हों या न हों, यास्क से हमारा मत-भेद हो सकता है पर इस बात का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि यास्क की शैली वैज्ञानिक है। यद्यपि यास्क को हुए हज़ारों सदियां बीत गई हैं तथापि उसकी व्याख्यान-शैली में आश्चर्यजनक आधुनिकता पाई जाती है। इस वैज्ञानिक मनोवृत्ति का, जिसकी निरुक्त पर इतनी स्पष्ट और गहरी छाप लगी हुई है प्रादुर्भाव और विकास केवल वैज्ञानिक शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। यास्क के किसी प्राचीन जीवन-चरित्र के अभाव में ये थोड़े से शब्द इस बात को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होंगे कि निर्वचन-रीति में तथा साधारण भाषा-विज्ञान में यास्क एक विशेषज्ञ विद्वान् था और जो कार्य उसने अपने हाथ में लिया था उसके लिये उसमें असाधारण क्षमता थी।

(२) निर्वचन की आवश्यकता

पूर्व और पश्चिम के देशों में यास्क ही पहला विद्वान् है जिसने निर्वचन के नियमों की विवेचना की है। यास्क ही पहला लेखक है जिसने निर्वचन को एक शास्त्र का श्रेय दिया है और इसका वैज्ञानिक आधार माना है। भारत की प्राचीन परम्परा में निरुक्त चिरकाल तक एक ऐसा ग्रन्थ माना गया है जो विशेष रूप से निर्वचन के साथ सम्बन्ध रखता है॥ पर यास्क का महत्त्व इस परम्परा पर आश्रित नहीं। अपने निरुक्त में उसने निर्वचन के विषय में अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया है। उसने निर्वचन की आवश्यकता पर जो कुछ कहा है, वह चाहे अब बीसवीं शताब्दी में हमें बहुत सामान्य प्रतीत होता हो पर २५०० वर्ष पूर्व जब वे बातें पहले पहल कही गई थीं तो उनमें सम्भवतः बुद्धिमत्ता की वैसी ही पराकाष्ठा तथा गम्भीरता प्रतीत हुई होगी जैसी कि सन् १९१७ में आधुनिक राजनैतिक संसार के लिये प्रेजिडैण्ट विल्सन (President Wilson) के १४ सिद्धान्तों (Fourteen Points) में प्रतीत हुई थी। निर्वचन की आवश्यकता पर जो कुछ यास्क ने कहा है उसको संक्षेप से यों कहा जा सकता है।

(१) वेद के अर्थ को ठीक २ समझने के लिये निर्वचन आवश्यक है।

(२) निर्वचन एक विज्ञान है, जो कि व्याकरण का पूरक होते हुए भी साहित्य में अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

(३) संहितापाठ को पदपाठ में परिवर्तित करने के लिये और पदों को उनके अवयवों में विश्लेषण करने के लिए निर्वचन आवश्यक है।

(४) निर्वचन में व्यावहारिक उपयोगिता भी है यदि किसी मन्त्र में एक से अधिक देवताओं के लिङ्ग-विशेष पाए जाते हों तो निर्वचन से इस बात का पता लगता है कि मन्त्र में प्रधान देवता कौन है । इस प्रकार यज्ञ को निर्दोषता पूर्वक यथार्थ रीति से पूर्ण करने में निर्वचन सहायता देता है ।

(५) निर्वचन एक विज्ञान है । विद्वानों को विज्ञान-प्रेम के लिए ही इसका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि वेद में ज्ञान की प्रशंसा, और अज्ञान की निन्दा की गई है[1] ।

(३) निर्वचन के नियम

भाषा के विषय में यास्क का मुख्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से उत्पन्न हुआ है। अत: निर्वचन द्वारा प्रत्येक शब्द का उसके आधार-भूत अवयवों में विश्लेषण किया जा सकता है। इन आधारभूत अवयवों को ही यास्क धातु कहता है। इस प्रधान नियम की नींव पर यास्क ने निर्वचन-शास्त्र का निर्माण किया है । उसके मतानुसार एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिसका निर्वचन न किया जा सके। इस लिए उसने कहा है—

निर्वचन का पहला सामान्य नियम यह है कि जिन शब्दों में स्वर और व्याकरण-विहित संस्कार ठीक हैं और जिनमें मौलिक धातुओं का विकार भी विद्यमान हैं, अर्थात् जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग सुगम है,जैसे कि शब्दशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार पाचक शब्द का पच् धातु से, या पाठक का पठ् धातु से, या बोध का बुध् धातु से, या भेद का भिद् धातु से निर्वचन करने पर किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती, अत: ऐसे शब्दों का साधारण रीति से निर्वचन कर देना चाहिए । यह बात ध्यान देने योग्य है कि यास्क ने स्वर की आवश्यकता समझी है और अपने नियमों में उसको उचित स्थान दिया है। यह स्पष्ट है कि यह सामान्य नियम बहुत ही सङ्कुचित तथा परिमित क्षेत्र में काम में लाया जा सकता है, क्योंकि शब्दों की बहुत थोड़ी संख्या ऐसी होती है जिसमें स्वर संस्कार यथार्थ हों तथा धातुज विकार अर्थात् तत्सम्बन्धी धातु के प्रतीक स्पष्टतया विद्यमान हों । यास्क ने आगे चल कर कहा है कि व्याकरणविहित संस्कारों को अनुचित महत्ता नहीं देनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति के नियमों की तरह व्याकरण के नियम सर्वव्यापी नहीं होते, और उनमें बहुत से अपवाद होते हैं । साथ यह भी कहा है कि हमें शब्द-शास्त्र को भी ध्यान में रखना चाहिए और उपधालोप, वर्णागम,

---

१. निरुक्त १. १५-१७.

वर्णविपर्यय, द्विवर्णलोप, और समीकरण जैसे अपवादों को भी न भूलना चाहिए। यह पहला नियम मुख्यार्थवाची शब्दों की व्युत्पत्ति में सहायक है। यास्क द्वारा प्रतिपादित निर्वचन का दूसरा नियम यह है कि यदि किसी शब्द के स्वर और व्याकरणविहित संस्कार यथार्थ न हों और धातुज विकार भी उसमें न पाया जाता हो तो प्रधानतया अर्थ के आधार पर, उस शब्द का उपपादन कर देना चाहिए। ऐसे उपपादन के समय वृत्ति-(शास्त्रप्रवृत्ति)-सामान्य विशेष उपकारक है। वृत्तिसामान्य से यहां पर अर्थसादृश्य का भी अभिप्राय है। अर्थात् ऐसे स्थलों में शब्द की उपपत्ति इष्ट अर्थ से भिन्न तथा अप्रयुक्त अर्थ को ही सङ्केतित करती है किन्तु उस इष्ट अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का कारण अर्थसादृश्य होता है। जैसे कि 'कुशल' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग होता है, उसमें न तो स्वर तथा संस्कार ही अनुकूल हैं और नां ही तदनुकूल कोई धातु प्रतीत होती है अतः यहां कुशल शब्द की उपपत्ति तो 'कुशान् लाति' इस प्रकार उस शब्द के स्वरसंस्कारानुरोध से कर देनी चाहिए और इष्ट अर्थ में प्रयोग के लिए अर्थसादृश्य का अवलम्बन करना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार पैनी पैनो तथा शरसङ्कीर्ण कुशाओं के लाने वाले के लिए विवेक की आवश्यकता है (जरा सी असावधानता से उसकी अंगुली कट सकती है अथवा कुशा के स्थान में सरकण्डा आ सकता है) इसी प्रकार जो विषम समस्याओं को भी सरलता से तथा सफलता से कर दिखाता है, उस अलङ्कर्मीण को कुशल कहते हैं। अतः ऐसे ऐसे लाक्षणिक शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए यह दूसरा प्रकार है। यद्यपि ऐसे ऐसे शब्दों में अनेक शब्द ऐसे मिलते हैं जिनमें किसी भी अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए भी युक्तियुक्त व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती, तथापि ऐसे स्थलों में भी अशक्ति नहीं दिखानी चाहिए, उस शब्द के किसी न किसी स्वर अथवा व्यञ्जन की सहायता से ही उसका उपपादन कर देना चाहिये। वस्तुतः ऐसे ऐसे शब्दों के लिए ही निरुक्त की आवश्यकता है। इस प्रकार के उदाहरण निरुक्त में पर्याप्त प्राप्त होते हैं। 'कम्बोजाः' 'कम्बलभोजाः कमनीयभोजा वा' 'कम्बलः कमनीयो (प्रार्थनीयो) भवति (शीतार्तैः) अथवा 'शृङ्गं श्रयतेर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेर्वा' शृङ्ग का पहला निर्वचन केवल व्यञ्जनसाम्य से किया गया है, दूसरा स्वरव्यञ्जनसाम्य से और तीसरा व्यञ्जनद्वयसाम्य से।

इस प्रकार यास्क के नियम के अनुसार dois, du, doive, dusse आदि शब्दों का devoir 'to owe' से निर्वचन करते समय अथवा इष्टि (यज्ञ) का यज् धातु से निर्वचन करते समय उनकी बाह्य आकृति की असमानता से डरकर हमें सङ्कोच नहीं होना चाहिये। तुलनात्मक भाषाविज्ञान बहुत से ऐसे उत्तम

उदाहरण देता है जिनसे यास्क का यह नियम स्पष्ट हो जाता है। शब्दों के परिष्कृत परिवर्धित या प्रचलित तथा उनके मौलिक रूप में प्राय: भेद हो ही जाता है यहां तक कि कभी २ तो कुछ भी या किसी प्रकार की भी समानता नहीं रहती। (यथा, अस्ते:=एधि, भविता, इत्यादि) उदाहरण के तौर पर इण्डो-यूरोपियन Penqe; के योरुप तथा ऐशिया की भाषाओं में विविध रूप देखिए:— संस्कृत पञ्च; जैदं० पञ्चन्; ग्रीक πέντε; लैटिन quinque; लिथु० penke; गौथिक fimf; जर्मन fünf; OE fif; इङ्गलिश five. इन रूपों में परस्पर बहुत थोड़ी समानता है पर ये सब रूप एक ही शब्द से बने हैं। इसी तरह फ्रैञ्च (French) शब्द Larme और इङ्गलिश-शब्द tear में केवल रेफ की ही समानता है। ये दोनों शब्द अपने मौलिक रूप *dakru से सर्वथा भिन्न हैं। *dakru शब्द एङ्गलो-सैक्शन (Anglo Saxon) रूप में tear बन गया और प्राचीन लैटिन में dacru हो गया। इङ्गलिश शब्द ewe और लैटिन ovis में कुछ भी समानता नहीं है, पर दोनों ने ही अपने मौलिक शब्द *owis का कुछ भाग एकान्तत: सुरक्षित रखा है। इङ्गलिश four, जर्मन vier शब्दों की ग्रीक शब्द τέτταρες के साथ रेफ में ही समानता है। इङ्गलिश quick (अर्थ 'alive') की ग्रीक Bίos (Life) के साथ केवल ईकार में ही समानता है। इङ्गलिश Sit और ग्रीक hed (ἕδρα, 'Seat') में कोई समानता नहीं है, और दोनों में से प्रत्येक शब्द ने मौलिक शब्द *Sed का एक ऐकान्तिक भाग सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द की तुलना कीजिये—

इण्डो-यूरोपियन *ghans; संस्कृत haṃsa; ग्रीक χήν; लैटिन anser (hanser के स्थान में); जर्मन Gans; OE. gos इङ्गलिश goose एक ही शब्द के भिन्न २ भाषाओं में कैसे रूपान्तर हो गए हैं और उन में कितना भेद हो गया है।

पर यदि कोई अनाड़ी इस नियम का प्रयोग करने लगे तो परिणाम बड़ा हास्यजनक निकलता है। निरुक्त में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जैसे शाकटायन द्वारा किया गया सत्य शब्द का निर्वचन। उसने सत्य शब्द का 'य' 'इ' धातु के ण्यन्त रूप से लिया है, और 'सत' को अस् भुवि धातु से लिया है। किन्तु यास्क को यह भली भांति मालूम था कि इस नियम का दुरुपयोग किया जा सकता है। अत: उसने इस नियम के दुरुपयोग को रोकने के लिए यह चेतावनी दी कि प्रकरणभ्रष्ट अकेले शब्दों का इस प्रकार-निर्वचन नहीं करना चाहिए।

प्रकरण के बिना किसी एक शब्द का ठीक २ अर्थ जानना प्रायः कठिन हो जाता है और बिना अर्थ को जाने निर्वचन ठीक २ नहीं होता। यास्क ने यह भी निर्देश किया है कि निर्वचन-शास्त्र का व्याख्यान ऐसे पुरुष के प्रति कभी नहीं करना चाहिए जो पुरुष व्याकरण से अनभिज्ञ हो जिसने व्याकरण का अच्छी तरह अध्ययन न किया हो। इसी प्रकार जिसने अन्तेवासी शिष्य के रूप में निर्वचन-शास्त्र का अध्ययन न किया हो उसके लिए भी निर्वचनशास्त्र का निषेध कर दिया है। यास्क ने कहा है कि व्याकरण के पण्डित, बुद्धिमान्, परिश्रमी, अतएव निर्वचन समझने की शक्ति रखने वाले अपने अन्तेवासी शिष्य के प्रति तो अवश्य ही निर्वचनशास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए। (नि० २. ३)

यास्क ने निर्वचन का तीसरा नियम यह निर्णीत किया है कि शब्दों के भिन्न भिन्न निर्वचन उनके भिन्न २ अर्थ के अनुसार करने चाहिएँ 'यथार्थं निर्वक्तव्यानि' यदि उनके अनेक अर्थ हों तो निर्वचन भी अनेक होने चाहिएँ, यदि अर्थ समान हों तो निर्वचन भी समान होने चाहिएँ। N. 2. 7.

वास्तव में यह एक सार्वदेशिक नियम है। प्रत्येक भाषा में ऐसे श्लिष्ट शब्द पाए जाते हैं जो बाह्य आकार में समान होते हैं पर जिनका मूल उद्गम-स्थान भिन्न २ होता है। संस्कृत में बहुत से शब्द समान-रूप हैं पर वे भिन्न २ धातुओं से निष्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिये देखिए:—

	शब्द	मूल प्रकृति		अर्थ
१.	अक्त	अज्	धातु से निष्पन्न	प्रेरित (वाहित)
२.	,,	अञ्जु	,, ,, ,,	लिप्त
१.	अज	अज्	,, ,, ,,	चलने वाला (बकरा)
२.	,, (नञ्स०)	न, जनी	,, ,, ,,	अजन्मा
१.	अनिष्ट ,,	न, इषु	,, ,, ,,	अनिच्छित
२.	,, ,,	,, यज्	,, ,, ,,	अविहित (यज्ञ)
१.	अनुदार (नञ्स०)	न,उत् ऋ	,, ,, ,,	कृपण (कञ्जूस)
२.	,, (गतिस०)	अनु दृ	,, ,, ,,	भार्यानुयायी
१.	अपवन (नञ्स०)	न, पूञ्	,, ,, ,,	निर्वात (पवन रहित)
२.	,, (गतिस०)	अप वन्	,, ,, ,,	(उपवन) वन से अपगत Rarely
१.	अवसान (नञ्स०)	न, वस्	,, ,, ,,	अपरिहित वस्त्र
२.	,, (गतिस०)	अव षो	,, ,, ,,	(विश्रामगृह) विराम

उदाहरण तो असंख्य दिए जा सकते हैं पर यास्क के नियम को समझाने के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसे शब्दों का निर्वचन उनके अर्थ का आश्रय लेकर ही किया जा सकता है। जब किसी शब्द का एक से अधिक मौलिक उद्गम स्थानों से निर्वचन हो सकता हो और निर्वचन करते समय अर्थ को आधार न बनाया जाय तो अयथार्थ निर्वचन की सम्भावना बनी रहती है अत: यास्क का यह नियम सारगर्भित और युक्तियुक्त है। यास्क के इस नियम की विवेचना में केवल एक ही बात कही जा सकती है—वह यह कि कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं जिनका मौलिक उद्गम स्थान तो समान ही होता है, पर अर्थ भिन्न भिन्न हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, लैटिन cup (cupido) 'इच्छा करना' और संस्कृत कुप् 'क्रोध करना' एक ही मूल स्थान से निकलते हैं, पर इनके अर्थों में भेद हो गया है। यास्क के पूर्वनिर्दिष्ट नियम के अनुसार यदि अर्थ भिन्न हो तो निर्वचन भी भिन्न होना चाहिए—लैटिन 'cup' और संस्कृत 'कुप्' के भिन्न २ निर्वचन होने चाहिएँ पर ऐसा नहीं है। अर्थ में भेद होते हुए भी निर्वचन समान है। निम्नलिखित शब्दों की तुलना कीजिए:—

इण्डो-यूरोपियन Klutós; संस्कृत Śrutás; ग्रीक Kλvtós; लैटिन (in) clutus; OE. hlūd; इङ्गलिश Loud. यद्यपि इनके अर्थों में भेद है तथापि निर्वचन समान है। यास्क संस्कृत के अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं जानता था अत: उसक दृष्टिकोण एक ही भाषा के ज्ञान से सीमित था। पर फिर भी उसको संस्कृत भाषा के दो स्वरूपों, अर्थात् वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत, जो कि ऐतिहासिक रूप से वैदिक संस्कृत का ही परिष्कृत तथा संशोधित रूपान्तर है, से परिचय था। वैदिक संस्कृत और लौकिक-संस्कृत—इन दोनों भाषाओं में एक दूसरी के प्रति वही सम्बन्ध है जो प्राचीन यूनानी भाषा के आओनिक (Ionic) और ऐटिक (Attic) रूपान्तरों में दिखाई देता है। इस ऐतिहासिक विकास के परिचय के कारण यास्क का भाषा-विज्ञान बहुत गहरा हो गया था, विशेष कर उन विद्वानों की अपेक्षा जिनको इस प्रकार के ऐतिहासिक विकास का पूर्णतया ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिए, क्रेटिलस् (Cratylus) में ऐसा कोई भी सन्दर्भ नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि प्लेटो (Plato) को इस बात का पता था कि ऐटिक (Attic) ऐतिहासिक रूप से आओनिक (Ionic) भाषा का ही परिष्कृत रूपान्तर है। इसके विरुद्ध निम्नलिखित सन्दर्भ इस बात को सूचित करता है कि प्लेटो (Plato) को किसी ऐसे ऐतिहासिक विकास का ज्ञान नहीं था।

(४) निर्वचन पर प्लेटो (Plato) का मत।

सोक्रेटीज़ (Soctrates):-'हां, मेरे प्रिय मित्र, पर तुम जानते हो कि लोगों ने बहुत समय पहले प्रारम्भिक अभिधानों को लुप्त कर दिया है और उनके रूपों में परिवर्तन कर दिया है। मधुर स्वर के लिए लोगों ने शब्दों में कुछ अक्षर जोड़ दिए हैं और कुछ अक्षर उन शब्दों में से निकाल लिए हैं, तथा प्रत्येक प्रकार से उन्हें तोड़-मरोड़ दिया है और उन्हें कृत्रिम शोभाडम्बर से अलङ्कृत कर दिया है..........और उन शब्दों में जो संवर्धन किए गए हैं वह ऐसे हैं कि अन्त में कोई भी मनुष्य सम्भवतः उन शब्दों का प्रारम्भिक अर्थ मालूम नहीं कर सकता''[१]। प्लेटो (Plato) इस बात को भी स्वीकार नहीं करता कि निर्वचन का कोई वैज्ञानिक आधार है। वह निर्वचन का कोई व्यवस्थित आधार बल्कि किसी प्रकार का आधार भी नहीं मानता। प्रतीत होता है कि उसे यह ज्ञात नहीं था कि शब्दों की व्युत्पत्ति कुछ सामान्य नियमों द्वारा नियन्त्रित की जा सकती है। पूर्वोक्त कथन का समर्थन निम्नलिखित अवतरण से भी होता है—**सोक्रेटीज़ः**-'अब मेरी ओर ध्यान दो, और पहले स्मरण रखो कि हम प्रायः शब्दों में कुछ अक्षर रख देते हैं और कुछ अक्षर उनमें से निकाल लेते हैं, और जैसे हमें अच्छा लगता है वैसे अभिधान रख देते हैं और स्वरों को बदल देते हैं'[२]। यह स्पष्ट ही है कि प्लेटो स्वर को बहुत आवश्यक नहीं समझता। निम्नलिखित सन्दर्भ में केवल एक ही नियम, जिसे कठिनता से नियम कहा जा सकता है, पाया जाता है—**सोक्रेटीज़ः**-'और किसी अभिधान के अक्षर चाहे भिन्न हों अथवा अभिन्न हों यदि अर्थ सुरक्षित रहा हो तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, नां ही किसी अक्षर को बढ़ा देने से या घटा देने से किसी प्रकार का तब तक अन्तर पड़ता है जब तक कि वस्तु का तत्त्व अभिधान पर अपना अधिकार रखता है और उसमें प्रतीत होता रहता है'[३]।

क्रेटिलस् (Cratylus) से उद्धृत किए हुए ये तीन अवतरण इस बात को सूचित करते हैं कि प्लेटो (Plato) के लिए निर्वचन केवल व्यक्तिगत कल्पना का अभ्यास-क्षेत्र था। प्लेटो के इन हास्य-जनक विचारों को पढ़ कर ही फ्रांस देश के सुप्रसिद्ध लेखक वोल्तेर (Voltaire) ने निर्वचन का व्यङ्गयपूर्ण परिहास किया था। उसने कहा है (Etymology is a science in which vowels count for nothing, and consonants for very little,' अर्थात् 'निर्वचन एक

१. Jowett, Dialogues of Plato (3rd ed.) Vol.I, p. 358.
२. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ ३४१ ३. पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठ ३२५।

ऐसा विज्ञान है जिसमें स्वरों की तो कोई पूछ ही नहीं, और व्यञ्जनों की बहुत थोड़ी'। प्लेटो के मत का खण्डन एक प्रकार से मैक्स मूलर ने एक प्रसिद्ध वाक्य के द्वारा कर दिया। वह वाक्य है—A sound etymology has nothing to do with sound, अर्थात् 'शब्दों के यथार्थ निर्वचन का शब्द-मात्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता'। यास्क और प्लेटो (Plato) में पृथिवी और आकाश का अन्तर है। यास्क को शब्दों के धातु उपसर्ग और प्रत्ययों का ज्ञान था। विश्लेषण द्वारा वह शब्दों को धातु उपसर्ग प्रत्यय आदि में पृथक् २ करने की शक्ति रखता था। वह शब्दों के मौलिक और अमौलिक अंशों को जानता था। इसी लिए वह इस योग्य हुआ कि वह शब्दों को उनके अवयवों में पृथक् २ विश्लेषण करने के लिए साधारण नियम बना सका। प्लेटो को इन अवयवों का ज्ञान न था। फल यह हुआ कि उसने केवल कल्पना को निर्वचन का आधार बना दिया। यह भी कहा जाता है कि संस्कृत भाषा ग्रीक भाषा की अपेक्षा अधिक स्फुट तथा विशद है। अत: संस्कृत भाषा का व्याकरण ग्रीक भाषा की अपेक्षा अधिक सुगम है। इसके अतिरिक्त यास्क को यह लाभ था कि उसे यह विद्या परम्परा से प्राप्त हुई थी। यास्क के बहुत से पूर्ववर्ती विद्वानों ने अतिप्राचीन समय में ही इस विज्ञान का अनुसन्धान कर लिया था। पर यास्क की महत्ता इस बात में है—कि—सारे संसार मे वह पहला विद्वान् है जिसने निर्वचन को एक स्वतन्त्र विद्या का स्थान दिया जिसने निर्वचन के लिए साधारण नियम बनाए और इस प्रकार निर्वचन को एक वैज्ञानिक नींव पर खड़ा किया।

(५) यास्क के भाषाविषयक विचार।

मनुष्य को अपने भावों को प्रकट करने के लिए प्रकृति ने भिन्न २ साधन दिए हैं। एक साधन है—शरीर की चेष्टाएं, हाथ पैर आंख के इशारे तथा सङ्केत-इन के द्वारा भी भाव प्रकट किए जा सकते हैं। दूसरा साधन है—भाषा। अब प्रश्न पैदा होता है कि भाव प्रकट करने के लिये इशारों तथा सङ्केतों की अपेक्षा भाषा की क्या उपयोगिता है? इस विषय में यास्क ने दो सूत्ररूप वाक्यों में अपने मत का प्रतिपादन किया है। वह कहता है कि संसार में लौकिक व्यवहार के लिए वस्तुओं का निर्देश शब्दों के द्वारा किया जाता है। शब्द व्यापक होते हैं इस लिए उनका प्रयोग किया जाता है[1]। यास्क ने 'व्याप्तिमत्त्वात्' शब्द का प्रयोग किया है। निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य ने 'व्याप्तिमत्त्व' शब्द की व्याख्या, उच्चारित शब्द की सत्ता के द्वारा अर्थ समझने में जिस मनोविज्ञान-विषयक प्रवृत्ति का समावेश रहता है, उसके उद्देश से की है। दुर्ग कहता है कि

---

1 नि० १. २.

मनुष्य के अन्त:करण में ज्ञान के दो रूप हैं, व्यक्त और अव्यक्त। जब कोई मनुष्य व्यक्त ज्ञान को प्रकट करना चाहता है तो उसके प्रयत्न का यह परिणाम होता है कि उसका श्वास बाहिर निकलता है। यह श्वास विविध वर्णोत्पत्ति स्थानों से टकराता हुआ शब्द को पैदा करता है। यह शब्द सुनने वाले के अव्यक्त ज्ञान को व्याप्त करता है, और अव्यक्त को व्यक्त बना देता है। इस तरह शब्द के द्वारा अर्थ का ग्रहण किया जाता है'। भाषाविज्ञान की परिभाषा में इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव अन्त:करण के आवृत चेतन पटल पर स्थायी शब्दाकृतियां रहती हैं। स्फुट उच्चरित शब्दों के द्वारा ये शब्दाकृतियां आवृत अवस्था से अनावृत अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। यहां यह आक्षेप किया जा सकता है कि चाहे मानसशास्त्रविषयक कोई भी प्रवृत्ति हो, शब्द का सबसे बड़ा प्रयोजन अर्थ को प्रकट करना और उस अर्थ को दूसरे तक पहुंचाना है। यह प्रयोजन सङ्केत आदि साधनों के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। तो भावावबोधन का महत्त्व भाषा को ही क्यों दिया जाए? यास्क ने मानो इस आक्षेप को पहले ही से जान लिया था। इस आक्षेप के उत्तर में उसने अपने सूत्र में 'अणीयस्त्वाच्च' (अति सूक्ष्म होने के कारण) शब्द जोड़ दिया है। दुर्ग ने इस पर निम्नलिखित व्याख्या की है—'हाथों की चेष्टायें, नेत्रों का निमेषोन्मेष आदिक भी व्यापक हैं। वे अर्थ को प्रकट कर देते हैं। अर्थावबोध के इस प्रकार को स्वीकार कर लेने पर हम व्याकरण और महाकाय वैदिक साहित्य के अनुशीलन के कष्ट से भी बच जाएँगे। **समाधान** - यह ठीक है कि सङ्केत आदिक भी व्यापक हैं, पर वे अतिसूक्ष्म नहीं हैं, अर्थात् सङ्केत आदि के करने में एक तो परिश्रम अधिक करना पड़ता है और दूसरे वे सर्वदा अनिश्चित होते हैं'। 'व्याप्तिमत्त्व' शब्द की दुर्ग ने जो लम्बी चौड़ी व्याख्या की है, यदि उसकी उपेक्षा भी कर दें, तो भी यास्क के सूत्र का साधारणतया यही अर्थ निकलता है कि संसार का दैनिक व्यवहार चलाने के लिए शब्दों का उपयोग इस लिए किया जाता है कि वे प्रत्येक प्रकार के अर्थ को समानतया प्रकट कर सकते हैं और साथ ही शब्दों के अर्थ में जो परस्पर सूक्ष्म भेद रहता है उसको भी सूचित कर देते हैं। दूसरे साधनों की अपेक्षा शब्द के उच्चारण करने में थोड़ा यत्न करना पड़ता है। अथच प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने के लिए अनुरूप सङ्केत किए भी नहीं जा सकते। इस बात में किसी प्रकार का सन्देह प्रतीत नहीं होता कि उपरिलिखित सूत्र को लिखते समय यास्क के मन में सङ्केत आदिक के द्वारा भावों को प्रकट करने का दूसरा विकल्प भी विद्यमान था। यास्क की इस युक्ति में आश्चर्यजनक आधुनिकता पाई जाती

---

२ नि० १. २. पर दुर्ग-भाष्य।

है क सङ्केत आदिक की अपेक्षा शब्दों का अधिक आदर इस लिए किया जाता है कि उनमें प्रयास (Economy of effort) का व्यय परिमित होता है।

(६) भाषा की उत्पत्ति।

यास्क नैरुक्त-सम्प्रदाय का अनुयायी है। इस सम्प्रदाय का मौलिक सिद्धान्त है कि प्रत्येक शब्द का निर्वचन किया जा सकता है। गार्ग्य और कुछ वैयाकरण उसके साथ सहमत नहीं हैं। पर शाकटायन और कुछ वैयाकरण भी इस सिद्धान्त को मानते हैं[1]। कुछ शब्द अनुकरण मात्र से बने हैं जैसे झणझणायमान, काक इत्यादि। ऐसे अनुकृत शब्दों के निर्वचन पर भी निरुक्त में विचार किया गया है[2]। औपमन्यव अनुकृत शब्दों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, पर यास्क के मत में कुछ ऐसे शब्द अवश्य हैं जो केवल प्रकृति की ध्वनियों के अनुकरण पर बनाए गए हैं। ऐसे शब्द प्रायः पक्षिओं के नाम होते हैं, जैसे कि कौवा, तीतर आदि २। पर साथ ही यास्क यह भी मानता है कि ऐसे शब्दों का भी निर्वचन किया जा सकता। ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण निरुक्त में पाए जाते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रकरण में उसने 'कोकिल' का उल्लेख नहीं किया। पक्षिओं के नामों के अतिरिक्त, उसके मत में निम्नलिखित शब्द भी अनुकरण द्वारा बनाए गए हैं। कितव[3] 'जुआरी', दुन्दुभि[4] 'ढोल', चिश्चाकृणोति[5] 'चिश्चित् शब्द करता है', कृकवाकु (कुक्कड़) का 'कृक'[6] यह पूर्व भाग। यास्क के मतानुसार, अनुकरणवाची शब्द भाषा के निर्माण में कोई आवश्यक भाग नहीं लेते। अतः उसने 'Bow-wow' वाले सिद्धान्त का निराकरण कर दिया है[7]। यास्क प्रत्येक शब्द को मौलिक धातुओं तक ले जाता है, अतः हम उसे आख्यातजत्ववाद का अनुयायी कह सकते हैं।

यहां फिर प्लेटो (Plato) और यास्क के मत में भेद आ जाता है। क्रेटिलस् (Cratylus) में प्लेटो (Plato) ने प्राकृतिक पदार्थों की ध्वनिओं से शब्दों की ध्वनिओं का मूल ढूंढने का यत्न करते हुए भाषा के निर्माण में ध्वन्यनुकरण को एक आवश्यक साधन माना है। प्लेटो के इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि प्राचीनतम समाज अर्थात् सृष्टि के आदि के मनुष्यों का 'गुहा' 'गढ़ा' 'वृक्ष' आदिक जिन पदार्थों से अधिक परिचय पाया जाता है उन पदार्थों के नाम

---

१. नि० १. १२. २. नि० ३. १०. ३. नि० ५. २२. ४. नि० ६. १२. ५. नि० ६. १४. ६. नि० २. १३. ७. मैक्समूलर Science of Language, भाग १, पृष्ठ, ४०७-१७।

में प्रकृति की ध्वनि का कोई अनुकरण नहीं पाया जाता। 'खोदने वाला' 'बुनने वाला' शब्दों में अनुकरण की सम्भावना हो सकती है पर इन शब्दों का संसार की प्रारम्भिक अवस्था में प्रादुर्भाव नहीं हुआ, ऐसे शब्द सभ्यता की विकसित अवस्था को लक्षित करते हैं[1]। इस लिए भाषा की उत्पत्ति में अनुकरण का विशेष महत्त्व नहीं हो सकता।

(७) शब्दों के भेद

यास्क ने कहा है कि शब्द चार प्रकार के होते हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात[2]। ऊपर की दृष्टि से देखने से इस बात पर आश्चर्य होता है कि यास्क जैसा एक प्राचीन विद्वान् उपसर्गों को तो शब्दों का एक विभाग माने और क्रियाविशेषणों की उपेक्षा कर दे। भाषा के विकास के इतिहास में उपसर्गों की अपेक्षा क्रियाविशेषणों का प्रादुर्भाव प्राचीनतर है। साधारणतया उपसर्गों का प्रयोग कारक-सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए होता है जैसे 'मेरे हाथ में पुस्तक है'—इस वाक्य में 'में' उपसर्ग है। यही प्रकार अंग्रेजी भाषा में है 'The book is in my hand'. इस वाक्य में 'in' उपसर्ग है। इन उपसर्गों का प्रादुर्भाव भाषा के क्रम में बहुत पीछे हुआ है। पर इस प्रकरण में यह नहीं भूलना चाहिए कि संस्कृत में कारक-सम्बन्ध विभक्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। जिसको संस्कृत में उपसर्ग कहते हैं उनका अधिकतर प्रयोग क्रिया विशेषण के तौर पर ही होता है। इसी लिए यास्ककृत शब्दों का विभाग ठीक है। यास्ककृत शब्दों के इस विभाग की तुलना हालिकारनासस (Halicarnassus) के डायोनिसियस (Dionysius) के निम्नलिखित शब्दों के साथ की जा सकती है। इन शब्दों में डायोनिसियस ने बतलाया है कि एरिस्टोटल (Aristotle) ने भी शब्दों का इसी प्रकार का विभाग किया था। डायोनिसियस ने लिखा है—'थीओडैक्टीज़ (Theodectes) एरिस्टोटल (Aristotle) और उस समय के दार्शनिक लोगों ने शब्दों को केवल तीन प्रकार का ही माना है। उनके मत में शब्दों के प्रधान भाग नाम, आख्यात, और संयोजक ही थे। उनके पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने, विशेषत: स्टोयिक (Stoic) सम्प्रदाय के नेताओं ने संयोजक से उपपद (article) को पृथक् करके शब्दों की संख्या चार तक पहुंचा दी[3]। एरिस्टोटल (Aristotle) के अनुसार यदि भाषा के सब अङ्गों का निरीक्षण करें तो पता लगता है कि भाषा निम्नलिखित अवयवों से बनी है:—

---

१. मैक्समूलर भी देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट। २. नि० १. १. ३. Literary Composition अध्याय ३, राबर्ट्स (Roberts) का संस्करण पृष्ठ ७१।

अक्षर वर्ण, उपपद (article), नाम, आख्यात कारक और शब्द ।[1]

(८) नाम और आख्यात का एरिस्टोटल (Aristotle) कृत लक्षण

यास्क ने नाम और आख्यात की निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या की है:—आख्यात वह है जिसमें भावप्रधान हो, और नाम वह है जिस में सत्त्वप्रधान हो। परन्तु जहां दोनों ही अर्थात् भाव और सत्त्व इकट्ठे विद्यमान हों और फिर भी भाव प्रधान हो जैसे आख्यातजनक नाम (verbal noun) में; वहां भाव आदि से लेकर अन्त की अवस्था तक आख्यात से सूचित किया जाता है जैसे 'वह जाता है' 'वह पकाता है' आदि २; और उपक्रम से प्रारम्भ होकर अन्तिम भावना तक सारे कार्य की मूर्तिमत्ता जिसने की सत्त्व का धर्म ग्रहण कर लिया है, नाम से सूचित की जाती है जैसे 'जाना' 'पकाना' आदि २[2]। आगे चलकर यास्क ने भाव के छः विकार दिखाए हैं—(१) उत्पत्ति, (२) अस्तित्व, (३) विपरिणाम, ४) वृद्धि, (५) अपक्षय (६) और विनाश[3]। अब यास्क के नाम और आख्यात के लक्षणों के साथ एरिस्टोटल (Aristotle) कृत नाम और आख्यात के लक्षणों की तुलना करनी चाहिए। एरिस्टोटल कहता है—'नाम या अभिधान एक सावयव अर्थवत् शब्द है जिसमें काल की भावना का समावेश नहीं होता, नाम अथवा अभिधान के साथ जो अवयव हैं, उनमें अपना कोई अर्थ नहीं होता... ....आख्यात एक सावयव अर्थवत् शब्द है जिसमें काल की भावना का समावेश रहता है, (आख्यात के) जो अवयव हैं उनमें अपना कोई अर्थ नहीं होता। जहां मनुष्य' अथवा 'शुक्ल' शब्द 'कब' सूचित नहीं करता, वहां 'भ्रमण करता है' और 'भ्रमण कर चुका है' में भ्रमण के भाव के अतिरिक्त वर्तमान अथवा भूत काल की भावना का भी समावेश पाया जाता है'[4]।

आख्यात के अपने लक्षण में एरिस्टोटल (Aristotle) ने काल की भावना पर बहुत अधिक बल दिया है, पर आख्यात में क्रिया की भावना का जो समावेश है उसकी उपेक्षा कर दी है। इसलिए उसके लक्षण में अपूर्णता रह गई है और उसमें मुख्य अंश को न बतला कर केवल गौण अंश का उल्लेख किया गया है। आख्यात में क्रिया और काल की दो भावनाएँ हैं। इन दोनों में से पहली अर्थात् क्रिया-भावना प्रधान है और दूसरी अर्थात् काल-भावना गौण। एरिस्टोटल ने गौण-

---

(१) Poetics, २०, १४५६b, बाईवाटर (Bywater) का संस्करण, पृष्ठ, ५७। (२) नि० १. १। (३) नि० १. २। (४) Poetics, २०. १४५६ b. १०. बाइवाटर (Bywater) का संस्करण पृष्ठ ५८।

भावना को ही अपने लक्षण में स्थान दिया है। मुख्य भावना को छोड़ दिया गया है। यास्क के लक्षण में क्रिया और काल दोनों की भावनाएँ विद्यमान हैं। यास्क ने (भाव) शब्द का प्रयोग किया है जो क्रिया और काल—इन दोनों भावनाओं को प्रकट कर देता है। एरिस्टोटल (Aristotle) ने नाम का निषेधात्मक (negative) लक्षण किया है। उसने नाम की व्याख्या में यह बतलाया है कि उसमें किस अंश का समावेश नहीं रहता, पर यह नहीं बतलाया कि उसमें निश्चित रूप से किस अंश का समावेश होता है। यास्क का नामलक्षण निषेधात्मक नहीं है, वह विध्यात्मक (positive) है। यास्क के मत के अनुसार नाम में सत्त्व की प्रधानता रहती है किन्तु यास्क के इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है क्योंकि यह लक्षण आख्यातजनक नामों में नहीं घटताइस लिए यास्क ने आख्यातजनक नाम (verbal noun) का भी लक्षण किया[1] है, एरिस्टोटल (Aristotle) ने आख्यातजनक नाम को छोड़ ही दिया है।

यास्क ने उपसर्गों की व्याख्या इस प्रकार की है कि उपसर्ग ऐसे शब्द हैं जो नाम और और आख्यात के अस्फुट अर्थों को स्फुट बना देते हैं। फिर उसने उपसर्गों की उनके अपने अपने समुचित अर्थों के साथ सूची दी है। आगे चल कर उसने निपातों को तीन वर्गों में विभक्त किया है:—(१) उपमार्थक, (२) कर्मोपसंग्रहार्थक, (३) और पादपूरण। उसने इन परिभाषा शब्दों की व्याख्या के साथ प्रत्येक वर्ग के निपातों की सूची दी है उनके अर्थों का व्याख्यान करके वैदिक साहित्य के समुचित अवतरणों के द्वारा उनके प्रयोगों का स्पष्टीकरण किया है। निरुक्त के पहले अध्याय में (खण्ड ३–६) निपातों का वर्णन विस्तार से किया है। यास्क ने अपने समय की बोल चाल की भाषा में प्रादेशिक (dialectical) भेदों तथा भिन्न २ प्रान्तों में प्रचलित रूपों पर भी ध्यान दिया[2] है। उसने आर्यों और कम्बोजों तथा पूर्व और उत्तर में रहने वाले लोगों की भाषाओं की कुछ विशिष्टताओं की ओर भी सङ्केत किया है[2]। वह लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत के साथ सम्बन्ध स्वीकार करता है। वह लिखता है कि इन दोनों भाषाओं का शब्दकोश अभिन्न है,[3] और उनमें उपसर्ग और निपातों का जो प्रयोग होता है वह थोड़े से अपवादों को छोड़ कर एक जैसा ही है[4]। जब वह यह कहता है कि लौकिक संस्कृत के शब्दों का वैदिक संस्कृत के धातुओं से और वैदिक संस्कृत के शब्दों का लौकिक संस्कृत के धातुओं से निर्वचन किया जाता है तो वह इन दोनों भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्ध से परिचित प्रतीत होता है[2]। वह जानता है कि केवल संज्ञा शब्दों के ही नहीं, प्रत्युत क्रियापदों के भी पर्याय

---

१. नि० १. १। २. नि० २. २.। ३. नि० १. १६। ४. नि० १. ३-६।

होते हैं। वह कहता है 'इतने धातुओं का एक ही अर्थ है। एक नाम के (अर्थात् सत्त्व के) इतने पर्याय हैं'[१]। नानार्थक शब्दों की व्याख्या करते हुए वह लिखता है कि नानार्थक शब्द वह शब्द है जिसका अर्थ एक से अधिक हो[२]। उसने कुछ नियतानुपूर्वीक लोकोक्ति (idiomatic) वाक्यों पर भी ध्यान दिया है, जिनके अक्षरों अथवा शब्दों का क्रम किसी भी दशा में बदला नहीं जा सकता, जैसे 'इन्द्राग्नी' 'पितापुत्रौ' कभी भी 'अग्नीन्द्रौ' 'पुत्रपितरौ' के रूप में प्रयुक्त नहीं होते[३]।

(८) अर्थ-विज्ञान।

यास्क के समय में एक असामान्य साहित्यिक प्रगति का प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय में मानवज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य के अन्वेषण के लिए सार्वदेशिक तथा सफल प्रयत्न किया जा रहा था। उपनिषदों के विकास ने जनता के सामने आध्यात्मिक सरणि को प्रस्तुत करते हुए दार्शनिकता के उच्चतम आदर्श को स्थापित कर भारत का मस्तक समुन्नत किया। उस समय कुछ ऐसे अत्युदार विचारों की सृष्टि की गई थी जो मनुष्य जाति के इतिहास में सर्वथा अमर रहेंगे। धार्मिकता के क्षेत्र में वह समय बौद्ध-सम्प्रदाय का अग्रदूत था, जो शीघ्र ही उस समय में प्रचलित यज्ञों का अनिरोध विरोध करने वाला था। शैली के विषय में भी वह समय युगपरिवर्तन का समय था जो कि सूत्रकाल का जन्मदाता था। संस्कृत-वाङ्मय के शाश्वत् परिपालन के लिये उस समय व्याकरणविषयक और भाषाविज्ञानविषयक विचारों को सूत्रशुक्ति में सञ्चित कर उनकी मुक्ताकारता प्रस्तुत की जा रही थी जिसके द्वारा संस्कृत साहित्य के विनाश का भय सर्वथा नष्ट कर दिया गया था। अर्थविज्ञान की ओर तात्कालिक विद्वानों का ध्यान न हो ऐसा भी नहीं था। निरुक्त के पहले अध्याय में (खण्ड १२-१४) यास्क इस विषय पर विचार करता है कि वस्तुओं के अभिधान कैसे पड़ते हैं। इस अधिकरण में अकाट्य अत एव सर्वमान्य युक्तियाँ प्रश्नोत्तर के रूप में दी गई हैं। एक प्रतिपक्षी विवेचक कई प्रकार के आक्षेप करता है और यास्क उसके आक्षेपों का समुचित उत्तर देता है। दो आत्मगत वक्तव्यों का यह एक सुन्दर सङ्ग्रह है जिसमें क्रमशः ग्रन्थकर्ता विवेचनाशील वादी तथा प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होता है। ऐसे स्थलों में केवल स्वमतमण्डन का ही विशेष रूप से उल्लेख नहीं पाया जाता अपितु प्रतिवादी की सर्वश्रेष्ठ युक्तियों तथा सूक्तियों का भी यथोचित समावेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ नामाख्यातजत्ववाद को ही लीजिए—

नामाख्यातजत्ववाद में आचार्यों के दो दल हैं—कुछ आचार्य तो प्रत्येक प्रातिपदिक को आख्यातज मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रातिपदिक के

१. नि० १. २०। २. नि० ४. १। ३. नि० १. १६

नामकरण के मूल में कोई न कोई क्रिया अन्तर्हित होती हैं और तत्तत् प्रातिपदिक का नाम उसी क्रिया के कारण पड़ता है। शाकटायनमतानुयायी कतिपय वैयाकरण और निरुक्तागमपारदर्शी प्रत्येक आचार्य प्रधानतया इस दल के प्रवर्तक माने जाते हैं।

इसके विपरीत कुछ वैयाकरण आचार्यों का, जिनमें गार्ग्य भी सम्मिलित है, यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक संज्ञा आख्यातज नहीं अपितु जिन संज्ञाओं में प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ अनुगत है और जिनके उदात्तादि स्वर भी उस अर्थ के होने में बाधक नहीं होते वे ही प्रातिपदिक आख्यातज हैं। इन दो दलों में से यास्क मुनि नैरुक्त होने के कारण प्रथम दल के उपोद्बलक हैं अत एव निरुक्त २.७. में यास्क ने 'समानार्थानि' के स्थान में 'समानकर्माणि' कहते हुए अर्थ में क्रिया की कारणता स्थिर की है। अत: उक्तिप्रत्युक्ति के द्वारा अपने मत को सिद्ध करने के लिए यास्क इस प्रकार विचार करते हैं। संज्ञाओं के क्रियाकृत मानने में प्रतिपक्षी निम्न-निर्दिष्ट आपत्तियों को उपस्थित करते हैं:—

१. यदि किसी व्यक्ति को (अध्वानमश्नुत इत्यश्व:—मार्ग के अतिक्रमण करने के कारण) अश्व कहा जाता है तो समानव्युत्पत्ति से मार्ग का अतिक्रमणकारी प्रत्येक व्यक्ति (हरिण, खरगोश, कुत्ता इत्यादि) अविशेषभावेन 'अश्व' कहाने का अधिकारी हो जायगा। ऐसा स्वीकार कर लेने पर अव्यवस्था हो जायगी। इसी प्रकार (तृणत्तीति तृणम्, छेदनद्वारा हिंसाकारी होने के कारण) यदि चुभने वाली घास को तृण कहा जाता है तो समानन्याय से सूई, छुरी इत्यादि प्रत्येक नोकीले पदार्थ को भी तृण कहना चाहिये। अथच निद्रावस्था में (अध्वानशनात्—मार्ग के अतिक्रमण न करने के कारण) अश्व को भी अनश्व कहना पड़ेगा और हरा अत एव मुलायम घास अतृण होजायगा। इस प्रकार मानने पर संसार के सारे व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। अत: यह मत मान्य नहीं है।

२. यदि क्रिया को ही संज्ञाओं की प्रयोजिका मानी जाय तो एक व्यक्ति जितनी भी क्रियाएँ करता है उन सबके द्वारा उतनी ही उसकी संज्ञाएँ होनी चाहिएँ परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता क्योंकि स्थिर रहने वाली 'स्थूणा' (स्तम्भ) को गड्ढे में पड़ी (गड़ी) होने के कारण 'दरशया' और बांस इत्यादि के आसञ्जन-योग्य (बांधे जाने के लायक) होने के कारण 'सञ्जनी' कोई भी नहीं कहता।

३. संज्ञा यदि तद्व्यक्तिगर्भित किसी न किसी क्रिया से ही नियमित होती है तो उस क्रिया के रूप को विकृत नहीं होने देना चाहिए। क्यों न स्पष्ट प्रतिपत्ति के

लिए संज्ञा में क्रिया के रूप को सुरक्षित किया जाय ? 'पुरुष' शब्द के अन्दर यदि 'शीङ्' धातु मानी भी जाती है तो कम से कम उससे बनने वाले रूप को 'पुरिशय' तो होना चाहिए जिससे वह बिचारी पहचानी तो जाय। इसी प्रकार अश्व को 'अष्टा' और तृण को 'तर्दन' कहना अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता।

४. आख्यातजत्ववादी अनादिसिद्ध संज्ञा को देख कर उसमें क्रिया की कल्पना कर लेते हैं जो कि वस्तुतः अयथार्थ है। 'पृथिवी' शब्द का विवेचन वे प्रथ् धातु से कर देते हैं। यदि पृथिवी (प्रथनात्) विस्तीर्ण की जाने के कारण पृथिवी है तो उनको यह भी बतलाना चाहिए कि उस पृथिवी को विस्तीर्ण किया किसने ? और किस स्थान पर खड़े होकर विस्तीर्ण किया ?

५. उन संज्ञाओं पर, जो कि वस्तुतः आख्यातज नहीं हैं, आख्यातजत्व मानने वाले बलात्कार करते दिखाई देते हैं। वे किसी न किसी धातु को ठोक पीट कर भी तत्तद् शब्द में बैठाने की चेष्टा तक करते हैं। देखिए, एक 'सत्य' शब्द की सिद्धि करने के लिए शाकटायन को कितना परिश्रम करना पड़ा, जब एक धातु से काम न बना तो दो धातुओं का आवाहन किया गया। शाकटायन सत्य के 'सत्' को अस् धातु से और 'य' को एयन्त इण् धातु से निष्पन्न मानते हैं।

६. संज्ञा को आख्यातजत्व मानने में पौर्वापर्य ही सब से प्रधान बाधक प्रतीत होता है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि 'सत्त्वपूर्वो भावः' अर्थात् क्रिया की अपेक्षा द्रव्य प्राग्भव है और क्रिया उसमें पश्चात्भव है क्योंकि पदार्थ के उत्पन्न हो जाने पर ही तो उस में यत्किञ्चित् क्रिया उत्पन्न हो सकती है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि पश्चात्तन क्रिया अपने से प्राग्भव द्रव्य की संज्ञा में कारण हो ही कैसे सकती है ? 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'

इस प्रकार अनाख्यातजत्ववादियों की उपरिलिखित ये ६ विप्रतिपत्तियां दी गई हैं। जिनका परिष्कृत विवरण पूर्वपक्ष के रूप में करके सिद्धान्तपक्ष की स्थापना अधोलिखित क्रम से की गई है और विप्रतिपत्तियों का यथाक्रम निराकरण किया गया है। सबसे पहले जो युक्ति उपस्थित की गई है उससे यास्क के अगाध वैदुष्य पर प्रकाश पड़ता है। वह कहता कि जब प्रतिपक्षी यह स्वीकार कर लेते हैं कि जिन संज्ञाओं में प्रादेशिक प्रतीक विद्यमान हों और स्वर संस्कार अनुकूल हों वे संज्ञाएँ आख्यातज हैं तब तो वे वास्तव में 'यावज्जीवमहं मौनी' की तरह वदतोव्याघात के कीचड़ में स्वयमेव फँस जाते हैं। सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर हमारे

मत के अनुसार सारी संज्ञाओं में प्रादेशिक प्रतीक भी विद्यमान रहते हैं और स्वरसंस्कार भी प्रतिकूल नहीं होते। हां, कदाचित् यह हो सकता है कि वे प्रादेशिक प्रतीक तथा स्वरसंस्कार अप्रतिपन्नबुद्धियों की दृष्टि में न आवें। अत: ऐसे अप्रतिपन्नबुद्धियों को प्रयत्न करना चाहिए कि वे शब्दव्युत्पत्ति में पारावारीण हो सकें।

(१) प्रथम दोष विशेष कर हमारे सिद्धान्त में ही नहीं आता अनाख्यातजत्ववादी भी इससे मुक्त नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो प्रतिपक्षी के दिए हुए दोषों में से एक भी दोष ऐसा नहीं है जिससे वह स्वयं मुक्त हो। निरुक्त में पूर्वोक्त दोषों के निराकरण में प्राय: इसी युक्ति का प्रयोग किया है—"उभयोर्य: समो दोष: परिहारस्तयो: सम:।" सारी संज्ञाओं के आख्यातज मानने में प्रथम अव्यवस्था दोष दिया गया है। यह दोष उन संज्ञाओं में भी पाया जाता है जिनको प्रतिपक्षी भी आख्यातज मानते हैं। देखिए—जिस प्रकार शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का नियत होना हमारे पक्ष में पाया जाता है उसी प्रकार प्रदिवादिस्वीकृत स्वरसंस्कार के अनुसार अर्थवाले शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त को को भी नियत ही देखा जाता है। उदाहरण के लिए तक्षा, परिव्राजक, जीवन और भूमिज इत्यादि संज्ञाओं को ही लीजिए। इनमें से प्रत्येक अपने २ मुख्य अर्थ में नियन्त्रित है। एक ही क्रिया के करने पर भी बहुत से व्यक्तियों में से किसी एक की ही उस क्रिया के अनुसार संज्ञा पड़ती है प्रत्येक की नहीं। तक्षण-क्रिया की समानता के होते हुए भी प्रत्येक तक्षणकर्ता तक्षा नहीं कहलाता। बढ़ई और लकड़हारा ये दो शब्द किसी विशिष्ट वर्ग को ही बोधित करते हैं। अपने लिये लकड़ी काटने या फाड़ने या घड़ने वाला शिष्ट किन्तु स्वावलम्बी व्यक्ति बढ़ई अथवा लकड़हारा नहीं कहा जाता। सन्ध्याकाल में सैर करने वाला व्यक्ति परिव्राजक नहीं कहलाता। पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ वृक्ष इत्यादि भूमिज नहीं कहे जाते। इसी प्रकार घृत ही 'आयु' और इक्षुरस ही 'जीवन' कहलाता है प्रत्येक तरल तथा पौष्टिक पदार्थ नहीं।

यहां यास्क के अभिप्राय को इस प्रकार समझा जा सकता है कि शब्दमात्र का व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न होता है और प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न। बहुत से शब्दों में ये दोनों निमित्त और बहुतों में एक एक निमित्त आंशिक रूप से स्पष्टतया प्रतिभासित होते रहते हैं किन्तु ऐसे शब्द भी लोक में उपलब्ध होते हैं जिनमें ये दोनों निमित्त तिरोहित होते हैं, अत: आपातत इनका सर्वथा अभाव सा ही प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ नितान्त प्रचलित 'पाचक' शब्द को ही लीजिए—रसोइये में 'पाचक' इस शब्द का 'पाककर्तृत्व' रूप व्युत्पत्तिनिमित्त भी रहता है क्योंकि यह भोजन पकाता है और इसक

प्रवृत्तिनिमित्त भी, क्योंकि उसे ही 'पाचक' कहते हैं अतः रसोइया पाककाल में दोनों निमित्तों के कारण 'पाचक' कहलाता है। परन्तु यह ध्यान रहना चाहिए कि भोजन खाते या अन्य क्रिया करते समय भी रसोइया 'पाचक' ही रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि ये दोनों निमित्त ही आंशिक रूप से संज्ञी में उपलब्ध होते हैं। कहीं पर किसी की प्रधानता रहती है कहीं पर किसी की। अतः पाककाल में व्युत्पत्तिनिमित्त की और अन्यकाल में प्रवृत्तिनिमित्त की प्रधानता रहती है। इसके विपरीत गृहिणी पाककर्त्री होते हुए भी पाककाल में भी 'पाचिका' नहीं कही जाती यद्यपि उसमें 'पाचिका' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि साधनावस्था में शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की अवहेलना की जा सकती है अर्थात् उस समय यह नहीं देखा जाता कि सिद्धि के द्वारा इस शब्द का जो अर्थ निकलता है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता अतः इस प्रकार से सिद्धि नहीं करनी चाहिए और इसी प्रकार प्रयोगावस्था में व्युत्पत्तिनिमित्त अकिञ्चित्कर समझा जाता है अर्थात् लोक में शब्द का प्रयोग व्युत्पत्ति से विरुद्ध अर्थ में भी पाया जाता है। वहां यह आग्रह उपहासास्पद ही होता है कि इस शब्द से इस अर्थ का बोध नहीं होना चाहिए क्योंकि इस शब्द का मूल इस अर्थ के प्रतिकूल है। अतः प्रयोगयोग्यता प्रवृत्तिनिमित्त के ही आधीन रहती है। यहां असूया नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्रसिद्ध ही है "विचित्राः शब्दशक्तयः"। इस विषय में दो लोकोक्तियों की साक्षिता दे कर प्रथम प्रश्न के उत्तर को समाप्त किया जायगा—१. 'ज्यों रहीम हनुमन्त को गिरिधर कहे न कोय'। २. 'जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं त्रये जगज्जीवपिबं शिवं वदन्'। अस्तु, इन दोनों उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है कि अभिधेय में क्रिया का हाथ अवश्य रहता है चाहे वह अल्प मात्रा में हो चाहे अधिक मात्रा में हो अथवा चाहे वह नितरां निगूहित ही हो। एक और युक्ति से भी संज्ञा में क्रिया की कारणता सिद्ध होती है। वह यह कि देववाणी को ही यह श्रेय मिला है कि उसके नाम 'नाम' होते हैं अर्थात् इस भाषा का प्रत्येक नाम अपने अर्थ को अपने आप बता देता है। 'नमन्ति अनायासेन प्रकटयन्ति स्वीयमर्थमिति नामानि'। नामों की इस व्युत्पत्ति से नाम कहना ही उसे चाहिए जो अपने अर्थ को अपने आप प्रकट कर दे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नाम में क्रिया कारण है। प्राचीन इतिहास अथवा वाङ्मय इस बात को स्वीकार करता है कि उस समय में क्रियानुरोध से ही अभिधान पड़ते थे। इस सम्बन्ध में नैषध का यह पद्य उदाहृत किया जा सकता है:—

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।

उदियाय तनुश्रिया यतो दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ २, १८,

अब यह विचार करना चाहिए कि अपने ऊपर आए हुए दोष का, अर्थात् प्रत्येक तक्षणकर्ता तक्षा क्यों नहीं कहलाता अथवा शयनसमय में तक्षण न करता हुआ भी तक्षा क्यों कहलाता है संसार के पास क्या परिहार है ? जिस परिहार से प्रतिवादी अपने दोष का निराकरण करे उससे ही हमारे दोष का भी, अर्थात्-मार्गातिक्रमणकारी प्रत्येक प्राणी अश्व क्यों नहीं कहा जाता अथवा शयनसमय में अश्व अश्व क्यों कहा जाता है निराकरण समझना चाहिए। इसका सम्भवतः एक ही समाधान हो सकता है, वह यह कि जो क्रिया जिसमें प्रधानतया हो, अथवा जो क्रिया जिसमें ऐसे विचित्र समय में उत्पन्न हो जो कि सब को आश्चर्यान्वित कर दे तथा सब के हित के लिए प्रतीत हो, अथवा जिस क्रिया को जो व्यवसाय के रूप से स्वीकार कर ले, अन्य क्रियाओं के रहते हुए भी उस क्रिया के अनुसार उसका अभिधान पड़ जाता है और फिर वह उसमें उसी रूप से नियत हो जाता है—रूढि का यही अभिप्राय होता है।

२. दूसरा प्रश्न प्रथम प्रश्न से समाधान के ही समाहितप्राय है। 'जितनी क्रिया जिसमें हों उतने ही उसके नाम हों' यह प्रश्न पूर्वोक्त उक्तियुक्तियों के परिशीलन के अनन्तर उठ ही नहीं सकता। गीता के 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इस वचन के अनुसार यूं तो प्राणी में अनन्त क्रियाएँ होती रहती हैं;परन्तु अभिधान के लिए किसी ऐसी मुख्य क्रिया की आवश्यकता होती है जो उसकी जन्मसिद्ध विशिष्टता को लक्षित कर सके, अथवा जो उसकी अपनी विशिष्टता को व्यक्त करे अथवा जो उसकी जीविका का रूप धारण करले। अभिधानप्रयोजिका क्रिया के प्रति अन्य सब क्रियाएं गौण हो जाती हैं। अतः वे उस क्रिया की साधिका हो जाती हैं यह दोष भी उभयमत सिद्ध व्यवहार में विद्यमान है। देखिए हलवाई लड्डू, पूरी, कलाकन्द इत्यादि अनेक मिठाइयां बनाता है और पंजाब के हलवाइयों के अतिरिक्त शायद ही कभी कोई हलवाई हलवा बनाता हो परन्तु उसका अभिधान हलवे के निर्माण की क्रिया से ही नियमित है। उसे कोई भी 'पुड़वाई' आदि नहीं कहता।

इन दोनों प्रश्नों के सम्बन्ध में केवल एक ही वाक्य पर्याप्त कहा जा सकता है कि जैसे एक क्रिया, अनेकों में रहती हुई भी किसी एक (व्यक्ति) की ही प्रधानता को व्यक्त करती है उसी प्रकार वह (व्यक्ति) भी अपने में रहने वाली अनेक क्रियाओं में से उस एक क्रिया की ही प्रधानता को व्यक्त करता है। दुर्गाचार्य ने इसी आशय को स्फुट करने के लिए इस प्रकार उल्लेख किया है—

"त्वमपि पश्यसि वयमपि पश्यामः.........तक्षन् कश्चित्तक्षेत्युच्यते । अन्यस्त-क्षन्नपि न तक्षेत्युच्यते । आह कोऽत्र हेतुरिति ? शृणु, लोकमेव पृच्छ, तमेवोपालभस्व, न मयैव नियमः कृत इति । अथ च तद्यथा समानमीहमानानां कश्चिदेवार्थेन संयुज्यते कश्चिन्न ....स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति काञ्चदेव क्रियामङ्गीकृत्या-वस्थितिर्भवतीति । अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात् । यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो भवतीत्ययं समाधिः । अथवा न श्रमो यो यदा यत्र तथा भवति स एव तक्षेति.........पश्यामोऽनेकक्रिया-युक्तानामप्येकक्रियाकारितो नामधेयप्रतिलम्भो भवति ......तत्र यदुक्तमेकस्यानेक-क्रियायोगादनेकनामता प्रसज्येतेति । एतदयुक्तम् । यदि चोक्तमनेकेषामेकनामतैकस्य चानेकनामता प्राप्नोति ततश्च व्यवहाराप्रसिद्धिरिति । न हि तदुभयमस्ति । अनेकेषामेक-क्रियायोगेऽपि हि सत्येकस्य चानेकक्रियायोगेऽपि हि सति व्यवस्थित एव शब्दनियमः स्वभावत एव लोके" ।

तुम भी देखते हो, हम भी देखते हैं..........कि एक मनुष्य जो लकड़ी काटता है 'बढ़ई' कहलाता है, पर दूसरा जो वही काम करता है, बढ़ई नहीं कहलाता। तुम कहोगे कि इसमें क्या कारण है । सुनो ! जाकर संसार से पूछो। और उसे ही उपालम्भ दो क्योंकि मैंने यह नियम नहीं बनाया। उन व्यक्तियों में से जो एक ही क्रिया करते हैं, कुछ ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका उस क्रिया के कारण अभिधान पड़ जाता है, और दूसरों का नहीं पड़ता। तुम कह सकते हो कि क्योंकि एक द्रव्य का उस क्रिया के कारण अभिधान पड़ा है, तो इस लिए तत्समानकार्यकारी दूसरों का भी वही अभिधान पड़ना चाहिये........। यद्यपि सारे संसार के संज्ञाशब्दों की व्युत्पत्ति क्रियाओं से की जाती है तथापि किसी विशेष क्रिया के उद्देश से उनके अभिधान का चुनाव प्रकृति के द्वारा यदृच्छया किया जाता है, अथवा यह भी हो सकता है कि विशिष्ट क्रिया के नियम से चुनाव किया जाता है । एक आदमी जो कोई एक विशेष क्रिया प्रधानतया करता है, उसी विशेष क्रिया के कारण अपना अभि-धान प्राप्त करता है, चाहे वह और दूसरी क्रियाएँ भी करता हो। यह एक व्यव-स्थित नियम है। हम यह नहीं कहते कि जब व्यक्ति तक्षण करता है तभी वह 'तक्षा' है अपितु हम यह कहते हैं कि जो (विशेष व्यक्ति) जब कभी भी जहां कहीं भी तक्षणकार्य करे वह तक्षा है। यहां दुर्गाचार्य का यह अभिप्राय है कि जब किसी प्राणी का किसी क्रिया के कारण नाम पड़ जाता है तब उसके लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह उस क्रिया को नियमेन करता ही रहे, वह उसे फिर करे अथवा नहीं, वह

अभिधान वह ही रहेगा क्योंकि अभिधान की प्रसिद्धि किसी, विशिष्ट क्रिया के द्वारा की होती है। अतः यह दोष नहीं देना चाहिए कि इस क्रिया के द्वारा एक का नाम पड़ा तो दूसरे का क्यों नहीं ? यदि प्रत्येक का वह नाम कर दिया जाय अथवा एक व्यक्ति के उसकी सारी क्रियाओं के अनुसार अनेक नाम किए जायँ तो अव्यवस्था और अनवस्था होजाय और संसार का सारा व्यवहार निर्मूल होजाय। अतः ये दोनों बातें स्वीकरणीय नहीं हैं। ......हम देखते हैं कि बहुत सी क्रियाएँ करने वाले पुरुष किसी एक विशिष्ट क्रिया से ही अभिधान प्राप्त करते हैं। इसको एक प्रकार से प्रकृति का ही विधान समझना चाहिये अर्थात् जैसे अन्य स्वाभाविक पदार्थ हैं जिनके विषय में क्यों को अवसर नहीं दिया जाता उसी प्रकार नामसंस्कार के विषय में भी समझना चाहिए। इसमें क्यों को अवसर नहीं देना चाहिए क्योंकि यह भी स्वाभाविक है। व्यवस्था अथवा प्रकृति के नियम में ननु नच के लिए किसी को अवकाश नहीं दिया जाता'[1]।

ऊपर के सन्दर्भ के साथ ब्रील (Breal) के निम्नलिखित कथन की तुलना कीजिए:—
'जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे एक परिणाम निकाला जा सकता है—यह एक असन्दिग्ध सत्य है कि भाषा पदार्थों के अभिधान को अपूर्ण और अयथार्थ प्रकार से रखती है। अपूर्ण, इस लिए कि जब हमने सूर्य को चमकने वाला कहा अथवा घोड़े के विषय में जब हम यह कहते हैं कि यह भागता है, तो हमने सूर्य के अथवा अश्व के विषय में सब कुछ कह कर समाप्त नहीं कर दिया जो कुछ कि उनके लिये कहा जा सकता है। अयथार्थ, इस लिये कि जब सूर्य अस्त हो जाता है तो उसको चमकने वाला नहीं कहा जा सकता, अथवा जब घोड़ा आराम करता है या घायल हो जाता है, अथवा मर जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह भागता है। वस्तुओं के साथ लगाए हुए सत्तावाचक शब्द चिह्न हैं। उनमें सत्य की मात्रा ठीक उतनी होती है, जितनी कि एक अभिधान धारण कर सकता है—उतनी मात्रा जो कि परिमाण में अवश्य ही पदार्थ की वास्तविकता के अनुसार थोड़ी होगी...... भाषा के लिये यह असम्भव है कि वह एक शब्द में उन तमाम विचारों को भरदे जिन विचारों को वह वस्तु या पदार्थ मनुष्य के हृदय में जागृत करता है। अतः भाषा इस बात के लिये बाध्य है कि वह चुनाव करे।[2]

---

१ तुलना करो, मैक्समूलर द्वारा अनुवादित ऊपर उद्धृत किए हुए अवतरणों के कुछ भाग, पूर्वनिर्दिष्ट पुस्तक, पृष्ठ १६७

२. Semantics, अध्याय १८, (Cust) का इङ्गलिश अनुवाद पृष्ठ १७१, १७२

३ तीसरे आक्षेप में यह कहा गया है कि यदि सारे नाम आख्यातज माने भी जायँ तो कम से कम वे नाम ऐसे रखने चाहिए जो प्रतीतार्थ हों अर्थात् जिनसे उनके स्वरसंस्कार स्पष्टतया प्रतीत हो जायँ और उनका अर्थ भी स्पष्टतया प्रतीत होने लगे। इसके उत्तर में यास्क ने कहा है कि इस दोष से भी प्रतिवादी मुक्त नहीं है । कृत्प्रत्ययों से निष्पन्न थोड़े से ही ऐसे शब्द हैं जो प्रतीतार्थ हैं। प्रायः कृदन्त शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग सन्दिग्ध हो जाता है। देखिए—व्रतति अथवा दमूना इत्यादि शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय-विभाग केवल कल्पनाधीन ही है। व्रतति (लता) को यदि 'वृ' धातु से सिद्ध किया जाय तो 'अतति' भाग की मौलिकता जाती रहती है और यदि 'तनु' धातु से इसे माना जाय तो 'व्र' निर्मूल रह जाता है। यदि व्याकरण में भी इस प्रकार के प्रकृति-प्रत्यय का निर्धारण किया जाता है तो निर्वचन को बलात्कार नहीं कहना चाहिए।

४. चतुर्थ आक्षेप को आक्षेप नहीं कहना चाहिए क्योंकि पदार्थ के उत्पन्न हो जाने पर ही उसकी गुण क्रिया के विषय में विचार किया जा सकता है। हां, वह विचार वितण्डावाद नहीं होना चाहिए। पृथिवी को देख कर हम यह तो कह सकते हैं कि 'यह लम्बी चौड़ी दिखाई देती है—अतः पृथिवी है' और इस विचार से सर्व-साधारण का सन्देह भी निवृत्त हो जाता है कि पृथिवी को पृथिवी क्यों कहते हैं। 'इसे किसने और कहाँ फैलाया' ?—यह कुतर्क नहीं किया जा सकता। इस तर्क से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत भ्रम उत्पन्न हो जाता है। तर्क भ्रम के हटाने का साधन है उसके उत्पन्न करने का नहीं।

५. पांचवां दोष भी निर्वचन-शास्त्र का दोष नहीं कहा जा सकता, यह कदाचित् व्यक्तिविशेष का दोष कहा जा सकता है कि शाकटायन ने 'सत्य' शब्द की सिद्धि के लिए दो धातुओं का आश्रय लिया जो कि अनुचित हो सकता है।

६. छठा दोष भी केवल अज्ञानजन्य है क्योंकि देखा जाता है कि लोक में भी पश्चाद्भावी क्रिया से नाम पड़ता है जैसे कि बिल्वाद 'बिल्वमत्ति अत्स्यति वा बिल्वादः' बेल खाएगा अतः इसे बिल्वाद कहना चाहिए। इस बालक का लम्बचूड नाम रखा जाय क्योंकि इस की चोटी लम्बी होगी। इस तरह के प्रयोग प्रसिद्ध व्याकरण से भी विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि व्याकरण के अनुसार "कम्बलदायो व्रजति" जो कम्बल देगा वह जाता है; "काण्डलावो व्रजति" जो काण्ड को काटेगा वह जाता है ये प्रयोग होते हैं। इस विषय पर रघुवंश का यह पद्य भी प्रकाश डाल सकता है :—

'श्रुतस्य यायादयमर्भकोऽन्तं तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥

इस प्रकार किसी भी विरुद्ध उक्तियुक्ति के न रहने के कारण यास्क ने अपना मत सिद्ध किया है। निरुक्त १. १२, १३, १४.

क्रेटिलस् (Cratylus) में भी इस विषय पर विस्तृत विचार किया गया है। वहां प्लेटो (Plato) ने तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और सम्भाषण में तीन पुरुषों के द्वारा उन सिद्धान्तों की व्याख्या करवाई है। हरमोजिनीज़ (Hermogenes) के मत में अभिधान रूढिबद्ध हैं, स्वेच्छा से रखे जाते हैं, और इच्छानुसार बदल दिए जाते हैं इसके विरुद्ध क्रेटिलस् (Cratylus) का यह कहना है कि अभिधान नैसर्गिक हैं। सोक्रेटीज़ (Socrates) का मत इन दोनों मतों का मध्यवर्ती है। वह कहता है कि अभिधान नैसर्गिक हैं पर साथ ही उनमें रूढि का अंश भी विद्यमान है[1]।

प्राचीन वेदविरुद्ध नास्तिकता।

निरुक्त के पहले अध्याय के पन्द्रवें खण्ड में कौत्स नामक एक विवेचक के मत को उद्धृत किया गया है जो न केवल वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह करता है प्रत्युत यह सिद्ध करने का यत्न करता है कि वैदिक मन्त्र सर्वथा निरर्थक हैं। अपने मत को सिद्ध करने के लिए वह कई युक्तियां देता है। उसी अध्याय के बीसवे खण्ड से यह स्पष्ट है कि यास्क के मत में ऋषियों को वैदिक सूक्तों का प्रादुर्भाव हुआ था। वाचिक परम्परा से ये सूक्त एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाए गए तथा इन सूक्तों को पढ़ने के लिए बड़ी सावधानता की आवश्यकता है। यास्क के अपने ग्रन्थ का प्रयोजन भी वैदिक साहित्य के अनुशीलन को सुगम बनाना है क्योंकि निरुक्त छः वेदाङ्गों में से एक वेदाङ्ग है। यह कहना कुछ कठिन है कि यास्क ने निरुक्त में अपने विरोधियों के मत का किस उद्देश्य से उल्लेख और प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि यह बात अकल्पनीय है कि ईश्वरज्ञानविशारद विद्वान् अपनी धर्म पुस्तकों में एक ऐसे शास्त्रार्थ को विना कारण उद्धृत करें जो उनके धर्म के आधारभूत अङ्गों पर आघात करता हो। निरुक्त में कौत्स के मत का उल्लेख एक ओर तो यह उपलक्षित करता है कि न केवल यास्क की चित्तवृत्ति तार्किक थी और उसमें किसी प्रकार की धर्मान्धता नहीं थी, प्रत्युत उस अतिप्राचीन काल में भी ऐसे शास्त्रार्थों को सहनशीलता से सुनना सम्भव था, और दूसरी ओर इस शास्त्रार्थ का उल्लेख यह सूचित करता है कि कौत्स एक उत्कृतष्ट विद्वान् था या

---

१ तुलना करो, (Jowett's Dialogues of Plato,) (तीसरा संस्करण) भाग पहला, पृष्ठ ३२७--२८, ३५८, ३६६, ३७८।

एक बहुत बड़ा व्यक्ति था, अथवा वह किसी दार्शनिक सिद्धान्त का व्याख्याता था, जिसके विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परन्तु कई विद्वानों का विचार है कि यास्क ने वैदिक-नास्तिकता को सुगमता से निवारण करने के उद्देश्य से कौत्स को स्वयं ही कल्पित कर लिया है। यह विचार काल्पनिक है और इसे सिद्ध करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं। यास्क जब कोई सामान्य निर्देश करना चाहता है तो वह 'एके, एकम्, अपरम्,' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। यदि उपरिलिखित शास्त्रार्थ का एक विशेष व्यक्ति अर्थात् कौत्स से सम्बन्ध न होता तो यास्क इन्हीं शब्दों का यहां भी प्रयोग कर सकता था। उन विद्वानों के ऐतिहासिक अस्तित्व में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है, जिनके मत को यास्क ने तत्तन्नाम से उद्धृत या निर्दिष्ट किया है अतः जब तक प्रतिपक्ष को सप्रमाण सिद्ध न किया जाए, हम मान सकते हैं कि कौत्स एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। यह भी निश्चित ही समझना चाहिए कि वह एक ऐसे आन्दोलन का नेता था जिसे भौतिकवाद का सजातीय कहा जा सकता है[1]। यह आन्दोलन उस असामान्य साहित्यिक प्रगति का परिणाम था जो, अन्य सम्प्रदायों की तरह, यास्क के समय में विशिष्टता प्राप्त कर चुका था। इसके साथ यह भी निश्चित है कि कौत्स ने इस आन्दोलन को जन्म नहीं दिया था। इसका प्रारम्भ उसके समय से पहले हो चुका था। सम्भवतः इस आन्दोलन की उत्पत्ति साम्प्रदायिकता से हुई हो। अथर्ववेद बहुत समय तक श्रुतिरूप से स्वीकार नहीं किया गया था। अतः अथर्ववेद के अनुयायियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने वेद का ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष दिखलाएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कदाचित् सर्वोत्तम साधन आख्यानकों और रूपकात्मक कथानकों का घढ़ना था। इन कथानकों में चारों वेद भाग लेते हैं, और उनके लिए कोई एक कार्य नियत कर दिया जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को सदा इस कार्य की पूर्ति में असफल दिखलाया जाता है। तीनों वेद क्रमशः उस कार्य को बहुत कठिन समझ कर छोड़ देते हैं। अन्त में अथर्ववेद उस कार्य को पूर्ण करता है। इस प्रकार अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद की महत्ता सूचित की गई है। अपने कथन की पुष्टि के लिए गोपथ ब्राह्मण से हम दो उपाख्यानों को उद्धृत करते हैं:—

१. कौत्स ऐतिहासिक व्यक्ति था तथा उसके द्वारा एक विशिष्ट वर्ग अथवा सम्प्रदाय प्रचलित हुआ इस सम्बन्ध में कविकुलतिलक कालिदास के रघुवंश के पञ्चमसर्ग की कथा प्रमाण है।

"तान् वागभ्युवाच । अश्वः शम्येतेति । तथेति तमृग्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति । तस्मा अविसृप्ताय महद्भयं ससृजे । स एतां प्राचीं दिशं भेजे । स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति । तं यजुर्वेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति । तस्मा अविसृप्ताय महद्भयं ससृजे । स एतां प्रतीचीं दिशं भेजे । स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति । तं सामवेद एत्योवाचाहमश्वं शमेयमिति । केन नु त्वं शमिष्यसीति ? रथन्तरं नाम मे सामाघोरं चाक्रूरं च तेनाश्वोऽभिष्टूयते । तस्मा अथाविसृप्ताय तदेव महद्भयं ससृजे । स एतामुदीचीं दिशं भेजे । स होवाचाशान्तो न्वयमश्व इति" ।

वाणी ने उनको कहा 'इस घोड़े को सिधाओ' 'बहुत अच्छा' उन्होंने उत्तर दिया । ऋग्वेद ने उसके पास जाकर कहा, 'मैं घोड़े को सिधाऊंगा' । अभी वह सिधाने के लिए आगे बढ़ा ही था कि उसे बड़ा भारी भय लगा । अतः वह इस पूर्व दिशा की ओर खड़ा हो गया और उसने कहा 'वस्तुतः यह घोड़ा उच्छृङ्खल है' । यजुर्वेद उसके पास पहुँचा और बोला 'मैं इस घोड़े को सिधाऊंगा' । जब वह इस काम को करने के लिए आगे बढ़ने को ही था कि उसे बड़ा भारी भय लगा । अतः वह पश्चिम दिशा की ओर खड़ा हो गया और उसने कहा 'यह घोड़ा बड़ा उच्छृङ्खल है' । सामवेद उसके पास पहुंचा और कहने लगा 'मैं इस घोड़े को सिधाऊंगा' । 'तुम किस प्रकार इस घोड़े को सिधाओगे' ? मेरा एक साम रथन्तर है जो अभयङ्कर अतएव शान्तिप्रद है । उसमें घोड़े की स्तुति की जाती है' । परन्तु जब वह यह काम करने के लिए अभी आगे बढ़ा ही था कि उसे बड़ा भारी भय लगा । अतः वह उत्तर दिशा की ओर खड़ा हो गया और उसने कहा 'वस्तुतः घोड़ा उच्छृङ्खल है' ।[1]

इन असफल प्रयत्नों के अनन्तर उनको यह सम्मति दी गई कि वे घोड़ा सिधाने में कुशल आथर्वण ऋषि से जाकर प्रार्थना करें । वे उसके पास पहुँच कर घोड़ा सिधाने के लिए प्रार्थना करते हैं । वह शान्ति प्रदान करने वाला जल तैय्यार करता है, और उसे घोड़े के ऊपर छिड़क देता है । घोड़े के प्रत्येक अङ्ग से ज्वालाएं निकलती हैं और पृथिवी पर गिर पड़ती हैं । घोड़ा सर्वथा शान्त होकर ऋषि को नमस्कार करता है ।

इसी प्रकार का दूसरा यह निम्नलिखित आख्यानक बताता है कि तीनों वेद शरण प्रदान करने में असफल रहे:—

"ते देवा इन्द्रमब्रुवन् । इमन्नस्तावद्यज्ञं गोपाय...स वै नस्तेन रूपेण गोपाय येन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि येन शक्ष्यसि गोप्तुमिति । स ऋग्वेदो भूत्वा पुरस्तात्परीत्यो-

१ गोपथ ब्राह्मण १, २, १८, बिब्लियोथीका इण्डिका संस्करण, पृष्ठ ३५ ।

पातिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन्। अन्यत्तद्रूपं कुरुष्व नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शन्दयसि गोप्तुमिति । स यजुर्वेदो भूत्वा पश्चात्परीत्योपातिष्ठत् तं देवा अब्रुवन्। अन्यत्तद्रूपं कुरुष्व। नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शन्दयसि गोप्तुमिति। स सामवेदो भूत्वा उत्तरतः परीत्योपातिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन्। अन्यत्तद्रूपं कुरुष्व। नैतेन नो रूपेण भूयिष्ठं छादयसि नैतेन शन्दयसि गोप्तुमिति"।

देवताओं ने इन्द्र से कहा 'अब हमारे इस यज्ञ की रक्षा कीजिए। अपने उस रूप से हमारी रक्षा कीजिए, जिससे आप हमें अधिक शरण दे सकें, और जिससे आप अच्छी तरह से हमारी रक्षा कर सकें'। उसने ऋग्वेद का रूप धारण किया और जाकर पूर्व दिशा की ओर प्रादुर्भूत हुआ। देवताओं ने उससे कहा, 'कोई दूसरा रूप धारण कीजिए, इस रूप से आप हमें अधिक शरण नहीं दे सकेंगे, इस रूप से आप हमारी अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सकेंगे'। उसने यजुर्वेद का रूप धारण किया और जाकर पश्चिम की ओर प्रादुर्भूत हुआ। देवताओं ने उससे कहा, 'कोई और रूप धारण करो, इस रूप से आप हमें अधिक शरण नहीं दे सकेंगे, इस रूप से आप अच्छी तरह से हमारी रक्षा नहीं कर सकेंगे'। उसने सामवेद का रूप धारण किया और जाकर उनके उत्तर की ओर प्रादुर्भूत हुआ। देवताओं ने उसे कहा, 'कोई और रूप धारण करो, इस रूप से आप हमें अधिक शरण नहीं दे सकेंगे, इस रूप से आप हमारी अच्छी तरह से रक्षा नहीं कर सकेंगे''।

तब इन्द्र ने ब्रह्मवेद, अर्थात् अथर्ववेद का रूप धारण किया। देवताओं ने इस रूप का अनुमोदन यह कह कर किया कि "यह रूप हमारी रक्षा कर सकेगा"।

यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि अथर्ववेद के अनुयायियों को इस प्रयत्न से सफलता मिली, क्योंकि शनैः शनैः अथर्ववेद को भी श्रुति समझ लिया गया। पर दूसरे वेदों के विषय को दूषित करने के लिये उन्होंने जिस पद्धति का अनुसरण किया, उसने लोगों के हृदय में वेदों के विषय में सन्देह और नास्तिकता का भाव पैदा कर दिया। इस प्रकार के विचारों के चिह्न अभी तक भी आरण्यकों और उपनिषदों में इधर उधर बिखरे हुए सन्दर्भों में पाए जाते हैं। आरण्यकों और उपनिषदों में, जो प्राचीन परम्परा के अनुसार, श्रुति का एक भाग हैं वेदविरुद्ध वाक्यों का पाया जाना इस बात को सूचित करता है कि इस प्रकार का आन्दोलन बड़ा व्यापक तथा सार्वदेशिक अतएव प्रभावोत्पादक होगा, कि बहुत से वैदिक विद्वान् भी इसके प्रभाव

---

१ गोपथ ब्राह्मण १, २, १६, बिब्लियोथीका इण्डिका संस्करण पृष्ठ ३७।

से बच न सके, और उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन अवैध विचारों को स्वतन्त्रता से प्रकट किया। हम अपने इस कथन की पुष्टि के लिये कुछ सन्दर्भ उद्धृत करते हैं:—

"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषय: कावषेया: किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे। वाचि हि प्राणं जुहुम: प्राणे वाचं यो ह्येव प्रभव: स एवाप्त:"।

'वस्तुत: यह ऐसे ही था, तब विद्वान् ऋषि कावषेयों ने कहा, 'किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए, हम वेदों का स्वाध्याय करें, और किस लिये यज्ञ करें ? हम वाणी में श्वास की आहुति देते हैं और श्वास में वाणी की आहुति देते है; जो कोई भी उत्पन्न हो, वह वस्तुत: सप्रमाण पुरुष है'' [1]।

"उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवीतो हीदं सर्वमुत्तिष्ठति यदिदं किञ्च[2]"।

'लोग कहते हैं "उक्थ, उक्थ" यह पृथिवी वस्तुत: उक्थ है, क्योंकि सब कुछ, जिसका यहां अस्तित्व है, इसी से उत्पन्न होता है'[2]।

मुण्डक उपनिषद् १. १. ४-५ में वेदों का स्वाध्याय अविद्या माना गया है, और मुण्डक उपनिषद् ३. २. ३ तथा कौषीतकि उपनिषद् . २. २३ में उसको अपकृष्ट विद्या कहा गया है। वेदों की इस निन्दा का पूर्ण आशय तब समझ में आयगा जब यह बात मन में धारण कर ली जाए कि उपनिषद् भी श्रुति मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि संट पाल (St. Paul) अपने किसी पत्र में यह लिख देता कि बाइबल का स्वाध्याय अविद्या है या अपकृष्ट विद्या है; तो यह बात उपनिषद् के ऊपर के कथन के समान होती। निम्नलिखित कुछ अन्य वेद विरुद्ध सन्दर्भ हैं—बृहदारण्यकोपनिषद् १. ५. २३; कौषीतकी उपनिषद् २. ५; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११--२४; तैत्तिरीय उपनिषद् २. ५; विवेक चूड़ामणि २, जैन उत्तराध्यायन सूत्र ४. १२; १४. १२; गीता २. ४२, ४५; ६. २१; ११. ४८, ५३। वैदिक सिद्धान्तों से सङ्गति करने के लिए भाष्यकारों ने इन सन्दर्भों के बड़े चातुर्यपूर्ण परन्तु असफल व्याख्यान किए हैं।

यह सम्भव है कि बुद्ध इस वेदविरुद्ध आन्दोलन के, जिसका प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो गया था, प्रभाव में आगया हो और यही आन्दोलन इस बात का उत्तरदायी हो कि उसने केवल वैदिक यज्ञ, संस्कार, विधि तथा प्रार्थनाओं का ही प्रबल विरोध नहीं किया प्रत्युत वैदिक सम्प्रदाय का ही बहिष्कार कर दिया। बुद्ध ने वेदों की बड़ी खिल्ली उड़ाई। उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रतिबन्ध समझ कर उनकी उपेक्षा की।

---

१ ऐतरेय आरण्यक ३, २, ६; कीथ का संस्करण, पृष्ठ १३६। २ ऐतरेय आरण्यक २, १, २; कीथ का संस्करण पृष्ठ १०१।

दीघनिकाय के तेविज्ज सुत्त में बुद्ध के वेदज्ञानविषयक विचार एक संवाद के रूप में सुरक्षित हैं। दो ब्राह्मण जिनके नाम वासेत्थ और भारद्वाज हैं, इस विषय में झगड़ा करते हैं कि कौन सा मार्ग सच्चा है। अपने शास्त्रार्थ का कोई निर्णय न कर सकने पर वे बुद्ध के पास निर्णय के लिए जाते हैं। बुद्ध उनके साथ सम्भाषण करता है। सोक्रेटीज़ की पद्धति पर अर्थात् उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में वह पहले उन्हें अच्छी तरह से भ्रान्त और क्षुब्ध करके शनैः शनैः अपने विचारों पर ले आता है, और अन्त में उन्हें बुद्धधर्मानुयायी बना लेता है। वेदों के विषय में सम्भाषण के आवश्यक भाग निम्नलिखित हैं—

१३ 'अच्छा तो वासेत्थ, ब्राह्मणों के वह प्राचीन ऋषि, तीनों वेदों के पण्डित ऋचाओं के कर्ता, अर्थात् वामदेव, वेस्सामित्त, जमदग्नि, आङ्गिरस, भारद्वाज, वासेत्थ कस्यप, और भृगु ने........बुद्धि से कभी यह भी कहा कि हम उसे जानते हैं, हमने उसे देखा है, कहां ब्रह्मा है, कहां से उत्पन्न हुआ और किस ओर ब्रह्मा है ?

'नहीं इस प्रकार गौतम !'

१५ '.........वासेत्थ, ठीक ऐसे जैसे कि अन्धे मनुष्यों की पंक्ति में एक अन्धा दूसरे अन्धे को पकड़े रहता है—ना हीं सब से आगे वाला मनुष्य देख सकता है, ना हीं मध्य का और नाहीं सब से पिछला। ठीक ऐसे प्रकार मेरे विचार में, हे वासेत्थ ! तीनों वेदों के बनाने वाले पण्डित ब्राह्मणों की बातें अप्रमाण हैं........तीनों वेदों के पण्डित ब्राह्मणों की बातें.......उपहासास्पद हैं, शब्दमात्रसार, व्यर्थ और शून्य'।

२४ 'और देखो, वासेत्थ, यदि यह अचिरावती नदी तटपर्यन्त जल से भरी हुई हो-और उछलती हो—कोई मनुष्य जिसने दूसरे तट पर किसी काम के लिए जाना हो, नदी पर आए और पार जाना चाहे, और वह इधर के तट के ऊपर खड़े होकर दूसरे तट का आवाहन करे और कहे, हे उधर के तट इस ओर आ जाओ'। 'वासेत्थ, अब तुम्हारा क्या विचार है ? क्या अचिरावती नदी का दूसरा तट उस मनुष्य के आवाहन, प्रार्थना, आशा और स्तुति के बल पर इस ओर आजायेगा' ?

'निस्सन्देह नहीं गौतम !'

२५ "ठीक इसी प्रकार, हे वासेत्थ ! तीनों वेदों में निष्णात ब्राह्मण........इस प्रकार कहते हैं, हे इन्द्र ! हम तेरा आवाहन करते हैं, हे सोम ! हम तेरा आवाहन करते हैं, हे वरुण ! हम तेरा आवाहन करते हैं, हे ईशान। हम तेरा आवाहन करते हैं, हे प्रजापति ! हम तेरा तेरा आवाहन करते हे ब्रह्मा ! हम तेरा आवाहन करते हैं......वास्तव

में, हे वासेत्थ !............क्या वे अपने आवाहन, प्रार्थना, आशा और स्तुति के कारण मृत्यु के अनन्तर.........ब्रह्मा से मिल जायंगे ?

'नहीं ऐसा किसी प्रकार भी हो नहीं सकता।' उन्होंने उत्तर दिया।

३५ "........यही कारण है कि तीनों वेदों के पण्डित ब्राह्मणों की त्रयी विद्या को निर्जल मरु भूमि कहा है, उनकी त्रयी विद्या को मार्गशून्य अरण्य कहा है, उनकी त्रयी विद्या को सर्वनाश कहा है[1]" ।

इसकी विवेचना में यह कहा जा सकता है कि वैदिक प्रार्थनाओं के विषय में बुद्ध के विचार भ्रान्त हैं। उसकी युक्तियां, विशेषत: अचिरावती के तट का सादृश्य, दूसरी किसी प्रार्थना पर भी लागू हो सकता है, और इस तरह प्रार्थनामात्र असङ्गत हो जायगी। प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रार्थना पूजा का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है प्रत्युत तिब्बत के बुद्धधर्म की प्रार्थना प्रार्थनाचक्र के रूप में एक विख्यात विशिष्टता रखती है। सब से बड़ी बात यह है कि प्रार्थना का सम्बन्ध आत्मा से है। स्वात्मा प्रेरित प्रभाव के द्वारा प्रार्थना मन के ऊपर आश्चर्यजनक प्रभाव करती है, और इस प्रकार इसकी सफलता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। दूसरे, बुद्ध ने तट का जो उदाहरण दिया है, वह प्रामादिक है। नदी के तट जैसे निर्जीव पदार्थों की सचेतन सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के साथ तुलना करना, और इस तुलना से यह परिणाम निकाल लेना कि क्योंकि नदी प्रार्थनाओं का कोई उत्तर नहीं देती अत: ईश्वर भी कोई उत्तर नहीं देता, सर्वथा अन्याय है। बुद्ध ने वेदों को जो इस प्रकार दूषित किया उसके कारण उसके शिष्यों में वेदों के प्रति बड़ी घृणा पैदा होगई। ये लोग प्राय: वेदों को पैरों के नीचे कुचल देते थे[2]। यह भी सम्भव है कि बुद्ध के इन उपदेशों ने अन्य वेदविरुद्ध सम्प्रदायों को भी प्रोत्साहित किया। इन सम्प्रदायों के अनुयायियों ने वेदों के विरुद्ध जो आक्षेप किए हैं, वे भी इसी प्रकार तीव्र हैं, और उनके कथनों में भी बुद्ध के शब्दों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है—

"इति चेत् तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टमीष्टे। अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषैर्दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तवकै: परस्परं कर्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिर्ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञान-

---

१ The Dialogues of Buddha, रिह्स डैविडस् (Rhys Davids) का इङ्गलिश अनुवाद, S. B. E. भाग २ पृष्ठ ३०४—१४, S. B. E. भाग ?? पृष्ठ १५६-२०३ की भी तुलना करो। २ देखो, शङ्करदिग्विजय, बौद्धमठ में कुमारिलभट्ट के जीवन की कथा।

काण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेनाग्नि-होत्रादेर्जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्। तथा चाह भाणकः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥"

यदि तुम यह कहो कि यदि यज्ञादिक व्यर्थ हों तो बड़े २ अनुभवी और बुद्धिमान् पुरुष अग्निहोत्र और अन्य यज्ञ क्यों करते ? तुम्हारा यह आक्षेप हमारे पक्ष का निराकरण नहीं करता क्योंकि अग्निहोत्र आदिक तो केवल जीवननिर्वाह के लिए ही उपादेय हैं। वेद असत्य, पूर्वापरविरोध और पुनरुक्ति इन तीन प्रकार के दोषों से दूषित हैं—फिर दाम्भिक लोग जो अपने आप को वेदों का पण्डित कहते हैं, परस्पर एक दूसरे के मत का निराकरण करते हैं। कर्मकाण्डी लोग ज्ञानकाण्डियों का खण्डन करते हैं और ज्ञानकाण्डवाले कर्मकाण्डियों का। दूसरे, स्वयं तीनों वेद धूर्त मनुष्यों के असम्बद्ध प्रलापमात्र हैं। इस सम्बन्ध में लोगों में एक कहावत भी प्रसिद्ध है:—बृहस्पति कहता है कि अग्निहोत्र, का अनुष्ठान तीनों वेद, त्रिपुण्ड अर्थात् मस्तक पर भस्म पोतना उन लोगों की जीविका के निमित्त हैं जिनमें न बुद्धि है और न पौरुष[1]। 'ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जा सकता है तो यजमान अपने पिता को ही उसमें मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता' ? वेदों के बनाने वाले तीन थे—भण्ड धूर्त और निशाचर। जर्फरी, तुर्फरी आदिक शब्द पण्डितों के प्रसिद्ध असम्बद्ध प्रलाप हैं[2]।' आर्हत सम्प्रदाय वालों ने वेदों के ऊपर निम्नलिखित आक्षेप किया है—

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते॥

इसकी भी तुलना कीजिए:—'तब सामवेद नहीं था, न यजुर्वेद था, न ऋग्वेद था, नाहीं मनुष्य द्वारा रचा हुआ कोई ग्रन्थ था'।

प्राचीन वेदविरुद्ध नास्तिकता ने, और बौद्ध, चार्वाक, आर्हत सम्प्रदायों के सिद्धान्तों ने समय पाकर वेदों की शिक्षा के विरुद्ध अवश्य बड़ा भारी लोकमत खड़ा कर दिया होगा। अतः वैदिक धर्मानुयायियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करें।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण पृष्ठ ३। २. पूर्वनिर्दिष्ट—पृष्ठ ६। ३. पूर्वनिर्दिष्ट, पृष्ठ २८। ४. महाभारत, वनपर्व, ९१. २. ३४.।

जैमिनि ने पूर्व मीमांसा का प्रायः सारा का सारा पहला अध्याय ऐसे ही आक्षेपों के विवेचन तथा खण्डन में समाप्त किया है। पूर्वमीमांसा के पहले अध्याय में कुत्स के आक्षेपों का सार और यास्क का उत्तर बहुत से परिवर्धनों के साथ लिखा है। वह शास्त्रार्थ बहुत विस्तृत है अतः यहां उद्धृत नहीं किया जा सकता। पूर्वमीमांसा के भाष्यकार कुमारिलभट्ट भी वैदिक सिद्धान्तों के प्रसिद्ध व्याख्याता थे। उनके अनन्तर यह कार्यभार श्रीशङ्कराचार्य जी पर पड़ा। उन्होंने अपनी वग्मिता, विद्वत्ता और गम्भीरदार्शनिकता से वैदिक धर्म की नष्ट-भ्रष्ट महत्ता को पुनः स्थापित किया, और अपनी जन्म-भूमि अर्थात् भारतवर्ष से बौद्धधर्म तथा दूसरे वेदविरुद्ध सम्प्रदायों का विध्वंस कर दिया।[1] पर श्रीशङ्कराचार्य की मृत्यु के अनन्तर भी वेदों की विषम विवेचना करने वाले लोगों का सर्वथा अन्त नहीं हुआ। उदाहरण के लिए सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक गुरुनानक एक प्रसिद्ध शिक्षक थे, जिन्होंने पवित्र जीवन पर बहुत अधिक बल दिया है, और वेदों को केवल कल्पनात्मक कहानियों की पुस्तक कह कर उनकी उपेक्षा कर दी है। उन्होंने कहा—"सन्त की महिमा वेद न जाणे, चारों वेद कहानी।"

यह स्वाभाविक नियम है कि वादी तथा प्रतिवादी अपने से पहले की उक्तियुक्तियों का खण्डन किया करता है। पूर्ववर्ती वादी अथवा प्रतिवादी के सिद्धान्त का निरन्तर खण्डन तभी समाप्त होता है जब तदुत्तरभावी उसके खण्डन करने की क्षमता न रख सके। तदनन्तर जब किसी समर्थ आचार्य का उद्भव होता है तब वह फिर स्वप्रतिकूल सिद्धान्त का निराकरण करता है। इसी नियम के अनुसार जगद्गुरु स्वामी शङ्कराचार्य के अनन्तर आए हुए आक्षेपों का निराकरण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवाचस्पतिमिश्र इत्यादि ने किया। और इसी प्रकार वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य ने भी ऋग्वेदभाष्य-भूमिका के रूप से स्वपूर्ववर्ती प्रतिवादियों के आक्षेपों का समाधान किया। विशेषतः वेदभाष्यकार के लिए यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह वेदभगवान् की अनादिनिधनता तथा प्रमाणमूर्धन्यता को प्रतिवादी के कुतर्कों से सुरक्षित रखे। यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि यद्यपि मीमांसादिशास्त्रों ने श्रीसायणाचार्य से पहले ही उस विषय को पर्याप्त प्राञ्जल बना दिया था और सायणाचार्य ने भी प्रायः श्रीजैमिनि के सूत्रों को एवं उसकी युक्तियों को ही सञ्चारित किया है तथापि नास्तिकता का यह विषाक्त वायु जो अपने अप्रतिहत वेग से फैल चुका था उसका प्रभाव मन्द नहीं हुआ था वह उत्तरोत्तर साङ्क्रामिक रोग की तरह बढ़ता ही जा रहा था। अत एव सायणाचार्य को

---

१ पर अन्तिम आघात यवन आक्रमणकारियों का हुआ, जिन्होंने उत्तरी भारत में बौद्धमठों को नष्ट किया था।

वेदों के व्याख्यान से पूर्व उनकी स्वतःप्रमाणता को पुनः नये सिरे से सिद्ध करने के लिए लेखनी उठानी पड़ी, उपोद्घात के रूपसे प्रतिवादियों की उक्तियों का मार्मिक एवं समयोचित व्यञ्जनात्मकशैली के द्वारा प्रतिवाद करना पड़ा। अन्य लम्बे शास्त्रार्थों को यहाँ उद्धृत न करते हुए केवल वेदों की व्याख्येयता को अथच तदङ्गभूत वेदों की सत्ता तथा स्वतःप्रमाणता को सिद्ध करने के लिए जो उक्तिप्रत्युक्तियां काम में लाई गईं हैं उनका ही दिग्दर्शन पर्याप्त प्रतीत होता है¹।

सबसे पहले वेदों की सत्ता के विषय में ही आपत्ति उठाई जाती है। "वेद हैं ही क्या चीज़"? इसके साथ ही साथ यह कहा जाता है कि "वेद व्याख्येय कैसे हो सकते हैं"? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर देने से पहले इन दोनों के स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। अर्थात् पहला प्रश्न किस अंश पर कटाक्ष करता है और दूसरा प्रश्न किस अंश पर? बात यह है कि सायणाचार्य ने दोनों शीर्षकों में क्रमशः "ननु वेद एव तावन्नास्ति...........न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वाऽस्ति" "नन्वस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित्पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति —न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य दुरुपपादत्वात्" इस प्रकार एक सी ही बात चलाई है। "वेद हैं ही नहीं क्योंकि उसका न तो कोई लक्षण किया जा सकता है और नाँ ही कोई उसमें प्रमाण दिया जा सकता है"। "अस्तु, माना कि वेद कोई चीज़ है, पर वह व्याख्यान के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें प्रमाण का लक्षण सङ्गत नहीं होता"। ये दोनों विषय वस्तुतः भिन्न होते हुए भी एक से प्रतीत हैं तो इन में भेद क्या है?

प्रथम आक्षेप से वेदनामक पदार्थ की वस्तुसत्ता पर ही प्रहार किया गया है, उनकी अनादिता का माना जाना तो दूर रहा। वेद का वेदत्व कुछ नहीं यह बताया गया है। कहीं के गपोड़े उठाकर ले आये और उनका नाम वेद रख दिया। वेद का जो अर्थ 'वेद' शब्द से प्रकट होता है उसका उसके संज्ञी में नितरां अभाव है और यदि यदृच्छया जिस किसी को भी वेद नाम से पुकारा जाता है तो संसार की बहुत सी पुस्तकें 'वेद' कही जा सकती हैं। 'मन्त्र और ब्राह्मण' क्या हैं अभी कुछ निश्चित ही नहीं। वेद 'वेद' नहीं कहा जा सकता। अत एव प्रतिवादी वेद को सामा-

---

१ देखो, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का संस्करण भाग १ पृष्ठ २-३। पीटरसन (Peterson) ने अपनी पुस्तक Handbook to the study of the Ṛgveda भाग १, में सायणभाष्य की भूमिका का मूल भाग इङ्गलिश अनुवादसहित दिया है।

न्येन पौरुषेय सिद्ध करना चाहता है जिससे उनकी अनादिता नष्ट हो जाय।

द्वितीय आक्षेप का यह अभिप्राय है कि यदि 'मन्त्र और ब्राह्मण' को 'वेद' कह भी दिया जाय तो वह प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण 'वेद' के वास्तविक अर्थ से रहित हैं क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण में असम्बद्ध प्रलापों की ही भरमार है। अतएव अप्रमाण होने के कारण उनका व्याख्यान अपेक्षित नहीं है। जिस वस्तु से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उसका उपदेश अथवा व्याख्यान अकिञ्चित्कर होने के कारण निष्फल है। अतः इन दो कारणों से 'वेद' कुछ भी पदाथ सिद्ध नहीं होता। किसी भी पदार्थ की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम उसके लक्षण की आवश्यकता है तदनन्तर उसमें प्रमाण के रूप में किसी आप्तवचन की। जैसे 'गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्' यह पृथिवी का लक्षण है और नववर्षोदविन्दु के द्वारा क्षेत्रादि में गन्ध का प्रत्यक्ष अनुभव है अतः 'पृथिवी' द्रव्य की सिद्धि होती है। इसी प्रकार वेद में लक्षण और प्रमाण इन दोनों का होना तो दूर रहा एक भी नहीं मिलता। वेद का न तो कोई लक्षण किया जा सकता है और न कोई इस में प्रमाण ही दिया जा सकता है।

१. यदि वेद का 'आगमात्मकत्वं वेदस्य लक्षणम्' यह लक्षण किया जाय तो आगमात्मकता 'आगमः शास्त्र आयाते' इत्यादि विश्वकोषादि के वचनों के अनुसार शास्त्रमात्र 'वेद' कहाने लगेंगे अतः 'अतिव्याप्ति' दोष आ जायगा।

२. यदि उक्तदोष के निराकरण के लिए शास्त्रमात्र को आगम न मानते हुए 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनत्वम् आगमत्वम्' अर्थात् शब्दब्रह्म के यथार्थ साङ्केतिक ज्ञान के कारण जो ग्रन्थ अतीतानागतादि अतीन्द्रिय वस्तुओं का भी अनुभव करा सके वह आगम होता है, यह आगमलक्षण किया जाय, और ऐसा आगम वेद ही हो सकता है शास्त्रमात्र नहीं, तो भी चाहे सारे शास्त्रों में अतिव्याप्ति न जाय मन्वादि स्मृतियों में तो वह दोष रहेगा ही।

३. मन्वादि स्मृतियों में वेदलक्षण अतिव्याप्त न हो इस लिए यदि वेद के 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनत्वे सति अपौरुषेयत्वं वेदत्वम्' इस निष्कृष्ट लक्षण में अपौरुषेयत्वनिवेश किया जाय तो प्रत्युत 'अव्याप्ति दोष' ही आ जाता है क्योंकि वेद भी अपौरुषेय नहीं हैं। 'इतो गर्तमितः कूपः'।

४. यदि उक्त निष्कृष्ट लक्षण के 'अपौरुषेयत्व' से 'शरीरधारिपुरुषकर्तृरहितत्व' अभिप्रेत हो अर्थात् 'वेद उस आगम को कहते हैं जो शब्दशक्ति के समुचित ज्ञान के कारण अतीन्द्रिय विषयों का अच्छी तरह अनुभव करा सके और अत एव

शरीरधारी पुरुष के द्वारा विरचित न हो' तो 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि वेदवचनों से ही वेदविरचयिता पुरुष भी देहधारी सिद्ध होता है अतः फिर भी पूर्वोक्त 'अव्याप्ति' दोष रहता ही है।

५. यदि 'पूर्वजन्मार्जित कर्मफल के द्वारा जो जीव देहधारी हैं उनसे जो न बनाया गया हो' अपौरुषेय का यह अर्थ किया जाय तो भी काम नहीं चलता क्योंकि वेदों को क्रमशः अग्नि, सूर्य और वायु ने बनाया है जिनका कि कर्मफलरूपशरीर-धारिजीवत्व उभयमत सिद्ध है। अतः 'अव्याप्ति दोष' हटता ही नहीं।

६. इस प्रकार इस लम्बे लक्षण से कार्यसिद्धि न देखते हुए यदि 'मन्त्र-ब्राह्मणान्यतरात्मकत्वं वेदत्वम्' यह सीधा लक्षण किया जाय तो 'स्वरूपासिद्धि' दोष आ जाता है। अर्थात् 'इतने मन्त्र हैं और ये ब्राह्मण हैं' यह विषय अभी तक निर्णीत ही नहीं हो सकता है।

७. इस प्रकार वेद का कोई भी निर्दोष लक्षण नहीं हो सकता। अब रही प्रमाण की बात। सो वेद के अस्तित्व में कोई प्रमाण भी नहीं है। अपने पक्ष के समर्थन के लिए वेदों से प्रमाण उद्धृत करना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से 'आत्माश्रय दोष' आ जाता है। अपनी सिद्धि के लिए अपना ही कथन पर्याप्त नहीं होता। उसी बात का उपहास करने के लिए 'न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवेत्' यह तटस्थ उक्ति उपस्थित की गई है। अतः वेद की सत्ता में कोई उभयमत-सिद्ध प्रमाण नहीं। जो प्रमाण श्रुति, स्मृति अथवा अन्य तन्मूलक ग्रन्थों से उपलब्ध होते हैं वे सब अनैकान्तिक अथवा केवलवादिसम्मत हैं। उन्हें प्रतिवादी स्वीकार नहीं कर सकता। अतः उनकी सिद्धि के लिए किसी तटस्थ प्रमाण की आवश्यकता है जिसे प्रतिवादी को भी मानना पड़े। अतः वेदसिद्धि में प्रमाणा-भाव भी सिद्ध हुआ।

८. यदि लोकमत को वेदों की सत्ता में प्रमाण माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि सारे संसार को भी भ्रान्ति होती है उदाहरण के लिए, लोगों में प्रसिद्ध है 'अकाश नीला है' पर वास्तव में 'आकाश' नाम की वस्तु ही नहीं, फिर उसके नीले रङ्ग में क्या तथ्य हो सकता है?

इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर प्रतिवादी वेदों की सत्ता, अपौरुषेयता और अतएव उनकी अनादिता एवं अनन्तता को समूलोन्मूलन करना चाहता है परन्तु उसके प्रतिवाद के लिए इस प्रकार विचार किया जा सकता है कि वेद का 'मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदत्वम्' यह लक्षण निर्दोष है और उनका अर्थात् मन्त्र और

ब्राह्मण का स्वरूपनिरूपण किया जा चुका है। 'याज्ञिकसमाख्यानशालित्वम् मन्त्रत्वम्' 'मन्त्रव्यतिरिक्तत्वे सति वेदत्वं ब्राह्मणत्वम्' अर्थात् "याज्ञिकों की यज्ञविषयक आवश्यकताओं का जो प्रतिपादन करे वह मन्त्र हैं और मन्त्र से अवशिष्ट जो वेदभाग है वह ब्राह्मण है" यह इन दोनों का निर्दोष लक्षण है। इस प्रकार लक्षण के द्वारा 'वेद' पदार्थ की सिद्धि होती है, और उसके प्रमाण के रूप में भी 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि...' 'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' इत्यादि अनेक श्रुति स्मृति उपस्थित की जा सकती हैं। वेद के विषय में 'आत्माश्रय दोष' नहीं दिया जा सकता क्योंकि वेद अपौरुषेय होने के कारण सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। संसार में भी 'सूर्य चन्द्र' आदि स्वतःप्रकाश अनेक पदार्थ विद्यमान हैं तो वेद के स्वतः-प्रकाश होने में क्या सन्देह हो सकता है ? या इस सम्बन्ध में यूं कहा जा सकता है कि यदि उदाहरण से ही वस्तु सिद्धि होती हो तो उदाहरण देने में वक्ता स्वतन्त्र है वह चाहे जिस किसी तत्सम पदार्थ का उदाहरण दे सकता है। प्रतिवादी यदि घटपट आदि परतः प्रकाश पदार्थों का उदाहरण देते हैं तो सिद्धान्ती 'सूर्य चन्द्र' आदि 'स्वतः प्रकाश' पदार्थों का उदाहरण देकर वेदों की स्वतः प्रमाणता सिद्ध कर सकता है। और लोकमत के विषय में यह जो कहा था कि लोकमत भ्रान्त भी हो सकता है सो ठीक है परन्तु वेदों की स्वतः प्रमाणता भ्रान्त नहीं क्योंकि भ्रान्ति का नियमेन उत्तर काल में बाध होता है किन्तु वेदों के स्वतःप्रामाण्य का कभी भी बाध नहीं देखा गया इस प्रकार लक्षण और प्रमाण दोनों की साक्षिता से वेदों की सत्ता सिद्ध होती है। अब रही वेदों की व्याख्येयता की बात। सो वे अवश्यमेव व्याख्यानार्ह हैं। उन्हें अवश्यमेव प्रमाण मानना चाहिए। अपौरुषेय अनादि और अनन्त वेद भी यदि प्रमाण नहीं माने जायेंगे तो और कौन प्रमाण हो सकता है ? अथच उनमें प्रमाण के दोनों प्रकार के 'अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणत्वम्' और 'सम्यगनुभवसाधनत्वं प्रमाणत्वम्' ये लक्षण सङ्गत होते हैं। कहीं कहीं पर जो कुछ इनका विरोध प्रतीत होता है वह विरोध नहीं विरोधाभास है। उस विरोध के आभास का वैदिक विद्वानों से निराकरण कराना चाहिए। इससे वेदों की प्रमाणता नष्ट नहीं होती क्योंकि यह अपना ही दोष है। 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्', सन्देह उत्पन्न होना विद्वान् का धर्म है पर उसका निराकरण करना भी उसका ही धर्म है। अपने सन्देह तथा असामर्थ्य से स्वतःसिद्ध तथा स्वतः प्रमाण पदार्थ का कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है।

इसके साथ ही साथ यह भी जान लेना चाहिए कि वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं। काठक,

कौथुम, तैत्तिरीय आदि संज्ञाओं से उन उन को उन उनका कर्ता नहीं समझना चाहिए। वास्तव में जिस २ ऋषि ने जिन जिन सूक्तों का साक्षात्कार किया उस उस ऋषि की संज्ञा से उन उन सूक्तों की भी संज्ञा हुई हैं क्योंकि उस सम्बन्ध में इनका नाम ही प्रमाण है। ऋषि कहते ही देखने वाले को हैं, 'ऋषिर्दर्शनात्' 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' साक्षात् जगत्स्रष्टा ने भी वेदों की रचना नहीं की अपितु उनका उपस्थापन किया है अतएव यह श्रुति चरितार्थ होती है कि 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इसी को व्यास भगवान् भी अपने ब्रह्मसूत्रों में प्रमाणित करते हैं। 'वाचा विरूप-नित्यया' यह साक्षात् श्रुति भी इसी की साक्षी है। अतएव वेदों की नित्यता भी सत्यापित है।

इस विषय में एक अन्य प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। पातञ्जल महाभाष्य की यह परिहासोक्ति इस सम्बन्ध में भी सङ्गत होती है कि जैसे जलाभिलाषी पुरुष अपने जल रखने के लिए कुम्भकार से घड़ा बनाने को कहता है, उस प्रकार शब्दप्रयोगाभिलाषी पुरुष वैयाकरण से यह नहीं कहता कि 'कुरु शब्दान् अहं प्रयोक्ष्ये' शब्द बनाओ मैं उनका प्रयोग करूंगा। तात्पर्य यह है कि शब्द निर्माण की वस्तु नहीं। अतएव शब्दसमूहरूप वाक्य एवं वाक्यसमूहरूप वेद भी निर्मेय नहीं है। 'शब्द तथा उन का अर्थ एवं उन दोनों का सम्बन्ध ये तीनों चीजें नित्य हैं'। 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' के आशय से कौन पदवाक्य प्रमाणप्रवीण परिचित नहीं है ? इससे परिचित होने पर कौन दुराग्रही वेदों की पौरुषेयता को सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न करेगा ? क्या नित्यवस्तु का भी कोई कर्ता होता है ? कार्य होते ही वस्तु की नित्यता का नाश हो जाता है। अतः सर्वसम्मति से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होनी चाहिए।

एक बात और, वह यह कि 'वेद' विद्धातु से निष्पन्न होता है। विद्धातु प्रधानतया चार हैं।

सत्तायां[1] विद्यते, ज्ञाने[2] वेत्ति, विन्ते विचारणे[3]।

विन्दते विन्दति प्राप्तौ[4] श्यन्, लुक्, श्नम्, शेषु च क्रमात्'।

पञ्चम विद्धातु चुरादि की है जो कि इनका ही अनुवाद है। अतः 'वेद' इन सब धातुओं से निष्पन्न होता हुआ अपने अपने विशेष अर्थ को प्रकट करता है। सदा सनातनरूप से विद्यमान रहने वाला[1], सर्वोत्कृष्ट परज्ञान का प्रतिपादक[2], सन्ततचिन्तनीय[3] अतएव परमपुरुषार्थ का प्राप्तिसाधन[4] शब्दराशि 'वेद' संज्ञा से व्यवहृत होता है। इस वेद की परिभाषा में चुरादि गण की

चेतनाख्याननिवासार्थक पञ्चम विद्धातु की भी गणना करने से वेद का महत्त्व और भी द्योतित होता है। वेद उस शब्दराशि की संज्ञा है जो समानतया सनातनावस्थायी, परज्ञानप्रतिपादक, निरन्तरानुशीलनीय, संसारिजीव-चेतनानुविधायी, सद्व्याख्यातव्य एवं जगन्निवास होता हुआ परमपुरुषार्थ को प्राप्ति कराने वाला हो। वेद के इस निष्कृष्ट तथा सकलसहृदयसंवेद्य लक्षण से वेदों की स्वत:सिद्धता, स्वत:प्रमाणता व्याख्यानार्हता एवं स्व:प्रकाशता तथा अभ्युदयनि:श्रेयससाधनता स्वत:सिद्ध हो जाती है।

यहां उन सन्दर्भों को उद्धृत करना जो वेदों के पक्ष में है, व्यर्थ है। वेद समस्त संस्कृत साहित्य की नींव हैं। वैदिक सभ्यता की सफलता केवल एक इसी बात से प्रकट है कि वेदों के विरुद्ध जितने भी सम्प्रदाय खड़े हुए वे या तो नष्ट हो गए, या उन्हें दूसरे देशों में धकेल दिया गया और या वे नाममात्र को ही बचे रह गए। इस प्रकार बुद्ध से पहले की वेदविरुद्ध नास्तिकता का चिन्ह इधर उधर बिखरे हुए कुछ ही सन्दर्भों में पाया जाता है। बौद्धधर्म, जो कि अशोक के समय में उन्नति के शिखर पर पहुंचे हुए मौर्यवंश के संसार में सबसे समृद्ध साम्राज्य का राजधर्म था—अपनी जन्मभूमि से निर्वासित कर दिया गया। चार्वाक और आर्हत सम्प्रदाय केवल नाम लेने को ही रह गए हैं। उनके अनुयायी बहुत थोड़े हैं, और भारतीय विचार तथा धर्म पर उनका प्रभाव इतना न्यून है कि सारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए बिना किसी क्षति के उनकी उपेक्षा की जा सकती है।

सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में राजनीति

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल., लाहौर]

मानसोल्लास का कर्ता—

मानसोल्लास के कर्ता चालुक्यवंश के राजा सोमेश्वरदेव हैं । मानसोल्लास में ही उन्होंने इस बात को स्पष्ट कर दिया है । पहले प्रकरण के पहले अध्याय में सोमेश्वर ने लिखा है :—

चालुक्यवंशतिलकः श्रीसोमेश्वरभूपतिः ।
कुरुते मानसोल्लासं शास्त्रं विश्वोपकारकम् ॥
शिक्षकः सर्ववस्तूनां जगदाचार्यपुस्तकः ।
अभ्यस्योऽयं प्रयत्नेन सोमभूपेन निर्मितः ॥

इन पद्यों के अनुसन्धान के अनन्तर मानसोल्लास के सोमेश्वरकर्तृत्व में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहता । तो भी सोमेश्वर ने प्रथम प्रकरण के अन्तिम पद्य में इसी बात की पुष्टि कर दी है :—

राज्यप्राप्तेर्नृपकुलभुवामित्युपायोपदेशः
सम्यक् सोमेश्वरनृपतिना गर्भसारस्वतेन ।
चक्रे चन्द्रप्रतिमयशसा रञ्जनाय प्रजानां
पुण्यौघानामपि च महतां वृद्धये बुद्धये च ॥२०८॥

प्रथम प्रकरण के समाप्तिवाक्य से इस विषय में कुछ अधिक सूचना मिलती है :—

"इति श्रीमहाराजाधिराज-सत्याश्रयकुलतिलक-चालुक्याभरण-श्रीमद् भूलोकमल्ल-श्रीसोमेश्वरदेव-विरचितेऽभिलषितार्थचिन्तामणौ[1] मानसोल्लासे राज्यप्राप्तेर्हेतूपायकथने प्रथमं प्रकरणम् ।"

स्पष्ट है कि सोमेश्वरदेव 'भूलोकमल्ल' पद से विख्यात थे । इनके कुल का महापुरुष सत्याश्रय था ।

---

१. मानसोल्लास का दूसरा नाम अभिलषितार्थचिन्तामणि है ।

सोमेश्वर में विशेषता है कि वे अपनी कृति में अपने नामोल्लेख तथा परिचय को अच्छा समझते हैं। मानसोल्लास के दूसरे प्रकरण के अन्तिम दो पद्यों में भी उन्होंने अपना परिचय दिया है :—

इति सुमतिरुपायं विंशतिं सोमपृथ्वी-
पतिरकथयदेतान् राज्यलक्ष्मीस्थिरत्वे ।
निखिलनृपतिचूडाचुम्बिरत्नांशुरेखा-
विरचितचरणाब्जश्शासितुं राज्यवश्यान्[1] ॥
राज्यस्थैर्यनिमित्तानि प्राप्तराज्यस्य भूपतेः ।
विंशतिं सोमभूपालः कृतवान्नीतिकोविदः ॥

तीसरे प्रकरण में राजा के उपभोगों का वर्णन है। प्रत्येक उपभोग-वर्णन के अन्तिम पद्य में सोमेश्वर का नाम आता है। उदाहरणार्थ—गृहोपभोग-वर्णन का अन्तिम पद्य इस प्रकार है :—

ऋतुकालविभागेन गृहभोगः प्रकीर्तितः ।
एवं गृहोपभोगोऽयं कथितस्सोमभूभुजा ॥

मानसोल्लास के सोमेश्वरकर्तृत्व-प्रतिपादक अन्तरङ्ग प्रमाणों में से तीसरे प्रकरण के अन्तिम दो पद्य भी हैं। उनका यहां पर उद्धरण सर्वथा सङ्गत ही रहेगा :—

राज्ञस्सप्ताङ्गपूर्णस्य निश्शेषीकृतवैरिणः ।
विंशतिं प्राह भोगानां श्रीमान् सोमेश्वरो नृपः ॥
कन्दर्पोत्सवहेतुमद्भुतलसत्प्रोल्लासलीलास्पदं
विद्वन्मानुषरञ्जनीं जनतया सङ्कीर्तितां प्रत्यहम् ।
साश्चर्यामुपभोगविंशतिमिमां सोमेश्वरोर्वीपति-
र्वाग्देवीकुलनन्दनः कथितवान सर्वार्थसंसिद्धये ॥

उद्धृत स्थलों की विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मानसोल्लास के कर्ता राजा सोमेश्वर हैं। राजा सोमेश्वर चालुक्यवंश में सत्याश्रय कुल के थे। इन्हें 'भूलोकमल्ल' पद से पुकारा जाता था।

१. यह पद्य डा० शामशास्त्रि द्वारा सम्पादित मानसोल्लासापरपर्याय अभिलषितार्थचिन्तामणि में मिलता है; किन्तु श्रीविनयतोष भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित मानसोल्लास में नहीं मिलता।

मानसोल्लास के सोमेश्वरकर्तृत्व में आपत्ति—

निर्दिष्ट प्रमाणों द्वारा मानसोल्लास के सोमेश्वरकर्तृत्व सिद्ध होने पर भी एक संशयात्मक विचार प्रकट होता है कि मानसोल्लास के कर्ता यदि सोमेश्वर थे तो उन्होंने मानसोल्लास में आत्मप्रशंसा क्यों कर की। आत्मप्रशंसा का उदाहरण दूसरे प्रकरण में सोमेश्वर का समुद्र से सादृश्य है :—

पक्षच्छेदभयायातभूभृद्रक्षाविधायिनः।
उपमां बिभ्रतः साक्षात्सोमेश्वरमहीभुजः॥ ३७१॥

इस पद्य में सोमेश्वर उपमेय हैं। समुद्र के साथ अपनी तुलना करते हुए सोमेश्वर आत्मप्रशंसा के दोष से छूट नहीं सकते। ग्रन्थ में सोमेश्वर की स्तुति होने के कारण अनुमान हो सकता है कि सोमेश्वर के राज्य में किसी पण्डित ने इस ग्रन्थ की रचना की हो और सोमेश्वर की इच्छा के अनुसार किसी लोभ में आकर सोमेश्वर को इस ग्रन्थ का कर्ता माना हो। संस्कृत-साहित्य में ऐसे उदाहरण मिलते भी हैं। अन्यकर्तृत्व के होने पर भी नागानन्द नाटक हर्षकर्तृत्व से प्रसिद्ध है। किन्तु नागानन्द आदि ग्रन्थों के अन्यकर्तृत्व पर हमें कुछ निश्चित प्रमाण मिलते हैं। मानसोल्लास के सोमेश्वरव्यतिरिक्त कर्तृत्व पर हमें कहीं से प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी दशा में जब तक हमें मानसोल्लास के कर्ता सोमेश्वर से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति का यथार्थ परिचय न मिले तब तक आत्मप्रशंसा के कारण ही सोमेश्वर को मानसोल्लास का कर्ता न मानना ठीक नहीं। मान भी लिया जाय कि सोमेश्वर ने किसी पण्डित के द्वारा मानसोल्लास को लिखवाया और उस पर अपना नाम दे दिया, तो भी शङ्का पैदा होती है कि यदि सोमेश्वर ने ग्रन्थ पर अपना नाम देना था तो उस में आत्मप्रशंसा का पद्य क्यों रखने दिया। जो अन्यरचित ग्रन्थ पर अपना कर्तृत्व अङ्कित करते हुए उस ग्रन्थ में आत्मप्रशंसा को रखने देता है वह पुरुष स्वरचित ग्रन्थों में भी आत्मप्रशंसा कर सकता है। अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि केवल आत्मप्रशंसा के कारण ही मानसोल्लास के सोमेश्वरकर्तृत्व में आपत्ति नहीं आनी चाहिये। इसके अतिरिक्त राजशेखर आदि कुछ संस्कृत कवियों के प्रबन्धों में आत्मप्रशंसा के पर्याप्त उदाहरण भी मिलते हैं।

सोमेश्वर की वंशावली—

मानसोल्लास के प्रथम प्रकरण के समाप्तिवाक्य में "चालुक्याभरण श्रीमद् भूलोकमल्ल श्रीसोमेश्वरदेव" लिखा है। इतिहास में चालुक्यवंश के सोमेश्वर तृतीय ही 'भूलोकमल्ल' पद से विख्यात हैं। ये विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र थे।

चालुक्यवंश में विक्रमादित्य द्वितीय का विशेष स्थान है। याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा टीका के रचयिता विज्ञानेश्वर इनकी राजसभा के प्रसिद्ध पण्डित थे। इन्हीं विक्रमादित्य का चरित्र कश्मीर के धुरन्धर पण्डित बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित में लिखा है। विक्रमादित्य द्वितीय एक सच्चरित्र नीतिनिपुण प्रसिद्ध योद्धा हुए हैं। आश्चर्य है कि सोमेश्वर ने ऐसे प्रसिद्ध, विद्वत्प्रिय, वीरशिरोमणि पिता का मानसोल्लास में कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

चालुक्यवंश दो श्रेणियों में विभक्त है। ग्रन्थकर्ता सोमेश्वर तृतीय दूसरे चालुक्य वंश में से है। इस वंश का वृत्त इस प्रकार है :—

तैलप [राज्यारोहणवर्ष ई. स. ९७३ = शकसं ८९५. इन्होंने २४ वर्ष राज्य किया]

- सत्याश्रय [राज्यारोहणवर्ष ई. स. ९९७ = शकसं. ९१९]
- जयसिंह [ई. स. १०१९ = शकसं. ९४१ के शिलालेख मिलते हैं। शासनान्तकाल ई.स.१०४० = शकसं. ९६२ है]
    - सोमेश्वर प्रथम [राज्यारोहणवर्ष ई.स. १०४० = शकसं. ९६२ मृत्युसमय ई. स. १०६९ = शकस. ९९१. ये त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल इन पदों से विभूषित थे]
        - सोमेश्वरदेव द्वितीय [इन्होंने अल्पकाल तक
        - विक्रमादित्य द्वितीय [राज्यारोहणवर्ष
        - जयसिंह
- दशवर्मन्
    - विक्रमादित्य प्रथम [राज्यारोहणवर्ष ई.स.१००८ = शक सं. ९३०]

राज्य किया]

ई. स. १०७६=शकसं ६६८
इन्होंने ५० वर्ष तक राज्य किया]

सोमेश्वरदेव तृतीय
[राज्यारोहणवर्ष ई. स. ११२७=शकसं. १०४८.
ये 'भूलोकमल्ल' पद से विख्यात थे। इन्होंने
केवल ग्यारह वर्ष राज्य किया है]

जगदेकमल्ल] [राज्यारोहणवर्ष ई. स.
११३८=शकसं. १०६०

प्रायः इतिहासकारों ने चालुक्यवंश की इस द्वितीय श्रेणी को चालुक्यवंश की प्रथम श्रेणी से मिला दिया है। उनके अनुसार सोमेश्वरदेव तृतीय के पिता विक्रमादित्य द्वितीय विक्रमादित्य षष्ठ हो जायेंगे, क्योंकि चालुक्यवंश की प्रथम श्रेणी में चार विक्रमादित्य हो चुके हैं। किन्तु इन दोनों श्रेणियों को मिलाना ठीक नहीं। पूर्वकालीन चालुक्य राजा अपने को मनुकुल का बताते हैं किन्तु उत्तरकालीन चालुक्य राजा अपने को सत्याश्रयवंश[1] का बनाते हैं। इसके अतिरिक्त त्रैलोक्यमल्ल, भुवनैकमल्ल भूलोकमल्ल आदि पद उत्तरकालीन चालुक्यवंश के राजाओं के ही नामों के साथ मिलते हैं, पूर्वकालीन चालुक्यवंश के राजाओं के नामों के साथ नहीं।

सोमेश्वर का राज्यारोहणवर्ष—

सोमेश्वर का राज्यारोहण वर्ष शकसं १०४८=ई. स. ११२७ है। सोमेश्वर के पिता विक्रमादित्य द्वितीय के देहान्त का भी यही वर्ष है। पिता की मृत्यु के अनन्तर ही सोमेश्वर का राज्य पर बैठना हो सकता है। इसलिए ऐतिहासकों ने सोमेश्वर का राज्यारोहणवर्ष शकसं १०४८=ई. स. ११२७ माना है। किन्तु यहां पर एक आपत्ति खड़ी हो जाती है। एक दानपट्ट के लेख से मालूम होता है कि महामण्डलेश्वर मारसिंहदेवरस ने शकसं. १०५२ तदनुसार ११३०-३१ में भूलोकमल्ल सोमेश्वर के शासनकाल के छठे वर्ष में माणिक्यदेव से बनवाये हुए एकशालेय पार्श्वनाथ के मन्दिर की सेवा में भूदान किया। इस पट्ट से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शकसं. १०५२=ई.स. ११३०-३१ सोमेश्वर के शासनकाल का छठा वर्ष था, अर्थात् सोमेश्वर का राज्यारोहण-

१. सत्याश्रय से शकसं. ४८८ में शासन करने वाले सत्याश्रय राजा से तात्पर्य है न कि तैलप के पुत्र सत्याश्रय से।

वर्ष सन् ११२४ था। इससे ई. स. ११२७ को सोमेश्वर का राज्यारोहणवर्ष मानना खण्डित हो जाता है। किन्तु सोमेश्वर के पिता विक्रमादित्य की मृत्यु का वर्ष ई. स० ११२७ है। विक्रमादित्य की मृत्यु के पहले ई. स. ११२४ में सोमेश्वर का राज्यारोहण किस तरह हो सकता है। इस कठिन समस्या की पूर्ति के लिए हमें मानना पड़ेगा कि रोग आदि किसी बड़े कारण के वश विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने जीवनकाल में ही प्रियपुत्र सोमेश्वर को शासन के सम्पूर्ण अधिकार दे दिये, किन्तु अभिषेकरीति विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर ई. स. ११२७ में ही मनायी गई।

मानसोल्लास की रचना का समय—

मानसोल्लास की रचना शकसं १०५२ तदनुसार ई. सं. ११३१ में हुई। शक सं. १०५२, जो कि मानसोल्लास की रचना का समय है, सोमेश्वर के शासन का चौथा वर्ष है। ग्रन्थरचनाकाल ग्रन्थ में दे दिया है। दूसरे प्रकरण में लिखा है—

> एकपञ्चाशदधिके सहस्रे शरदां गते।
> शकस्य सोमभूपाले सति चालुक्यमण्डने॥ ६२॥
> समुद्ररसनामुर्वीं शासति क्षतविद्विषि।
> सर्वशास्त्रार्थसर्वस्वपाथोधिकलशोद्भवे॥ ६३॥
> सौम्यसंवत्सरे चैत्रमासादौ शुक्रवासरे।
> परिशोधितसिद्धान्तलब्धाः स्युर्ध्रुवका इमे॥ ६४॥

इन पद्यों की रचना का काल शकवर्ष १०५२=ई. स. ११३१ है जो कि इन पद्यों में मिलता है। यही वर्ष मानसोल्लास की रचना का है।

सोमेश्वर का मत—

सोमेश्वर कट्टरपन्थी नहीं हैं। मानसोल्लास के मङ्गलाचरण में उन्होंने गणेश, सरस्वती, शिव, कृष्ण, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, काम—इन सब के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। पहले प्रकरण के बारहवें अध्याय का नाम 'अशेषदेवताभक्त्यध्याय' है। इस अध्याय में किसी विशेष देवता की पूजा का निर्देश नहीं। सोमेश्वर का मत[1] है कि

---

१. एवं यः पूजयेद्देवमिष्टं हृष्टमना नरः।
स प्राप्नोति महद्राज्यं पूजया नात्र संशयः॥ १. १०४॥
अन्येषामपि देवानां निन्दां द्वेषं च वर्जयेत्।
देवं देवकुलं दृष्ट्वा नमस्कुर्यान्न लङ्घयेत्॥ १. १०५॥

प्रत्येक व्यक्ति को अपने इष्ट देव की पूजा करनी चाहिये, वह इष्ट देव चाहे गणेश हों, शिव हों अथवा कोई अन्य। किन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि अन्य देवताओं की निन्दा तथा उनसे द्वेष नहीं करना चाहिये। किसी मूर्ति अथवा मन्दिर को देखकर उसे नमस्कार किये बिना नहीं जाना चाहिये। जैनमन्दिर की सेवा में महामण्डलेश्वर मारसिंहदेवरस का भूमिदान सोमेश्वर की इस उदार धर्मनीति का उत्तम उदाहरण है। सोमेश्वर के राज्य में राज्य के उच्चाधिकारी अपनी इच्छा के अनुकूल किसी भी धर्म की सहायता कर सकते थे। राज्य की ओर से किसी धर्म की उन्नति में बाधा नहीं डाली जाती थी।

तो भी सोमेश्वर पौराणिक सम्प्रदाय के अनुयायी मालूम होते हैं। जैन तथा बौद्धधर्म का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि मानसोल्लास में जैन तथा बौद्धधर्म की झलक नहीं दीखती, प्रत्युत मांस से श्राद्ध करने का विधान है[1]। मानसोल्लास के सूदलक्षण में मांस पकाने की विधि को जाननेवाले रसोइया रखने का निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि सोमेश्वर पर जैन तथा बौद्ध धर्म का अहिंसात्मक प्रभाव नहीं पड़ा था और वह वंशपरम्परागत रीति के अनुकूल पौराणिक देवताओं के ही परम भक्त थे।

मानसोल्लास के अन्तर्गत विषय—

मानसोल्लास पांच प्रकरणों में विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण के बीस अध्याय हैं। विषयों के अनुसार इन पांच प्रकरणों के भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) राज्यप्राप्तिकारणविंशति:
(२) प्राप्तस्य राज्यस्य स्थैर्यकारणविंशति:।
(३) राज्योपभोगविंशति:
(४) विनोदविंशति:
(५) क्रीडाविंशति:

इन पांच प्रकरणों में से अर्थात् इन पांच विंशतियों में से केवल तीन प्रकरण

---

१. भक्ष्यपूतैस्तथा मांसैर्घृतेन मधुनाऽपि च।
अन्यैश्च विविधैः सृष्टैः पक्वान्नैः सुमनोहरैः १. ११० ॥
भोजयेद् द्विजमुख्यांश्च पितॄनुद्दिश्य भक्तितः।
श्रद्धापूर्तेन चित्तेन श्राद्धं कुर्यादतन्द्रितः ॥ १. १११ ॥

अर्थात् तीन विंशतियां ही अभी तक मुद्रित हुई हैं[1]। पहले प्रकरण में निम्ननिर्दिष्ट वीस विषयों का वर्णन मिलता है :—

(१) असत्यवर्जन (२) परद्रोहवर्जन (३) अगम्यावर्जन (४) अभक्ष्यवर्जन (५) असूयावर्जन (६) पतितसङ्गवर्जन (७) क्रोधवर्जन (८) स्वात्मस्तुतिवर्जन (६) दान (१०) प्रियवचन (११) इष्टापूर्त (१२) अशेषदेवताभक्ति (१३) गोविप्रतर्पण (१४) पितृतर्पण (१५) अतिथिपूजन (१६) गुरुशुश्रूषण (१७) तप (१८) तीर्थस्नान (१६) दीनानाथार्तबन्धुभृत्यपोषण (२०) शरणागतरक्षा।

ये वीस राज्यप्राप्ति के कारण हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन विधि-निषेधों के मानने से प्रत्येक व्यक्ति राजा बन सकता है। ये तो केवल युवराज के लिए राज्यप्राप्ति के निमित्तभूत हैं, अर्थात् इन वीस कर्तव्याकर्तव्यों के मानने से युवराज को राज्यप्राप्ति में सुगमता हो सकती है।

प्राप्तराज्य की स्थिरता के वीस कारण दूसरे प्रकरण में मिलते हैं। वे इस प्रकार से हैं—

(१) स्वामी (२) अमात्य पुरोहित आदि (३) राष्ट्र (४) कोष (५) दुर्ग (६) बल (७) सुहृत् (८) प्रभुशक्ति (६) मन्त्रशक्ति (१०) उत्साहशक्ति (११) सन्धि (१२) विग्रह (१३) यान (१४) आसन (१५) आश्रय (१६) द्वैधीभाव (१७) साम (१८) भेद (१६) दान (२०) दण्ड।

राज्यस्थिरता के अनन्तर तीसरे प्रकरण के वीस अध्यायों में राजा के उपभोगों का वर्णन है। इनके नाम इस प्रकार से हैं—

(१) गृहोपभोग (२) स्नानविभोग (३) पादुकाभोग (४) ताम्बूलभोग (५) विलेपनोपभोग (६) वस्त्रभोग (७) माल्यभोग (८) भूषाभोग (६) आसनभोग (१०) चामरभोग (११) आस्थानभोग (१२) पुत्रोपभोग (१३) अन्नभोग (१४) पानीय-भोग (१५) पादाभ्यङ्गभोग (१६) यानभोग (१७) छत्रभोग (१८) शय्याभोग (१६) धूप-भोग (२०) योषिदुपभोग।

चौथे प्रकरण के वीस अध्यायों में राजोचित विनोदों का वर्णन है। इनके नाम इस प्रकार से हैं—

---

१. (क) प्रथम दो विंशतियां विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा गायकवाड़सीरिज़ में सम्पादित १६२५.

(ख) प्रथम तीन विंशतियां डा० शामशास्त्री द्वारा सम्पादित, मैसूर-राज्य द्वारा प्रकाशित १६२६.

(१) शस्त्रविनोद (२) शास्त्रविनोद (३) गजविनोद (४) वाजिविनोद (५) अङ्कविनोद (६) मल्लविनोद (७) ताम्रचूडविनोद (८) लावकविनोद (९) तित्तिरविनोद (१०) महिषविनोद (११) पारावतविनोद (१२) सारमेयविनोद (१३) श्येनविनोद (१४) मीनविनोद (१५) मृगविनोद (१६) गीतविनोद (१७) वाद्यविनोद (१८) नृत्तविनोद (१९) कथाविनोद (२०) चमत्कृतिविनोद ।

पांचवें प्रकरण के बीस अध्यायों में राजोचित क्रीडाओं का वर्णन है। इन क्रीडाओं के नाम इस तरह हैं:—

(१) पर्वतक्रीडा (२) प्रमदोद्यानक्रीडा (३) प्रेङ्खाक्रीडा (४) जलक्रीडा (५) शाद्वलक्रीडा (६) देशक्रीडा (७) वालुकाक्रीडा (८) ज्योत्स्नाक्रीडा (९) सस्यक्रीडा (१०) सुरागोष्ठीक्रीडा (११) प्रहेलोक्तिक्रीडा (१२) चतुरङ्गक्रीडा (१३) अक्षक्रीडा (१४) वराटकक्रीडा (१५) फणीन्द्रक्रीडा (१६) पञ्जिकाक्रीडा (१७) तिमिरक्रीडा (१८) वीरक्रीडा (१९) प्रेमक्रीडा (२०) रतिक्रीडा ।

मानसोल्लास के चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण—विनोदविंशति और क्रीडाविंशति—अभी तक मुद्रित नहीं हुए ।

प्रथम प्रकरण—

प्रथम प्रकरण में राज्यप्राप्ति के कारण कुछ विधि-निषेध बतायें हैं। पहले आठ अध्यायों में असत्य आदि निषेध हैं। इसके अनन्तर बारह अध्यायों में दान आदि का विधान है। सामान्यत: पहले विधि आती है, फिर निषेध। यहां पर निषेध को विधि के पहले रखने से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर के मत में विधि की अपेक्षा निषेध का विशेष महत्त्व है।

पहले प्रकरण के अठारहवें अध्याय में गङ्गा, यमुना, नर्मदा, तापी, गौतमी, तुङ्गभद्रा, वञ्जरा, भीमरथ्या, कृष्णा, वेणी आदि कुछ नदियों के नाम दिये हैं जिन में स्नान करने से पाप नष्ट हो जाते हैं, इन्द्रसुलभ सुख की प्राप्ति होती है। गङ्गा, यमुना इन दो प्रसिद्ध नदियों को छोड़ कर और नदियां दक्षिण की हैं। इसका कारण यह है कि राजा सोमेश्वर दक्षिण के हैं। दक्षिण की अप्रसिद्ध नदी तापी का भी उल्लेख है। किन्तु इन नदियों में दक्षिणदेशविख्यात कावेरी नदी के नाम का न होना आश्चर्यजनक है। इसका कारण यही हो सकता है कि तीर्थस्नानों के नामनिर्देश के लिए सोमेश्वर ने ब्रह्मपुराण का आश्रय लिया है। ब्रह्मपुराण में निर्दिष्ट दक्षिण की

---

१. ब्रह्मपुराण, ७०वां अध्याय—

गोदावरी भीमरथी तुङ्गभद्रा च वेणिका ।
तापी पयोष्णी विन्ध्यस्य दक्षिणे तु प्रकीर्तिता: ॥३३॥

नदियों में कावेरी नदी का नाम नहीं आता किन्तु अप्रसिद्ध तापी नदी का नाम आता है। सोमेश्वर ने ब्रह्मपुराण का अनुसरण करते हुए कावेरी नदी का नाम नहीं दिया।

पहले प्रकरण के अन्तर्गत उन्नीसवें अध्याय के १५२ श्लोक रोगों के निदान तथा रोगों की चिकित्सा पर लिखे गये हैं। इन श्लोकों के अनन्तर गद्य की ग्यारह पंक्तियों में औषधपर्याय दिये हैं। राजनीति के ग्रन्थ में रोगचिकित्सा का विषय असङ्गत-सा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह बात नहीं। इस अध्याय में राजा के कर्तव्य बताये हैं। दीन, अनाथ, आर्त, बन्धु और भृत्य—इन सब का पोषण करना राजा का परम कर्तव्य है। यदि दैववश से ये रोगग्रस्त हो जावें तो राज्यद्वारा इनकी निश्शुल्क चिकित्सा होनी चाहिये। इसलिए चिकित्सा का विषय राजनीतिशास्त्र में असम्बद्ध नहीं।

दूसरा प्रकरण—

पहले प्रकरण में भावुक राजा के लिए कर्तव्याकर्तव्यों का निरूपण है। राजनीति के दृष्टिकोण से जैसा दूसरे प्रकरण का गौरव है वैसा पहले प्रकरण का नहीं। दूसरे प्रकरण में राज्य के सात अङ्ग, तीन शक्तियां, छः गुण और चार उपायों की विवेचना है। भारतीय आर्य-राज्यशासन में राज्य की स्थिरता के लिए सप्ताङ्ग का बड़ा महत्त्व है। दूसरे शब्दों में भारतीय आर्य-राज्य-शासन की नींव सप्ताङ्ग पर रखी गयी है। राज्य एक महासत्तात्मक प्राणी है। इसके सात अङ्ग हैं :—

(१) स्वामी (२) अमात्य (३) राष्ट्र (४) कोश (५) दुर्ग (६) बल (७) मित्र। प्रत्येक अङ्ग की बड़ी उपयोगिता है।

सप्ताङ्ग में से पहला अङ्ग राजा है। 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इस नियम के अनुसार पहले राजा का निरूपण है। राजा के आवश्यक गुण बताये हैं। साथ ही राजा को स्वस्थ तथा बली बनाने के लिए रसायन का प्रयोग लिखा है।

इसके अनन्तर राज्यकार्य के सञ्चालक दूसरे अङ्ग अमात्य का निरूपण है। अमात्यशब्द व्यापक है। इसमें राज्यकार्य-सहायक पुरोहित, गणक, वैद्य आदि लोग व्याप्य हैं। अमात्य का कर्तव्य है कि इन सब सहायक वर्गों का निरीक्षण करे।

इसी अध्याय में भोजन बनाने में चतुर सूद के गुणों का वर्णन किया है। राजपाकशाला में उस सूद को रखना चाहिये जो असम्भेद्य हो। असम्भेद्य का तात्पर्य यह है कि जिसका भेद न हो सके अर्थात् जो शत्रु के लालच में फंस न सके। दूसरा गुण उसमें यह होना चाहिये कि वह पके हुए अन्न की अच्छी तरह परीक्षा कर सके (कृतान्नस्य परीक्षकः)। प्रतीत होता है कि राजा का जीवन हर वक्त खतरे में रहता था।

भागीरथी नर्मदा तु यमुना च सरस्वती। विशोका च वितस्था च हिमवत्पर्वताश्रिता:॥३४॥

राज्य का तीसरा अङ्ग राष्ट्र है। चौर, साहसी, चाट, दुराचार आदियों से राष्ट्र की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है। यही अभिप्राय याज्ञवल्क्यस्मृति के पहले अध्याय के ३३४वें पद्य में मिलता है। समता दिखाने के लिए हम दोनों पद्यों को यहां पर उद्धृत करते हैं :—

मानसोल्लास २. १५६.	याज्ञवल्क्य १. ३३४
चौरैः साहसिकैश्चाटैर्दुराचारैस्तथा परैः।	चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः।
विशेषेण च कायस्थैः पीडिताः पालयेत्प्रजाः॥	पीड्यमानाः प्रजाः रक्षेत्कायस्थैस्तु विशेषतः

कायस्थों द्वारा प्रजा का पीडन राजा सोमेश्वर को अज्ञात नहीं था। प्रायः सभी नीति और धर्म के ग्रन्थों में कायस्थों से प्रजा की रक्षा का निर्देश है। किन्तु इन ग्रन्थों में कायस्थों द्वारा प्रजापीडन का कारण नहीं बताया। राजनीतिरत्नाकर में याज्ञवल्क्य १. ३३४ का विवरण करते हुए चण्डेश्वर कायस्थों की क्रूरता का कारण बताते हैं:—"कायस्था लेखकाः गणकाश्च; विशेषत इति तेषां राजवल्लभतया मायावितया दुर्निवारत्वात्"।

राष्ट्राध्याय में राष्ट्रपालन, करादान, देशजनरक्षा पर विवेचन के अनन्तर हस्तिविवेचन आता है।

प्रायः माना गया है कि हाथी एक अविश्वसनीय जन्तु है, किन्तु सोमेश्वर इस बात पर विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि हस्तिजाति में कुछ अवान्तरजातियां अविश्वसनीय तथा अशुभ हैं। कुछ अवान्तरजातियों के अशुभ और अविश्वसनीय होने के कारण सारी हस्तिजाति पर अविश्वसनीयता और अशुभता का दोषारोपण करना ठीक नहीं। अविश्वसनीय और अशुभ जातियों में पैशाचसत्त्व और राक्षससत्त्व की जातियां हैं। इन दो तामससत्त्वों की जातियों से सर्वदा सावधान रहना चाहिये। राजससत्त्व के हाथियों में से सर्पसत्त्व विश्वासघातक है।

मानसोल्लास में हस्तिशिक्षा के विषय में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है :— "शिक्षितं तु वधावधि"। इस वाक्यांश से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हाथी को मनुष्यमारण तक की शिक्षा देनी चाहिये।

मानवहिंसा में हाथी को सुशिक्षित बनाने के सोमेश्वर ने दन्तघात आदि कुछ प्रकार भी बताये हैं। वध्य के प्रतिरूप को हाथी के सम्मुख रख कर ग्रन्थोक्त उपायों से वध्यप्रतिरूप की हिंसा के लिए हाथी को प्रेरित किया जाय।

शुभ हाथियों में से ब्रह्मांशक का नाम आता है। ब्रह्मांशक सुन्दर सफेद रंग का हाथी है। इसके नेत्रप्रान्त लाल और दांत मजबूत होते हैं। ब्रह्मांशक हाथी

विजय और आरोग्य का वर्धक है। आधुनिक गजशास्त्रकारों का कथन है कि सर्वाङ्गगौर हाथी कहीं भी नहीं मिलते। सम्भव है कि सोमेश्वरकृत श्वेतांशक का वर्णन श्रुतिपरम्परागत ही हो।

सोमेश्वर ने हाथियों को पकड़ने के पांच तरीके बताये हैं :—

(१) वारिबन्ध (२) वशाबन्ध (३) अनुगतबन्ध (४) आपातबन्ध (५) अवपातबन्ध इन पांच बन्धों में से तीन बन्ध—(१) वारिबन्ध (२) वशाबन्ध (३) अनुगतबन्ध श्रेष्ठ हैं। चौथा और पांचवां बन्ध अर्थात् आपातबन्ध और अवपातबन्ध निकृष्ट हैं; क्योंकि इन दोनों बन्धों में हाथी के मरने की शङ्का रहती है।

ये रहे गजबन्ध के पांच प्रकार। अब भूगर्भ निधि की खोज के तरीके भी ज़रा सुनिए। यह भारी समस्या है कि भूगर्भ निधि का किस प्रकार से पता चले। सोमेश्वर ने कई प्रकार बताये हैं। एक प्रकार आंखों में कज्जल लगाने का है। कज्जल लगाने से भूगर्भ निधि को देखने की शक्ति पैदा हो जाती है। कज्जल लगाने के भी कई तरीके हैं। सब तरीकों में से सुगम तरीका यह है कि कव्वे के हृदय और जिह्वा को पीस कर चूर्ण बना लिया जाय। चूर्ण को शहद में मिलाकर आंखों में डालने से भूगर्भ द्रव्यराशि दृष्टिगोचर हो जाती है[1]। सोमेश्वर के ये सब प्रकार कुछ विलक्षण ही हैं।

सप्ताङ्ग में चौथा अङ्ग कोष है। कोष की वृद्धि करना राजा का परम कर्तव्य है। नीतिशास्त्रकारों ने कोष की वृद्धि के लिए करादान आदि अनेक उपाय बताये हैं। किन्तु मानसोल्लास में कुछ ऐसे उपाय मिलते हैं जो अन्य नीतिग्रन्थों में नहीं।

कोषवृद्धि के लिए एक प्रकार रसायन का है। इसे धातुवाद भी कहते हैं। धातु बनाने के कुछ तरीके सोमेश्वर ने बताये हैं, विशेषत: सुवर्ण बनाने के। सोमेश्वर लिखते हैं कि तांबा और बंग सुवर्ण में परिणत हो सकते हैं। परिणत करने के प्रकार भी बताये हैं। यहां एक दो प्रकारों का दिखाना भी समुचित होगा।

सफेद श्वेततरु के बीज लेकर उनके तेल से गन्धक को सात बार भावना देनी चाहिये। इस गन्धक से तांबे पर लेप किया जाय। फिर इस तांबे को पुट देकर आग में जला जाय तो तांबा सोने में परिणत हो जाता है।

दूसरा प्रकार—शाक वृक्ष के पके हुए फलों के रस को मंजीठ के रस से मिलाया जाय। इस रस का मंजीठ के साथ कल्क बनाकर तांबे पर लेप किया जाय। उस तांबे को पुट देकर आग में जलाया जाय तो तांबा सोने में परिणत हो जाता है।

---

१. हृदयं कृष्णकाकस्य जिह्वां चादाय पेषयेत्।
अञ्जयेन्मधुना सार्धं नेत्रे पश्येत्ततो निधिम्॥

इसी अध्याय में कोषद्रव्य का विवेचन करते हुए सोमेश्वर ने राजा के पहनने के लिए शुभ और अशुभ मुक्ता तथा मणियों का विस्तृत वर्णन किया है। सोमेश्वर का विचार है और यह विचार पुराने ग्रन्थों पर आश्रित मालूम होता है - कि कलियुग में केवल शुक्ति से ही मोती मिल सकते हैं। हाथी, सांप, मछली आदि सत्त्वों के सिर में होने वाले मोती अब नहीं मिल सकते। इसी तरह बादलों में जल की बून्दों से उत्पन्न मोती भी दुर्लभ हैं। क्योंकि अमूल्य होने के कारण देवता लोग आकाश से ही उन्हें उडा ले जाते हैं। सोमेश्वर ने मोतियों के प्राप्तिस्थान और तदनुसार लक्षण बताये हैं। मोतियों की परीक्षा और मूल्यविचार के अनन्तर पद्मराग, इन्द्रनील, मरकत, स्फटिक, पुष्पराग, वैदूर्य, गोमेद, विद्रुम और सामान्य रत्नों की परीक्षा के प्रकारों का निरूपण किया है। आर्यराजनीति में कोष की समृद्धि के लिए इन सब बातों का अनुसरण करना आवश्यक है।

राज्य का पांचवां अङ्ग दुर्ग है। दुर्ग के नौ प्रकार हैं :—

(१) जलदुर्ग (२) गिरिदुर्ग (३) पाषाणदुर्ग (४) इष्टिकादुर्ग (५) मृत्तिकादुर्ग (६) वनदुर्ग (७) मरुदुर्ग (८) दारुदुर्ग (९) नरदुर्ग।

कौटलीय अर्थशास्त्र में दुर्गविधान और दुर्गनिवेश पर पर्याप्त सामग्री मिलती है किन्तु दुर्गों के भेद नहीं मिलते। मनुस्मृति ७. ७० में छः प्रकार के दुर्गों के नाम दिये हैं :—धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वार्क्षदुर्ग, नृदुर्ग, गिरिदुर्ग। मनु और सोमेश्वर के दुर्गों की केवल संख्या में ही अन्तर नहीं किन्तु कुछ नामों में भी भेद है।

दुर्ग में रखने वाले पदार्थों में से कुछ अवश्यलेखनीय पदार्थ ये हैं : - पत्थर, रेत, घड़ों के भीतर विषैले सांप, बन्धन के भीतर व्याघ्र और सिंह। युद्ध के समय शत्रुसेना में प्रेरित सांप, व्याघ्र और सिंह उपद्रव और भय के कारण हो जाते हैं।

राज्य का छठा अङ्ग सेना है। पदाती, गज, अश्व रथ—यह चार प्रकार का सेनाविभाग है। भारतीय नीतिशास्त्र में चतुरङ्गिणी शब्द सेना के लिए आता है।

सेना के उपकरणों में घोड़े का महत्त्व हाथी से भी अधिक है। घोड़ों के वर्णन में सिन्ध, अरब और काबुल के घोड़ों का ज़िक्र है, जिनके लिए सोमेश्वर ने सैन्धव यवनोद्भूत और काम्बोज शब्दों का प्रयोग किया है। यवनशब्द यवनदेश का उपलक्ष्य है। सिन्धु और काम्बोज के साथ यवनशब्द के रखने से यवनशब्द से अरब देश की प्रतीति होती है। अरब देश के घोड़े आजकल भी प्रसिद्ध हैं।

राज्य का सातवां अङ्ग मित्र है। नीतिशास्त्र में भूमि, मित्र और हिरण्य -ये तीन विग्रह के फल कहे हैं। इससे राजनीति में मित्र का महत्त्व प्रकट होजाता है।

सुहृदाध्याय के केवल दो पद्य हैं जिन में सोमेश्वर ने मित्र के लक्षण बताये हैं।

सप्ताङ्गवर्णन के अनन्तर प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति—इन तीन शक्तियों का निरूपण है। इसके पश्चात् छः गुण आते हैं। वे हैं-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय, द्वैधीभाव। छः गुणों में से यात्रागुण के विषय में सोमेश्वर ने विशेष सूचनायें दी हैं।

शत्रु पर आक्रमण करने के पहले, देश, काल, मित्र, युद्धनिमित्त, अपनी शक्ति इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शुभ वार नक्षत्र आदि का देखना आवश्यक है। भारत की आर्य्य-राजनीति में ज्योतिषशास्त्र का विशेष स्थान है। इस विषय में सोमेश्वर अन्य नीतिशास्त्रकारों का अनुकरण करते हैं।

सोमेश्वर यात्रा में केवल शुभ दिन, नक्षत्र आदि को ही महत्त्व नहीं देते किन्तु शकुनविद्या का भी गौरव मानते हैं। यात्रा के काल श्वा, शिवा, वल्ली, काक, पोतकी, पिङ्गला, उपश्रुति इन शकुनों पर भी ध्यान देना चाहिए।

यात्राप्रकरण में तो इतना ही लिखा है किन्तु साम, भेद, दान, दण्ड इन चार उपायों के अन्तर्गत दण्डप्रकरण में कुछ अधिक सामग्री मिलती है। शत्रु के सारासार जानने के लिए कोटचक्र, स्वरबल, नामबल, योगिनीचक्र आदि कई तरीके बताये हैं। साथ ही सैन्यरचना के प्रकारों का भी निर्देश है। अश्वव्यूह, रथव्यूह, राज-व्यूह आदि कुछ व्यूहों का भी दिग्दर्शन कराया है।

नीतिप्रकाशिका में शत्रुपक्ष के राजा, युवराज, अमात्य, प्रधान योधा आदि के नाश करने वालों को भिन्न भिन्न पारितोषिक देना कहा है। और यह उचित भी प्रतीत होता है कि साहसी योधाओं को साहस के कारण पारितोषिक दिया जाय जिससे अन्य सैनिकों में भी साहसपूर्ण कार्य करने का उत्साह बढ़े। किन्तु सोमेश्वर का मत है कि युद्धभूमि में भेरी पिटवा कर और सारी सेना को एकत्रित कर-राजा घोषणा करे कि युद्ध में शत्रु पक्ष के राजा, युवराज, सामन्त, मण्डलाधीश आदि के मारने वाले योधा को अमुक अमुक संख्या का द्रव्य मिलेगा। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सोमेश्वर के मत में राज्य राजा की सम्पत्ति था। सम्पत्तिभूत राज्य को बचाने के लिए द्रव्य का प्रलोभन देकर सैनिकों को खरीद लिया जाता था। इससे राजा और प्रजा की स्वार्थपरायणता और व्यवहारपरकता प्रतीत होती है। युद्ध के समय, सैनिकों को देशभक्ति, जातिरक्षा यश आदि का प्रलोभन देना अच्छा होता है। राज्य पर जितना स्वत्व राजा का है उतना ही प्रजा का है। फिर द्रव्य का लालच

देकर सैनिकों को साहसपूर्ण कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना सैनिकों का निरादर करना है। साहसपूर्ण कार्यों के निमित्त पारितोषिक देना सराहनीय है। इससे सैनिकों में जागृति पैदा होती है। किन्तु साहसपूर्ण कार्य करवाने के लिए सैनिकों को द्रव्य का प्रलोभन देना सैनिकों का अपमान करना है। आश्चर्य है कि जो सोमेश्वर प्रथम प्रकरण में दीन, अनाथ, आर्त, बन्धु, भृत्य आदि के राज्यद्वारा पोषण पर एक अध्याय लिखते हैं वे किस प्रकार प्रजा को इतना जातीयता से शून्य और लालची मान सकते हैं। सहायता के लिए मित्र की भेजी हुई सेना को प्रोत्साहन करने का यह तरीका हो सकता है, किन्तु सोमेश्वर का अभिप्राय सेनामात्र को द्रव्य-प्रलोभन देने का है। जातीयता की दृष्टि से सोमेश्वरनीति में यह एक भारी अवगुण दीखता है।

सेना के विषय मे कुछ सामग्री तो बलाध्याय में मिलती है, कुछ यात्राध्याय में और कुछ दण्डाध्याय में। सप्ताङ्गवर्णन में सेना पर लिखना जरूरी था क्योंकि राज्य के सात अङ्गों में से सेना भी एक अङ्ग है। फिर छः गुणों में यात्रा अर्थात् शत्रु पर आक्रमण के वर्णन में भी सेना का निरूपण करना था। इन तीनों स्थानों पर सेना-सम्बन्धी बातों की सूचना देते हुए नई नई बातों का समुल्लेख मिलता है। बलाध्याय, यात्राध्याय, और दण्डाध्याय में शब्द वा अर्थ की पुनरुक्ति नहीं मिलती।

राज्य के पांचवें अङ्ग दुर्ग के विवेचन में विषैले सांपों के रखने का नियोग दिखा चुके हैं। दण्डाध्याय में शत्रुहिंसा के लिए विषदण्ड के विधान का दिखाना भी जरुरी है। सोमेश्वर केवल सर्पविष के ही पक्षपाती नहीं किन्तु अन्य विषों के संग्रह में भी उत्सुक हैं। विषों के तीन भेद बतलाये हैं—स्थावर, जङ्गम और कृत्रिम। हालाहल, शृङ्गि, कालकूट और वत्सनाभ —ये चार स्थावर विष हैं। सर्पविष जङ्गम है। विरुद्ध द्रव्यों को मलाकर बनायी हुई विष कृत्रिम विष होती है।

विष का प्रयोग शत्रु के किसी विरक्त सेवक के द्वारा करवाना चाहिये। विरक्त सेवक को कुछ लोभ देकर उसके द्वारा शत्रु के तालाब, कूआ, वापी, स्नानजल, अभ्यङ्गतैल तथा क्रीडा-सरोवर आदि में विष डलवाना चाहिये। विष का प्रयोग केवल शत्रुपक्ष के राजा की हिंसा के लिए ही नहीं किन्तु शत्रुपक्ष के युवराज, अमात्य, सेनापति आदि सब के विनाश के लिए है।

भागवृत्ति

अष्टाध्यायी की एक प्राचीन लुप्तवृत्ति

[ले०—युधिष्ठिर मीमांसक विरजानन्दाश्रम शाहदरा (लाहौर)]

व्याकरणशास्त्र में काशिकावृत्ति के अनन्तर भागवृत्ति का स्थान है। यह इस समय अप्राप्य है। व्याकरण के प्राचीन वाङ्मय में इसके पचासों उद्धरण उपलब्ध होते हैं। जिनके अवलोकन से प्रतीत होता है कि किसी समय इस वृत्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है। इस बात की साक्षी पुरुषोत्तमदेव विरचित भाषावृत्ति से भी मिलती है। वह अपने ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखता है—

काशिकाभागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति[1] धीः।

तदा विचिन्त्यतां[2] भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम॥

इससे प्रतीत होता है कि यह बारहवीं शताब्दी तक काशिका के समान ही आदृत हो रही थी। इतने पर भी इसका इस समय उपलब्ध न होना बड़े आश्चर्य की बात है। बड़ौदा से प्रकाशित कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र (पृ० ३) में इसका नाम विद्यमान है। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी तथा शब्दकौस्तुभ में इसके उद्धरण दिये हैं[3]। जिनसे प्रतीत होता है कि सत्रहवीं शताब्दी तक इसके हस्तलेख सुप्राप्य थे[4]।

---

१. व्याख्यातुमस्ति पा०॥

२. विलोक्यताम् पा०॥

३. सि० कौ० पृ० ३६६। श० कौ० अ० ४। १। १०॥

४. दुर्घटवृत्ति (पृ० ६३) के उद्धरण से प्रतीत होता है कि उसके काल (११७२) ई० में भागवृत्ति का सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। क्योंकि उक्त पृष्ठ पर दुर्घटवृत्तिकार ने '...इति भागवृत्तिरिति भाषावृत्तिः' ऐसा लिखा है। यदि उस समय पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होता तो वह उसको स्वतन्त्र रूप से उद्धृत कर सकता था। भट्टोजिदीक्षित ने जो उद्धरण दिये हैं वे अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी उद्धृत हैं अतः निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता कि दीक्षित ने स्वतन्त्ररूप से उद्धरण दिये हैं या परम्परानुसार।

सम्भव है यत्न करने पर इसके हस्तलेख प्राप्त हो जावें ।

हमने इस ग्रन्थ को उपयोगी समझ कर इसके उपलब्ध उद्धरणों का यथासम्भव संकलन किया है । आशा है इससे वैयाकरणों को व्याकरणविषयक अनेक नई बातें ज्ञात होंगी और पुरातत्त्वविशारदों को भी पर्याप्त लाभ होगा ।

भागवृत्ति का कर्त्ता

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर के मतानुसार भागवृत्ति के कर्त्ता का नाम 'भर्तृहरि' था । और उस ने वलभी के राजा श्रीधरसेन की आज्ञासे इसका निर्माण किया था[1] ।

भर्तृहरिविषयक उलझन

क्या प्राच्य क्या पाश्चात्य सभी प्रत्नतत्व विशारद अभी तक एक ही भर्तृहरि की सत्ता मानते हैं । इत्सिंग के लेखानुसार भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० में हुई है[2] । संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि के नाम से निम्न ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

वाक्यपदीय	भट्टिकाव्य
पे-ईन (प्रकीर्ण-तृतीयकाण्ड	भागवृत्ति
महाभाष्यटीका	वैराग्य, नीति, श्रृंगारशतक

इन सब को एक भर्तृहरि की कृति मानने में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं । उनमें से मुख्य बाधाएं निम्न प्रकार हैं—

(१) इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि विरचित 'पे-ईन' (प्रकीर्ण) की टीका शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल ने की थी[3] । धर्मपाल का मृत्युकाल ५७० ई० निश्चित हो चुका है[4] । अत: भर्तृहरि ने 'पे-ईन' (प्रकीर्णकाण्ड) ५७० ई० से पूर्व अवश्य बना लिया होगा । वाक्यपदीय और महाभाष्यटीका जैसे प्रौढ़ग्रन्थ लिखने के समय भर्तृहरि की कम से कम ३० वर्ष की भी आयु मानी जाये तो भी मानना होगा कि वह कम से कम ११० वर्ष जीवित रहा । इतनी आयु मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

---

१. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता इति भाषावृत्त्यर्थविवृति: ८ । ४ । ६८ ॥

२. इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७५ ॥

३. इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७६ ॥

४. Introduction to Vaisheskika philosophy according to the Dashapadarthi Shastra by H Ui. 1917. P. 10

(२) सृष्टिधर के लेखानुसार भागवृत्ति की रचना भर्तृहरि ने की है। पर संस्कृतसाहित्य में भागवृत्ति और (आद्य) भर्तृहरि का पृथक् पृथक् उल्लेख मिलता है। यथा—

(i) 'यथालक्षणमप्रयुक्त इति उपराम उद्याम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम्' दुर्घटवृत्ति पृ० ११७॥

(ii) 'भर्तृहरिणा च नित्यार्थतैवास्योक्ता। तथा च भागवृत्तिकारेण प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्, तन्त्रे उतं तन्त्रयुतमिति' तन्त्रप्रदीपे (८।३।११) रक्षितः॥

इतना ही नहीं अपि तु कहीं कहीं भागवृत्तिकारने (आद्य) भर्तृहरि का खण्डन भी किया है यथा—

'भर्तृहरिणातूक्तम्—"यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राहिण्वदिति"। अत्र हि हिवेर्लुङि नुमो णत्वमिति। "तत्र च पूर्वपदाधिकारः समासे च पूर्वोत्तरपदव्यवहारः," तत् कथं णत्वमिति न व्यक्तीकृतम्" इति भागवृत्तिकृतोक्तम्'। परिभाषावृत्तौ सीरदेवः पृ० १२॥

इस एक उद्धरण से दो बातें सिद्ध होती हैं—

(i) (आद्य) भर्तृहरि और भागवृत्तिकार दोनों पृथक् २ व्यक्ति हैं।

(ii) (आद्य) भर्तृहरि भागवृत्तिकार से प्राचीन है।

(३) जयमङ्गला को छोड़कर अन्य समस्त भट्टिकाव्य के टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरि की कृति मानते हैं। भाषावृत्ति (५।२।११२ पृ० ३२६) के देखने से प्रतीत होता है कि भागवृत्तिकार भट्टि के दोष का समाधान करता है[१]। अ० २।४।७४ की व्याख्या में भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव भागवृत्ति का प्रत्याख्यान करता हुआ अपने पक्ष की सिद्धि में भट्टि का प्रमाण देता है। इससे सिद्ध है कि भट्टिकार और भागवृत्तिकार भी पृथक् २ व्यक्ति हैं। और दोनों ने ही वलभी के किसी श्रीधरसेन नामक राजा के समय में अपने ग्रन्थ बनाए थे[२]।

संस्कृत साहित्य में ऐसी अनेक उलझनें विद्यमान हैं कालिदास जैसे प्रसिद्ध कवि के विषय में भी अद्यावधि कोई निश्चय नहीं हो सका। ऐसी उलझनें प्रायः करके नामैक्य के भ्रम से पड़ जाया करती हैं। हमने उपर्युक्त कठिनाइयों का बहुतकाल तक अध्ययन व मनन करके इनको सुलझाने का यत्न किया है।

(१) दुर्घटवृत्ति पृ० ८७ द्र०॥

(२) भट्टि पृ० ४७६ श्लो० १६२५॥ भाषावृत्त्यर्थविवृति सृष्टिधर विरचित ८।४।६८॥

तदनुसार हमारा यह विचार है कि कालिदास[1] की तरह भर्तृहरि नाम वाले भी अनेक व्यक्ति हुए होंगे। हमने भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध समस्त ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनके अन्य ग्रन्थों में उद्धृत उद्धरणों को देखकर उनका निम्नप्रकार विभाग किया है—

वाक्यपदीय प्रकीर्ण महाभाष्यटीका	आद्य भर्तृहरि
भट्टिकाव्य	द्वितीय भर्तृहरि
भागवृत्ति	तृतीय भर्तृहरि
शतकत्रय	अज्ञात

यदि भट्टि की टीका जयमङ्गला का लेख ठीक माना जावे तब[2] भी कम से कम दो भर्तृहरि तो अवश्य ही मानने होंगे।

आद्यभर्तृहरि और इत्सिङ्ग

चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने अपनी भारतयात्रा के वर्णन में भर्तृहरि के विषय में जो लिखा है उसका सार निम्न प्रकार है—

"वाक्यपदीय, पे-ईन (प्रकीर्ण) और महाभाष्य टीका के रचयिता महावैयाकरण भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के लगभग हुई थी। वह सात बार भिक्षु बनकर गृहस्थी बना। और वह बौद्धमतावलम्बी था[3]।

वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों के कर्त्ता को बौद्धमतावलम्बी लिखना अत्यन्त अयुक्त है। जिसने किञ्चिन्मात्र भी वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों का अनुशीलन किया है वह जानता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता की वेद और अद्वैत पर अपूर्व श्रद्धा थी। ग्रन्थ की अन्तरङ्ग साक्षी बहिरङ्गसाक्षी से सर्वदा प्रबल मानी जाती है। तदनुसार आद्य भर्तृहरि वैदिकमतावलम्बी था ऐसा ही मानना होगा[4]। इसी प्रकार भिक्षु बन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना भी आद्य भर्तृहरि के लिए ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक

---

(१) एको न जीयते हन्त कालिदासो हि केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥ राजशेखर॥

(२) जयमङ्गलाकार ने भट्टिकार का नाम श्री स्वामि सूनुभट्टि लिखा है पृ० १,४७६॥

(३) इत्सिङ्ग भारत यात्रा पृ० २७३-२७५।

(४) देखो रामलाल कपूर ट्रस्ट मुद्रापित वाक्यपदीय प्रथमकाण्ड की भूमिका पृ० ३-७॥

धर्म में ऐसे व्यक्ति को महापातकी माना जाता है । हां बौद्धमत में ऐसी आज्ञा विद्यमान है । अतः मानना होगा कि इत्सिङ्ग का लेख अत्यन्त भ्रमपूर्ण है ।

हां इत्सिङ्ग का यह लिखना कि सन् ६५१ ई० के लगभग भर्तृहरि मरा था इसमें कुछ सचाई हो सकती है पर इस समय मरनेवाला (वाक्यपदीय आदि का कर्त्ता) आद्य भर्तृहरि नहीं हो सकता । जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं ।

हमारे विचार में आद्य भर्तृहरि का काल ईसा की तृतीय शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है । आद्य भर्तृहरि के विषय में स्वतन्त्ररूप से पुनः कभी लिखा जायगा ।

द्वितीय भर्तृहरि-भट्टिकाव्य का कर्त्ता

हम पूर्व लिख चुके हैं कि जयमङ्गलाकार को छोड़कर अन्य सब प्राचीन टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरि की कृति मानते हैं । पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी भी भट्टि को भर्तृकाव्य के नाम से उद्धृत करता है[1] । भट्टिकार ने अपने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि मैंने यह काव्य श्रीधरसेन राजा[2] द्वारा पालित वलभी नगरी में रचा है । वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं जिनका राज्यकाल ५०० से ६५० तक माना जाता है । इन चारों में से कौन से श्रीधरसेन के काल में इसकी रचना हुई इसका कुछ भी संकेत नहीं मिलता ।

काशिका कि में किरात को उद्धृत किया है[3] भारवि का काल ६००ई०[4] के लगभग माना जाता है। इत्सिङ्ग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु ६६१ ई० के लगभग हुई थी[5]। अतः काशिका की रचना ई० ६१० से ६६० ई० के मध्य में हुई होगी । काशिकार ने

---

(१) उणादिवृत्ति पृ० ८३ । १२६ ॥

(२) जयमङ्गलाकार ने 'श्रीधरसेन नरेन्द्र' का अर्थ 'श्रीधर सूनुना नरेन्द्र नाम्ना नृपेण' किया है जोकि अयुक्त प्रतीत होता है हां ' श्रीधरसूनु नरेन्द्र' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ कदाचित् ठीक हो सकता है । ' नरेन्द्र नाम्ना नृपेण' यह तो सर्वथा अयुक्त है वलभी के राजकुल में कोई भी 'नरेन्द्र नाम का राजा नहीं हुआ । इससे प्रतीत होता है कि जयमङ्गलाकार को ऐतिहासिक ज्ञान बिलकुल नहीं था । क्या ऐसी ही अशुद्धि ग्रन्थकार के नाम "श्री स्वामिसूनुः कवि भट्टि" लिखने में तो नहीं की ?

(३) अ० १ । ३ । २३ । पृ० ४६ 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' किरात० ३।१४॥

(४) संस्कृतकविचर्चा पृ० १८१ । साहित्याचार्य नन्दकिशोर शर्मा ने भारवि का काल ५५०—६०० ई० माना है। सारस्वतालोक किरण १ पृ० ७ ।

(५) इत्सिग भारतयात्रा पृ० २७० ।

अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में धातुपारायण को उद्धृत किया है। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार भट्टिकाव्य धातुपारायण से प्राचीन है[1]। आगे लिखा जायगा कि भागवृत्ति की रचना ई० ६५० से पूर्व हो गई थी, भागवृत्तिकार ने काशिका का कई स्थानों पर खण्डन किया है[2] इसप्रकार ऐतिहासिक शृङ्खला जोड़ने से निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं—

६४४ से ६४८ ई० के मध्य भागवृत्ति का निर्माण
६३० से ६४४ ई० के मध्य काशिका[3] का निर्माण
६२० से ६३० ई० के मध्य धातुपरायण का निर्माण
६१० से ६२० ई० के मध्य भट्टिकाव्य का निर्माण

यह काल इन ग्रन्थों के पारस्परिक व्यवधान की कम से कम अवधि मानकर लिखा गया है हो सकता है कि कि इसमें कुछ न्यूनाधिक हो। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि लगभग ६११ ई० का श्रीधरसेन तृतीय का ताम्रपत्र भी मिला है[4]। इससे सम्भव हो सकता है कि भट्टिकार तृतीय श्रीधरसेन के काल में हुआ हो।

(१) भारते भट्टिकाव्ये च दर्शनात् पारायणिकैः चिपेरिह पाठोऽयुक्त इति भूसूत्रे सुधाकरेण प्रतिपादितम्। धा० वृ० पृ० २८४॥

(२) देखो भाषावृत्ति पृ० ३१०। ३१४। ४२०।

(३) हरिस्वामी ने ६३८ ई० में शतपथ के प्रथमकाण्ड का भाष्य किया था (यह उसके अपने लेख से स्पष्ट है) उसमें व्याकरणशास्त्र के जो पाठ उद्धृत हैं वे काशिका से नहीं मिलते। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि उसके काल तक काशिका नहीं बनी थी या उसका गुरु स्कन्द स्वामी वलभी का रहने वाला था और उसी नगरी में भागवृत्ति की रचना हुई थी, अतः हरि स्वामी ने उसी के पाठ उद्धृत किए हों ऐसी अवस्था में काशिका और भागवृत्ति का काल और कुछ पूर्व मानना होगा।

(४) इस दानपात्र में कप के पुत्र भट्टि भट्ट को दान देने का उल्लेख है। श्रीधरसेन चतुर्थ के एक दानपत्र के लेखक स्कन्दभट्ट के पिता का नाम वत्रभट्टि है (प्राचीन लेखमाला भा० १ पृ० १२५)। यह वत्रभट्टि श्रीधरसेन तृतीय के पिता शिलादित्य प्रथम के दानपत्र का लेखक है (प्रा० लेखमाला भा० १ पृ० २३७)। इसलिए वत्रभट्टि की श्रीधरसेन तृतीय के समय सम्भावना हो सकती है क्या यही वत्रभट्टि कप का पुत्र तो नहीं ?। कई लोग कप के पुत्र भट्टि को भट्टिकाव्य का कर्त्ता मानते हैं। ऐसी अवस्था में भट्टिकाव्य भर्तृहरि विरचित नहीं हो सकता।

भट्टिकार और भागवृत्तिकार दोनों पृथक् व्यक्ति हैं यह पूर्व लिखा जा चुका है। इस प्रकार यदि भट्टिकाव्य को भर्तृहरि विरचित माना जावे तो यह द्वितीय भर्तृहरि होगा।

तृतीय भर्तृहरि-भागवृत्तिकार

हम पूर्व लिख चुके हैं कि सृष्टिधरसेन के मतानुसार भागवृत्ति श्रीधरसेन की आज्ञा से भर्तृहरि ने बनाई थी। श्रीधरसेनसंज्ञकराजाओं का काल पूर्व लिखा जाता है। अब यह विचारना शेष है कि इनमें से किस श्रीधरसेन की आज्ञा से भागवृत्ति बनाई गई। भागवृत्ति इससमय उपलब्ध नहीं है। पर उसके बहुत से उद्धरण व्याकरण के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भाषावृत्ति में काशिका और भागवृत्ति के साथ साथ बहुत से उद्धरण दिये हैं। जिनकी परस्पर तुलना करने पर प्रतीत होता है कि भागवृत्तिकार काशिका का स्थान स्थान पर खण्डन करता है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल उद्धृत किए जाते हैं—

(१) साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादित्वादिति जयादित्यः।
नेति भागवृत्तिः। भाषावृत्तिः। पृ० ३१० ॥

(२) कथमद्यश्वीनो वियोग इति ? विजायत इत्यस्याननुवृत्तेरिति जयादित्यः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादुपमानस्याप्यसम्भवान्नैतदिति भागवृत्तिःभाषावृत्ति पृ० ३१४ ॥

(३) इह समानस्येति योगविभागः तेन सपक्षसधर्मसजातीयाः सिद्ध्यन्तीति वामनवृत्तिः। अनार्षोऽयं योगविभागः। तथा ह्यव्ययानामनेकार्थत्वात् सदृशार्थस्य सहशब्द-स्यैते प्रयोगाः। कथं नाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्तीति भागवृत्तिः।

इससे स्पष्ट है कि भागवृत्तिकार जयादित्य और वामन से पीछे हुआ है। यह वामन कोई जयादित्य का साथी होगा।

भागवृत्तिकार ने कई स्थानों पर माघ के प्रयोगों को अपशब्द कहा है[1]। महाकवि माघ के पितामह का आश्रयदाता वर्मलात राजा का ६२५ ई० का शिला-लेख वसन्तगढ़ (राजपूताना) से प्राप्त हुआ है तदनुसार माघ का काल ६२५ ई० के कुछ बाद ही माना जा सकता है। माघ का खण्डन करने वाला भागवृत्तिकार माघ का समानकालिक या पश्चाद्भावी होगा। माघ का काल लगभग ६४० ई० होगा[2]।

---

(१) देखो परिभाषावृत्ति सीरदेव पृ० १३६, १३७ ॥ उज्ज्वलदत्तोणादिवृत्ति पृ० ६६ ॥

(२) न्यास के सम्पादक श्री श्रीशचन्द्र ने अनुत्सूत्रपदन्यासा० ॥ (मा० २।११२) श्लोक के आधार से माघ का काल ८०० ई० माना है वह ठीक नहीं, क्योंकि अनेक न्यास काशिका से भी पूर्व विद्यमान थे ॥

श्रीधरसेन चतुर्थ के ६४५,६४८ ई० के ताम्रपत्र मिले हैं। उसके उत्तराधिकारी ध्रुवसेन तृतीय का प्रथम ताम्रपत्र ६४६ ई० का मिला है अतः यह निश्चितरूप से मानना होगा कि भागवृत्ति के निर्माण की अन्तिम सीमा ६४६ ई० है। हुएन्त्साङ्ग के लेखानुसार सन् ई० ६४३ तक श्रीधरसेन चतुर्थ का पिता जीवित था[1]। इसप्रकार भागवृत्ति की रचना लगभग ई० ६४४ से ६४८ के मध्य हुई होगी यह निश्चित है[2]।

इत्सिङ्ग ने लिखा है कि भर्तृहरि ६५१ के लगभग मरा। क्या यह भर्तृहरि भागवृत्तिकार ही तो नहीं है? आद्य भर्तृहरि के विषय में इत्सिङ्ग का लेख भ्रमपूर्ण है यह ऊपर लिखा जा चुका है।

इत्सिङ्ग की भ्रान्ति का कारण

इत्सिङ्ग की यात्रा पढ़ने से प्रतीत होता है कि वह वलभी नहीं गया था। उसके लेख से इतना ही प्रतीत होता है कि उसके काल में वलभी विद्या का अच्छा केन्द्र था वहां समस्त विद्याओं के परमनिष्णात विद्वान् निवास करते थे। भारत के समस्त प्रान्तों से विद्यार्थीगण आकर वहां विद्याभ्यास किया करते थे[3]। अतः सम्भव हो सकता है कि तात्कालिक भर्तृहरि (भागवृत्तिकार) की मृत्यु के विषय में सुनकर तथा उत्तरभारत में वाक्यपदीय आदि के के कर्त्तारूप में आद्य भर्तृहरि की प्रशंसा सुन कर नामैक्य के कारण दोनों को भ्रम से मिला दिया हो। भागवृत्तिकार कदाचित् बौद्ध माना जा सकता है क्योंकि हुएन्त्साङ्ग के लेखानुसार उस समय वलभी में बौद्धों का प्राबल्य भी था[4]। और उससमय में जयादित्य जैसे प्रकाण्ड बौद्ध विद्वान् पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता विद्यमान थे। तदनन्तर भी जिनेन्द्रबुद्धि, पुरुषोत्तमदेव मैत्रेयरचित, तथा शरणदेव आदि अनेक बौद्ध विद्वान् पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता हो चुके हैं। अतः भागवृत्तिकार के बौद्ध होने में किसी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार इत्सिंग का भर्तृहरि को बौद्ध लिखना कुछ सीमा तक युक्त हो सकता है।

भर्तृहरित्रय के उद्धरणों का विभाग

भर्तृहरि नाम वाले अनेक व्यक्तियों के सिद्ध होने पर एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि कौनसा उद्धरण किस भर्तृहरि का समझा जावे। हमने वाक्य

---

१. भारत के राजवंश भाग १ पृ० ३६६,३६७॥

२. श्री श्रीशचन्द्र ने इसका काल ६२५ माना है वह ठीक नहीं। देखो न्यासभूमिका पृ० २६॥

३. इत्सिङ्ग की भारतयात्रा पृ० २७१॥ यही हुएन्त्साङ्ग ने भी लिखा है।

४. भारत के प्राचीन राजवंश भा० १ पृ० ३६०॥

पदीय, महाभाष्यटीका, भट्टि तथा भागवृत्ति के अन्य ग्रन्थों में दिये हुए उद्धरणों को बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर निम्नलिखित परिणाम निकाले हैं—

(१) आद्य भर्तृहरि के उद्धरण हरि, या भर्तृहरि नाम से दिये गये हैं।

(२) भट्टि के उद्धरण भट्टि नाम से ही दिये जाते हैं।

(३) भागवृत्ति के उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत्, भागवृत्तिकार इन नामों से दिये जाते हैं।

मेरे विचार में अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस उलझन को समझते हुए सर्वत्र भिन्न २ नामों का ही प्रयोग किया है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि वैयाकरणों ने भिन्न २ नामों का प्रयोग करके सांकर्यदोष उत्पन्न ही नहीं होने दिया। इतने पर भी यदि हम भ्रमवश एक ही भर्तृहरि माने बैठे रहे तो यह हमारा दोष है। इत्सिङ्ग ने नामैक्य के कारण ही बड़ी भारी भूल की है। जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। भावी ग्रन्थसम्पादकों को इस विभाग का परिज्ञान अवश्य होना चाहिये। अन्यथा बड़ी २ भूलें होने की सम्भावना है[१]।

भागवृत्ति की रूपरेखा

भागवृत्ति के उपलब्ध न होने के कारण इसके विषय में पूर्णतया कुछ कहा नहीं जा सकता तथापि इसके जो उद्धरण उपलब्ध हो रहे है. उन से प्रतीत होता है कि इसमें अष्टाध्यायी के लौकिक वैदिक उभयविध सूत्रों की विस्तृत व्याख्या थी। इस का अनेक स्थानों पर काशिका से मतभेद था। इसमें कहीं २ पर वैयाकरणों के साम्प्रतिक मन्तव्यों से भी पर्याप्त भेद उपलब्ध होता हैं। इसके लेख में काशिका जैसी प्रौढ़ता प्रतीत नहीं होती।

---

(१) भाषावृत्ति के सम्पादक श्री श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने इस बात को न समझ कर बड़ी भूलें की हैं। यथा—'हरतेर्गतताच्छील्ये। गतविधिप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः'। इस पर टिप्पणी लिखते हुए 'भागवृत्तिग्रन्थस्य रचयिता (भाषावृत्ति पृ० ३२) में लिखा है। दुर्घटवृत्ति (पृष्ठ १६) में इस वार्तिक के विषय में लिखा है— 'गतताच्छील्ये इति तु भागवृत्तिः। गतविधिप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः'। भाषा वृत्ति और दुर्घटवृत्ति दोनों के उद्धरणों को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भर्तृहरि के नाम से दिया हुआ उद्धरण भागवृत्ति का नहीं है। भागवृत्ति का दूसरा पाठ है। अतः स्पष्ट है कि भर्तृहरि के नाम से सम्पादक महोदय ने भ्रम में पड़कर अन्यथा लिख दिया।

भागवृत्ति का संकलन

कई स्थानों पर उसका बहुत उपयोगी लेख देखकर उसके समस्त उद्धरणों के सङ्कलन करने का विचार उत्पन्न हुआ। तदनुसार यथासम्भव प्राप्त सब उद्धरणों को क्रमशः सङ्कलित करके 'भागवृत्तिसङ्कलन' नाम से प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है इस सङ्कलन से कुछ लाभ अवश्य होगा॥

संकलन का प्रकार

जब हमने समस्त उद्धरण एकत्रित कर लिए तब उनके सङ्कलन के प्रकार पर विचार किया। इनका सङ्कलन दो प्रकार से हो सकता था एक तो ग्रन्थों में जिस क्रम से उद्धरण उद्धृत हैं उसी क्रम से दूसरा अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम से। यतः भागवृत्ति अष्टाध्यायी की वृत्ति थी अतः अष्टाध्यायी के क्रम को अधिक उपयोगी समझ कर उसी क्रम से सब उद्धरणों का सङ्कलन किया है। ग्रन्थकारों ने उद्धरण देते हुए कहीं २ सूत्र का निर्देश कर दिया है। पर अधिकांशतया बिना निर्देश के ही उद्धरण दिये हैं अतः उनके स्थान निर्णय करने में बहुत कठिनाई उपस्थित हुई। हो सकता है कि स्थान निर्देश में हमसे भूलें हुई हों जहां हमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह था वहां सूत्र निर्देश के अनन्तर (?) प्रश्नचिह्न कर दिया है। जिनका हम स्थान निर्णय नहीं कर सके उन्हें हमने अन्त में संगृहीत किया है।

संकलन की अपूर्णता

हमारा यह सङ्कलन अपूर्ण है। हमने मुद्रित ग्रन्थों के ही उद्धरण सङ्कलित किए हैं। व्याकरण के शतशः ग्रन्थ अभी तक अमुद्रित हैं। उनके अप्राप्य होने से उनमें से संग्रह नहीं कर सके।

उद्धरणों के सङ्कलन में कठिनाइयां

कितना भाग भागवृत्ति के उद्धरण का है और कितना अन्य इसके निश्चय में महती कठिनाई उपस्थित हुई। अधिकतर ऐसी कठिनाई दुर्घटवृत्ति में हुई। हमने यथाशक्य विचार करके उद्धरणभाग की इयत्ता का परिच्छेद किया तथापि अनेक स्थानों पर हमें अभी तक सन्देह है।

दुर्घटवृत्ति आदि ग्रन्थों के अशुद्धिपरिपूर्ण होने से पाठ निश्चय करना अत्यन्त दुष्कर काम है हमने यथासम्भव पाठों का संशोधन किया है। तथापि प्रायः करके यथादृष्टपाठ ही रक्खा है।

उद्धरण देने वाले ग्रन्थकार प्रायः करके भागवृत्ति के पाठ को अपने शब्दों में उद्धृत करते हैं कहीं इतना संक्षेप कर देते हैं कि यदि उतना ही पाठ सङ्कलित किया

किया जाय तो कुछ भी अभिप्राय समझ में नहीं आता यथा—'नेति भागवृत्ति' (भाषा-वृत्ति पृ० ३१०) यदि इसको पूर्वपाठ के साथ मिलाकर साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादित्वादिति जयादित्य', नेति भागवृत्ति' ऐसा पढ़ें तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि भागवृत्तिकार के मत में 'साहाय्यम्' पद इष्ट नहीं है। अत: ऐसे अस्पष्ट स्थलों पर हमने तत्सम्बन्धित पूर्वपाठ भी उद्धृत कर दिया है। हमने भागवृत्ति के पाठ को सर्वत्र " " चिह्नों के अन्तर्गत दिया है जिससे उसका स्पष्ट ज्ञान हो सके।

भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थ

भागवृत्ति के उद्धरण जिन ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं उनकी सूची तथा संस्करण आदि का निर्देश निम्न प्रकार है—

	ग्रन्थनाम	ग्रन्थकर्त्ता	मुद्रणस्थान
(१)	भाषावृत्ति	पुरुषोत्तमदेव	राजशाही (बंगाल)
(२)	पदमञ्जरी	हरदत्त	काशी
(३)	परिभाषावृत्ति	सीरदेव	"
(४)	धातुवृत्ति	सायण	" (चौखम्बा)
(५)	उणादिवृत्ति	श्वेतवनवासी	मद्रास
(६)	उणादिवृत्ति	उज्ज्वलदत्त	कलकत्ता
(७)	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	काशी (चौखम्बा)
(८)	शब्दकौस्तुभ	"	"
(९)	व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि	विश्वेश्वर	"
(१०)	अमरटीकरसर्वस्व	सर्वानन्द	ट्रिवेण्ड्रम्
(१)	अमरटीका	अज्ञातकर्तृक	हस्तलेख (मद्रास)
(१२)	तन्त्रप्रदीप	मैत्रेयरक्षित	न्यास की टिप्पणी और उसकी भूमिका में उद्धृत

॥ इति शम् ॥

भागवृत्तिसङ्कलनम्

अदसो मात् ॥ १ । १ । १२ ॥ (?)

"अन्तरङ्गपरिभाषाया निरपवादत्वाद् असिद्धपरिभाषायास्तु नाजानन्तर्ये इति सापवादत्वादुभयोरावश्यकत्वाद्" इति भागवृत्तिकाराः ॥

म० भा० नवाह्निक (बम्बई सं०) पृ० २३६ कालम २[1] ॥

ओत् ॥ १ । १ । १५ ॥

गौर्वाहीको गौर्वाहीकमिति वृद्धयात्वे न स्याताम् । उच्यते—"पदसंस्कारपक्षे वाहीकाद्यर्थानपेक्षया वृद्धयात्वे भविष्यत" इति भाष्यभागवृत्ती ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ३ ॥

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२७॥

अत एव तत्रैव सूत्रे (१ । १ । २७) भागवृत्तिः—"पुरातनमुनेर्मुनिताम्" [किरात ६ । १६] इति, 'पुरातनीर्नदीः' [माघ १२ । ६०] इति च प्रमादपाठावेतौ, गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते, न तेषां लक्षणं चक्षुः" इति ।

परिभाषावृत्ति पृ० १३६, १३७॥

"पुरातनमुनेः" [किरात ६।१६] इत्यादयः कालदुष्टा एवापशब्दाः इति भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ८२

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४५॥

भागवृत्तिकारस्त्वाह—"नित्यशब्दानामन्वाख्यानमात्रमिदमिति ततो नेतरेतराश्रयदोषः । यदुक्तं भाष्ये—सर्वाणीतरेतराश्रयाणि [एकत्वेन] परिहृतानि, सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति" [म० भा० १ । १ । ४ । ५] इति ॥

परिभाषावृत्ति पृ० १० ॥

---

(१) महाभाष्यसम्पादकेन शिवदत्तेनायं पाठः शब्दकौस्तुभनाम्नोद्धृतः । अस्माभिस्तु प्रकृतसूत्रस्य कौस्तुभे नायं ग्रन्थ उपलब्धः । अचः परस्मिन् पूर्वविधौ [अ० १।१।५७] सूत्रस्थकौस्तुभग्रन्थेन सह किञ्चित् संवदति [द्र० श० कौ० पृ० २६०] ॥

द्विर्वचनेऽचि ॥ १ । १ । ५९ ॥

भाष्यभागवृत्त्योस्त्वेतदर्थं नन्वित्यनुवृत्तौ "द्विर्वचननिमित्तेऽचि द्विर्वचन एव कर्त्तव्येऽप्यजादेशो न भवति । कृते द्विर्वचने यथास्वमियङादेशो[1] भवति" इति सूत्रार्थः ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ४ ॥

येन विधिस्तदन्तस्य ॥ १ । १ । ७२ ॥

तथा च येनविधिसूत्रे [१ । १ । ७२] भागवृत्तिकृतोक्तम्—"इको यणचि [६ । १ । ७७] इतीका अचावयवेनावयविनः समुदायस्य सन्निधापितत्वादिगन्तस्याजादौ यणादेश इति वर्णविधिरेव न स्यात् तिष्ठतु दध्यशान त्वं शाकेन" इति ॥

परिभाषावृत्ति पृ० २६ ॥

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ॥ १ । २ । १ ॥

कथम् 'उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते' इति कुमारसम्भवः [१ । ४] । उच्यते—"ण्यन्तान्तात्" इति भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ७ ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥ १ । २ । ४८ ॥

"गोकुलमित्यत्र स्वंग्रहणानुवृत्त्या[2] व्यपदेशिवद्भावाच्चोपसर्जनह्रस्वत्वं प्राप्नोति तत्र तदन्तग्रहणसामर्थ्याद् व्यपदेशिवद्भावो न भवति" इति भागवृत्तिकृता गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य [१ । २ । ४८) इत्यत्र समाहितम् ॥

परिभाषावृत्ति पृ० १०६ ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ १ । २ । ६४ ॥

अनुगङ्गं वाराणसी·········तद्वदत्यन्ताय चेत्यर्थं इति केचित् । तथा च "अनु गङ्गमेतत् सूत्रम्"इत्येकशेषसूत्रे [१ । २ । ६४] भागवृत्तिकारः प्रयुङ्क्ते । नेति वयम् ॥

पदमञ्जरी भा० १ पृ० ३५८ ॥

प्रतिषेधे हसादीनामुपसंख्यानम् ॥ १ । ३ । १५ वा० ॥

यदुक्तं भागवृत्तिकृता—"प्रकारस्तु शब्दक्रियत्वाद्" इति ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० १४ ॥

---

(१) 'यथास्वमादेशो भवति' यद्वा 'यथास्वमियङादयो भवन्ति' इति युक्तः । पाठः स्यात् ।

(२) येनविधिस्तदन्तस्य [१ । १ । ७२] इत्यत्र स्वंरूपम् [१ । १ । ६८]-इत्यतः स्वं पदस्यानुवृत्तिं मत्वा दोषमुद्भावयतीति भावः ॥

हरतेर्गतिताच्छील्ये[1] ॥ १ । ३ । २१ वा० ॥

"गतताच्छील्ये" इति तु भागवृत्तिः[2] ॥ दुर्घटवृत्तिः पृ० १६ ॥

शप उपलम्भने ॥ १ । ३ । २१ वा० ॥

भागवृत्तौ तु—"उपलम्भनं प्रकाशनमुक्तम्" इति ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० १५ ॥

भागवृत्तिकारस्तु—"उपलम्भनं प्रकाशनम्, देवदत्ताय शपते किञ्चित् प्रकाशयतीत्यर्थः । वाचा शरीरस्पर्शनमित्यदः कस्यचित् काव्यम्"[3] ॥ धातुवृत्ति पृ० २०४ (शपधातौ)

आङो यमहनः ॥ १ । ३ । २८ ॥

कथम्—'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' [किरात १७।६३] इति ? ...... भागवृत्तौ तु "नैवायं साधुरिति आयोधे[4] इति पाठान्तरमुक्तम्" ॥ धातुवृत्ति पृ० २१७ (हनधातौ) ॥

कथं तर्हि—"आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' इति भारविः [१७ । ६३] 'आहध्वं मा रघूत्तमम्' इति भट्टिश्च [ ] । 'प्रमाद एवायम्" इति भागवृत्तिः ॥ सिद्धान्तकौ० पृ० ३६६

कथम् 'आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' इति भारविः [१७ । ६३], अकर्मकादित्यनुवृत्तेः । उच्यते...... "विषमविलोचनस्य वक्ष एत्य आजघ्ने । प्रकृतत्वाद् वक्ष एव । एवं च आङो यमहनः [१ । ३ । २८] इति तङ् । "पूर्वव्याख्यायाम् अकर्मकाच्च [१ । ३ । २६] इत्यनेनात्मनेपदम्" इति भागवृत्तिः[5] ॥ दुर्घटवृत्तिः पृ० १६ ॥

---

(१) अयं पाठः काशिकासम्मतः । भाष्ये तु भागवृत्तिवत् 'गतताच्छील्ये' इत्येवोपलभ्यते ॥

(२) हरतेर्गतताच्छील्ये गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः इति भाषावृत्तिः [पृ० ३२] । अत्र सम्पादकेन 'भागवृत्तिग्रन्थस्य रचयिता' इति टिप्पण्यामुक्तम् । तदयुक्तम् । यतो ह्यत्र वार्त्तिके दुर्घटवृत्तौ [पृ० १६] भर्तृहरिभागवृत्त्योर्विभिन्नः पाठ उद्धृतः । तथाहि—'गतताच्छील्ये इति भागवृत्तिः । गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः' इति । अयं हि भर्तृहरिभाष्यव्याख्याता सम्भाव्यते ॥

(३) तु० काशिका १ । ३ । २१ ॥

(४) 'आपेदे' इति क्वचिद् धातुवृत्तौ पाठान्तरम् ॥

(५) धातुवृत्तौ सिद्धान्तकौमुद्यां च 'आजघ्ने' इत्यस्य भागवृत्तिमुखेनापशब्दत्वमुक्तम् । दुर्घटवृत्तौ तु भागवृत्तिमुखेन तस्यैव साधुत्वं प्रतिपादितमिति महद्विपरीतत्वं लक्ष्यते । सम्भाव्यते कदाचिदत्र दुर्घटवृत्तिपाठो भ्रष्टः स्यात् ॥

आङ उद्गमने ॥ १ । ३ । ४० ३

कथं 'नभः समाक्रामति नष्टवर्त्मना स्थित्वैकचक्रेण रथेन भास्करः' [?] इति । उच्यते—"अपशब्द एवायम्' इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्तिः पृ० १७ ॥

अकर्मकाच्च ॥ १ । ३ । ४५ ॥

कथं 'सम्भविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि' इति भट्टिः [४२६], 'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः' [म० भा० १ । १ । ४४] इति जानातेरकर्मकत्वादनेन तङ्प्रसङ्गात् । उच्यते—"व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् ज्ञानोपसर्जनवृत्त्या जानातेरज्ञानार्थत्वात्, तस्य भाष्यकारवचनाद्वा अभिजानासीति" इत्युक्तवान भागवृत्ति-[कार]: ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० १८ ॥

उपाद्यमः स्वकरणे ॥ १ । ३ । ५६

कथम 'उपायंस्त महास्त्राणि' [भट्टिः १२०२] तथा तथा 'उपायंसत नासवम्' [भट्टिः ५७५] शस्त्राण्युपायंसत जित्वरणि' । [भट्टिः १६] 'नोपायध्वं भयं सीताम्' [भट्टि ५३५] इति भट्टिः स्वकरणं पाणिग्रहणमिति व्याख्यानात । उच्यते—"कर्तरि' इत्यनुवृत्तेः स्वकरणमात्यन्तिकस्वीकारः" इति रक्षितः भागवृत्तिः [च][2] ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० १८ ॥

णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्त्तानाध्याने ॥ १ । ३ । ६७ ॥

इह तर्हि आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, तानारोहयति हस्तीति । किं पुनरत्र नेष्यते ? वृत्तिकृता नेष्यते, भागवृत्तिकारेण त्विष्यते [3] ॥ पदमञ्जरी भा० १ पृ० २५१ ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥ १ । ३ । ८७ ॥

कथं 'शिरः कम्पयते युवा' अनेन परस्मैपदित्वात् । उच्यते—चिन्त्यम्' इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० २१ ॥

विप्रतिषेधे परं कार्यम ॥ १ । ४ । २ ॥

"यत्तु विप्रतिषेधसूत्रे [१ । ४ । २] पूर्वपरिभाषा गतार्थेति[4] भाष्यम् । तदभ्यु-

---

(१) 'उत्तरार्थं तर्हि कर्तृग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति भाष्य [१ । ३ । १४] वचनात् 'कर्तरि इति पदमनुवर्तते । 'कर्तृस्थे' इति तु दुर्घटवृत्तिसम्पादकस्य संशोधनम् ॥

(२) 'रक्षितभागवृत्ती इति सम्पादकस्य संशोधनम् ॥

(३) तानारोहयते हस्तीति भागवृत्तिकारमत आत्मनेपदं भवतीत्यर्थः ॥

(४) अर्थतोऽनुवादः पूर्वापरिभाषा = अन्तरङ्गं च बलीयो भवतीत्येषा । तथा च भाष्यम्—'उभे तर्हि कर्तव्ये ? नेत्याह, अनयैव सिद्धम्' इति [१ । ४ । २ पृ० ३०५]

च्चयमात्रम्" इति भागवृत्तिकैयटलघुविवरणाकारादय: ।

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि पृ० ४३२ ॥

"विप्रतिषेधसूत्रस्थं भाष्यं त्वभ्युच्चयपरमेवेति" भागवृत्तिकारा: ॥

शब्दकौस्तुभ १ । १ । ५६ पृ० २६० ॥

इयं च परिभाषा[1] बहिरङ्गपरिभाषयैव सर्वकार्यस्य सिद्धत्वाद् भागवृत्तिकृता नाभ्युपगम्यते ॥ परिभाषावृत्ति पृ० ४६ ॥

यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ १ । ४ । ३ ॥

"ईदूतोरेवेयं संज्ञा" भागवृत्ति: ॥ भाषावृत्ति पृ० ४३ ॥

यस्मात प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥ १ । ४ । १३ ॥

यदुक्तं यस्मात् प्रत्ययविधिसूत्रे [१ । ४ । १३] भागवृत्तिकृता—"समासान्तो विधिरनित्य: इति नैषा परिभाषा भाष्ये ज्ञापकाभावाद्" इति[1] ॥

परिभाषावृत्ति पृ० ११८ ॥

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ १ । ४ । २४ ॥ (?)

कथं 'शब्दे सोऽपि विमुज्यते' इति लक्षणाम् [?] । "अहो चित्रा प्रयोगस्थिति:" इति भागवृत्ति: ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० २४ ॥

ऊर्यादिच्विडाचश्च ॥ १ । ४ । ६१ ॥

"वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवदसाविव राग:, इति माघे [१० । १६] व्यवहितप्रयोग: प्रमादज:" इति भागवृत्ति:[3] ॥ उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० ६६ ॥

इति भागवृत्तिसङ्कलने प्रथमोऽध्याय: ॥

(1/2) 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत्' इत्येषेतिभाव: । अत्राह—सीरदेव:—'तन्मते वृक्ष इहेत्यादावचोरानन्तर्ये यद्यपि बहिरङ्गपरिभाषा नास्ति तथापि पदसंस्कारपक्षे दोषाप्रतिक्षेपो व्याख्येय:' इति । परिभाषावृत्ति पृ० ४६ ॥

(१) भागवृत्तिकारस्यैतद् वचनं भाष्यानालोचनपरम् । यतो हि द्वित्रिभ्याम् [अ० ६।२।१९७] सूत्रभाष्ये—'एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो विभाषा समासान्तो भवतीति' इति स्पष्टमुच्यते ।

सीरदेवस्त्वित्थं प्रतिविधत्ते—'......तदयुक्तम् । ननु लाघवार्थं समासान्तनिर्देशो न कृतो ऽन्यथा 'मूर्द्धसु' इति गौरवंस्यात् । यद्येवं मूर्धयाद्दत्स्विति कुर्यात् । एवं च समासान्तक्रमो न लङ्घितो भवतीति ज्ञापितम्' इति [परिभाषावृत्ति पृ० ११८] ।

(२) आविस् शब्द ऊर्यादिगणे पठ्यत इति हेतोस्तत्रस्थ एवभागवृत्तिपाठ: स्यादिति सम्भाव्यते ।

(३) 'उपसर्गप्रतिरूपकत्वात्समाधानीय इत्युपाध्यायसर्वस्वम्' इत्युज्ज्वलदत्त: । पृ० ६६

समर्थः पदविधिः ॥ २ । १ । १ ॥ (?)

कथम् 'असूर्यं पश्या राजदाराः, अश्राद्धभोजी' इत्यादौ नञ् समासः ? क्रियया नञ्सम्बन्धादसामर्थ्यात् । उच्यते—"सुटः स्त्रीपुंसयोरितिवक्तव्ये सुडनपुंसकस्येति [वचनं] ज्ञापकम्" इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० २८ ।

अर्धं नपुंसकम् ॥ २ । २ । २ ॥

"अर्धं नपुंसकमेव समप्रविभागे वर्तते नान्यलिङ्गम्" इति भागवृत्त्यादि ॥

टीकासर्वस्व भा० १ पृ० ६० ॥

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥ २ । २ । ४ ॥

कथं प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविका ? असमानाधिकरण्येऽपुंवद्भावात् । उच्यते—··· "प्राप्तापन्ने च इत्यविभक्तिकाकारप्रश्लेषादकारश्च पूर्वपदस्यानुविधीयते" इति भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ३४ ॥

नञ् ॥ २ । २ । ६ ॥ (?)

कथम्······'अनेकेषां नानास्थान' इति न्यासः ? उत्तरपदार्थप्रधानत्वान्नञ्समासस्य ।······अत एव भागवृत्तिकृता"ऽनेकेषामिति जैनेन्द्रोक्तं[1] कालदुष्टा एवापशब्दाः" इति ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ३४ ॥

समयानिकषाहायोगेपूपसंख्यानम् ॥ २ । ३ । २ वा० ॥

कथं 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रु' इति भट्टिः [३०२] 'हा तात हा अम्ब' [अं० ६ पृ० १५७] इनि मालतीवाक्यम् ? हायोगेष्वपि दृश्यते इति द्वितीयासम्भवात् । उच्यते—·········भागवृत्तिकृत्त्वाह—"शोच्यशोचकसम्बन्धे षष्ठ्यपवादो द्वितीया । सम्बोधने तु उपपदविभक्तेः कारकविभक्तबलीयसीति प्रथमा" ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ४० ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥ २ । ३ । ४६ ॥

कथं वृत्तोऽयमिति ? क्रियाया अभावे कारकत्वाभावादनभिहितत्वाच्च । उच्यते—"कारकत्वमभिहितत्वं च[2]" इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ४६ ॥

---

(१) 'जयमङ्गलोक्तम्' इति पाठान्तरं दुर्घटे ।

कोऽयं न्यासः, कश्चायं जिनेन्द्रबुद्धिरिति न ज्ञायते । सम्भाव्यते काशिकाविवरणकर्तुर्भिन्न एवायं जिनेन्द्र इति । काशिकाविवरणात्मके न्यासे नैतद् वचनमस्माभिरुपलब्धम् । 'जयमङ्गलोक्तम्' इति पाठस्त्वयुक्त एव पूर्वत्र तस्यानुपादानात् ॥

(२) 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्य [२।३।४६] वचनात् क्रियात्वे गम्यमाने कारकत्वमभिहितत्वं चोभयमुपजायत इति भावः ॥

द्विगुरेकवचनम् ॥ २।४।१॥ (?)

द्विगु [२।४।१] ' सूत्रे भागवृत्तिकारेणोक्तम्—"समाहरणं समाहार इति भावे घञ् इति स्थिते, यदुक्तं कर्मसाधने पञ्चकुमार्यः समाहृताः पञ्चकुमारि इति गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य [१।२।४८] इति न प्राप्नोति। एवं तर्हि भावसाधनः"इति ॥ परिभाषावृत्ति पृ० ७६॥

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।।२।४।६२॥

कथम्......' कौरव्याः पशवः'...इति वेणी [,१।२५] ? यतः 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' [४।१।१५१] इत्यक्षत्रियवृत्तिकुरुशब्दात् सावकाश इति क्षत्रियवृत्तेः ' कुरुनादिभ्यो ण्यः' [४।१।१७२] इति भाष्यम्। तस्य च तद्राजत्वाल्लुक्।......उच्यते—"कुर्वादिभ्यो ण्यः [४ । १ । १५१] इत्यत्रापि क्षत्रियगोत्रग्रहणानुवृत्तेः[२] सोऽपि क्षत्रियगोत्रवचनादेव, तस्यातद्राजत्वादलुग्' इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ५२ ॥

' परस्परं परिरेभिरे कुकुरकौरवस्त्रियः' इति माघः [१३ । १६] तथा 'सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः' [वेणी ३ । ४७] ? कच्छादि [४ । २ । १३३] पाठाद् मनुष्यतत्स्थयोश्च [४ । २ । १३४] इति वुञा भाव्यम् । उच्यते—...... "विषयो देशे [४।२।५२] इत्यणि तात्पर्याद्" इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति ५३ ॥

यङोऽचि च ॥ २ । ४ । ७४ ॥

"चकाराद् बहुलं छन्दसि [२ । ४ । ७३] इति सर्वमनुवर्तते। तेन बाहुल्यादन-च्यपि छन्दस्येव यङ्लुक् । भाष्ये तु हुश्नुग्रहणज्ञापक [६ । ४ । ८७] बलाद् बोभवीतीत्येवं पदं भाषायां साधु, नान्यद्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० १०६ ॥

॥ इति भागवृत्तिसंकलने द्वितीयोऽध्यायः ॥

चरेष्टः ॥ ३ । २ । १६ ॥

कथं 'प्रेक्ष्यस्थितां सहचरीम्' इति रघुः [२ । ५७] ? अधिकरण इत्यनुवृत्तेः । उच्यते—" चिन्त्यताम् " इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ५६ ॥

---

(१) परिभाषावृत्तिसम्पादकेन [२ । १ । ५१] संख्या निर्दिष्टा सा त्वशुद्धा प्रतिभाति ॥

(२) क्षत्रियगोत्रग्रहणं कुतोऽनुवर्तत इति तु न व्यक्तिकृतं भागवृत्तिकृता । नहि कुतश्चित्तस्यानुवृत्तिः सम्भवति ॥

(३) ' वाष्पोष्मभ्यामुद्वमने ' [अ० ३ । १ । १६] इत्यत्र ' धूमाच्चेति भर्तृहरिः ' इति भाषावृत्तिः । अत्राह सम्पादकः—'भर्तृहरिः—भागवृत्तिकारः' इति । तत् पूर्वदेवायुक्तम् ॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ॥ ३ । २ । १८८ ॥

" इह वर्तमानक्तेन भूतक्तस्य बाधनमिष्यते । तेन त्वया ज्ञातो मयार्चितः इत्याद्यचिकित्स्यम् " इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृष्ठ १६१ ॥

कथं ' त्वया ज्ञातो बधाद् भीतः ' [?] इत्यादि········ । उच्यते— " अपशब्दः " इति पदे (?) भागवृत्तिः ॥

" वर्तमानक्तेन भूतक्तस्य बाधनमिष्यते । तेन त्वया ज्ञातो मया ज्ञात इत्याद्यचिकित्स्यम " इति भागवृत्तिरिति भाषावृत्तिः ॥

कथं भूते क्ते सति ' त्वया शीलितो मया ज्ञात ' इति बुद्ध्यर्थत्वाद् वर्तमानक्तेन भूतक्तस्य बाधनात्········ । " कालदुष्टा एवापशब्दाः " [इति] भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ६३॥

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥ ३ । ३ । २० ॥

कथम् ' एकोऽपि तव निश्चयः " इति ? " पदसंस्कारेण " इति भागवृत्तिः[1] ॥

धातुवृत्ति पृष्ठ ३१४ (चिञ्धातौ) ॥

एरच् ॥ ३ । ३ । ५६ ॥

"वासरूपेण [३ । १ । ९४] क्तादयोऽपि भवन्ति । भीतं शिशुना, वृष्टं देवेन, वर्षणं मेघस्य" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्तिः पृ० १७१ ॥

अप्रत्ययात् ॥ ३ । ३ । १०२ ॥ (?)

"कण्डूतिरसाधुः" इति भागवृत्तिः ॥ टीकासर्वस्व भा० २ पृ० ३११ ॥

अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ॥ ३ । ४ । १८ ॥

"भावेऽपि हि प्रत्यये सकर्मकाद् धातोः पश्चात् कर्मसम्बन्धो भवत्येव । पाक ओदनस्य, कटं कृत्वा शेते, गम्यते मया ग्रामम्" इति भागवृत्तावुक्तम् ॥

भाषावृत्ति पृ० १८६ ॥

कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः ॥ ३ । ४ ४६ ॥

' स[2] च क्रियासमभिहारानुप्रयोगवद् व्यवधानेऽपि भवति । यथा—घृतनिधायमुदकं निदधाति" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० १६३ ॥

सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः ॥ ३ । ४ । ४९ ॥

---

१. द्रष्टव्या भाषावृत्तिः ३ । २ । २० ॥

२. अनुप्रयोग इत्यर्थः ॥

" अत्र णमुल्विधौवुपसर्गग्रहणं पीडेरेव विशेषणम्[1] " इति भागवृत्तिः ॥

धातुवृत्ति पृ० २०० (कृषधातौ) ॥

केचिद्[2] उपशब्दस्य पीडयतिनैव सम्बन्धमाहुः ॥ धातुवृत्ति पृ० ३४८ (रुधधातौ)॥

॥ इति भागवृत्तिसंकलने तृतीयोऽध्यायः ॥

न षट्स्वस्रादिभ्यः ॥ ४ । १ । १० ॥

भागवृत्तिकारस्तु नप्तृशब्दमपि स्वस्रादिषु पठित्वा नप्ता[3] कुमारी इत्युदाजहार॥

शब्दकौस्तुभ भा० ३ पृ० १० (४।१।१०) ॥

भागवृत्तिकृत् नप्तृशब्दं स्वस्रादौ पठितवान् ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ७४ ॥

न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः ॥ ४ । १ । १७८ ॥

कथं 'प्राक् केकयीतो भरतस्ततोऽभूत्' [भट्टि १४] इति ? "आद्यप्रकृतेरेव कुञ्जद्वारेण सोऽयमिति ङीवृत्तेः शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् [४ । १ । ७३] " इति भागवृत्तिः ॥

भाषावृत्ति पृ० २२६ ॥

भिक्षादिभ्योऽण् ॥ ४ । २ । ३८ ॥

भागवृत्तिकारः " युवतीनां समूहो यौवनम्" इत्याह ॥ परिभाषावृत्ति पृ० ५८ ॥

---

१. 'धनुररिभिरसह्यं मुष्टिपीडं दधानः' [भट्टि २६] इति प्रयुञ्जन् भट्टिकारस्त्वतन्त्रं मन्यते। धातुवृत्तिकारो [पृ० २००] भट्टिभागवृत्त्योर्मतमेवं निराचष्टे—'इदं तावत् साहसमात्रम्, प्रयुक्तस्यातन्त्रत्वाङ्गीकरणम्। यदपि पीडिनैव सम्बन्धकथनं तदपि न न्याय्यम्, बह्वच्क-स्यास्य पूर्वनिपातायोगात्। अत एव वृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु सबन्धोऽङ्गीकृतः' इति।

भागवृत्तिमतनिराकरणे 'बह्वच्कस्य पूर्वनिपातायोगाद्' इति यो हेतुरुक्तः स त्वयुक्तः। भवति ह्यन्यत्रापि बह्वच्कस्य पूर्वनिपातः। यथा—नाम्न्यादिशिग्रहोः [३ । ४ । ५८] इति। अत्र ह्याङो दिशिनैव सम्बन्धः, न तु ग्रहिणा। स्वयमपि ग्रहधातौ तथैव प्रयुङ्क्ते 'नामग्राहमाह्वयति' इति। तस्मादत्रापि केवलं पीडयतिनैव सम्बन्धः सम्भवति। यदि तु नेष्यते तर्हि हेत्वन्तरं वाच्यम्। भाषावृत्तिकारोऽपि भागवृत्तिमतमनुसरति [द्र० पृ० १६३] ॥

शब्दरत्नकारस्तु पूर्वोक्तं भट्टिप्रयोगं घञन्तं मन्यते। तदाह 'धनुररिभिरसह्यं मुष्टिपीडं दधान इति भट्टिप्रयोगे तु न णमुलन्तम्। किन्तु घञन्तम्। क्रियाविशेषण-त्वाच्च द्वितीयेति बोध्यम्' इति [श० र० पृ० ८३८] ॥

२. केचित् पदेनभागवृत्तिकारोऽत्राभिप्रेतः।

३. 'नप्तेति भागुरिः' इति भाषावृत्तिकारः [पृ० २०४]। अमरस्तु 'नप्त्री पौत्री सुतात्मजा' इत्याह [२ । ६ । २६] ॥

युवतिशब्दाद् यौवलमिति जयादित्यः । "भस्याढे तद्धिते [६ । ३ । ३५ वा०] इति पुंवद्भावे यौवनम्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० २३५ ॥

नडशादाड्ड्वलच् ॥ ४ । २ । ८८ ॥

"पङ्कवाचिनः शादशब्दाद् ड्वलज् न भवति, अनभिधानात् । शष्पवाचिन एव भवति" इति भागवृत्तिः ॥ टीकासर्वस्व भा० २ पृ० ११ ॥

शेषे ॥ ४ । २ २९ ॥

"इह चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम्, श्रावणः शब्दः, अश्वैरुह्यते आश्वो रथः, चातुरं शकटम्, दृषदि पिष्टा दार्षदा माषाः, औलूखलाः सक्तवः, चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः इति सामान्येन तस्येदम् [४ । ३ । १२०] इति विवक्षायाम्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० २४३ ॥

अग्रपश्चाड्डिमच्[1] ॥ ४ । ३ । २८ वा० ॥

"अग्रपश्चाड्डिमजिति छान्दसम्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० २५४ ॥

॥ इति भाषावृत्ति संकलने चतुर्थोऽध्यायः ॥

स्तेनाद्यन्नलोपश्च ॥ ५ । १ । १२५ ॥

"स्तैन्यशब्दस्तु पाञ्चायतलौहितक इतिवदागमिकः[2]" इति भागवृत्तिः ॥

भाषावृत्ति पृ० ३०६ ॥

योपधाद् गुरुपोत्तमाद् वुञ् ॥ ५ । १ । १३२ ॥

साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादि [५ । १ । १२४] त्वादिति जयादित्यः । नेति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० ३१० ॥

जयादित्यमतेन साहाय्यमित्यपि, न भवति चेति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ८६॥

अद्यश्वीनावष्टब्धे ॥ ५ । २ । १३ ॥

कथमद्यश्वीनो वियोगः ? विजायत इत्यस्यानुवृत्तेरिति जयादित्यः । "स्त्रीलिङ्ग-निर्देशादुपमानस्याप्यसंभवान्नैतद्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० ३१४ ॥

---

१. 'अग्रादिपश्चाड्डिमच् स्मृतः' इति भाष्यवार्त्तिकम् ॥

२. सृष्टिधर इत्थं व्याचष्टे—'पञ्चायतस्य भावः पाञ्चायतम्, लोहितको मणिः, तस्य भावो लौहितकम् । एतौ शब्दौ, न चानयोरञोऽणो वा विधाने सूत्रमस्ति । तथा च 'अण्' इति योगविभागाद् यथेदं तथा स्तेनात् स्तैन्यमिति च कल्प्यमितिभावः । आगमः परम्परा । ततः आगतः आगमिकः । 'चौरिका स्तैन्यचौर्ये च' इत्यमरो [२ । १० । २५] ऽपि' इति ॥ [द्र० भा० वृ० पृ० ३०६] ॥

रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच् ॥ ५ । २ । ११२ ॥

"या सम्प्रति प्राक् परिषद्वलानाम् इति व्योषः[1] । 'परिषद्[2]वलान् महाब्राह्मैः' इति भट्टिः [१५०] । इह तु नवाक्षरैकपादेऽपि वृत्तभेदोऽस्यास्तीति यथा प्रधाने कर्मण्यभिधेये[3] लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्" [१ । ४ । ५१ भाष्ये] इति भागवृत्तिः ॥

भाषावृत्ति पृ० ३२६ ॥

"कथं परिषद्वलान् महाब्राह्मैः इति भट्टिः, नवाक्षरेण छन्दोभङ्गात्। नवाक्षरेणैक-पादे वृत्तभेदोऽस्ति यथा प्रधाने कर्मण्यभिहिते लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् [१ । ४ ५१ भाष्ये] इति । तथा तस्मै तिलोदकं दद्यादपुत्राय भीष्मवर्मणे । एवं च न छन्दोभङ्ग" इति भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ८७ ॥

किमोऽत् ॥ ५ । ३ । १२ ॥

भागवृत्तिकारस्तु "भाषायामेतत्[4] नेच्छति" ॥ पदमञ्जरी भा० २ पृ० ३३६ ॥

शीले को मलोपश्च ॥ ५ । ३।७२ वा ॥

"कुर्वन्त्येव हि तूष्णीकां राजन् गम्भीरवेपसः ।
लघवो घोषयन्त्येव न तु कुर्वन्ति किं च न" ॥ इति भागवृत्तिः ॥

उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० १५२ ॥

तथा च भागवृत्तौ श्लोक :—

"कुर्वन्तोऽपि हि तूष्णीका राजन् गम्भीरचेतसः ।
लघवो घोषयन्त्येव न कुर्वन्ति च केचन ॥" इति ॥

भाषावृत्त्यर्थविवृति [भाषावृत्ति पृ० ३४४ टि०] ॥

॥ इति भागवृत्तिसङ्कलने पञ्चमोऽध्यायः ॥

सन्यङोः ॥ ६ । १ । ९ ॥

भागवृत्तिकारस्त्वाह—" पूर्वसूत्रे [६ । १ । ८] धातोरनभ्यासस्येति द्वयमपि प्रत्याख्याय भाष्यकारेणोक्तम्—तिष्ठतु तावत् सान्यासिकं धातुग्रहणम् इति ।

---

१. घोष इति दुर्घटवृत्तिः पृ० ८६ ॥

२. ' पर्षद्वलान् ' इति साम्प्रतिकः पाठः ॥

३. ' अभिहिते ' इति दुर्घवृत्तिः ॥ पृ० ८७ ॥

भागवृत्तिकृतोद्धृतः पाठो भाष्ये ऽन्यथोपलभ्यते । तद्यथा—'प्रधानकर्मण्याख्येये' इति । अस्मिन् पाठेऽष्टाक्षरैकपाद एव ॥

४. ' कुत्र ' इति पदम् ॥ अत्रमपि केचिदिच्छन्ति इति काशिका । [५।३।१२] ॥

उत्तरार्थमिति भावः । अनभ्यासग्रहणस्य तु न किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्, ततश्चोत्तरार्थमपि तन्न भवतीति भाष्यकारस्याभिप्रायो लक्ष्यते । तेनात्र' भवितव्यमेव द्विर्वचनेन'' इति ॥

पदमञ्जरी भा० २ पृ० ४२६ ॥

दिव उत् ॥ ६ । १ । १३१ ॥

"बहुलवचनात् केवलादपि कनिन्निति । तेन दिवौकस इत्यत्र वृद्धिर्भवति" इति दिव उत् [६ । १ । १३१] इत्यत्र भागवृत्तिः ॥ उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० ५८ ॥

"कनिन्प्रत्ययान्तेन दिवा ओको येषाम्" इति भागवृत्तिः ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ६७ ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ ६ । १ । १४४ ॥

"सूत्रार्थे केचिदनुस्वारस्य च लोपमिच्छन्ति । मास्पचनम्, मास्पाक इति । तत्तु तन्त्रभाष्यवाक्यस्याभावात् सन्दिग्धम्" इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० ३६६ ॥

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ॥ ६ । ३ । ६१ ॥

"अद्भ्य उत्तारकः उद्पः (उडुपः) प्लवः । ऊदनोर्देशे [६ । ३ । ९८] इति दीर्घनिर्देशादन्यत्रापि भवति" इति इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य [६ । ३ । ६१] इत्यत्र भागवृत्तिः" उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० ८१ ॥

"भ्रुवोर्भङ्गो भ्रभङ्गो भ्रुभङ्गो भ्रूभङ्गश्चेति रूपत्रयम् । भ्रूकुंसादीनामकारो वा [६ । ३ । ६१ वा] इत्यकारह्रस्वौ, पक्षे दीर्घ एवावतिष्ठते" एतत्सर्वमिको ह्रस्व [६ । ३ । ६१] इत्यत्र भागवृत्तिः ॥ उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० ८४ ॥

अ० ६ । ३ । ८४ अथवा ८५ ॥

इह समानस्येति योगविभागः तेन सपक्षसधर्मसजातीयाः सिद्ध्यन्तीति वामनवृत्तिः । "अनार्षोऽयं योगविभागः । तथाह्यव्ययानामनेकार्थत्वात् सदृशार्थस्य सहशब्दस्यैते प्रयोगाः । कथं नाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्ति[2]" इति भागवृत्तिः ॥

भाषावृत्ति पृ० ४२० ॥

(१) लोलूय+सन् इत्यत्र । अयं भावः—अनभ्यासस्येति प्रत्याख्यानात् यङन्तात् सनि भवितव्यमेव द्विर्वचनेन । तेन लोलूयतेः सनि 'लुलोलूयिषति' इति रूपं भागवृत्तिकारमत इष्टमिति गम्यते ॥

(२) अत्र कश्चित् पाठस्त्रुटितः प्रतिभाति । अस्यायं भावः—सहशब्देन समासे तस्य सादेशे सपक्षसधर्मादयो भविष्यन्ति, समानशब्देन समासे समानपक्षसमानधर्मादय इति ॥

"अव्ययानामनेकार्थत्वात् सहशब्दस्य समानार्थस्य सभावे सपक्षः, समानशब्दे तु समानपक्षः" इति भागवृत्तिः ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० १०० ॥

अन्येषामपि दृश्यते ॥ ६ । ३ । १३७ ॥

दृशिग्रहणादिह पूरुषो नारक इत्यादावप्ययं दीर्घ इति वामनवृत्तिः । "अनेनोत्तरपदविधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दाः[1]" इति भागवृत्तिः ॥

भाषावृत्ति पृ० ४२७ ॥

न शसददवादिगुणानाम् ॥ ६ । ४ । १२६ ॥ (?)

भागवृत्तौत्वनयोर्विकल्पेन 'वेमतु' रित्युदाहृतम् ॥

धातुवृत्ति पृ० १४८ (टुवमधातौ ॥

भागवृत्तौ तु 'वेमतुः' इत्याद्यप्युदाहृतम् ॥

सिद्धान्तकौ० पृ० २६० (टुवमधातौ) ॥

॥ इति भागवृत्तिसङ्कलने षष्ठोऽध्यायः ॥

घुषिरविशब्दने ॥ ७ । २ । २३ ॥ (?)

........भागवृत्तिकाराः घुषिं शब्दार्थं पेठुः[3] ॥ धातुवृत्ति पृ० ११६ (घुषिर्धातौ)॥

स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ॥ ७ । २ । ३६ ॥

कथं चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः इति माघः [३ । ५१] ? क्रमेरनात्मने पदनिमित्तत्वादिट् प्रसंगात् । उच्यते.....—" ग्रहे जिघृक्षयेति पाठः " इति भागवृत्तिः । जिघांसयेति वा पाठः ॥ ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ११३ ॥

किरश्च पञ्चभ्यः ॥ ७ । २ । ७५ ॥

वृतो वा [७ । २ । ३८] इति अस्येटो दीर्घो नेहास्तीति वामनवृत्तिः । " अस्तीति " भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० ४८२ ॥

(१) वस्तुतः काशिकाभागवृत्त्योरुभयोरेव मतमयुक्तम् । उत्तरपदविरहत्वाद्दीर्घत्वं न प्राप्नोति इति भागवृत्तिकारलेखो युक्तः । परं 'दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दाः' इति त्वयुक्तम् । नह्येतेषां सार्वत्रिकः प्रयोगः,कवयस्तु छन्दोभङ्गदोषनिवृत्तये कथंचित् प्रयुञ्जते । वस्तुतस्त्वत्र छान्दसं दीर्घत्वम् । तदुक्तं भाष्यकृता—'बहुलं छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते । तद्यथा पूरुषः नारकः इति' [अ० ६ । ४ । ७४] 'येषामपि दीर्घत्वं नारभ्यते तेषामपि छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते । तद्यथा पूरुषः, नारक इति' [अ० ६ । १ । ७] इति च ॥

(२) 'एत्वाभ्यासलोपयोः' इत्यर्थः ॥

(३) ' .....भागवृत्तिकाराः ' घुषिरविशब्दनार्थः ' इति पेठुः" इति पाठान्तरं मैसूरमुद्रितायाम् । धा० वृ० भा० २ पृ० ३७० ॥

भागवृत्तौ तु अत्रापि दीर्घविकल्पो दृश्यते ॥ धातुवृत्ति पृ० ३३८ (कृधातौ) ॥

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ॥ ७ । ३ । ३४ ॥

" यथालक्षणमप्रयुक्ते [भाष्य १ । १ । १ । २४] इति उपराम उद्याम इत्येव भवतीति" भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम् ॥ दुर्घटवृत्ति पृ० ११७ ॥

यङो वा ॥ ७ । ३ ९४ ॥[1]

" यङ्लुक् छान्दसः " इति भागवृत्तिः ॥ भाषावृत्ति पृ० ५०३ ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥ ७ । ३ । १०८ ॥

कथं ' सुतनु ! सत्यमलङ्करणाय ' इति माघः [६ । १७], सुतनु ! जहिहि कोपम् , तथा वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटा इति च ? अनेन गुणप्राप्तेः ।......उच्यते— "कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः [उ० १ । ७८] इति ऊप्रत्ययान्तस्तनूशब्दोऽप्यस्ति । स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः इत्यमरः [२ । ६ । ७१] तत्प्रयोगे अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः [७ । ३ । १०७] इति ह्रस्वविधानसमर्थ्यान्न गुण इति । यदि हि स्यात् ' अम्बार्थानां ह्रस्वः ' इत्युक्त्वा ' नदीह्रस्वयोर्गुणः ' इति कृतं स्यात् " इति भागवृत्तिः ॥
दुर्घटवृत्ति पृ० ११६ ॥

॥ इति भागवृत्तिसङ्कलने सप्तमोऽध्यायः ॥

क्विन् प्रत्ययस्य कुः ॥ ८ । २ । ६३ ॥

कथं दृग्भ्याम् , दृशेः क्विपि कुत्वम् ? " प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् क्विन् प्रत्ययो यस्मादृष्ट इति बहुव्रीहौ अन्यप्रत्ययान्तादपि पदान्ते कुत्वम् " इति भागवृत्तिः ॥
दुर्घटवृत्ति पृ० १२५ ॥

उञि च पदे ॥ ८ । ३ । २१ ।

भर्तृहरिणा चास्य नित्यार्थतैवोक्ता । तथा च भागवृत्तिकृता प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्—"तन्त्रे उतम् , तन्त्रयुतम्" इति ॥
तन्त्रप्रदीप ८ । ३ । २१ ॥ (द्र० न्यास भूमिका पृ० १४) ॥

प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ॥ ८ । ४ । ११ ॥

"तत्र च पूर्वपदाधिकारः, समासे च पूर्वोत्तरपदव्यवहारः, तत्कथमिह [प्राह्णिएवदित्यत्र] णत्वमिति न व्यक्तीकृतम्[2]" इति भागवृत्तिकृतोक्तम् ॥
परिभाषावृत्ति पृ० १२ ॥

---

(१) कदाचिदयं पाठः 'यङोऽचि च' [२ । ४ । ७४] सूत्रादुद्धृतः स्यात् ॥

(२) भर्तृहरिणेति शेषः । द्र० परिभाषावृत्ति पृ० १२ ॥

कुमति च ॥ ८ । ४ । १३ ॥

भागवृत्तौ तु "युजाक्रीड [३ । २ । १४२] इति घिनुणन्तमुदाहृतं वक्रयोगिणौ" इति ॥ तन्त्रप्रदीप ८ । ४ । १३ (न्यास भा० २ पृ० १११३ टि०) ॥

॥ इति भागवृत्ति सङ्कलने ऽष्टमोऽध्याय: ॥

भागवृत्तिकृता तु पक्तामूलत्यपान्तनमीषाते (?) तन्मतेन शेषविवक्षायां षष्ठ्यत्र ॥

दुर्घटवृत्ति पृ० ४७ ॥

"वदेर्यङ्लुगन्तान्दूक:, वावदूकश्च वक्तरि" इति भागवृत्ति: ॥

उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० १५३ ॥

"उष्ट्रो राष्ट्रो भ्राष्ट्र:" इति भागवृत्ति: ॥ उज्ज्वदत्त उ० वृ० पृ० १८६ ॥

"पृषोदरं मेदुरं पृषदू" इति भागवृत्ति: ॥ उज्ज्वलदत्त उ० वृ० पृ० २०६ ॥

"तन्द्री प्रमिला इति त्रिकाण्डीपाठात्[1] साधुत्वम्" इति भागवृत्तिकार: ॥

श्वेतवनवासी उ० वृ० पृ० ६३ ॥

भागवृत्तिस्तु "धान्यकम्" उदाजहार ॥

अनिर्ज्ञातकर्तृक अमर टीका (द्र० मद्रास ओरियण्टल जनरल सन् १६३२ पृ० २५३)

ततो "धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव, इत्यसाधु" रिति भावृत्ति:[2] ॥

पूर्वोक्त अ० टी० (मद्रास ओरियण्टल जनरल सन् १६३२ पृ० २५३)

॥ इति भागवृत्ति संकलनं समाप्तम् ॥

(१) अयममरकोशाद्भिन्न: कश्चित्त्रिकाण्डीकोश: । अमरकोशे तु 'तन्द्रि; प्रमिला' इति पाठ: [द्र० १ । ७ । ३८] 'यतस्त्रिकाण्डोत्पलिन्यादीनि नाममात्रतन्त्राणि' इति टीकासर्वस्वकारवचनादासीदमराद्भिन्न: कश्चित् त्रिकाण्डकोश इति सम्भाव्यते ।

कश्चित्त्रिकाण्डकोशो भागुरिकृतोऽप्यासीदिति पुरुषोत्तमदेववचनाज्ज्ञायते । तदुक्तम्—'शिवताति:, शन्ताति:, अरिष्टताति: अमी शब्दाश्छान्दसा अपि क्वचिद्भाषायां प्रयुज्यन्ते इति त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनाद्वा ऽव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दत्वाद् वा सर्वथा भाषायां साधव:' इति [भाषावृत्ति पृ० २८६] । विवृतं च सृष्टिधरेण—'त्रिकाण्डे कोशविशेषे भागुरेराचार्यस्य यदेषां निबन्धनं तस्माच्च इति [द्र० भा० वृ० पृ० २८६ टि०] ।

(२) अत्र कदाचित् 'भागवृत्ति:, इति पाठ: स्यात् ॥

੧ ਓ ਸ੍ਰੀ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਜੀ ਦੀ ਫਤੇ ॥

ਜੀਵਨ ਵਿਚਾਰ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ

ਕਿਉਂ ?

ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ ਵਿਚ ਇਕ ਉੱਚ ਕੋਟੀ ਹੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼, ਆਤਮ ਦਰਸੀ ਬਜ਼ੁਰਗ, ਹਰਿ ਸਿਮ੍ਰਨ ਵਿੱਚ ਅਠੇ ਪਹਿਰ ਲੀਨ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਭਗਤ, ਸੱਤ ਉਪਦੇਸ਼ ਦੇਣ ਵਾਲੇ ਆਗੂ, ਅਤੇ ਮੁਖੀ ਲੇਖਕ ਅਰ ਕਵੀ ਮੰਨੇ ਗਏ ਹਨ, ਉਸ ਦੇਸ਼ ਵਿਚ ਉਨਾਂ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਵਿਚ ਕਈ ਧਰਮ ਅਸਥਾਨ ਕਾਇਮ ਕੀਤੇ ਹੋਏ ਹਨ ਜਿਥੇ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਇਸਤ੍ਰੀ ਪੁਰਸ਼ ਨਿੱਤਪ੍ਰਤਿ ਪੂਜਾ ਕਰਨ ਜਾਂਦੇ ਹਨ, ਅਤੇ ਵਾਰਸ਼ਕ ਮੇਲਿਆਂ ਪਰ ਲੱਖਾਂ ਸ਼ਰਧਾਲੂ ਜੁੜਦੇ ਹਨ। ਉਸ ਪਰਾਂਤ ਦੇ ਹਰ ਵਰਣ ਵਿਚੋਂ ਬੇਅੰਤ ਇਸਤ੍ਰੀ ਪੁਰਸ਼ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸੰਪਰਦਾਈ ਹਨ ਅਤੇ ਉਨਾਂ ਦਾ ਨਾਮ ਬੜੇ ਫਖਰ ਅਰ ਮਾਣ ਨਾਲ ਲੈਂਦੇ ਹਨ।

੧੯੧੯ ਵਿਚ ਸ੍ਰੀ ਅੰਮ੍ਰਿਤਸਰਜੀ ਵਿਚ ਆਲ ਇੰਡੀਆ ਨੈਸ਼ਨਲ ਕਾਂਗਰਸ ਦੇ ਸਮਾਗਮ ਪਰ ਆਉਣ ਸਮੇ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਨੀਤੀ ਵੇਤਾ ਸ੍ਵਰਗ ਵਾਸੀ ਲੋਕ ਮਾਨਯ ਸ੍ਰੀ ਤਿਲਕਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਅਪਣੇ ਭਾਸ਼ਨ ਵਿਚ ਆਖਿਆ ਸੀ ਕਿ ਸਾਡੇ ਦੇਸ਼ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦਾ ਇਕ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ (ਜਿਸਦੇ ਨਾਮ ਲੇਵਾ ਕਹਿਲਾਉਣਾ ਅਸੀਂ ਫਖਰ ਸਮਝਦੇ ਹਾਂ) ਐਸਾ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਹੋਇਆ ਹੈ ਜਿਸਨੇ ਸਾਡੀ ਅਤੇ ਆਪਦੀ (ਪੰਜਾਬ ਵਾਸੀਆਂ ਦੀ) ਸਾਂਝ ਬਣਾ ਦਿਤੀ ਹੈ,ਅਰਥਾਤ ਸ੍ਰੀਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵਜੀਦੀ ਬਾਣੀ ਦਰਜ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬ ਦਾ ਮੇਲਹੋਗਿਆ ਹੈ। ਪੰਜਾਬ ਹਾਈ ਕੋਰਟ ਦੇ ਜੱਜ ਜਸਟਸ ਭਿੰਡੇ (ਜੋ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਹਨ) ਇਕ ਵਾਰੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ

ਦੇਹਰੇ ਸਾਹਬ "ਘੁਮਾਣ" ਜਿਲਾ ਗੁਰਦਾਸ ਪੁਰ ਵਿਚ ਬੜੀ ਸ਼ਰਧਾ ਅਤੇ ਪ੍ਰੇਮ ਨਾਲ ਦਰਸ਼ਨਾਂ ਨੂੰ ਗਏ, ਉਸ ਦਿਨ ਬੜੀ ਬਾਰਸ਼ ਹੋ ਰਹੀ ਸੀ, ਪਰ ਫੇਰ ਭੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇਹਰਾ ਸਾਹਬ ਤੋਂ ਦੂਰ ਹੀ ਅਪਣੇ ਬੂਟ ਉਤਾਰ ਲਏ ਅਤੇ ਨੰਗੇ ਪੈਰੀਂ ਬੜੀ ਸ਼ਰਧਾ ਨਾਲ ਅੰਦਰ ਗਏ, ਉਨਾਂ ਉੱਥੇ ਇਹ ਗਲ ਬੜੇ ਮਾਣ ਨਾਲ ਆਖੀ ਕਿ ਅਸੀਂ ਭਗਤਜੀ ਦੇ ਸੇਵਕ ਹਾਂ।

ਉੱਕਤ ਗੱਲਾਂ ਤੋਂ ਪ੍ਰਗਟ ਹੈ ਕਿ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਵਿਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਕਿਨੀ ਕੁ ਮਾਨਤਾ ਹੋ ਰਹੀ ਹੈ, ਇਸਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਹੋਰ ਦੇਸ਼ਾਂ ਖਾਸ ਕਰ ਪੰਜਾਬ ਵਿਚ ਭੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਨਾਮ ਬੜੇ ਸਤਿਕਾਰ ਨਾਲ ਲਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ਅਤੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਬੜੀ ਸ਼ਰਧਾ ਨਾਲ ਪੜ੍ਹੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ।

ਸਤਿਗੁਰ ਅਰਜਨ ਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਜਦੋਂ ਕਲਿਜੁਗ ਦੇ ਜੀਵਾਂ ਦੇ ਉਧਾਰ ਅਤੇ ਸੰਸਾਰ ਸਾਗਰ ਤੋਂ ਪਾਰ ਉਤਾਰਨ ਲਈ ਧਰਮ ਦਾ ਬੇੜਾ ਤਿਆਰ ਕਰਨ ਲਗੇ ਅਰਥਾਤ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ਼ ਜੀ ਦੀ ਬੀੜ ਬੰਨ੍ਹਣ ਲਗੇ ਅਰ ਇਸ ਧਰਮ ਦੇ ਜਹਾਜ਼ ਨੂੰ ਚੱਪੂ ਲਾਉਣ ਲਈ ਮੁਹਾਣਿਆਂ ਦੀ ਚੋਣ ਦਾ ਸੰਕਲਪ ਹੋਇਆ ਤਾਂ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਜੀ ਨੇ ਅਪਣੀ ਵਿਸ਼ਾਲ ਦਿੱਬ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਨਾਲ ਸੰਸਾਰ ਭਰ ਦੇ ਭਗਤ, ਪ੍ਰੇਮੀ, ਆਗੂ ਅਤੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਤੱਕੇ, ਉਸ ਸਮੇ ਜਾ ਪਹਿਲਾਂ ਹੋ ਚੁਕੇ, ਮਠ ਧਾਰੀਆਂ ਨੂੰ ਦੇਖਿਆ, ਧਾਰਮਕ ਆਗੂ ਕਹਿਲਾਉਣ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਪਰਖਿਆ, ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਮਹਾਤਮਾ ਕਹਿਲਾਉਣ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਠੋਕ ਵਜਾਇਆ, ਸੰਸਾਰ ਨੂੰ ਮਿਥਯਾ ਆਖ ਆਖਕੇ ਜੰਗਲਾਂ ਵਿਚ ਚਲੇ ਗਿਆਂ ਨੂੰ ਤਾੜਿਆ, ਪਰ ਮਹਾਰਾਜ ਜੀ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿਚ ਕੋਈ ਨਾ ਜਚਿਆ, ਕਿਉਂਕਿ ਸਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਜੀ ਦੀ ਚੋਣ ਨਿਰਾਲੀ ਅਤੇ ਇੰਤਖ਼ਾਬ ਵਿਚਿਤ੍ਰ ਸੀ, ਉਸ ਅਗੇ ਨਾ ਧਨੀ ਟਿਕਦਾ ਸੀ, ਨਾ ਲੰਬੇ ਚੋਲੇ ਵਾਲਾ ਠਹਿਰਦਾ ਸੀ, ਨਾ ਲੰਬੀਆਂ ਜਟਾਂ ਵਾਲਾ ਜਚਦਾ ਸੀ ਅਤੇ ਨਾ ਹੀ ਬਹੁਤੀ ਸੰਪਰਦਾ ਵਾਲਾ ਪੂਰਾ ਉਤ੍ਰ ਦਾ ਸੀ, ਉਥੇ ਤਾਂ ਕੇਵਲ

ਹਰੀ ਭਗਤ, ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਸਿਮਰਣ ਵਿਚ ਸਦਾ ਜੁੜੇ ਰਹਿਣ ਵਾਲਾ ਬੰਦਾ, ਤੱਤ ਵੇਤਾ ਹੀ ਟਿਕ ਸਕਦਾ ਸੀ, ਫਿਰ ਪ੍ਰਸ਼ਨ ਹੋਵੇਗਾ ਕਿ ਮਹਾਰਾਜਜੀ ਦੀ ਮੇਹਰ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਕਿਸ ਭਾਗਾਂ ਵਾਲੇ ਤੇ ਪਈ ਜਾਂ ਇੰਵ ਆਖੋ ਕਿ ਸਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਜੀ ਨੇ ਕਿਨ੍ਹਾਂ ਪਵਿਤ੍ਰ ਆਤਮਾ ਵਾਲੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂਨੂੰ ਚੁਣਕੇ ਇਸ ਮਹਾਨ ਧਰਮ ਜੱਗ ਦਾ ਸਾਂਝੀ ਵਾਲ ਬਣਾਇਆ? ਅਗਰ ਮੈਂ ਉਨਾਂ ਸਮੂਹ ਉੱਚ ਵਿਅਕਤੀਆਂ ਦੇ ਨਾਮ ਲਿਖਾਂ ਅਥਵਾ ਹਾਲਾਤ ਦਰਜ ਕਰਾਂ ਤਾਂ ਲੇਖ ਬਹੁਤ ਵਿਸਥਾਰ ਕਰ ਜਾਏਗਾ, ਨਾਲੇ ਸਾਡਾ ਏਹ ਲੇਖ ਕੇਵਲ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਸੰਬੰਧੀ ਹੈ, ਇਸ ਲਈ ਹੋਰ ਪਾਸੇ ਨਹੀਂ ਜਾਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ।

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਅਰਜਨ ਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਜਿਨਾਂ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਨੂੰ ਰੱਬੀ ਬਾਣੀ ਸਮਝਕੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਸਥਾਪਨ ਕੀਤਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚੋਂ ਦੋ ਹਸਤੀਆਂ ਐਸੀਆਂ ਹਨ ਜਿਨਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਹੋਰ ਭਗਤਾਂ ਨਾਲੋਂ ਬਹੁਤ ਅਧਕ ਹੈ ਜ਼ਾਂ ਦੂਜੇ ਅਖਰਾਂ ਵਿਚ ਇਸਦਾ ਭਾਵ ਵਿਚ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਦੋ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਐਸੇ ਹਨ ਜਿਨਾਂ ਦੀ ਬਹੁਤ ਸਾਰੀ ਰਚਨਾਂ ਨੂੰ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਨੇ ਅਕਾਲੀ ਬਾਣੀ ਸਮਝਕੇ ਪ੍ਰਵਾਨ ਕੀਤਾ, ਉਹ ਦੋ ਉਚ ਹਸਤੀਆਂ "ਭਗਤ ਕਬੀਰ ਜੀ" ਅਤੇ "ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ" ਜੀ ਹਨ।

ਸਤਿਗੁਰ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹਜੀ ਨੇ ਉਸ ਧਰਮ ਦੇ ਬੋਹਥ ਵਿਚ ਜਿੱਥੇ ਹੋਰ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਨੂੰ ਹਿਸੇਦਾਰ ਬਣਾਇਆ ਉਥੇ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ ਦੇ ਉਘੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼, ਹਰ ਘੜੀ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਸਿਮ੍ਰਣ ਵਿਚ ਜੁੜੇ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਸਤ ਪੁਰਸ਼, ਹਰ ਵਸਤੂ ਵਿਚ ਉਸ 'ਰਮੰਤੀ ਰਾਮ" ਦਾ ਪਸਾਰਾ ਅਤੇ ਹਰ ਥਾਂ ਵਿਆਪਕ ਪ੍ਰਭੂ ਦੀ ਜਾਗਤੀ ਜੋਤ ਦਾ ਜਲਵਾ ਦੇਖਣ ਵਾਲੇ ਤੱਤ ਵੇਤਾ, ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਭਗਤ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਇਸ ਮਹਾਨ ਪਵਿਤ੍ਰ ਧਰਮ ਯੱਗ ਦਾ ਸਾਂਝੀਂ ਵਾਲ ਬਣਾਇਆ।

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਸੰਬੰਧੀ ਵਾਕ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਯਥਾ—

''ਸਕਲ ਕਲੇਸ ਨਿੰਦਕ ਭਇਆ ਖੇਦ. ਨਾਮੇ ਨਾਰਾਇਣ ਨਾਹੀ ਭੇਦ''।

ਪੁਨਾ: "ਨਾਮ ਦੇਵ ਹਰ ਜੀਉ ਬਸਹਿ ਹਰਿ ਸੰਗ"

ਜਿਸਦਾ ਭਾਵ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਸਤਿਗੁਰੂ ਜੀ ਨੇ ਅਪਣੇ ਆਤਮਕ ਗਿਆਨ ਨਾਲ ਅਨਭਵ ਕੀਤਾ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਹਸਤੀ ਐਨੀ ਉੱਚੀ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਵਿਚ ਅਭੇਦ ਹੋ ਗਏ ਹਨ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਤੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਵਿੱਚ ਫ਼ਰਕ ਹੀ ਨਹੀਂ ਰਿਹਾ,ਇਹੋ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿੱਚ ਹੋਰ ਕਈ ਥਾਂਈਂ ਉਚਾਰਣ ਕੀਤਾ ਹੈ ਜਿਸਤੋਂ ਸਪਸ਼ਟ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਨਾਮਦੇਵਜੀ ਦੀ ਹਸਤੀ ਬਹੁਤ ਉੱਚੀ ਸੀ, ਉਕਤ ਸਤਰਾਂ ਲਿਖਣ ਤੋਂ ਸਾਡਾ ਭਾਵ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਪਤਾ ਲਗ ਸਕੇ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਦੀ ਪੋਜ਼ੀਸ਼ਨ ਕਿਤਨੀ ਕੁ ਉੱਚੀ ਸੀ।

ਇਨਾਂ ਗਲਾਂ ਦੇ ਹੁੰਦਿਆਂ ਭੀ ਕਿਤਨੇ ਸ਼ੋਕ ਦੀ ਗੱਲ ਹੈ ਕਿ ਐਸੀ ਉੱਚ ਹਸਤੀ ਵਾਲੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਸੰਬੰਧੀ ਆਮ ਜਨਤਾ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਵਿਚ ਗਲਤ ਰਵਾਇਤਾਂ,ਅਨਹੋਣੀਆਂ ਗਲਾਂ,ਅਤੇ ਖਿਲਾਫ ਵਾਕਿਆਤ ਸਾਖੀਆਂ ਘਰ ਕਰ ਜਾਣ,ਇਸ ਗਲਤ ਆਧਾਰ ਪਰ ਕਈ ਲੇਖਕ ਐਸੇ ਪ੍ਰਸੰਗ ਅਤੇ ਕਹਾਣੀਆਂ ਭੀ ਲਿਖ ਮਾਰਨ ਜਿਸ ਨਾਲ ਇਕ ਉੱਚੀ ਹਸਤੀ ਵਾਲੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਦੀ ਪੋਜ਼ੀਸ਼ਨ ਬਿਚ ਫਰਕ ਆਜਾਵੇ,ਅਸੀਂ ਸਮਝਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਇਹ ਸਾਰਾ ਕਸੂਰ ਪੁਰਾਣੇ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਦਾ ਹੈ ਜਿਨ੍ਹਾਂਨੇ ਬਗੈਰ ਖੋਜ ਕਰਨ ਤੋਂ ਸੁਣੇ ਸੁਣਾਏ ਜਾਂ ਮਨੋ ਕਲਪਤ ਪ੍ਰਸੰਗ ਲਿਖ ਦਿਤੇ । ਜਦ ਅਸੀਂ ਪੁਰਾਣੇ ਲੇਖਕਾਂ ਦੇ ਲੇਖ, ਤਗਤ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਅਤੇ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ ਦੇ ਲੇਖਕਾਂ ਦੀ ਕਸਵੱਟੀ ਪਰ ਲਗਾਏ ਤਾਂ ਸਾਡਾ ਹਿਰਦਾ ਬਹੁਤ ਦੁਖੀ ਹੋਇਆ। ਕਿਸੇ ਲੇਖਕ ਨੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ ਕਾਨੂੰਨ ਕੁਦਰਤ ਤੋਂ ਉਲਟ ਲਿਖ ਮਾਰਿਆ, ਕਿਸੇ ਨੇ ਮੰਦਰ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਦਾ ਪ੍ਰਸੰਗ ਬੇਸਮਝੀ ਦੇ

ਕਾਰਨ ਗਲਤ ਦਰਜ ਕਰ ਦਿਤਾ, ਕਿਸੇ ਨੇ ਖੋਜ ਕਰਨ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਉਨਾਂ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਹੀ ਕੁਛ ਦੀ ਕੁਛ ਦਰਜ ਕਰ ਦਿਤੀ, ਕਿਸੇ ਨੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਦ ਅਰਥ ਹੀ ਉਲਟ ਸਮਝੇ, ਕਿਸੇ ਨੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਆਤਮਕ ਸ਼ਕਤੀ ਦਾ ਅੰਦਾਜ਼ਾ ਲਗਾਉਣ ਤੋਂ ਬਗੈਰ ਹੀ ਕਰਾਂਮਾਤਾਂ ਪਰ ਮਖੌਲ ਉਡਾ ਦਿਤੇ, ਗਲ ਕੀ ਜਿਨਾਂ ਜਿਨਾਂ ਭੀ ਕਲਮ ਚੁੱਕੀ ਗਲਤ ਗਲਾਂ ਅਤੇ ਉਲਟ ਪ੍ਰਸੰਗ ਹੀ ਲਿਖਦੇ ਰਹੇ, ਜਿਸਦਾ ਨਤੀਜਾ ਇਹ ਹੋਇਆ ਕਿ ਰਾਗੀਆਂ ਅਤੇ ਪ੍ਰਚਾਰਕਾ ਦੀ ਜ਼ਬਾਨ ਪਰ ਭੀ ਉਹੋ ਉਲਟ ਖਿਆਲ ਬੈਠ ਗਏ । ਵਡੇ ਸ਼ੋਕ ਦੀ ਗਲ ਤਾਂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਸਿਖ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਅਤੇ ਪ੍ਰਚਾਰਕਾਂ ਨੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਨੂੰ ਭੀ ਨਹੀਂ ਵਿਚਾਰਿਆ, ਜੇ ਕਿਤੇ ਉਹ ਇਸ ਪਾਸੇ ਜ਼ਰਾ ਜਿੰਨਾ ਭੀ ਧਿਆਨ ਦਿੰਦੇ ਤਾਂ ਇਹ ਭੁਲੇਖੇ ਅਤੇ ਗਲਤ ਫੈਹਮੀਆਂ ਨਾ ਪੈਂਦੀਆਂ, ਤੇ ਸਾਡੇ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰਾਂ ਲਈ ਇਹ ਭਾਰੀ ਭੁਲਾਂ ਲੱਜਾ ਦਾ ਕਾਰਨ ਨਾ ਬਣਦੀਆਂ ।

ਅਸੀਂ ਇਸ ਲੇਖ ਵਿਚ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਸੰਬੰਧੀ ਗਲਤ ਗਲਾਂ, ਅਨ ਉਕਤ ਰਵਾਇਤਾਂ, ਅਨਹੋਏ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਅਤੇ ਮਨੋ ਕਲਪਤ ਲੇਖਾਂ ਦੀ ਛਾਣ ਬੀਣ ਕਰਕੇ ਉਸ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਦੇ ਜੀਵਨ ਪਰ ਭੁਲੇਖਿਆਂ ਦੇ ਪਏ ਹੋਏ ਪੜਦਿਆਂ ਨੂੰ ਚੁਕਣ ਦਾ ਯਤਨ ਕਰਾਂਗੇ ।

ਦਲੀਲਾਂ ਅਤੇ ਪ੍ਰਮਾਣ

ਚੂੰਕਿ ਅਸੀ ਦੇਰ ਤੋਂ ਪਏ ਹੋਏ ਇਤਹਾਸਕ ਭੁਲੇਖਿਆਂ ਨੂੰ ਦੂਰ ਕਰਨਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ, ਜੋ ਸੈਂਕੜੇ ਸਾਲਾਂ ਤੋਂ ਲੋਗਾਂ ਵਿਚ ਘਰ ਕਰ ਚੁਕੇ ਹਨ ਇਸ ਲਈ ਸਾਡੀਆਂ ਦਲੀਲਾਂ ਅਤੇ ਪ੍ਰਮਾਣ ਭੀ ਐਸੇ ਹੋਣੇ ਚਾਹੀਦੇ ਹਨ ਜਿਨਾਂ ਤੋਂ ਕੋਈ ਸ਼ਖਸ ਸਿਰ ਨਾ ਫੇਰ ਸਕੇ, ਇਸ ਲਈ ਸਾਡੀ ਵਿਚਾਰ ਦਾ ਬਹੁਤਾ ਆਸਰਾ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ,

ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀਆਂ ਵਾਰਾਂ ਅਤੇ ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਦੇ ਹੋਰ ਪਰਮਾਣੀਕ ਗ੍ਰੰਥ ਹੋਣਗੇ, ਕਿਉਂਕਿ ਅਸੀ ਸ਼ਮਝਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਨਿਰੀ ਅਪਣੀ ਦਲੀਲ ਬਾਜ਼ੀ ਤੇ ਸਾਧਾਰਨ ਲੇਖਕਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣਾਂ ਨਾਲੋਂ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣ ਵਧੇਰੇ ਮਾਨਨੀਯ ਹੋਣਗੇ, ਕਿਉਂਕਿ ਕੋਈ ਭੀ ਸਿਖ ਅਤੇ ਸਮਝਦਾਰ ਆਦਮੀ ਇਸਤੋਂ ਸਿਰ ਨਹੀਂ ਫੇਰ ਸਕੇਗਾ, ਇਸਤੋਂ ਬਿਨਾ ਲੋੜ ਪੈਣ ਪਰ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਉੱਚਾਰਨ ਕੀਤੇ ਹੋਏ ਮਰੱਟੀ ਅਭੰਗਾਂ ਅਤੇ ਮਹਾਂ-ਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ ਦੀਆਂ ਮੁਸਤਿਨਿਧ ਪੁਸਤਕਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣ ਦਿਤੇ ਜਾਣਗੇ।

ਅਸੀਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਹਰ ਇਕ ਪੇਹਿਲੂ ਨੂੰ ਨੰਬਰਵਾਰ ਲਿਖਾਂਗੇ, ਅਤੇ ਪਏ ਹੋਏ ਭੁਲੇਖੇ ਲਿਖਕੇ ਉਨਾਂ ਪਰ ਵਿਚਾਰ ਕਰਾਂਗੇ। ਇਸ ਸਾਰੇ ਪ੍ਰੀਸ਼ਰਮ ਤੋਂ ਸਾਡਾ ਭਾਵ ਕੇਵਲ ਇਕ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਦੇ ਉੱਚੇ ਜੀਵਨ ਸੰਬੰਧੀ ਪਏ ਭੁਲੇਖੇ ਨੂੰ ਦੂਰ ਕਰਨਾ ਹੈ, ਆਸ਼ਾ ਹੈ ਕਿ ਪਾਠਕ ਸੱਜਣ ਅਤੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਪੁਰਸ਼ ਇਸੇ ਭਾਵ ਨਾਲ ਇਸ ਨੂੰ ਪੜਨਗੇ ਅਤੇ ਲੋਕਾਂ ਵਿਚੋਂ ਗਲਤ ਫੈਹਮੀਆਂ ਦੂਰ ਕਰਕੇ ਇਕ ਉਪਕਾਰ ਦਾ ਕਾਰਨ ਬਣਨਗੇ।

ਸਾਨੂੰ ਇਸ ਲਖ ਵਿਚ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ਦੇ ਮਹਾਨ ਪੰਡਤ 'ਮਹਾ-ਮਹੋ ਪਾਧਿਆਇ' ਮਾਧਵ ਭੰਡਾਰੀ ਜੀ ਹੈਡ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਪ੍ਰੋਫੇਸਰ ਓਰਿਐਂਟਲ ਕਾਜਲ ਲਾਹੌਰ ਨੇ ਬੜੀ ਸਹਾਇਤਾ ਦਿਤੀ ਹੈ, ਜਿਸ ਲਈ ਮੈਂ ਉਨਾਂ ਦਾ ਧੰਨਵਾਦੀ ਹੈ।

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਨਗਰ
ਲਾਹੌਰ
੧-੧੧-੪੦

ਸੰਗਤਾਂ ਦਾ ਦਾਸ—
ਗਿਆਨੀ ਖਜ਼ਾਨਸਿੰਘ

ਜ਼ਾਤ

ਲਗ ਭਗ ਸਾਰੇ ਲੇਖਕਾਂ ਨੇ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਛੀਪੀ ਜਾ ਛੀਪਾ ਲਿਖੀ ਹੈ। ਪੰਜਾਬ ਵਿਚ ਵੀ ਇਕ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਇਸ ਨਾਮ ਨਾਲ ਸਦੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਸਗੋਂ ਇੱਥੇ ਤਾਂ " ਛੀਪਾ " ਸ਼ਬਦ ਵਿਗੜ ਕੇ "ਛੀਬਾਂ" ਬਣ ਗਿਆ ਹੈ। ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਵਿਚ ਵੀ ਇਹ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਹੈ। ਸ਼ਾਇਦ ਇਹ ਗਲ ਭੀ ਹੋਵੇ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਮੇਲ ਮਿਲਾਪ ਅਥਵਾ ਭਾਈ ਚਾਰਾ ਇਸੇ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਨਾਲ ਹੋਵੇ ਪ੍ਰੰਤੂ ਅਜ ਅਸੀਂ ਇਸ ਗਲ ਪਰ ਵਿਚਾਰ ਕਰਨੀ ਹੈ ਕਿ ਇਹ 'ਛੀਪੀ" ਕੋਈ ਜ਼ਾਤ ਹੈ?

ਪੁਰਾਤਨ ਸਮੇ ਵਿਚ ਹਰ ਇਕ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀ ਨੂੰ ਸਸ਼ਤ੍ਰ ਵਿਦ੍ਯਾ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਸ਼ਿਲਪ ਵਿਦ੍ਯਾ (ਦਸਤਕਾਰੀ) ਸਿਖਣੀ ਪੈਂਦੀ ਸੀ, ਇਤਹਾਸ ਵਿਚ ਤਾਂ ਇਥੋਂ ਜ਼ਿਕਰ ਹੈ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਰਾਮਚੰਦ੍ਰ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਭੀ ਗੁਰੂ (ਉਸਤਾਦ) ਪਾਸੋਂ ਦਸਤਕਾਰੀ ਸਿਖਣ ਗਏ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਅਪਣੇ ਸਪੁਤ੍ਰਾਂ "ਲਊ"ਤੇ ਕੁਸ਼ੂ" ਨੂੰ ਭੀ ਦਸਤਕਾਰੀ ਸਿਖਾਈ, ਇਸ ਦਸਤਕਾਰੀ (ਸ਼ਿਲਪ ਵਿਦ੍ਯਾ) ਵਿਚ ਨਿਪੁਨ ਆਦਮੀ ਨੂੰ ਲੋਕ " ਸ਼ਿਲਪਕਾਰ " (ਦਸਤਕਾਰ) ਆਖਦੇ ਸਨ ਤੇ ਬਹੁਤੇ ਸ਼ਿਲਪਕਾਰਾਂ ਦੇ ਇਕੱਠ ਨੂੰ ਸ਼ਿਲਪਕਾਰਾਂ ਦੀ ਸ਼੍ਰੇਣੀ ਆਖਣ ਲਗ ਪਏ। ਕਈ ਆਦਮੀਆਂ ਨੇ "ਸ਼ਿਲਪਕਾਰ" ਸ਼ਬਦ ਨੂੰ ਛੋਟਾ ਕਰਕੇ " ਸ਼ਿਲਪੀ " ਬਣਾ ਲਿਆ ਤੇ ਸ਼ਿਲਪੀ ਦਾ ਸ਼ੀਪੀ ਜਾਂ ਛੀਪੀ ਸਦਿਆ ਜਾਣ ਲਗਾ ਤੇ ਇਸਦਾ ਬਹ ਵਚਨ ਛੀਪੇ ਬਣ ਗਿਆ। ਪੰਜਾਬ ਵਿਚ ਇਹ ਸਬਦ ਵਿਗੜ ਕੇ " ਛੀਂਬੇ " ਹੋ ਗਿਆ। ਦੂਜੀ ਗਲ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਸ਼ਿਲਪ ਵਿਦ੍ਯਾ ਵਿਚ ਤਾਂ ਹਰ ਤ੍ਰਾਂ ਦੀ ਦਸਤਕਾਰੀਆਂ ਆ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਪਰ ਇਸ ਸਭ ਤ੍ਰਾਂ ਦੀ ਦਸ਼ਤਕਾਰੀ ਵਿਚੋਂ ਕਈਆਂ ਆਦਮੀਆਂ ਨੇ ਕਪੜ ਸੀਉਣ (Tailring) ਅਤੇ ਛਾਪਣ (Calico-printer) ਦਾ ਗੁਣ ਪ੍ਰਾਪਤ

ਕਰ ਲਿਆ ਇਸ ਲਈ ਉਹ ਕਪੜੇ "ਸੀਉਣ" ਕਰਕੇ ਸਿਉਪੀ ਅਤੇ "ਛਾਪਣ" ਕਰਕੇ "ਛੀਪੀ ਅੱਲ ਨਾਮ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਹੋ ਗਏ।

ਇਸਤੋਂ ਇਹ ਪਤਾ ਲਗਾ ਕਿ ਛੀਪੀ ਜਾਂ ਛੀਪੇ ਕੋਈ ਜ਼ਾਤ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਪੇਸ਼ੇ ਦਾ ਨਾਮ ਹੈ, ਜਿਸਤ੍ਰਾਂ ਡਾਕਟਰੀ ਦਾ ਕੰਮ ਹਰ ਜ਼ਾਤ ਦੇ ਆਦਮੀ ਕਰਦੇ ਹਨ ਤੇ ਵਕਾਲਤ ਪੇਸ਼ਾ ਸਭ ਸ਼੍ਰੇਣੀਆਂ ਦੇ ਪੁਰਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਨ ਪਰ ਪੇਸ਼ੇ ਕਰਕੇ "ਡਾਕਟਰੀ" ਜਾਂ "ਵਕੀਲ" ਕੋਈ ਜ਼ਾਤ ਨਹੀਂ।

ਫੇਰ ਅਜ ਕਲ ਤਾਂ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਬ੍ਰਾਹਮਣ, ਖੱਤ੍ਰੀ ਅਤੇ ਉੱਚੀ ਜ਼ਾਤ ਸਦਾਉਣ ਵਾਲੇ ਕਪੜੇ ਧੋਣ, ਸੀਉਣ ਅਤੇ ਛਾਪਣ ਦੀਆਂ ਦੁਕਾਨਾਂ ਕਰਦੇ ਹਨ ਤੇ ਸਭ ਜ਼ਾਤਾਂ, ਵਰਨਾਂ ਅਤੇ ਗੋਤਾਂ ਦੇ ਆਦਮੀ ਜੁੱਤੀਆਂ ਅਰ ਬੂਟ ਵੇਚਣ ਤੇ ਬਨਾਉਣ ਦਾ ਕੰਮ ਕਰਦੇ ਹਨ ਪਰ ਇਸ ਪੇਸ਼ੇ ਕਰਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਮੋਚੀ ਜਾਂ ਚੁਮਾਰ ਨਹੀਂ ਬਣ ਗਈ, ਇਸ ਤ੍ਰਾਂ ਪੇਸ਼ਾ ਹੋਰ ਚੀਜ਼ ਹੈ ਅਤੇ ਜ਼ਾਤ ਹੋਰ ਚੀਜ਼ ਹੈ।

ਇਕ ਹੋਰ ਰਵਾਇਤਾ ਹੈ ਕਿ ਪਰਸ ਰਾਮ ਜੀ ਨੇ ਜਦ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਦਾ ਬੀਜ ਨਾਸ ਕਰਨ ਦਾ ਬੀੜਾ ਚੁਕਿਆ ਤਾਂ ਉਸ ਤੋਂ ਭੈ ਕਰਕੇ ਕੁਝ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀ ਇਕ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਛਿਪ ਗਏ, ਜਦ ਪਰਸ ਰਾਮ ਨੇ ਆਕੇ ਪੁਛਿਆ ਕਿ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਕੌਣ ਹੈ ਤਾਂ ਪੁਜਾਰੀਆਂ ਨੇ ਕਿਹਾ "ਛਿਪੇ" (ਲੁਕੇ ਹੋਏ) ਹਨ ਤਾਂ ਉਸ ਦਿਨ ਤੋਂ ਉਨਾਂ ਖਤ੍ਰੀਆਂ ਦੀ ਸੰਤਾਨ ਦੀ ਅੱਲ ਛਿਪੇ ਹੀ ਪੈ ਗਈ। ਜੋ ਪਿਛੋਂ ਵਿਗੜਕੇ ਛੀਪੇ ਬਣ ਗਈ। ਇਸ ਸਾਰੀ ਵਿਚਾਰ ਦਾ ਸਿੱਟਾ ਇਹ ਨਿਕਲਿਆ ਕਿ ਛੀਪੀ ਅਥਵਾ ਛੀਂਬੇ ਕੋਈ ਜ਼ਾਤ ਨਹੀਂ। ਬਲਕੇ ਕਿਤੇ ਤਾਂ 'ਸ਼ਿਲਪ ਕਾਰ' (ਦਸਤਕਾਰ) ਸ਼ਬਦ ਵਿਗੜ ਕੇ ਸ਼ਿਲਪੀ, ਛੀਪੀ ਜਾਂ ਛੀਂਬੇ ਹੋਇਆ, ਕਿਤੇ ਕਪੜੇ ਸੀਉਣ ਤੋਂ 'ਸਿਉਪੀ' ਤੇ ਛਾਪਣ ਤੋਂ 'ਛੀਪੀ' ਅੱਲ ਪੈ ਗਈ। ਕਿਤੇ ਡਰ ਕੇ ਛਿਪਣ (ਲੁਕਣ) ਕਰਕੇ ਛਿਪੇ ਨਾਮ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਹੋ ਗਿਆ। ਪੰਥ ਦੇ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਸੁਰਗ ਵਾਸੀ ਸਰਦਾਰ ਬਹਾਦਰ ਸਰਦਾਰ ਕਾਹਨ ਸਿੰਘ ਸਾਹਬ ਕਰਤਾ ਮਹਾਨ ਕੋਸ਼

ਅਪਣੀ ਪੁਸਤਕ "ਛੀਪਾ ਸ਼ਬਦ ਦੀ ਉਤਪੱਤੀ" ਵਿਚ ਸ਼ਪਸ਼ਟ ਲਿਖਦੇਹਨ ਕਿ–

ਛੀਪਾ ਜਾਂ ਛੀਬਾਂ ਸ਼ਬਦ ਨਾਲ ਬੁਲਾਏ ਜਾਣ ਵਾਲੇ ਪੁਰਸ਼ ਛੱਤ੍ਰੀ ਹਨ ।

ਰਿਆਸਤ ਅਲਵਰ ਦੇ ਮਸ਼ਹੂਰ ਪੰਡਤ ਅਤੇ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਖੋਜੀ ਪੰਡਤ ਨੰਦ ਕਿਸ਼ੋਰ ਜੀ ਅਪਣੀ ਰਚਤ ਪੁਸਤਕ "ਸੂਰਜ ਦੀਆਂ ਕਿਰਨਾ" ਵਿਚ ਲਿਖਦੇ ਹਨ।

ਛੀਪਾ ਅਥਵਾ ਛੀਬਾਂ ਨਾਮ ਨਾਲ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਆਦਮੀ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਵਿਚੋਂ ਹਨ ।

ਇਸ ਵਿਚਾਰ ਤੋਂ ਇਹ ਸਪਸ਼ਟ ਹੋਇਆ ਕਿ ਜਿਨਾ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਨੇ ਪੁਰਾਤਨ ਰੀਤੀ ਅਨੁਸਾਰ ਸ਼ਿਪਲ ਵਿਦਜਾ (ਦਸਤਕਾਰੀ) ਸਿਖੀ ਅਰ ਇਸ ਵਿਚੋਂ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਕਪੜ ਸੀਉਣ ਅਤੇ ਛਾਪਣ ਦਾ ਹੁਨਰ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕੀਤਾ ਉਸ ਸਾਰੇ ਗਰੋਹ ਨੂੰ ਲੋਕਾਂ ਨੇ ਸਿਉਪੀ (ਦਰਜ਼ੀ) ਛੀਪੀ ਅਥਵਾ ਛਾਪੇਗਰ ਆਖਣਾ ਸੁਰੂ ਕਰ ਦਿਤਾ, ਇਹ ਨਾਮ ਉਨਾਂ ਦਾ ਪੇਸ਼ੇ ਕਰਕੇ ਅਥਵਾ ਉਪਰ ਲਿਖੇ ਕੁਛ ਹੋਰ ਕਾਰਨਾ ਕਰਕੇ ਪੈ ਗਿਆ, ਵਰਨਾ ਇਹ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਜਾਤ ਨਹੀਂ, ਉਨਾਂ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀ, ਖੱਤ੍ਰੀ ਜਾਂ ਛੱਤ੍ਰੀ ਹੈ ।

ਹੁਣ ਅਸੀਂ ਅਪਣੇ ਅਸਲੀ ਮਜ਼ਮੂਨ ਵਲ ਆਉਂਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਕੀ ਸੀ, ਇਸ ਸੰਬੰਧੀ ਇਕ ਮਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਹੈ।

ਗੋਣਾਈ ਦਾਮਸ਼ੇਟੀ ਝਾਲੇਂ ਪਾਣ ਗ੍ਰਹਣ
ਸੰਸਾਰੀ ਅਸੋਨ ਨਰਸੀ ਗਾਵੀਂ
ਗੋਤ੍ਰ ਸੰਗਯਾ ਏਕਾ ਪੂਰਵ ਜਾਂਚੀ ਸਹਿਜ।
ਗਾਧਿਗ "ਭਾਰਦ੍ਵਾਜ" ਦੋ ਨਹੀਂ ਕੁਲੇਂ

ਆਊ ਬਾਈ ਕੰਨਯਾ ਝਾਲੀਂ ਗੋਣਾਈ ਸੀ
ਪੁਢੇਂ ਦੇਵ ਨਿਵਾਸੀ ਪੁਤ੍ਰਾ ਸਾਠੀ॥

ਅਰਥ–ਗੋਣਾ ਬਾਈ (ਭਗਤ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਮਾਤਾ) ਦਾ ਵਿਵਾਹ ਦਾਮਸ਼ੇਟ (ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ) ਨਾਲ ਹੋਇਆ ਅਤੇ ਨਰਸੀ ਗਾਊ (ਪਿੰਡ) ਵਿਚ ਦੋਵੇਂ ਜੀਵ ਸੰਸਾਰ ਵਿਚ ਮਿਲਕੇ ਰਹਿਣ ਲਗੇ।ਕੁਲ (ਗੋਤ੍ਰ) "ਗਾਧਿਗ ਭਾਰ ਦ੍ਵਾਜ" ਸੀ। ਗੋਣਾ ਬਾਈ ਦੇ ਆਊ ਬਾਈ (ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਭੈਣ) ਜਨਮੀ, ਫੇਰ ਉਸ ਨੇ ਪੁਤ੍ਰ ਵਾਸਤੇ ਦੇਵ ਦੀ ਸੁੱਖਣਾ ਸੁੱਖੀ।

ਉਕਤ ਮ੍ਹਟੀ ਅਭੰਗ ਤੋਂ ਪਤਾ ਲਗਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਗੋਤ੍ਰ " ਭਾਰਦ੍ਵਾਜ " ਹੈ ਜਿਥੋਂ ਤਕ ਅਸਾਂ ਖੋਜ ਕੀਤੀ ਹੈ ਇਹ ਗੋਤ੍ਰ ਉੱਚੀ ਕੁਲ ਦੇ ਖਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਦਾ ਹੈ। ਪੰਡਤ ਜੁਆਲਾ ਪ੍ਰਸ਼ਾਦ ਜੀ ਅਪਣੀ ਪੁਸਤਕ"ਜਾਤ ਭਾਸ਼ਕਰ" ਦੇ ਸਫਾ ੧੯੦ ਪਰ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇ ਸੂਰਜ ਬੰਸੀ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਦੇ ਗੋਤਾਂ ਦੀ ਸੂਚੀ ਵਿਚ 'ਭਾਰਦ੍ਵਾਜ' ਗੋਤ੍ਰ ਵਾਲੇ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਨੂੰ ਕਸ਼ਤ੍ਰੀ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਤਾਂਤੇ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਖਸ਼ੱਤ੍ਰੀ ਜਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਹੋਏ। ਉਸ ਸਮੇ ਵਿਚ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂਦਾ ਇਤਨਾ ਜ਼ੋਰ ਸੀ ਕਿ ਉਹ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾ ਅਤੇ ਖਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਵਰਨ ਵਾਲੇ ਨੂੰ ਠਾਕਰ ਪੂਜਾ ਦੀ ਆਗਿਆ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਨ ਦਿੰਦੇ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਸ੍ਰੀ ਦਾਮਸ਼ੇਟ ਜੀ ਨਿਤ ਨੇਮ ਨਾਲ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਜਾਕੇ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ ਜਿਸਦੇ ਸਬੂਤ ਲਈ ਅਸੀ ਸ੍ਰੀ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਦਰਜ ਕਰਦੇ ਹਾਂ।

ਕੰਮਕਿਤੇ ਪਿਉ ਚੱਲਿਆ ਨਾਮਦੇਵ ਨੂੰ ਆਖ ਸਿਧਾਯਾ
ਠਾਕਰ ਦੀ ਸੇਵਾ ਕਰੀਂ ਦੁਧ ਪੀਆਵਣ ਕਹਿ ਸਮਝਾਇਯਾ
ਨਾਮ ਦੇਉ ਇਸ਼ਨਾਨ ਕਰ ਕਪਲ ਗਾਇ ਦੁਹਿ ਕੇ ਲੈ ਆਯਾ
ਠਾਕਰ ਨੋ ਨ੍ਹਵਾਲ ਕੇ ਚਰਣੋਦਕ ਲੈ ਤਿਲਕ ਚੜ੍ਹਾਯਾ

ਹਥ ਜੋੜ ਬਿਨਤੀ ਕਰੇ ਦੁਧ ਪੀਅਹੁ ਜੀ ਗੋਬਿੰਦ ਰਾਯਾ
ਨਿਹਚਉ ਕਰ ਆਰਾਧਿਆ ਹੋਇ ਦਯਾਲ ਦਰਸ ਦਿਖਲਾਯਾ
ਭਰੀ ਕਟੋਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਲੈ ਠਾਕਰ ਨੋ ਦੁਧ ਪੀਆਯਾ ॥

ਇਸ ਪਉੜੀ ਤੋਂ ਸਾਫ ਪ੍ਰਗਟ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਨਿਤ ਨੇਮ ਨਾਲ ਠਾਕਰ ਜੀ ਦੀ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਆਪ ਜਦ ਬਾਹਰ ਜਾਣ ਲਗੇ ਤਾਂ ਇਸ ਖਿਆਲ ਨਾਲ ਕਿ ਨਿਤ ਨੇਮ ਵਿਚ ਭੰਗ ਨਾ ਪੈ ਜਾਵੇ। ਪੁਤ੍ਰ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਤਾਕੀਦ ਕਰ ਗਏ ਕਿ ਤੂੰ ਪੂਜਾ ਕਰੀਂ, ਚੁਨਾਚਿ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਐਸੀ ਮਰਯਾਦਾ ਅਨੁਸਾਰ ਪੂਜਾ ਕੀਤੀ ਕਿ ਸਾਖਆਤ ਠਾਕਰ ਜੀ ਨੇ ਦੁਧ ਪੀਤਾ। ਜੇ ਕਦੀ ਭਗਤ ਜੀ ਖਸ਼ਤ੍ਰੀ ਨਾ ਹੁੰਦੇ ਅਤੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾ ਦੇ ਕਲਪਤ ਵਰਨਾ ਵਿਚੋਂ ਕਿਸੇ ਨੀਵੇਂ ਵਰਣ ਅਥਵਾ ਜਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਹੁੰਦੇ ਤਾਂ ਉਸ ਸਮੇ ਦੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਕਦੀ ਬ੍ਰਦਾਸ਼ਤ ਨਾ ਕਰਦੇ ਕਿ ਉਹ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਠਾਕਰ ਪੂਜਾਂ ਕਰਨ। ਫਿਰ ਪਸ਼ਨ ਹੋਵੇਗਾ ਕਿ ਲੋਕ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਛੀਪਾ ਕਿਉਂ ਆਖਦੇ ਸਨ, ਜਦ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਕੋਈ ਕੰਮ ਹੱਥੀਂ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ ਇਸਦਾ ਉਤ੍ਰ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਇਕ ਤਾਂ ਭਗਤਜੀ ਦਾ ਮੇਲ ਮਿਲਾਪ ਤੇ ਭਾਈ ਚਾਰਾ ਬਹੁਤਾ ਉਨਾਂ ਆਦਮੀਆਂ ਨਾਲ ਸੀ ਜੋ ਕਪੜੇ ਸੀਉਣ ਤੇ ਛਾਪਣਦਾ ਕੰਮ ਕਰਦੇ ਸਨ,ਦੂਜੇ ਕਈ ਲੇਖਕਾਂਨੇ ਉਨਾਂ ਦਾ ਜਨਮ "ਸਿੱਪੀ" ਵਿਚੋਂ ਲਿਖਆ ਹੈ ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਸਿਪੀ ਤੋਂ ਸੀਪੀ ਜਾਤ ਹੀ ਬਣਾ ਲਈ। ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਜ਼ਾਤ ਨੂੰ ਨੀਵਾਂ ਅਖਣ ਵਾਲੇ ਸੱਜਣ ਬਹੁਤਾ ਹੇਠ ਲਿਖੀ ਪੰਗਤੀ ਦਾ ਪ੍ਰਮਾਣ ਦਿਆ ਕਰਦੇ ਹਨ–

ਯਥਾ–ਹੀਨੜੀ ਜਾਤ ਮੇਰੀ ਜਾਦਮ ਰਾਇਆ।
ਛੀਪੇ ਕੇ ਜਨਮ ਕਾਹੇ ਕਉ ਆਇਆ ॥

ਪੁਰਾਣੇ ਖਿਆਲਾਂ ਨੂੰ ਸਿੱਧ ਕਰਨ ਲਈ ਕਈ ਸੱਜਨ ਇਸ ਪੰਗਤੀ ਨੂੰ

"ਮੋ ਕਉ ਕਾਹੇ ਕੋ ਲਿਆਇਆ।"
ਅਥਵਾ "ਕਾਹੇ ਕੇ ਪਾਇਆ" ॥

ਆਦ ਵਿਗਾੜ ਕੇ ਆਖਣੋ ਭੀ ਸੰਕੋਚ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ, ਪਰ ਇਸ ਪੰਗਤੀ ਨੂੰ ਬੜੇ ਧਿਆਨ ਨਾਲ ਪੜਨਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ, ਪਹਿਲੀ ਪੰਗਤੀ–

"ਹੀਨੜੀ ਜਾਤ ਮੇਰੀ ਜਾਦਮ ਰਾਇਆ"।

ਸੰਬੋਧਨ ਕਾਰਕ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿਚ ਸ੍ਰੀ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਜੀ ਨੂੰ ਸੰਬੋਧਨ (ਮੁਖਾਤਬ) ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ, ਦੂਜੀ ਪੰਗਤੀ ਦੇ ਸ਼ਬਦ "ਕਉ" ਅਤੇ "ਆਇਆ" ਖਾਸ ਧਿਆਨ ਯੋਗ ਹਨ, ਸ਼ਦਦ "ਕਉ" ਆਪਣੇ ਲਈ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ ਬਲਕੇ "ਅਨਜ ਪੁਰਖ" (ਦੂਸਰੇ) ਵਾਸਤੇ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਸ੍ਰਦਾਰ, ਸਾਹਬ ਸਿੰਘ ਐਮ.ਏ. ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਖਾਸਲਾ ਕਾਲਜ ਅੰਮ੍ਰਿਤ-ਸਰ ਅਪਣੀ ਪੁਸਤਕ " ਗੁਰ ਬਾਣੀ ਵਿਆਕਰਨ " ਦੇ ਸਫਾ ੩੦੪ ਪਰ ਲਿਖਦੇ ਹਨ, ਅੱਨਜ ਪੁਰਖ ਦਾ ਚਿੰਨ "ਉ" ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਜੈਸਾ ਕਿ–

ਨਿਮਖ ਨਾ "ਬਿਸਰਉ ਮੁਖ ਤੇ ਹਰ ਹਰ"।

ਪੁਨਾ–ਕੋਈ ਭਲਾ "ਕਹਉ" ਕੋਈ ਬੁਰਾ "ਕਹਉ"।

ਕਿਤੇ ਪਰਕਾਰ ਨਾ "ਤੂਟਉ" ਪਰੀਤ।

ਇਨਾਂ ਸਾਰੇ ਪਰਮਾਣਾਂ ਤੋਂ ਸਿੱਧ ਹੋਂਦਿਆ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਛੀਪੇ ਕੇ ਜਨਮ ਕਾਹੇ "ਕਉ" ਅਪਣੇ ਲਈ ਨਹੀਂ ਆਖਿਆ। ਇਸਦੇ ਨਾਲ ਜਦ ਅਗਲਾ ਸ਼ਬਦ "ਆਇਆ" ਪੜਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਬਿਲਕੁਲ ਸਪਸ਼ਟ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਪੰਗਤੀ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਨੂੰ ਆਖ ਰਹੇ ਹਨ। ਹੁਣ ਵਿਚਾਰ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਕਿਸ ਨੂੰ ਆਖਿਆ ਗਿਆ। ਇਸ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਲਈ ਫਿਰ ਪਹਿਲੀ ਪੰਗਤੀ ਦੀ ਵਿਚਾਰ ਕਰੋ ਜੋ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਹੈ।

"ਹੀਨੜੀ ਜਾਤ ਮੇਰੀ ਜਾਦਮ ਰਾਇਆ"।

ਅਰਥਾਤ ਉਹ ਜਾਦਵਾਂ ਦੇ ਮਾਲਕ ਸ੍ਰੀ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਜੀ ਨੂੰ ਸੰਬੋਧਨ ਕਰਕੇ ਆਖ ਰਹੇ ਹਨ ਕਿ ਕਿ ਹੇ ਸ੍ਰੀ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਜੀ ! ਮੇਰੀ ਜਾਤ (ਮੇਰਾ ਸਰੀਰ) ਅਰਥਾਤ ਮੈਂ ਜਾਤੀ ਤੌਰ ਤੇ ਅਥਵਾ ਮੈਂ ਅਪਣੇ ਆਪ ਵਿਚ ਹੀਣਾ ਹਾਂ।

ਜਿਸ ਤ੍ਰਾਂ ਸਤਿਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ-

"ਹਉ ਢਾਢੀ ਕੀ ਨੀਚ ਜਾਤ, ਹੋਰ ਉੱਤਮ ਜਾਤ ਸਦਾਇੰਦੇ"।

ਜਿਸ ਤ੍ਰਾਂ ਉਕਤ ਵਾਕ ਵਿਚ ਲਫ਼ਜ਼ "ਜਾਤ" ਬੇਦੀ ਜਾਤ ਤੋਂ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਮ੍ਹਾਰਾਜ ਨੇ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ "ਨੀਚ" ਆਖਕੇ ਨਿਮ੍ਰਤਾ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤੀ ਹੈ, ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਵਾਕ ਵਿਚ "ਹੀਨੜੀ ਜਾਤ" ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਜਾਤ "ਖਸ਼ੱਤ੍ਰੀ" ਸੰਬੰਧੀ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਨਿਮ੍ਰ ਭਾਵ ਵਿਚ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਚੂੰਕਿ ਪਹਿਲੀ ਪੰਗਤੀ ਵਿਚ ਸ੍ਰੀ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਜੀ ਨੂੰ ਸੰਬੋਧਨ (ਮੁਖਾਤਬ) ਕੀਤਾ ਹੈ ਤੇ ਦੂਜੀ ਪੰਗਤੀ ਵਿਚ ਸ਼ਬਦ "ਕਉ" ਆਇਆ ਸਾਬਤ ਕਰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਇਹਿ ਭੀ ਉਨਾਂ ਨੂੰ ਹੀ ਆਖਿਆ ਹੈ, ਇਸਦਾ ਭਾਵ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਹੇ ਸ੍ਰੀ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ! ਜੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਨੂੰ ਖਸ਼ੱਤ੍ਰੀ ਚੰਗੇ ਨਹੀਂ ਲਗਦੇ ਤਾਂ ਤੂੰ "ਛੀਪੇ" (ਸ਼ਿਪਲ ਦਾਰ) ਜੋ ਖਸ਼ੱਤ੍ਰੀ ਹਨ ਇਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਕਿਉ "ਆਇਆ" ਅਰਥਾਤ ਖਸ਼ੱਤ੍ਰੀਆਂ ਦੀ ਕੁਲ ਵਿਚ ਕਿਉਂ ਜਨਮ ਲਿਆ।

ਸਿੱਟਾ ਇਹ ਨਿਕਲਿਆ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਇਨਾਂ ਪੰਗਤੀਆਂ ਵਿਚ ਕਸ਼ੱਤ੍ਰੀ ਜਾਤੀ (ਛੀਪੇ) ਨੂੰ ਹੀਨਾਂ ਜਾਂ ਨੀਵੇਂ ਨਹੀਂ ਕਿਹਾ, ਬਲਕੇ ਅਤੀ ਨਿੱਮ੍ਰਤਾ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤੀ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਦਾ ਕਥਨ ਹੈ ਕਿ ਵੱਡੇ ਆਦਮੀ ਸਦਾ ਅਪਣੇ ਆਪਨੂੰ ਛੋਟਾ ਅਥਵਾ ਨੀਵਾਂ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਜਾਂ ਐਂਉਂ ਸਮਝੋ ਕਿ ਜੋ ਸ਼ਖਸ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਨੀਵਾਂ ਆਖਦਾ ਹੈ ਉਹ ਸਭ ਤੋਂ ਉੱਚਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਗੁਰ ਵਾਕ-"ਆਪਸ ਕਉ ਜੋ ਜਾਣੇ ਨੀਚਾ, ਸੋਉ ਗਣੀਐ ਸਭ ਤੇ ਊਚਾ"

ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸਜੀ ਸਿਖਾਂ ਵਿਚ ਵੇਦ ਵਿਆਸਦੀ ਪਦਵੀ ਰਖਦੇ ਹਨ ਤੇ ਇਨਾਂ ਦੀ ਰਚਨਾ ਨੂੰ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੀ ਕੁੰਜੀ ਦੀ ਪਦਵੀ ਮਿਲੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਉਹ ਭਾਈ ਸਾਹਬ ਆਪਣੇ ਪਰਥਾਇ ਲਿਖਦੇ ਹਨ।

ਹਉ ਅਪ੍ਰਾਧੀ ਗੁਨਹਿ ਗਾਰ ਹਉ ਬੇ ਮੁਖ ਮੰਦਾ ।

ਚੋਰ, ਯਾਰ, ਜੂਆਰੀਆ ਪਰ ਘਰ ਜੋਹੰਦਾ ।

ਇਹ ਅਤੀ ਨਿਮ੍ਰਤਾ ਭਰੇ ਸ਼ਬਦ ਸ੍ਰੀ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀ ਉੱਚਤਾ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰ ਰਹੇ ਹਨ ਨਾ ਕਿ ਉਨਾਂ ਦਾ ਜਾਤੀ ਦੀ ਨਿਉਣਤਾ

ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ

ਪੁਰਾਣੇ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਵਿਚ ਇਹ ਵਚਿਤ੍ਰ ਵੈਹਮ ਸੀ ਕਿ ਉਹ ਆਪ ਤੋਂ ਉੱਚੇ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਦੇ ਜਨਮ ਨੂੰ ਸਾਂਧਾਰਨ ਪੁਰਸ਼ਾਂਦੇ ਜਨਮ ਵਾਂਗ ਲਿਖਣਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਹੇਠੀ ਸਮਝਦੇ ਸਨ, ਸ਼ਾਇਦ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਇਹ ਵਹਿਮ ਹੋਵੇ ਕਿ ਜੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਦਾ ਜਨਮ ਭੀ ਸਾਧਾਰਨ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਵਾਂਗ ਹੋਗਿਆ ਤਾਂ ਉਨਾਂ ਵਿਚ ਵਾਧਾ ਕੀ ਹੋ ਇਆ ? ਸ਼ਾਇਦ ਇਸੇ ਖਿਆਲ ਦੇ ਅਧੀਨ ਕਈਆਂ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਅਤੇ ਰਿਸ਼ੀਆਂ ਦੇ ਜਨਮ ਮੱਛੀ ਦੇ ਪੇਟ ਅਤੇ ਹਰਨੀ ਆਦ ਦੇ ਗਰਭ ਤੋਂ ਲਿਖ ਮਾਰੇ, ਇਹ ਵਹਿਮ ਕੇਵਲ ਪੁਰਾਤਨ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨੂੰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਕਈ ਲੇਖਕਾਂ ਕੇ ਮਹਾਤਮਾ ਯਸੂ ਮਸੀਹ ਵਰਗੇ ਬਜ਼ੁਰਗਾਂਦਾ ਜਨਮ ਭੀ ਪਿਤਾ ਤੋਂ ਬਗੈਰ ਹੀ ਲਿਖ ਦਿਤਾ, ਅਰ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਕਬੀਰ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ ਗੁਲਾਬ ਦੇ ਫੁਲ ਦ੍ਵਾਰਾ ਲਿਖ ਮਾਰਿਆ। ਉਕਤ ਖਿਆਲਾਂ ਨੇ ਹੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਜਨਮ ਲਿਖਣ ਵੇਲੇ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨੂੰ ਗਲਬਾ ਪਾ ਲਿਆ, ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਕਿਸੇ ਨੇ ਤਾਂ ਇਹ ਲਿਖ ਦਿਤਾ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ 'ਸਿਪ' ਵਿਚੋਂ ਹੋਇਆ ਅਤੇ ਕਿਸੇ ਨੇ ਇਹ ਕਲਮ ਬੰਦ ਕੀਤਾ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਮਾਤਾ ਲਛਮਾਵਤੀ ਜੀ ਵਿਧਵਾ ਸੀ, ਉਨਾਂ ਨੂੰ ਇਕ ਸਾਧੂ ਨੇ ਪੁਤ੍ਰ ਦਾ ਵਰ ਦੇ ਦਿਤਾ ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਪਿਤਾ ਤੋਂ ਬਗੈਰ ਹੀ ਉਨਾਂ ਦੀ ਪੈਦਾਇਸ਼ ਹੋਈ ਅਤੇ ਉਨਾਂ ਦੇ ਨਾਨਾ "ਬਾਮਦੇਵ" ਜੀ ਨੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਪਰਵਰਸ ਕੀਤੀ, ਜਿਸ ਤੋਂ ਇਹ ਪਤਾ ਲਗਾ ਕਿ ਕੁਝ ਲਿਖਾਰੀ ਤਾਂ ਉਨਾਂ ਦੇ ਪਿਤਾ ਤੋਂ ਇਨਕਾਰੀ ਹਨ ਤੇ ਕੁਛ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਦੋਹਾਂ ਤੋਂ

ਮੁਕਰਦੇ ਹਨ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਇਤਹਾਸ ਦੀ ਕਸਵੱਟੀ ਉੱਪਰ ਇਹ ਸਾਰੇ ਖਿਆਲ ਪੂਰੇ ਨਹੀਂ ਉਤ੍ਰਦੇ, ਇਕ ਤਾਂ ਜਿਸ ਵੇਲੇ ਐਸੇ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਵੱਲੋਂ ਲਿਖੇ ਗਏ ਨਾਮ, ਜੈਸਾ ਕਿ "ਮਾਤਾ ਲਛਮੀ" ਅਤੇ "ਨਾਨਾ ਬਾਮ ਦੇਵ" ਦੀ ਪੜਤਾਲ ਕਰੀਦੀ ਹੈ ਤਾਂ ਇਹ ਕਿਤੋਂ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੇ ਬਲਕੇ ਇਹ ਗਲ ਤਾਂ ਇਥੋਂ ਤਕ ਨਿਰਮੂਲ ਹੈ ਕਿ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੀਆਂ ਪੁਸਤਕਾਂ, ਮਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗਾਂ ਅਤੇ ਹੋਰ ਇਤਹਾਸਾਂ ਵਿਚੋਂ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਸਾਰੇ ਪ੍ਰਵਾਰ ਅਤੇ ਸਮਕਾਲੀਆਂ ਵਿਚੋਂ ਭੀ ਕਿਸੇ ਪੁਰਸ਼ ਦਾ ਨਾਮ "ਬਾਮਦੇਵ" ਅਤੇ ਇਸਤ੍ਰੀ ਦਾ ਨਾਮ "ਲਛਮਾਵਤੀ" ਨਹੀਂ ਮਿਲਦਾ ਸਗੋਂ ਸਭ ਮਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗਾਂ ਅਤੇ ਇਤਹਾਸਾਂ ਵਿਚ ਇਹ ਸਤਸ਼ਟ ਹੈ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਦੀ ਦੇ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਦੋਨੋਂ ਹੀ ਸਨ, ਅਸੀਂ ਨਮੂਨੇ ਲਈ ਹੇਠ ਇਕ ਮ੍ਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗ ਦੀਆਂ ਤੁਕਾਂ ਲਿਖਦੇ ਹਾਂ।

ਯਥਾ—ਗੋਣਾਈ ਨਵਸ ਕੇਲਾ। ਦੇਵਾ ਪੁਤ੍ਰ ਦੇਈ ਮਲਾ।

ਪੋਟਾ ਆਲੇ ਨਾਮ ਦੇਵ। ਦਾਮ ਸ਼ੇਟੀ ਹਰੁਸ਼ਲਾ।

ਦਾਸੀ ਜਾਂਨਾ ਅਨੰਦ ਝਾਂਲਾ।, ੫॥

ਅਰਥ—"ਗੋਣਾ ਬਾਈ" ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਮਾਤਾ ਨੇ ਸੁੱਖਣਾ ਸੁੱਖੀ ਕਿ ਹੇ ਦੇਵ! ਮੈਨੂੰ ਪ੍ਰਤ੍ਰ ਦੇਵੀਂ। ਉਸਦਾ ਸ਼ੁੱਧ ਭਾਵ ਦੇਖਕੇ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ, ਮਾਤਾ ਦੀ ਕੁਖ ਵਿਚ ਆਏ। "ਦਾਮ ਸ਼ੇਟੀ" ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਪਿਤਾ, ਬੜਾ ਖੁਸ਼ ਹੋਇਆ ਤੇ ਘਰ ਦੀ ਟਹਿਲਣ (ਜਾਨਾ ਬਾਈ) ਨੂੰ ਅਨੰਦ ਹੋਇਆ।

ਇਸ ਤੋਂ ਸਾਫ ਪ੍ਰਗਟ ਹੋ ਗਿਆ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਜੀ ਸਨ ਤੇ ਉਨਾਂ ਦੇ ਨਾਮ "ਸ੍ਰੀ ਦਾਮਸ਼ੇਟ" ਜੀ ਅਤੇ "ਗੋਣਾ ਬਾਈ' "ਸਨ। ਇਸ ਤੋ 'ਬਿਨਾ ਭਗਤ" ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਅਪਣੇ ਮੁਖਾਰ ਬਿੰਦ ਤੋਂ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ। ਯਥਾ--

ਦੁਧ ਪੀਓ ਗੋਬਿੰਦੇ ਰਾਇ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਘਰ ਕੋ "ਬਾਪ" ਰੀਸਾਇ

ਅਰਥਾਤ ਹੇ ਠਾਕਰ ਜੀ ! ਦੁਧ ਪੀਓ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਘਰ "ਬਾਪ" (ਪਿਤਾ) ਗੁੱਸੇ ਹੋਵੇਗਾ, ਫੇਰ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ ।

ਯਥਾ-ਕੰਮ ਕਿਤੇ "ਪਿਓ" ਚਲਿਆ ਨਾਮ ਦੇਵ ਨੂੰ ਆਖ ਸੁਣਾਇਆ । ਸੋ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀ ਪਉੜੀ ਅਤੇ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਅਪਣੇ ਮੁਖਵਾਕ ਤੋਂ ਸਪਸ਼ਟ ਹੋ ਗਿਆ ਕਿ ਉਨਾਂ ਦ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਜੀ ਸਨ ਅਰ ਉਨਾਂ ਦੇ ਉਕਤ ਹੀ ਨਾਮ ਸਨ ।

ਕਿਸੇ ਦੂਜੀ ਥਾਂ ਅਸੀ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਪ੍ਰਵਾਰ ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਭੀ ਉਨਾਂ ਦੀ ਦਾਸੀ ਦੇ ਅਭੰਗ ਦੇ ਅਧਾਰ ਪਰ ਪਰਵਾਰ ਦੇ ਨਾਮ ਲਿਖੇ ਹਨ, ਉਸ ਵਿਚ ਭੀ ਸ੍ਰੀ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਦਾ ਇਹੋ ਨਾਮ ਦਿਤਾ ਹੈ । ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰ ਮਿਸਟਰ ਮੈਕਾਲਫ ਅਤੇ ਮੋਹਰਾਸਰ ਦੇ ਅਨੇਕ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰ ਸਾਡੀ ਉਕਤ ਲਿਖਤ ਦੀ ਪੌੜਤਾ ਕਰਦੇ ਹਨ ।

ਜਨਮ ਦੀ ਤਾਰੀਖ

ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਜਨਮ ਦੀ ਤਾਰੀਖ ਸਬੰਧੀ ਕਈ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰਾਂ ਨੇ ਸਖਤ ਗਲਤੀ ਖਾਧੀ ਹੈ,ਕਈਆਂ ਨੇ ਤਾਂ ਸੁਣੀ ਸੁਣਾਈਆਂ ਅਤੇ ਬਗੈਰ ਖੋਜ ਤੋਂ ਤਾਰੀਖਾਂ ਲਿਖ ਦਿਤੀਆਂ ਹਨ, ਜਿਸ ਤ੍ਰਾਂ ਘੁਮਾਣਾਂ ਦੇ ਲਿਖਾਰੀ ਨੇ ਜਨਮ ਦਾ ਸੰਮਤ ੧੪੨੦ ਲਿਖ ਦਿਤਾ ਹੈ ਜਿਸ ਅਨਸਾਰ ਈਸਵੀ ੧੨੬੩ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਇਸੇ ਲਿਖਾਰੀ ਨੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਘੁਮਾਣਾ ਵਿਚ ਨਿਵਾਸ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਸਮੇ ਵਿਚ ਦਿੱਲੀ ਦੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ "ਅਲਾਉੱ-ਦੀਨ"ਦਾ ਉਥੇ ਆਉਣਾ ਭੀ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਤੇ ਉਸਦੀ ਬੜੀ ਸ਼ਰਧਾ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਕੇ ਤਲਾਉ ਬਨਾਉਣ ਦਾ ਹੁਕਮ ਦੇਣ ਦਾ ਜਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਜੇ ਉਕਤ ਲੇਖਕ ਦੀ ਇਹ ਗਲ ਠੀਕ ਮੰਨ ਲਈ ਜਾਵੇ ਤਾਂ ਉਸਦਾ ਲਿਖਆ ਹੋਇਆ ਜਨਮ ਸੰਮਤ ਗਲਤ ਸਾਬਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਤਾਰੀਖ ਦਸਦੀਹੈ ਕਿ ਅਲਾਉੱਦੀਨਨੇ ਈਸਵੀ ਸੰਮਤ ੧੨੯੫ ਤੋਂ ੧੩੩੫ ਤਕ

ਰਾਜ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਇਸ ਅਨਸਾਰ ਜਾਂ ਮਹਾਰਾਜ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ ਪਹਿਲਾਂ ਮਨਣਾ ਪਵੇਗਾ ਜਾਂ ਅਲਾਉੱਦੀਨ ਦਾ ਰਾਜ ਅਗਾਂਹ ਤੇ ਪਾਉਣਾ ਪਵੇਗਾ।

ਇਸ ਗਲ ਸਬੰਧੀ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਆਪਣਾ ਇਕ ਮੂਹੱਟੀ ਅਭੰਗ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਹੈ :—

ਮਾਝੇ ਜਨਮ ਪਤ੍ਰ ਬਾਬਾ ਜੀ ਬ੍ਰਾਹਮਣੇ।
ਝਿਹਲੋਂ ਤਿਆਰੀ ਖੁਣ ਸਾਰੂ ਐਕਾ॥
ਅਧਕ ਬਿਆਣਵ ਗਣਿਤ ਅਕਰਾਸ਼ਤੇ।
ੳਗਰਵਤਾਂ ਆਦਿਤਜ ਰੋਹਿਣੀ ਸੀ॥
ਸ਼ੁਕਲ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ਕਾਰਤਿਕੀ ਰਵਿ ਵਾਰੀ।
ਪ੍ਰਭਵ ਸੰਵਤ ਸਰ ਸਾਲਿਵਾਹਨ ਸ਼ੰਕੇ।
ਪ੍ਰਸਵਲੀ ਮਾਤਾ ਮਝ ਮਲ ਮੂਤ੍ਰੀ।
ਤਵਹਾਂ ਜਿਵ ਹੇਵਰ ਲਿਹਲੋਂ ਦੋਵੇ ਆਦ॥

ਅਰਥ—ਮੇਰਾ ਜਨਮ ਪਤ੍ਰਾ ਬਾਬਾ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਜੀ ਨੇ ਲਿਖਿਆ, ਉਸਦੀ ਸਾਰ ਨਿਸਾਨੀ ਸੁਣ, ਗਿਆਰਾਂ ਸੌ ਤੋਂ ਉੱਪਰ ਬਾਨਵੇਂ, ਸ਼ੁਕਲ ਸਾਲਿਵਾਹਨ ਰੋਹਣੀ ਵਿਚ, ਸੂਰਜ ਉਦੇ ਸਮੇ ਕੱਤਕ ਦੀ ਸ਼ੁਕਲ ਏਕਾ-ਦਸ਼ੀ, ਐਤਵਾਰ ਪ੍ਰਭਵ ਸਾਲਵਾਹਣ ਸੰਮਤ ਵਿਚ ਮੇਰੀ ਮਾਤਾ ਨੇ ਮਲ ਮੂਤ੍ਰ ਤੋਂ ਮੈਨੂੰ ਜਨਮ ਦਿਤਾ, ਤਦ ਦੇਵ ਨੇ ਮੇਰੀ ਜੀਭਾ ਤੇ ਲਿਖਿਆ :—

ਇਸ ਅਭੰਗ ਤੋਂ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਜਨਮ ਕੱਤਕ ਸ਼ੁਦੀ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ਐਤਵਾਰ ਸੰਮਤ ੧੧੯੨ ਸਾਲਵਾਹਣ ਮੁਤਾਬਕ ੧੩੨੭ ਬਿਕ੍ਰਮੀ ਅਤੇ ੧੨੭੦ ਈਸਵੀ ਨੂੰ ਹੋਇਆ। ਇਸਦੀ ਪਕਆਈ ਇਸ ਗਲ ਤੋਂ ਭੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਕਿ ਇਸ ਸੰਮਤ ਵਿਚ ਸ਼ੁਦੀ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ਠੀਕ ਐਤਵਾਰ ਨੂੰ ਸੀ।

ਉਕਤ ਤਾਰੀਖ ਦੀ ਪੋੜਤਾ ਹੋਰ ਗਲ ਤੋਂ ਭੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਕਿ ਸੰ: ੧੩੩੮ ਈਸਵੀ ਵਿਚ ਦਿੱਲੀ ਦਾ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਤੁਇਲਕ

ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ ਵਿਚ ਆਇਆ ਸੀ ਜਿਸਨੇ ਦੇਵਗਿਰੀ ਨੂੰ ਅਪਣੀ ਰਾਜਧਾਨੀ ਬਣਾਕੇ ਉਸਦਾ ਨਾਮ ਦੋਲਤਾ ਬਾਦ ਰਖਿਆ ਸੀ । ਕਈ ਪੁਸਤਕਾਂ ਵਿਚ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਤਸੀਹੇ ਦੇਣ ਵਾਲਾ ਇਹੋ ਹੀ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਲਿਖਿਆ ਹੈ,ਇਸ ਅਨੁਸਾਰ ਉਕਤ ਸੰਨ ਤੇ ਤਰੀਕ ਠੀਕ ਮਾਲੂਮ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਬਹੁਤੇ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰਾਂ ਨੇ ਭਗਤ "ਰੰਕਾ" ਨੂੰ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਸਮਕਾਲੀ ਮੰਨਿਆ ਹੈ, ਜਦ ਅਸੀ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਜਨਮ ਸੰਮਤ ਦਾ ਮੁਕਾਬਲਾ ਕਰਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਸਾਡੀ ਉਕਤ ਲਿਖਤ ਦੀ ਤਾਈਦ ਹੁੰਦੀ ਹੈ । ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਗੁਰੂ ਸ੍ਰੀ 'ਬਿਸ਼ੋਭਾ ਖੇਚਰ' ਜੀ ਸਨ । ਭਗਤ ਜੀ ਅਪਣੇ ਇਕ ਅਭੰਗ ਦੀ ਪੰਗਤੀ ਵਿਚ ਅਪਣੇ ਗੁਰੂ ਜੀ ਦੇ ਸੂਰਗ ਵਾਸ ਹੋਣ ਦੀ ਤਾਰੀਖ ਇਸਤ੍ਹਾਂ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ।

ਸੇਮਯ ਸੰਵਤ ਸਰ ਬਾਰਾਂ ਸੌ ਇਕਤੀਸ ਸ਼ੁਧ ਸ੍ਰਾਵਨ ਮਾਸ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ।
ਨਿਗੁਣ ਨਿਰਾਕਾਰ ਸਰੂਪੀ ਮਿਲਾਲਾ ਖੇਚਰ ਬੇਸਲਾ ਸਮਾਧੀ ॥

ਜਿਸਦਾ ਅਰਥ ਹੈ ਕਿ ਖੇਚਰ (ਬਿਸ਼ੋਭਾ ਖਚਰ) ਸਾਲਿਵਾਹਣ ਸੰਮਤ ੧੨੩੧ ਸੌਣ ਮਹੀਨੇ ਦੀ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ਨੂੰ ਸਮਾਧੀ ਬੇਠੇ (ਸੂਰਗ ਵਾਸ ਹੋਏ) ਇਸ ਅਨਸਾਰ ਭੀ ਸਾਡੀ ਉੱਪਰ ਦਿੱਤੀ ਹੋਈ ਤਾਰੀਖ ਤੇ ਸੰਮਤ ਮੇਲ ਖਾਂਦੀ ਹੈ । ਇਸ ਸਬੰਧ ਵਿਚ ਬੰਬਈ ਦੀਆਂ ਕਈ ਅਖਬਾਰਾਂ ਵਿਚ ਚਰਚਾ ਹੁੰਦੀ ਰਹੀ ਹੈ ਪਰ ਅੰਤ ਸਿੱਟਾ ਇਹੋ ਨਿਕ-ਲਿਆ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਜਨਮ ਕੱਤਕ ਸੁਦੀ ਏਕਾਦਸ਼ੀ ਐਤਵਾਰ ਵਾਲੇ ਦਿਨ ਸਾਲਵਾਹਣ ਸੰਮਤ ੧੧੯੨ ਬਿਕ੍ਰਮੀ ੧੩੨੭ ਅਤੇ ਈ:ਸਵੀ ੧੨੭੦ ਵਿਚ ਸੂਰਜ ਚੜਨ ਸਮੇ ਹੋਇਆ।

ਕੰਮ ਕਾਰ ਜਾਂ ਮਾਇਕ ਅਵਸਥਾ

ਅਸੀ ਕਿਸੇ ਪਿਛਲੇ ਲੇਖ ਵਿਚ ਇਸ ਗਲ ਦਾ ਨਿਰਨਾ ਕਰ ਚੁੱਕੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਖਸ਼ਤ੍ਰੀ ਜ਼ਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਸਨ ਪਰ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਰਿਸ਼ਤੇ ਨਾਤੇ ਵਾਲੇ ਅਥਵਾ ਬਰਾਦਰੀ ਵਾਲੇ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਕਰਕੇ ਕਪੜੇ

ਛਾਪਣ (Calico-printing) ਤੇ ਕਪੜੇ ਸੀਉਣ(Tailring) ਦਾ ਕੰਮ ਕਰਦੇ ਸਨ ਇਸ ਕਰਕੇ 'ਸੀਉਣ' ਤੋਂ ਸੀਉ ਅਤੇ ਛਾਪਣ ਤੋਂ ਛਾਪੇਗਰ ਜਾਂ ਛੀਪੇ ਅੱਲ ਪੈ ਗਈ ਤੇ ਲੋਗ ਇਹੋ ਹੀ ਜਾਤੀ ਸਮਝਣ ਲਗ ਪਏ, ਕਈ ਭੁੱਲੜ ਲਿਖਾਰੀ ਇਸ ਬਰਾਦਰੀ ਦੇ ਨਾਮ ਅਥਵਾ ਕਿਤਿਆਂ ਵਿਚ ਕਈ ਹੋਰ ਕੰਮ ਵੀ ਜੜ ਦਿੰਦੇ ਹਨ, ਇਥੇ ਹੀ ਬਸ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਭਗਤ ਨਾਮ-ਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਨਾਮ ਨਾਲ ਕਈ ਐਸੇ ਮਨਘੜਤ ਪ੍ਰਸੰਗ ਲਗਾ ਦਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਇਹ ਕੰਮ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਅਹੁ ਕਿੱਤਾ ਕੀਤਾ।

ਭਾਵੇਂ ਇਹ ਗਲ ਠੀਕ ਹੈ ਕਿ ਕੋਈ ਭੀ ਕੰਮ ਕਰਨਾ ਬੁਰਾ ਨਹੀਂ ਜੈਸਾ ਕਿ ਉੱਚੀ ਜਾਤ ਸਦਾਉਣ ਵਾਲੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਅਤੇ ਖਤ੍ਰੀ ਜੁੱਤੀਆਂ ਬਨਾਉਣ ਤੇ ਵੇਚਣ ਦਾ ਕੰਮ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਕਪੜੇ ਉਣਨ ਦੀਆਂ ਖੱਡੀਆਂ ਲਾਈ ਬੈਠੇ ਹਨ ਅਤੇ ਕਪੜੇ ਧੋਣ ਦੀਆਂ ਲਾਂਡਰੀਆਂ ਚਲਾ-ਉਂਦੇ ਹਨ, ਪਰ ਫੇਰ ਭੀ ਜਿਸ ਸਖਸ਼ ਨੇ ਕੋਈ ਕੰਮ ਕੀਤਾ ਹੀ ਨਾ ਹੋਵੇ ਉਸਨੂੰ ਉਸਦੇ ਨਾਮ ਨਾਲ ਮੜ੍ਹ ਦੇਣਾ ਸਖਤ ਬੇਇਨਸਾਫੀ ਹੈ।

ਅਸੀ ਅੱਗੇ ਜਾਕੇ ਸਾਬਤ ਕਰਾਂਗੇ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਹੱਥੀਂ ਕੋਈ ਭੀ ਕੰਮ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ ਪਰ ਫੇਰ ਭੀ ਬਾਨੀ ਵਿਚ ਕੇਵਲ 'ਰਾਂਗਣ ਰਾਂਗਉ' ਕਪੜੇ ਰੰਗਣ ਅਤੇ 'ਸੀਵਨ ਸੀਵਉ' ਕਪੜੇ ਸੀਉਣ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਆਉਂਦਾ ਹੈ ਪਰ ਕਈ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰਾਂ ਨੇ ਹੋਰ ਕੰਮ ਅਥਵਾ ਕਿਤਾ ਵੀ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਨਾਮ ਨਾਲ ਚਮੋੜ ਦਿੱਤਾ ਹੈ। ਜਿਸਦਾ ਉਨ੍ਹਾ ਦੀ ਬਾਣੀ ਅਥਵਾ ਵਾਕਾਂ ਵਿਚ ਕਿਤੇ ਜ਼ਿਕਾਰ ਤਕ ਭੀ ਨਹੀਂ।

ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਪਿਤਾਮਾ ਇਕ ਤਕੜੇ ਬਿਉਪਾਰੀ ਸਨ ਤੇ ਬਿਊਪਾਰ ਦੁਆਰਾ ਉਨ੍ਹਾ ਨੇ ਬਹੁਤ ਧਨ ਇਕੱਠਾ ਕੀਤਾ ਸੀ ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਅਪਣੀ ਉਪਜੀਵਕਾ ਲਈ ਕਿਸੇ ਕੰਮ ਕਰਨ ਦੀ ਲੋੜਹੀ ਪਰਤੀਤ ਨਹੀਂ ਹੋਈ। ਕਈਆਂ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਹੇਠ ਲਿਖੇ ਸ਼ਬਦ

ਦਾ ਭਾਵ ਕਢਿਆ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਕਪੜੇ ਸੀਊਣ ਜਾਂ ਰੰਗਣ ਦਾ ਕੰਮ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਮਨ ਮੇਰੋ ਗਜ ਜਿਹਬਾ ਮੇਰੀ ਕਾਤੀ।
ਮਪ ਮਪ ਕਾਟਉ ਜਮ ਕੀ ਫਾਸੀ॥
ਕਿਆ ਕਰਉ ਜਾਤੀ ਕਹਾ ਕਰਉ ਪਾਤੀ।
ਰਾਮ ਕਾ ਨਾਮ ਜਪਉ ਦਿਨ ਰਾਤੀ॥
ਰਾਂਗਨ ਰਾਂਗਉ ਸੀਵਨ ਸੀਵਉ।
ਰਾਮ ਨਾਮ ਬਿਨ ਘਰੀਅ ਨ ਜੀਵਉ॥
ਭਗਤ ਕਰਉ ਹਰਿ ਕੇ ਗੁਨ ਗਾਵਉ।
ਆਠ ਪਹਿਰ ਅਪਨਾ ਖਸਮ ਧਿਆਵਉ॥
ਸੁਇਨੇ ਕੀ ਸੁਈ ਰੁਪੇ ਕਾ ਧਾਗਾ।
ਨਾਮੇ ਦਾ ਚਿਤੁ ਹਰਿ ਸਿਉ ਲਾਗਾ॥

ਪੁਰਾਣੇ ਲਿਖਾਰੀ ਜਾਂ ਪਾਠੀ ਇਸ ਸ਼ਬਦ ਨੂੰ 'ਰੰਗਨ ਰੰਗੂੰ' ਜਾਂ 'ਮੈਂ ਸੀਵਨ ਸੀਵੂੰ' ਸਖਤ ਅਸ਼ੁੱਧ ਪੜ੍ਹਕੇ ਉਲਟੇ ਅਰਥ ਕਰ ਦਿੰਦੇ ਹਨ, ਅਸੀ ਅਪਣੇ ਪਾਠਕਾਂ ਪਾਸ ਅਧੀਨਗੀ ਸਹਿਤ ਬੇਨਤੀ ਕਰਾਂਗ ਕਿ ਉਹ ਉਕਤ ਸ਼ਬਦ ਨੂੰ ਬੜੀ ਦੀਰਘ ਵਿਚਾਰ ਨਾਲ ਪੜ੍ਹਨ।

ਇਸ ਸ਼ਬਦ ਦੀਆਂ ਪੰਗਤੀਆਂ ਵਿਚ (ਉ) ਬਹੁਤ ਵਰਤਿਆ ਗਿਆ ਹੈ ਜੈਸਾ ਕਿ 'ਰਾਂਗਨ ਰਾਂਗਉ' 'ਭਗਤ ਕਰਉ' 'ਧਿਆਵਉ' ਅਸੀਂ ਕਿਸੇ ਪਿਛਲੇ ਲੇਖ ਵਿਚ 'ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਆਕਰਣ' ਦਾ ਪ੍ਰਮਾਣ ਦਕੇ ਦਸ ਚੁਕੇ ਹਾਂ ਕਿ ਜਿੱਥੇ 'ਉ' ਆ ਜਾਵੇ ਉਹ ਸ਼ਬਦ ਅੱਨਜ ਪੁਰਖ ਵਾਚਕ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਅਰਥਾਤ ਉਹ ਵਾਕ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਨੂੰ ਆਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ਜਿਸਤ੍ਰਾਂ 'ਭਲੇ ਨਿੰਦਉ ਭਲੇ ਨਿੰਦਉ ਲੋਗ' ਅਰਥਾਤ ਹੇ ਲੋਗੋ! ਦੂਸਰੇ ਪ੍ਰਥਾਇ) ਭਲਾ ਹੈ ਮੇਰੀ ਨਿੰਦਾ ਕਰਉ (ਕਰੋ)।

ਸੋ ਉਕਤ ਸ਼ਬਦ ਭੀ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਕਪੜੇ ਸੀਊਣ ਅਤੇ ਛਾਪਣ

ਵਾਲੇ ਸਜਣਾ ਪਰਥਾਇ ਆਖਿਆ ਹੈ, ਕਿ ਹੇ ਸੱਜਣ ਜਨੋ ! ਤੁਸੀ ਸਮਝ ਲਵੋ ਕਿ ਸਾਡਾ ਮਨ ਗਜ਼ ਹੈ ਤੇ ਜੀਭ ਕੈਂਚੀ ਹੈ ਇਹ ਸਮਝਕੇ ਜਮਾਂ ਦੀ ਫਾਸੀ ਨੂੰ ਨਾਪ ਨਾਪ ਕੇ ਕਟੀ ਜਾਓ।

ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਰੰਗਣ ਵਾਲਿਆਂ ਪਰਥਾਇ ਉਪਦੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਅੰਤ ਵਿਚ ਜਦ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਪੁੱਛਿਆ ਕਿ ਤੁਸੀ ਕੀ ਕਰਦੇ ਹੋ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਫਰਮਾਇਆ ਕਿ ਇਹ ਜੋ ਬਿਰਤੀ ਹੈ ਸੁਇਨੇ ਦੀ ਸੂਈ ਹੈ ਤੇ ਇਸ ਵਿਚ ਨਾਮ ਰੂਪੀ ਰੁਪੇ (ਚਾਂਦੀ) ਦੇ ਧਾਗੇ ਨੂੰ ਪਰੋ ਲਿਆ ਹੈ ਅਰ ਇਸ ਤ੍ਰਾਂ ਮੇਰਾ ਮਨ ਹਰੀ ਨਾਲ ਜੁੜ ਗਿਆ ਹੈ।

ਇਸ ਸਾਰੇ ਲੇਖ ਦਾ ਭਾਵ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਹੱਥੀਂ ਕੋਈ ਕੰਮ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ, ਸ਼ਾਡਾ ਇਹ ਭਾਵ ਨਹੀਂ ਕਿ ਜੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਕੰਮ ਕੀਤਾ ਲਿਖ ਦੇਈਏ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਈ ਪੋਜੀਸ਼ਨ ਕਮਜੋਰ ਹੋ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਬਲਕੇ ਸਾਡਾ ਅਸਲ ਭਾਵ ਤਾਂ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੇ ਅਰਥਾਂ ਅਤੇ ਆਸ਼ੇ ਨੂੰ ਠੀਕ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨਾ ਹੈ।

ਮਾਇਕ ਅਵਸਥਾ

ਪੁਰਾਣੇ ਲੇਖਕਾਂ ਦੇ ਗਲਤ ਲਿਖੇ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਦੇ ਕਾਰਨ ਆਮ ਲੋਗਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਵਿਚ ਖਿਆਲ ਭਰਿਆ ਪਿਆ ਸੀ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਜਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਪਿਤਾ ਪਿਤਾਮਾ ਇਕ ਨਿਰਧਨ ਅਤੇ ਗਰੀਬ ਆਦਮੀ ਸਨ। ਅਸੀਂ ਸਮਝਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਪਾਸ 'ਨਾਮ ਧਨ' ਅਤੇ ਭਗਤੀ ਦਾ ਭੰਡਾਰ ਇੰਨਾਂ ਭਰਪੂਰ ਸੀ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਪਾਸ ਦੁਨਆਵੀ ਧਨ ਨਾ ਵੀ ਹੋਵੇ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਪੋਜ਼ੀਸ਼ਨ ਬਹੁਤ ਉੱਚੀ ਸੀ ਅਤੇ ਸਦਾ ਲਈ ਉੱਚੀ ਸੀ। ਪ੍ਰੰਤੂ ਅਸੀ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣਾਂ ਨਾਲ ਇਹ ਸਿੱਧ ਕਰਨਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਜਿੱਥੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਪਾਸ 'ਨਾਮ ਧਨ' ਦੇ ਅਖੁੱਟ ਭੰਡਾਰੇ ਸਨ। ਉੱਥੇ ਸੰਸਾਰਕ ਧਨ ਦੀ ਭੀ ਕੋਈ ਤੋਟ ਨਹੀ ਸੀ।

ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ—

ਕੰਮ ਕਿਤੇ ਪਿਉ ਚਲਿਆ, ਨਾਮਦੇਵ ਨੂੰ ਆਖ ਸਿਧਾਇਆ।
ਠਾਕਰ ਦੀ ਪੂਕਾ ਕਰੀ, ਦੂਧ ਪੀਆਵਣ ਕਹਿ ਸਮਝਾਇਆ ॥

ਜਿਸਦਾ ਭਾਵ ਹੈ ਕਿ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਪਿਤਾ ਰੋਜ ਠਾਕਰ ਜੀ ਦੀ ਪੂਜਾ ਕਰਦਾ ਹੁੰਦਾ ਸੀ ਤੇ ਜਦ ਉਹ ਕਿਤੇ ਬਾਹਰ ਕੰਮ ਚਲਿਆ ਤਾਂ ਪੁਤ੍ਰ ਨੂੰ ਪੂਜਾ ਕਰਨ ਦੀ ਤਾਕੀਦ ਕਰ ਗਿਆ।

ਚੂੰਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਪਿਤਾ ਨਿੱਤ ਨੇਮ ਨਾਲ ਠਾਕਰ ਜੀ ਦੀ ਪੂਜਾ ਕਰਦਾ ਸੀ ਇਸ ਲਈ ਉਨ੍ਹਾਂ ਇਸ ਕੰਮ ਲਈ ਸਪੈਸ਼ਲ ਚੀਜ਼ਾਂ ਰਖੀਆਂ ਹੋਈਆਂ ਸਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਇਸ ਤ੍ਰਾਂ ਆਉਂਦਾ ਹੈ।

ਦੂਧ ਕਟੋਰੇ ਗਡਵੇ ਪਾਨੀ "ਕਪਲ ਗਾਇ" ਨਾਮੇ ਦੁਹਿ ਆਨੀ।
"ਸੁਇਨ ਕਟੋਰੀ" ਅਮ੍ਰਿਤ ਭਰੀ, ਲੈ ਨਾਮੇ ਹਰਿ ਆਗੇ ਧਰੀ ॥

ਉੱਪਰਲੀਆਂ ਪੰਗਤੀਆਂ ਵਿਚ ਜੋ ਸ਼ਬਦ ਕਾਮਿਆਂ ਵਿਚ ਲਿਖੇ ਹਨ, ਖਾਸ ਧਿਆਨ ਗੋਚਰੇ ਹਨ। ਪਹਿਲਾਂ ਸ਼ਬਦ ਹੈ "ਕਪਲ ਗਾਇ"। "ਕਪਲਾ ਗਊ" ਜਾਂ "ਕੈਲੀ ਗਾਂ" ਜੋ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਪਵਿਤ੍ਰ ਸਮਝੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ, ਇਸਦਾ ਦੁਧ ਆਮ ਹਿੰਦੂ ਹਰਗਿਜ਼ ਨਹੀਂ ਪੀਂਦੇ, ਇਹ ਕੇਵਲ ਬ੍ਰਾਂਹਮਣਾਂ ਦੇ ਵਰਤਣ ਅਥਵਾ ਪੂਜਾ ਪਾਠ ਦੇ ਹੀ ਕੰਮ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦਾ ਕਪਲਾ ਗਊ ਦਾ ਦੁਧ ਚੋ ਕੇ ਲਿਆਉਣਾ ਦਸਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਨਾਂ ਦੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਨੇ ਪੂਜਾ ਕਰਨ ਲਈ ਅਪਣੇ ਘਰ "ਕਪਲਾ ਗਊ" ਰਖੀ ਹੋਈ ਸੀ। ਜੇ ਪੂਜਾ ਲਈ ਬਜ਼ਾਰ ਤੋਂ ਦੁਧ ਲਿਆਂਦਾ ਜਾਂਦਾ ਤਾਂ ਇਹ ਜਿਕਰ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਨਾ ਹੁੰਦਾ, ਇਸ ਤੋਂ ਤਾਂ ਸਾਫ ਸਿੱਧ ਹੈ ਕਿ ਗਊ ਸਪੈਸ਼ਲ ਤੌਰ ਤੇ ਇਸੇ ਭਾਵ ਲਈ ਰਖੀ ਹੋਈ ਸੀ ਤੇ ਪੂਜਾ ਦੇ ਸਮੇ ਹੀ ਦੁਧ ਚੋਕੇ ਵਰਤਿਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ। ਸੋ ਜਿਸ ਘਰ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਪੂਜਾ ਦੀ ਖਾਤ੍ਰ "ਕਪਲ ਗਊ"ਰਖੀ ਹੋਈ ਹੋਵੇ ਉਹ ਕਿਸਤ੍ਰਾਂ ਗਰੀਬ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ।

ਉਕਤ ਪੰਗਤੀ ਵਿਚ ਦੂਜਾ ਸ਼ਬਦ ਵਿਚਾਰ ਗੋਚਰਾ ਹੈ 'ਸੋਇਨ ਕਟੋਰੀ'

ਅਰਥਾਤ ਸੋਨੇ ਦਾ ਬਰਤਨ ਹੈ, ਜਿਸਦਾ ਮਤਲਬ। ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਜਿਸ ਭਾਂਡੇ ਵਿਚ ਕਪਲ ਗਊ ਦਾ ਦੁਧ ਠਾਕਰ ਜੀ ਦੇ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਉਹ ਸੋਨੇ ਦਾ ਸੀ। ਸੋਨੇ ਦੇ ਬਰਤਨ ਆਮ ਘਰਾਂ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਘਟ ਹੁੰਦੇ ਹਨ, ਪਰੰਤੂ ਬੜੇ ਬੜੇ ਧਨਾਡ ਘਰਾਂ ਵਿਚ ਪੂਜਾ ਪਾਠ ਜਾਂ ਵਡੇ ਸ਼ਾਹੀ ਪਰਾਹੁਣਿਆਂ ਲਈ ਹੁੰਦ ਹਨ।

ਸੋ ਮਾਲੂਮ ਹੋਇਆ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਨੇ ਜਿੱਥੇ ਪੂਜਾ ਦੇ ਦੁਧ ਲਈ 'ਕਪਲ ਗਊ' ਰਖੀ ਹੋਈ ਸੀ, ਉੱਥੇ ਉਸ ਦੁਧ ਦੇ ਪਾਉਣ ਲਈ ਸੋਨੇ ਦੇ ਬਰਤਨ ਬਨਾਏ ਹੋਏ ਸਨ, ਇਸ ਗੱਲ ਤੋਂ ਯਕੀਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਬਹੁਤ ਭਾਰੇ ਧਨੀ ਅਤੇ ਅਮੀਰ ਆਦਮੀ ਸਨ ਇਹੀ ਕਾਰਨ ਸੀ ਕਿ ਤਗਤ ਜੀ ਨੇ ਸਾਰੀ ਉਮਰ ਕੋਈ ਕੰਮ ਹਥੀਂ ਨਹੀਂ ਸੀ ਕੀਤਾ ਬਲਕੇ ਓਹ ਹਰੀ ਭਗਤੀ ਵਿਚ ਲੀਨ, ਦੇਸ਼ਾਰਟਨ ਅਤੇ ਤੀਰਥ ਯਾਤ੍ਰਾ ਕਰਦੇ ਰਹਿੰਦੇ ਸਨ ਤੇ ਘਰ ਦੇ ਖਰਚ ਦਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਕੋਈ ਫਿਕਰ ਨਹੀਂ ਸੀ।

ਵਿਦ੍ਵਤਾ

ਇਹ ਗਲ ਠੀਕ ਹੈ ਕਿ ਜੋ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ ਧੁਰ ਦਰਗਾਹ ਤੋਂ ਸੰਸਾਰ ਵਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਸਤ ਮਾਰਗ ਦਾ ਉਪਦੇਸ਼ ਦੇਣ ਵਾਸਤੇ ਆਂਉਣ ਉਹ ਧੁਰੋਂ ਹੀ ਗਿਆਨ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰਕੇ ਆਂਉਂਦੇ ਹਨ, ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਭੀ ਇਕ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਸਨ ਤੇ ਸੰਸਾਰ ਵਾਸੀਆਂ ਦਾ ਅਗਯਾਨ ਅੰਧੇਰਾ ਦੂਰ ਕਰਨ ਲਈ ਸੰਸਾਰ ਪਰ ਭੇਜੇ ਗਏ ਸਨ, ਇਸ ਲਈ ਉਹ ਧੁਰ ਦਰਗਾਹ ਤੋਂ ਹੀ ਹਰ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦੇ ਗਿਆਨ ਨੂੰ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰਕੇ 'ਆਏ ਸਨ, ਪਰ ਫੇਰ ਭੀ ਚੂੰਕਿ ਉਹ ਇਕ ਅਮੀਰ ਘਰ ਦੇ ਸਪੁਤ੍ਰ ਸਨ ਇਸ ਲਈ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਅੱਖਰੀ ਵਿਦਯਾ ਸਿਖਾਨ ਦਾ ਪੂਰਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਸੀ ਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਇਸਨੂੰ ਪੂਰਨ ਤੌਰ ਤੇ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕੀਤਾ, ਤੇ ਉਹ ਅੱਖਰੀ ਵਿਦਯਾ ਵਿਚ ਭੀ ਇਕ ਉੱਚੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ, ਮੰਨੇ ਪਰਮੰਨੇ ਲਿਖਾਰੀ ਅਤੇ ਅਨਭਵੀ ਕਵੀ ਸਨ।

ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਉੱਚੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਹੋਣ ਅਤੇ ਈਸ਼੍ਵਰੀ ਗਿਆਨ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਦਾ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਡਾ ਸਬੂਤ ਤਾਂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਸਤਿਗੁਰੂ ਅਰਜਨ ਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਨੂੰ ਈਸ਼੍ਵਰੀ ਗਿਆਨ ਅਤੇ ਵਿਦ੍ਵਤਾ ਦੇ ਲਿਹਾਜ ਨਾਲ ਇਤਨਾ ਉੱਚਾ ਸਮਝਿਆ ਕਿ ਕਲਯੁਗ ਦੇ ਬੋਹਥ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਉਸਨੂੰ ਦਰਜ ਕਰ ਦਿਤਾ।

ਦੂਜੇ ਇਹ ਸਬੂਤ ਹੈ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਬੜੇ ਬੜੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਭੀ ਜਦ ਧਰਮ ਚਰਚਾ ਕਰਨ ਆਉਂਦੇ ਸਨ ਤਾਂ ਇਨਾਂ ਦੀਆਂ ਵਿਦ੍ਵਤਾ ਭਰੀਆਂ ਦਲੀਲਾਂ ਸੁਣਕੇ ਨਿਰੁੱਤਰ ਕਰ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਸਨ ।

ਤੀਜਾ ਇਹ ਸਬੂਤ ਹੈ ਕਿ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮਰਹੱਟੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਬੇਅੰਤ ਅਭੰਗਾਂ ਦੀ ਜੋ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਪੁਸਤਕ ਹੈ ਉਹ ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰ ਦੇਸ਼ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਚਿਰ ਬੀ. ਏ. ਦੇ ਕੋਰਸ ਵਿਚ ਲਗੀ ਰਹੀ।

ਚੋਥੀ ਇਹ ਦਲੀਲ ਹੈ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਦਰਜ ਹੋਏ ਸ਼ਬਦਾਂ ਤੋਂ ਬਿਨਾਂ ਹੋਰ ਭੀ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਸ਼ਬਦ ਪੋਸੇ ਮਿਲਦੇ ਹਨ, ਜਿਨਾਂ ਨੂੰ ਭਗਤ ਜਨ ਬਹੁਤ ਪ੍ਰੇਮ ਅਤੇ ਮਗਨਤਾ ਵਿਚ ਗਾਉਂਦੇ ਸਨ।

ਪੰਜਵਾਂ ਪ੍ਰਮਾਣ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਉਕਤ ਸ਼ਬਦਾਂ ਅਤੇ ਮਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗਾਂ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਹੋਰ ਬਹੁਤ ਸਾਰੀਆਂ ਪੁਸਤਕਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀਆਂ ਰਚਤ ਹਨ ਜਿਨਾਂ ਵਿਚੋਂ ਕੁਛ ਥੋੜੇ ਜਿਹੇ ਨਾਮ ਹੇਠ ਲਿਖੇ ਮਿਲ ਸਕੇ ਹਨ।

(੧) ਧਰਮ ਸੰਗਤਾ। (੨) ਵੇਦਾਂਤ ਸਾਰ। (੩) ਗੀਤਾ ਭਾਸ਼ਾ। (੪) ਸ੍ਰੀ ਰਾਮਾਨੁਜ। (੫) ਵੇਦਾਂਤ ਸੰਗ੍ਰਹ। (੬) ਭਗਤ ਵਿਜਯ । (੭) ਵੇਦਾਂਤ ਦਿਪ। (੮) ਸੰਤ ਲੀਲਾ। (੯) ਕਥਾ ਕਲਪਤਰੂ ।

ਇਨਾਂ ਸੰਖੇਪ ਪਰਮਾਣਾਂ ਤੋਂ ਅਸੀ ਕਹਿ ਸਕਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਇਕ ਮੰਨੇ ਪਰਮੰਨੇ ਉੱਚ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਸਨ।

ਦੇਹੁਰਾ ਫਿਰਨਾ

ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਧਾਰਮਕ ਖਿਆਲਾਂ ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਅਸੀ ਖੋਲ ਕੇ ਦਸਿਆ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਆਜ਼ਾਦ ਖਿਆਲਾਂ ਦੇ ਸਨ ਤੇ ਉਸ ਸਮੇਂ ਦੇ ਸੁਾਰਥੀ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਦੇ ਸੁਾਰਥ ਦੀ ਕੱਲਈ ਖੋਲ ਦੇ ਸਨ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਤੰਗ ਦਿਲੀ, ਸੁਾਰਥ ਸਿੱਧੀ ਅਰ ਮਾਨੁਖ ਜਾਤੀ ਵਿਚ ਊਚ ਨੀਚਤਾ ਦੇ ਭੇਦ ਦੇ ਬਰਖਿਲਾਫ ਆਵਾਜ਼ ਬੁਲੰਦ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਇਸ ਲਈ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾ ਦਾ ਇਕ ਭਾਗ (ਗਰੋਹ) ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸਖਤ ਖਿਲਾਫ ਸੀ, ਉਸ ਸਮੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਜਾਲ ਵਿਚ ਲੋਕ ਇਤਨੇ ਫਸੇ ਪਏ ਸਨ ਕਿ ਘਰ ਘਰ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਦਾ ਹੁਕਮ ਚਲਦਾ ਸੀ, ਇਸ ਲਈ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਅਪਣੇ ਮੁਖਾਲਫਾਂ ਦੀ ਜ਼ਬਾਨ ਬੰਦ ਕਰਨ ਲਈ ਹਰ ਤ੍ਰਾਂ ਦੀ ਜਾਇਜ ਨਾਜਾਇਜ ਕੋਸ਼ਸ਼ ਕੀਤੀ, ਬਲਕੇ ਇਥੋਂ ਤਕ ਕਿ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਤਕ ਝੂਠੀਆਂ ਰਪੋਟਾਂ ਪੁਚਾਕੇ ਕਈ ਤਰਾਂ ਦੇ ਕਸ਼ਟ ਦਿਵਾਏ। ਭਗਤ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਜੋ ਤਸੀਹੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਵਲੋਂ ਦਿੱਤੇ ਗਏ ਸਨ ਉਹ ਸਭ ਇਨਾਂ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਦੀ ਹੀ ਕਿਰਪਾ ਸੀ, ਇਸਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਇਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਆਪਣੇ ਮੁਖਾਲਫਾਂ ਨੂੰ ਲੋਗਾਂ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿਚੋਂ ਗਿਰਾਉਣ ਲਈ ਹੋਰ ਕਈ ਤਰਾਂ ਦੇ ਯਤਨ ਕੀਤੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਯਤਨਾਂ ਦਾ ਹੀ ਨਤੀਜਾ ਸੀ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਸਬੰਧੀ ਲੋਗਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਵਿਚ ਕਈ ਗਲਤ ਗੱਲਾਂ ਅਤੇ ਝੂਠੇ ਖਿਆਲ ਭਰ ਗਏ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਖਿਆਲਾਂ ਦੇ ਆਸਰੇ ਹੀ ਕਈ ਇਤਹਾਸਕਾਰਾਂ ਨੇ ਗਲਤੀਆਂ ਖਾਧੀਆਂ ਤੇ ਜੋ ਮੂੰਹ ਆਇਆ ਸੋ ਲਿਖ ਮਾਰਿਆ, ਉਸ ਅਸਰ ਹੇਠ ਦਬੇ ਹੋਏ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਨੇ 'ਦੇਹੁਰਾ ਫਿਰਨ" ਵਾਲੇ ਪ੍ਰਸੰਗ ਨੂੰ ਬਹੁਤ ਵਿਗਾੜ ਕੇ ਲਿਖਿਆ ਹੈ, ਕਿਸੇ ਲਿਖਾਰੀ ਨੇ ਤਾਂ ਇਹ ਲਿਖ ਦਿਤਾ ਕਿ ਚੂੰਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਜਿਸ ਜਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਸਨ ਉਸ ਜਾਤੀ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਜਾਣ ਦਾ ਅਧਕਾਰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੀ. ਇਸ ਲਈ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਦਾਖਲ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੋਣ ਦਿਤਾ ਗਿਆ, ਕਈ ਆਖਦੇ ਹਨ ਕਿ ਚੂੰਕਿ ਭਗਤ ਦੀ ਪ੍ਰੇਮ ਵਿਚ

ਮਗਨ ਹੋਕੇ ਛੈਣਿਆਂ ਦੀ ਥਾਂ ਚਰਨ ਦਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਵਜਾਂਉਣ ਲਗ ਪਏ ਸਨ, ਇਸ ਲਈ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਜਾਣ ਤੋਂ ਰੋਕ ਦਿਤਾ ਗਿਆ, ਏਹ ਦੋਨੋਂ ਖਿਆਲ ਇਕ ਦੂਜੇ ਦੀ ਤਰਦੀਦ ਕਰਦੇ ਹਨ; ਕਿਉਂਕਿ ਇਕ ਤਾਂ ਆਖਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਾਤ ਪਾਤ ਦੇ ਖਿਆਲ ਨਾਲ ਅੰਦਰ ਨਹੀਂ ਜਾਣ ਦਿਤਾ ਗਿਆ, ਤੇ ਦੂਜਾ ਆਖਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਾਤ ਦਾ ਕੋਈ ਸੰਸਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੀ ਕੇਵਲ ਛੈਣਿਆਂ ਦੀ ਥਾਂ ਛਿੱਤ੍ਰ ਵਜਾਉਣ ਕਰਕੇ ਰੋਕਿਆ ਗਿਆ।

ਛੈਣਿਆਂ ਦੀ ਥਾਂ ਹੋਰ ਕੁਛ ਵਜਾਉਣ ਦੀ ਤਰਦੀਦ ਤਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਮੁਖ ਵਾਕ ਤੋਂ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਉਹ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ—

"ਭਗਤ ਕਰਤ ਮੇਰੇ ਤਾਲ ਛਿਨਾਏ"।

ਅਰਥਤ ਭਗਤੀ (ਕੀਰਤਨ) ਕਰ ਦਿਆਂ ਮੇਰੇ "ਛੈਣੇ" ਖੋਹ ਲਏ ਇਸ ਵਾਕ ਵਿਚ ਛੈਣਿਆਂ ਦੀ ਥਾਂ ਹੋਰ ਕਿਸੇ ਚੀਜ ਦਾ ਨਾਮ ਜਾਂ ਉਨਾਂ ਦੇ ਕਾਰਨ ਰੁਕਾਵਟ ਦਾ ਕੋਈ ਜ਼ਿਕਰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਖੋਹ ਲੈਣ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਹੈ। ਬ੍ਰਾਹਮਣਾ ਨੇ ਛਿੱਤਰ ਖੋਹਕੇ ਨਹੀਂ ਸੀ ਲੈਂ ਜਾਣੇ। ਬਾਕੀ ਰਹੀ ਜ਼ਾਤ, ਇਹ ਗਲ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਐਸੀ ਜਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਸਨ ਜਿਸਨੂੰ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਜਾਣ ਦੀ ਆਗਿਆ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੀ,ਇਹ ਬਿਲ ਕੁਲ ਗਲਤ ਹੇ ਕਿਉਂਕਿ ਅਸੀ "ਜ਼ਾਤ" ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਸਾਬਤ ਕਰ ਚੁਕੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਜ਼ਾਤ "ਖਸ਼ਤ੍ਰੀ" ਸੀ ਤੇ ਖਸ਼ਤ੍ਰੀਆਂ ਨੂੰ ਕਿਤੇ ਰੁਕਾਵਟ ਨਹੀਂ, ਨਾਲੇ ਵਾਕਿਆਤ ਦਸਦੇ ਹਨ ਕਿ ਭਗਤ ਜ਼ੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਰੋਜ ਮੰਦਰ ਜਾਕੇ ਠਾਕਰ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਭਾਈ ਸਾਹਬ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਅਪਣੀ ਬਾਣੀ ਵਿਚ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ ਕਿ :—

ਕੰਮ ਕਿਤੇ ਪਿਉ ਚਲਿਆ ਨਾਮ ਦੇਵ ਨੂੰ ਆਖ ਸੁਣਾਇਆ।
ਠਾਕਰ ਦੀ ਪੂਜਾ ਕਰੀਂ ਦੁਧ ਪਿਆਵਣ ਕਹਿ ਸਮਝਾਇਆ।

ਇਸ ਤੋਂ ਸਿਧ ਹੂੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਨਿੱਤ

ਨੇਮ ਨਾਲ ਠਾਕਰ ਜੀ ਦੀ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਜਦ ਉਹ ਬਾਹਰ ਚਲੇ ਤਾਂ ਪੁਤ੍ਰ ਨੂੰ ਤਾਕੀਦ ਕਰ ਗਏ ਕਿ ਤੂੰ ਕੱਲ ਪੂਜਾ ਕਰੀਂ ਤਾਕਿ ਨਿੱਤਨੇਮ ਵਿਚ ਫਰਕ ਨਾ ਪੈ ਜਾਵੇ।

ਫੇਰ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਅਪਣੇ ਪਿਤਾ ਜੀ ਦੇ ਹੁਕਮ ਨੂੰ ਪੂਰਾ ਕੀਤਾ ਜਿਸ ਸਬੰਧੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬਜੀ ਵਿਚ ਇਸਤ੍ਰਾਂ ਲਿਖਿਆ ਹੈ-

ਦੂਧ ਕਟੋਰੈ ਗਡਵੈ ਪਾਨੀ ਕਪਲ ਗਾਇ ਨਾਮੈ ਦੁਹਿ ਆਨੀ ॥੧॥
ਦੂਧ ਪੀਉ ਗੋਬਿੰਦੇ ਰਾਇ। ਦੂਧ ਪੀਉ ਮੇਰਾ ਮਨ ਪਤੀਆਇ ॥
ਨਾਹੀ ਤ ਘਰ ਕੋ ਬਾਪ ਰੀਸਾਇ ॥ ੧ ॥ ਰਹਾਉ
ਸੋਇਨ ਕਟੋਰੀ ਅਮ੍ਰਿਤ ਭਰੀ। ਲੈ ਨਾਮੈ ਹਰਿ ਆਗੈ ਧਰੀ ॥੨॥
ਏਕ ਭਗਤ ਮੇਰੇ ਹਿਰਦੇ ਬਸੈ। ਨਾਮੇ ਦੇਖ ਨਾਰਾਇਣ ਹਸੈ ॥ ੩ ॥
ਦੂਧ ਪਿਆਇ ਭਗਤ ਘਰ ਗਇਆ। ਨਾਮੇ ਹਰਿ ਕਾ ਦਰਸ਼ਨ ਭਇਆ

ਪਹਿਲਾਂ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀਆਂ ਪੰਗਤੀਆਂ ਤੋਂ ਤਾਂ ਅਸਾਂ ਸਿੱਧ ਕੀਤਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪਿਤਾ ਨਿਤਨੇਮ ਨਾਲ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਫੇਰ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦੀ ਬਾਣੀ ਤੋਂ ਪ੍ਰਗਟ ਹੋ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਭੀ ਠਾਕਰ ਪੂਜਾ ਕੀਤੀ।

ਉਕਤ ਸ਼ਬਦ ਵਿਚ ਸੋਇਨ ਕਟੋਰੀ (ਸੋਨੇ ਦਾ ਭਾਂਡਾ)

"ਕਪਲ ਗਊ" ਆਦ ਐਸੀਆਂ ਵਸਤੂਆਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਹੈ ਜੋ ਕੇਵਲ ਪੂਜਾ ਦੇ ਹੀ ਕੰਮ ਆਉਂਦੀਆਂ ਹਨ ਜਿਸ ਤੋਂ ਸਾਬਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਪ੍ਰਵਾਰ ਦੇ ਆਦਮੀ ਨਿੱਤਪ੍ਰਤਿ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਸਨ ਤੇ ਉਹ ਹਰਗਿਜ਼ ਐਸੀ ਜਾਤੀ ਵਿਚੋਂ ਨਹੀਂ ਸਨ ਜਿਸਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਜਾਣ ਜਾਂ ਪੂਜਾ ਕਰਨ ਦੀ ਰੁਕਾਵਟ ਸੀ।

ਹੁਣ ਅਸੀ ਇਸ ਗੱਲ ਦੀ ਪਰਚੋਲ ਕਰਨੀ ਹੈ ਕਿ ਕੁਛ ਲੇਖਕਾਂ ਨੇ ਜੋ ਇਹ ਲਿਖ ਦਿਤਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅਥਵਾ ਦੇਹੁਰੇ ਵਿਚ ਦਾਖਲ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੋਣ ਦਿਤਾ ਗਿਆ ਇਹ ਕਿੱਥੋਂ ਤਕ ਠੀਕ ਹੈ ?

ਭਗਤ ਜੀ ਇਸ ਪ੍ਰਸੰਗ ਸਬੰਧੀ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ ॥

ਹਸਤ ਖੇਲਤ ਤੇਰੇ ਦੇਹੁਰੇ ਆਇਆ ।
ਭਗਤ ਕਰਤ ਨਾਮਾ ਪਕੜ ਉਠਾਇਆ ॥

ਭਗਤ ਜੀ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਜਾਣ ਦੀ ਰੁਕਾਵਟ ਦਾ ਕੋਈ ਜ਼ਿਕਰ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ, ਬਲਕੇ ਉਕਤ ਪੰਗਤੀਆਂ ਵਿਚ ਸਾਫ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਕਿ–

ਮੈਂ ਹਸਦਾ ਖੇਲਦਾ ਅਰਥਾਤ ਖੁਸ਼ੀ ਖੁਸ਼ੀ ਤੇਰੇ ਦੇਹੁਰੇ ਅਥਵਾ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਆਗਿਆ, ਫੇਰ ਆਕੇ ਬੈਠ ਭੀ ਗਿਆ ਤੇ ਭਗਤੀ (ਕੀਰਤਨ) ਕਰਨ ਲਗ ਪਿਆ. ਪ੍ਰੰਤੂ ਕੀਰਤਨ ਕਰਦਿਆਂ ਨੂੰ ਉਠਾ ਦਿਤਾ, ਲਿਖਿਆ ਹੈ –

ਭਗਤ ਕਰਤ ਮੇਰੇ ਤਾਲ ਛਿਨਾਏ ।

ਅਰਥਾਤ ਭਗਤੀ (ਕੀਰਤਨ) ਕਰ ਦਿਆਂ ਦੇ ਮੇਰੇ ਛੈਣੇ ਖੋਹ ਲਏ ਇਨਾਂ ਵਾਕਾਂ ਵਿਚ ਕਿਤੇ ਭੀ ਜ਼ਿਕਰ ਨਹੀਂ ਆਇਆ ਕਿ ਮੈਨੂੰ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਦਾਖਲ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੋਣ ਦਿਤਾ ਗਿਆ, ਬਲਕੇ ਇਥੇ ਤਾਂ ਸਾਫ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਮੈਂ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਖੁਸ਼ੀ ਖੁਸ਼ੀ ਗਿਆ ਤੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨ ਲਗ ਪਿਆ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਕੀਰਤਨ ਕਰਦਿਆਂ ਦੇ ਛੈਣੇ ਖੋਹ ਲੀਤੇ ਤੇ ਪਕੜਕੇ ਉਠਾ ਦਿਤਾ ।

ਮਰਹੱਟੀ ਜ਼ਬਾਨ ਦੀ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਪੁਸਤਕ "ਅਭੀਨਵ ਭਗਤ ਵਿਜੇ" ਜਿਸਨੂੰ 'ਮਹਾਂ ਪਤੀ' ਜੀ ਨੇ ਸੰ: ੧੭੧੫ ਈਸਵੀ ਵਿਚ ਲਿਖਿਆ। ਦੀਸੰਨ ੧੯੩੦ ਵਿਚ ਰਾਮ ਤਤੂ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ ਪ੍ਰਿੰਟਿੰਗ ਪ੍ਰੇਸ ਬਲਗਾਮ ਵਿਚ ਛਪੀ ਨਵੀਨ ਐਡੀਸ਼ਨ ਦੇ ਸਫਾ ੧੪੯ ਪਰ ' ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਮੰਦਰ ਫਿਰਾਇਆ" ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਹੇਠ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ–

ਮਹਾਂ ਸ਼ਿਵ ਰਾਤ੍ਰੀ ਦੇ ਦਿਨ 'ਅਵੰਡਾ ਨਾਗ ਨਾਥ' ਜੀ ਦੇ ਮੰਦਰ ਵਿਚ ਭਗਤ ਜੀ ਗਏ ਅਤੇ ਅੰਦਰ ਜਾਕੇ ਡੰਡੌਉਤ ਕੀਤੀ ਤੇ ਠਾਕਰ ਮੂਰਤੀ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਬੈਠਕੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨ ਲਗ ਪਏ, ਉਹ (ਭਗਤ) ਜੀ ਕੀਰਤਨ ਵਿਚ ਐਸੇ ਲੀਨ ਹੋਏ ਕਿ ਬਦੇਹ ਮੂਰਤ ਹੋ ਗਏ, ਅਰਥਾਤ

ਅਪਣਾ ਆਪ ਭੁਲ ਗਏ ਇਸ ਪ੍ਰੇਮ ਰਸ ਦੇ ਚੱਖਣ ਵਾਲੇ ਬਹੁਤ ਆਦਮੀ ਜਮਾ ਹੋ ਗਏ ਤੇ ਸਖਤ ਭੀੜ ਹੋ ਗਈ ਇਸ ਪਰ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ (ਪੁਜਾਰੀਆਂ ਨੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਕਿਹਾ ਕਿ ਇਕ ਤਾ ਰਾਤ ਬਹੁਤ ਚਲੀ ਗਈ ਹੈ ਦੂਜੇ ਭੀੜ ਬਹੁਤ ਹੋ ਗਈ ਹੈ ਇਸ ਲਈ ਅਪਣਾ ਕੀਰਤਨ ਬੰਦ ਕਰੋ, ਪਰੰਤੂ ਭਗਤ ਜੀ ਪ੍ਰੇਮ ਦੀ ਤਾਰ ਵਿਚ ਬੱਧੇ ਹੋਏ ਸਨ ਉਨਾਂ ਨੇ ਕੁਛ ਨਾ ਸੁਣਿਆ ਤੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਦੇ ਰਹੇ, ਜਿਸਤੇ ਪੁਜਾਰੀ ਬਹੁਤ ਗੁੱਸੇ ਵਿਚ ਆ ਗਏ ਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਹੱਥੋਂ ਛੈਣੇ ਖੋਹ ਲਏ ਅਰ ਮੰਦਰ ਦੇ ਬਾਹਰ ਕੱਢ ਦਿਤਾ, ਸਭ ਖਲਕਤ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਬਾਹਰ ਚਲੀ ਗਈ, ਭਗਤਜੀਨੇ ਮੰਦਰਦੇ ਪਿਛਲ ਪਾਸੇ ਬੈਠਕੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨਾ ਸ਼ੁਰੂ ਕੀਤਾ, ਤਦ ਐਂਉਂ ਮਾਲੂਮ ਹੋਇਆ ਕਿ ਅਸਮਾਨ ਤੋਂ ਲੱਖਾਂ ਧੁਜਾਂ ਉਤਰੀਆਂ ਅਰ ਮੰਦਰ ਦਾ ਮੂੰਹ ਫਿਰ ਗਿਆ, ਅਰਥਾਤ ਮੰਦਰ ਦਾ ਦਰਵਾਜ਼ਾ ਪੂਰਬ ਤੋਂ ਹਟ ਕੇ ਪੱਛਮ ਵਲ ਹੋਗਿਆ, ਜਦ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਨੇ ਇਹ ਗੱਲ ਦੇਖੀ ਤਾਂ ਬਹੁਤ ਸ਼ਰਮਿੰਦੇ ਹੋਏ ਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਚਰਨੀ ਪਏ।

ਇਨ੍ਹਾਂ ਪ੍ਰਮਾਣਾਂ ਤੋਂ ਸਿੱਧ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਦ ਅੰਦਰ ਜਾਣ ਤੋਂ ਕਿਸੇ ਨੇ ਨਹੀਂ ਰੋਕਿਆ ਬਲਕੇ ਉਹ ਖੁਸ਼ੀ ਖੁਸ਼ੀ ਅੰਦਰ ਗਏ ਤੇ ਡੰਡਉਤ ਕਰਕੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨ ਲਗ ਪਏ, ਹੁਣ ਵਿਚਾਰ ਇਸ ਗੱਲ ਤੇ ਕਰਨੀ ਹੈ ਕਿ ਅੰਦਰ ਕੀਰਤਨ ਕਰਦਿਆਂ ਨੂੰ ਉਠਾ ਕਿਉਂ ਦਿਤਾ ਗਿਆ, ਉਸਦੇ ਦੋ ਕਾਰਨ ਮਾਲੂਮ ਹੁੰਦੇ ਹਨ ਇਕ ਇਹ, ਜੋ ਉੱਪਰ ਮਰਹੱਟੀ ਪੁਸਤਕ ਵਿਚੋਂ ਲਿਖਿਆਂ ਹੈ ਕਿ ਇਨਾਂ ਦੇ ਕੀਰਤਨ ਕਰਕੇ ਭੀੜ ਬਹੁਤ ਹੋ ਗਈ, ਅਰ ਭੀੜ ਦੇ ਕਾਰਨ ਪੁਜਾਰੀਆਂ ਦੀ ਪੂਜਾ ਵਿਚ ਫਰਕ ਪੈਂਦਾ ਹੋਵੇਗਾ ਜਾਂ ਸਮਾ ਬਹੁਤ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਦੀ ਨੀਂਦਰ ਵਿਚ ਖਲਲ ਪੈਂਦਾ ਹੋਵੇਗਾ।

ਦੂਜਾ ਇਹ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਜੋ ਕੀਰਤਨ ਕਰਦੇ ਸਨ ਉਹ ਪੁਜਾ-ਰੀਆਂ ਦੇ ਅਨਕੂਲ ਨਹੀਂ ਸੀ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਤਾਂ ਗਾਉਂਦੇ ਹੋਣਗੇ—

ਆਜ ਨਾਮੇ ਬੀਰਲ ਦੇਖਿਆ, ਮੂਰਖ ਕੇ ਸਮਝਾਉ ਰੇ ॥ ਰਹਾਉ ॥

ਪਾਂਡੇ ਤੁਮਰੀ ਗਾਂਇਤ੍ਰੀ ਲੋਧੇ ਕਾ ਖੇਤ ਖਾਤੀ ਥੀ।

ਲੈ ਕਰ ਠੇਂਗਾਂ ਟੰਗਰੀ ਤੋਰੀ ਲਾਂਗਤ ਲਾਂਗਤ ਜਾਤੀ ਥੀ।

ਪਾਂਡੇ ਤੁਮਰਾ ਮਹਾਂ ਦੇਉ ਧਉਲੇ ਬਲਦ ਚੜਿਆ ਆਵਤ ਦੇਖਆ ਥਾ।

ਮੋਦੀ ਦੇ ਘਰ ਖਾਨਾ ਪਾਕਾ ਵਾਕਾ ਲੜਿਕਾ ਮਾਰਿਆ ਥਾ ॥ ੨ ॥

ਪਾਂਡੇ ਤਮਰਾ ਰਾਮਚੰਦ ਸੋ ਭੀ ਆਵਤ ਦੇਖਿਆ ਥਾ।

ਰਾਵਨ ਸੇਤੀ ਸਰ ਬਰ ਹੋਈ ਘਰ ਕੀ ਜੋਇ ਗਵਾਈ ਥੀ ॥ ੩ ॥

ਹਿੰਦੂ ਅੰਨਾ ਤੁਰਕੁ ਕਾਣਾ ਦੁਹਾਂ ਤੇ ਗਿਆਨੀ ਸਿਆਣਾ।

ਹਿੰਦੂ ਪੂਜੇ ਦੇਹੁਰਾ ਮੁਸਲਮਾਨ ਮਸੀਤ

ਨਾਮੇ ਸੋਈ ਸੇਵਿਆ ਜਹਿ ਦੇਹੁਰਾ ਨ ਮਸੀਤ ॥ ੪ ॥ ੨੫੭ ॥

ਐਸੇ ਪਾਖੰਡ ਖੰਡਨ ਖਿਆਲਾਂ ਦਾ ਪ੍ਰਚਾਰ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਨੂੰ ਮੁਆਫਕ ਨਹੀਂ ਸੀ ਤੇ ਐਸੇ ਭਰਮ ਤੋੜ ਖਿਆਲਾਂ ਨੇ ਬ੍ਰਾਹਮਣਾਂ ਦੇ ਗੁੱਸੇ ਨੂੰ ਬਹੁਤ ਤੇਜ਼ ਕਰ ਦਿਤਾ ਅਰ ਉਹ (ਬ੍ਰਾਹਮਣ) ਇਹ ਖਿਆਲ ਕਰਕੇ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਸਾਡੇ ਪੂਜਨੀਯ ਦੇਵਤਿਆਂ ਦੀ ਨਿਰਾਦਰੀ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਗਾਲਾਂ ਪਰ ਉਤਰ ਆਏ ਅਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਸ਼ਾਨ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਕਬੋਲ ਬੋਲਣ ਲਗ ਪਏ, ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਕੀ ਕੀ ਕੁਬਚਨ ਕਹੇ ਉਨਾਂ ਵਿਚੋਂ ਕੁਛ ਇਸ ਸ਼ਬਦ ਤੋਂ ਪ੍ਰਗਟ ਹੁੰਦੇ ਹਨ।

ਮਲਾਰ ॥ ਮੋਕਉ ਤੂ ਨ ਬਿਸਾਰ ਤੂ ਨ ਬਿਸਾਰ ਤੂ ਨ ਬਿਸਾਰੇ ਰਾਮਈਆ ॥ ੧ ॥ ਰਹਾਉ॥

ਆਲਾ ਵੰਤੀ ਇਹ ਭਰਮ ਜੋ ਹੈ ਮੁਝ ਊਪਰ ਸਭ ਕੋਪਿਲਾ।

ਸੂਦ ਸੂਦ ਕਰ ਮਾਰ ਉਠਾਇਓ ਕਹਾ ਕਰਉ ਬਾਪ ਬੀਨਲਾ ॥੧॥

ਮੂਏ ਹੁਏ ਜੋ ਮੁਕਤਿ ਦੇਹੁਗੇ ਮੁਕਤਿ ਨਾ ਜਾਨੇ ਕੋਇਲਾ।

ਏ ਪੰਡੀਆ ਮੋਕਉ ਢੇਢ ਕਹਿਤ ਕੇ ਤੇਰੀ ਪੈਜ ਪਿਛਉਡੀ ਹੋਇਲਾ ॥੨।

ਤੂੰ ਜੋ ਦਇਆਲ ਕਿਰਪਾਲ ਕਹੀਅਤ ਹੈ ਅਤਿ ਭੁਜ ਭਇਓ ਅਪਾਰਲ਼ਾ

ਫੇਰ ਦੀਆ ਦੇਹੁਰਾ ਨਾਮੇ ਕਉ, ਪੰਡੀਅਨ ਕਉ ਪਿਛਵਾਰਲਾ ॥੩॥

ਸ੍ਰੀ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ, ਬ੍ਰਾਹਮਣਾ ਵੱਲੋਂ ਕੀਤੀ ਹੋਈ ਨਿਰਾਦਰੀ ਤੇ ਗਾਂਲਾਂ ਮੰਦੇ ਸੁਣਕੇ ਦੇਹੁਰੇ ਦੇ ਪਿਛਲੇ ਪਾਸੇ ਬੈਠਕੇ ਉਸ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਅਗੇ ਪੁਕਾਰ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਹੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ! ਇਹ ਪੰਡਤ ਜੋ ਮਰਜ਼ੀ ਕਰਨ ਮੈਨੂੰ ਕੋਈ ਪਰਵਾਹ ਨਹੀਂ ਪਰ ਮੈਨੂੰ ਤੂੰ ਨਾ ਵਿਸਾਰੀ ਜਾਂ ਮੈਨੂੰ ਤੂੰ ਨਾ ਵਿਸਰ ਜਾਵੀਂ।

ਇਨਾਂ ਪੰਡਤਾਂ ਨੂੰ ਭਰਮ ਹੋਗਿਆ ਹੈ ਤੇ ਮੇਰੇ ਪਰ ਕਰੋਧ ਕਰ ਰਹੇ ਹਨ। ਕਿਉਂਕਿ ਇਨਾਂ ਨੂੰ ਮੇਰੇ ਪਰ ਵਹਿਮ ਹੋ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਮੈਂ ਇਨਾਂ ਦੇ ਦੇਵਤਿਆਂ ਦੀ ਨਿੰਦਾ ਕਰਦਾ ਹਾਂ, ਇਸ ਲਈ ਇਹ ਮੈਨੂੰ ਗਾਲਾਂ ਕੱਢਦੇ ਹਨ, ਕਦੀ ਮੈਨੂੰ ਸੂਦ ਸੁਦ ਆਖਕੇ ਮਾਰਦੇ ਹਨ, ਕਦੀ ਮੈਨੂੰ ਢੇਢ (ਚੁਮਾਰ) ਆਖਦੇ ਹਨ,ਇਨਾਂ ਗਲਾਂ ਨਾਲ ਮੇਰਾ ਤਾਂ ਕੁਛ ਨਹੀਂ ਵਿਗ-ੜਨਾ ਤੇਰੀ ਪੈਜ (ਇੱਜ਼ਤ) ਘਟੇਗੀ, ਕਿਉਂਕਿ ਮੈਂ ਤਾਂ ਤੇਰਾ ਭਗਤ ਹਾਂ ਤੇ ਤੇਰਾ ਕਹਾਉਂਦਾ ਹੈ।

ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਇਹ ਪੁਕਾਰ ਸੁਣਕੇ ਉਸ ਸਰਬ ਸ਼ਕਤੀਮਾਨ ਨੇ ਦੇਹੁਰਾ (ਮੰਦਰ) ਨਾਂਮਦੇਵ ਜੀ ਵਲ ਫੇਰ ਦਿਤਾ ਅਤੇ ਪਿਛਾੜੀ ਪੰਡਤਾਂ ਵਲ ਕਰ ਦਿੱਤੀ।

ਇਸ ਸ਼ਬਦ ਵਿਖ ਭੀ "ਮਾਰ ਉਠਾਇਓ" ਆਇਆ ਹੈ ਜਿਸ ਤੋਂ ਸਾਬਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਅੰਦਰ ਕੀਰਤਨ ਕਰ ਰਹੇ ਸਨ ਤਾ ਉਠਾ ਦਿਤੇ ਗਏ, ਸੋ ਸਿੱਧ ਹੋਇਆ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਅੰਦਰ ਦਾਖਲ ਹੀ ਨਾ ਹੋਣ ਦਿਤਾ ਗਿਆ ਵਾਲਾ ਖਿਆਲ ਬਿਲਕੁਲ ਗਲਤ ਹੈ।

ਆਤਮਕ ਬਲ ਯਾ ਕਰਾਮਾਤਾਂ

ਅਸੀਂ ਈਸ਼ੂਰ ਭਗਤੀ ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਦਸ ਹੁਕੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਈਸ਼ਰ ਭਗਤੀ ਵਿਚ ਹਰ ਸਮੇ ਇਤਨੇ ਮਾਹਬ (ਲੀਨ)

ਰਹਿੰਦੇ ਸਨ ਕਿ ਉਹ ਅਪਣਾ ਆਪ ਹੀ ਭੁਲਾ ਬੈਠਦੇ ਸਨ, ਤੇ ਅਸਲ ਵਿਚ ਤਾਂ ਉਹ, ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਨਾਲ ਇਕ ਰੂਪ ਹੋ ਗਏ ਸਨ ।

ਯਥਾ—ਸਗਲ ਕਲੇਸ਼ ਨਿੰਦਕ ਭਇਆ ਖੇਦ ।
ਨਾਮੇ ਨਾਰਾਇਣ ਨਾਹੀ ਭੇਦ ॥

ਜਿਸਤ੍ਰਾਂ—ਹਰ ਹਰ ਜਨ ਦੋਇ ਏਕ ਹੈ ਬਿਬ ਬਿਚਾਰ ਕਛੁ ਨਾਹਿ ।

ਜਦ ਮਾਨੁਖ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਐਨੀ ਉੱਚੀ ਹੋ ਜਾਵੇ ਤਾਂ ਉਸਦੀ ਆਤਮਾ ਬਲਵਾਨ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਹੈ, ਚੂੰਕਿ ਉਸਦੇ ਲੂੰ ਲੂੰ ਵਿਚ ਉਹ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਰਚਿਆ ਹੋਇਆ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਇਸ ਲਈ ਉਹ ਜੋ ਬੋਲ ਬੋਲਦਾ ਹੈ ਉਹ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦਾ ਬੋਲ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਐਸੇ ਵਾਕਾਂ ਨੂੰ ਹੀ ਲੋਕ 'ਆਕਾਸ਼ ਬਾਣੀ' ਜਾਂ 'ਇਲਹਾਮ' ਆਖਦੇ ਹਨ ਤੇ ਜੋ ਅਕਾਸ਼ ਬਾਣੀ ਹੋਵੇ ਉਹ ਅਟੱਲ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ।

ਐਸੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਨੂੰ ਜੋ ਫੁਰਨਾ ਫੁਰਦਾ ਹੈ ਜਾਂ ਸੁਤੇ ਸਿੱਧ ਮੂੰਹ ਤੋਂ ਵਾਕ ਨਿਕਲ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ਉਹ ਅਪਣੇ ਆਪ ਹੀ ਸੱਤ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਹੈ'।

ਯਥਾ—ਸੇਵਕ ਕਉ ਨਿਕਟੀ ਹੋਇ ਦਿਖਾਵੇ, ਜੋ ਜੋ ਸੇਵਕ ਕਹੇ ਸੁਆਮੀ ਪੈ ਤਤ ਕਾਲ ਹੁਇ ਆਵੈ ।

ਬਸ ਇਸ ਦਸ਼ਾ ਵਿਚ ਪਹੁੰਚ ਚੁਕੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਜਦ ਭੀ ਕੋਈ ਗਲ ਚਿਤਵਦੇ ਹਨ ਅਥਵਾ ਉਨਾਂ ਦੇ ਅੰਤਹ ਕਰਨ ਵਿਖੇ ਕੋਈ ਫੁਰਨਾ ਫੁਰਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਉਹ ਸਰਬ ਸ਼ਕਤੀ ਮਾਨ ਉਸ ਕਾਰਜ ਨੂੰ ਸੁਤੇ ਸਿੱਧ ਹੀ ਕਰ ਦਿੰਦਾ ਹੈ, ਬਲਕੇ ਕਈ ਵਾਰੀ ਤਾਂ ਉਸ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਦੇ ਅੰਦਰ ਫੁਰਨਾ ਭੀ ਨਹੀਂ ਫੁਰਦਾ ਸਗੋਂ ਉਹ ਸਰਬ ਵਿਆਪੀ ਆਪਣੇ ਆਪ ਹੀ ਕੋਈ ਚਮਤਕਾਰ ਦਿਖਾ ਦਿੰਦਾ ਹੈ, ਜਿਸਤ੍ਰਾਂ ਰੁਹਲ ਖੰਡ ਦੇ ਗੁਲਾਮ ਫਰੋਸ਼ਾਂ ਨੇ ਦੀਨ ਦੁਨੀ ਦੇ ਥੰਮ ਸਤਿਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਪਾਣੀ ਭਰਨ ਭੇਜਿਆ ਤਾਂ ਖੂਹਾਂ ਦਾ ਪਾਣੀ ਹੀ ਸੁਕ ਗਿਆ, ਜਾਂ ਮਰਦਾਨੇ ਨੂੰ ਪਾਣੀ ਨਾ ਦੇਣ ਕਰਕੇ ਵਲ ਕੰਧਾਰੀ ਦਾ ਚਸ਼ਮਾ ਹੀ ਹੇਠਾਂ ਨੂੰ ਵਗਾ ਦਿਤਾ,

ਜਾਂ ਅਰਬ ਦੇਸਦੇ ਆਦਮੀਆਂਦਾ ਅਗਿਆਨ ਦੂਰ ਕਰਨ ਲਈ ਮੱਕੇ ਦਾ ਮੂੰਹ ਹੀ ਫੇਰ ਦਿਤਾ। ਇਹੋ ਜੇਹੇ ਕੌਤਕ ਦਖਕੇ ਸੰਸਾਰੀ ਜੀਵ ਇਸਨੂੰ ਕਰਾਮਾਤਾਂ ਆਖਣ ਲਗ ਪੈਂਦੇ ਹਨ ਪਰ ਇਹ ਕਾਰਜ ਕੁਦਰਤ ਆਪ ਹੀ ਕਰਦੀ ਹੈ।

ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਕਈ ਵਾਕਿਆ ਐਸੇ ਆਉਂਦੇ ਹਨ। ਚੂੰਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਬਹੁਤ ਉੱਚੀ ਸੀ, ਸੋ ਐਸੇ ਕੰਮਾਂ ਦਾ ਸੁਤੇ ਸਿੱਧ ਹੀ ਹੋ ਜਾਂਣਾ ਸਾਧਾਰਨ ਗਲ ਸੀ, ਪਰ ਕਈ ਪ੍ਰੇਮ ਤੋਂ ਸਖਣੇ ਅਤੇ ਈਸ਼੍ਵਰ ਭਗਤੀ ਤੋਂ ਖਾਲੀ ਆਦਮੀ ਇਨਾਂ ਗੱਲਾਂ ਪਰ ਯਕੀਨ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ, ਜਿਜਤ੍ਰਾਂ ਖਾਲਸਾ ਟਰੈਕਟ ਸੁਸਾਇਟੀ ਅਮ੍ਰਤਸਰ ਦੇ ਲੇਖਕ ਨੇ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਆਏ ਐਸੇ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਪਰ ਟੀਕਾ ਟਿਪਣੀ ਕੀਤੀ ਹੈ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਜੇ ਕਿਤੇ ਉਹ ਸ੍ਰੀਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦਾ ਪਾਠ ਕਰ ਲੈਂਦਾ ਤਾਂ ਕਦੀ ਕਿੰਤੂ ਨਾ ਕਰਦਾ, ਅਸੀਂ ਇਹ ਸਾਰੇ ਪ੍ਰਸੰਗ ਬਾਣੀ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣਾ ਸਹਿਤ ਲਿਖਾਂਗੇ।

ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਹਾਲਾਂ ਬਹੁਤ ਛੋਟੀ ਸੀ ਤਾਂ ਉਹ ਬਲ ਰਹੀ ਅੱਗ ਵਾਲੇ ਚੁੱਲੇ ਵਿਚ ਜਾ ਪਏ ਤਾਂ ਅੱਗ ਸ਼ਾਂਤ ਹੋ ਗਈ, ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਆਪ ਸ਼ਾਂਤ ਰੂਪ ਸਨ।

ਜਦ ਆਪ ਬਾਲਕਾਂ ਨਾਲ ਖੇਲ ਰਹੇ ਸਨ ਤਾਂ ਉਧਰੋਂ ਇਕ ਸ਼ੇਰ ਆਗਿਆ ਜਿਸਨੂੰ ਦੇਖਕੇ ਸਭ ਬਾਲਕ ਨੱਸ ਗਏ ਪਰ ਆਪਨੇ ਉਸਦੇ ਗਲ ਨੂੰ ਜੱਫੀ ਪਾ ਲਈ ਤੇ ਓਸੇ ਵਿਚੋਂ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਸਾਖਯਾਤ ਦਰਸ਼ਨ ਕੀਤੇ।

ਜਦੋਂ ਪਿਤਾ ਬਾਹਰ ਚੱਲਿਆ ਤਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਤਾਕੀਦ ਕੀਤੀ ਕਿ ਮੇਰ ਪਿਛੋਂ ਤੂੰ ਹੀ ਪੂਜਾ ਕਰੀਂ, ਜਦ ਆਪ ਪੂਜਾ ਕਰਨ ਗਏ ਤਾਂ ਸਾਖ-ਯਾਤ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਚਰਨਾਂ ਵਿਚ ਐਸਾ ਮਨ ਜੋੜਿਆ ਕਿ ਉਸਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾ ਦੀ ਭੇਟ (ਦੁਧ) ਪ੍ਰਵਾਨ ਕਰਨੀ ਪਈ ਤੇ ਸਾਖਆਤ ਹੋਕੇ ਦਰਸ਼ਨ ਦਿਤੇ ਅਰ ਦੁਧ ਪੀਤਾ।

ਵਾਕ–ਦੂਧ ਪਿਆਇ ਭਗਤ ਘਰ ਗਇਆ।
ਨਾਮੇ ਹਰਿ ਕਾ ਦਰਸ਼ਨ ਭਇਆ ॥

ਜਦੋਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਮਕਾਨ ਸੜ ਗਿਆ ਤਾਂ ਆਪਨੇ ਉਸਦੇ ਚਰਨਾ ਵਿਚ ਮਨ ਟਿਕਾਇਆ ਤੇ ਐਸੇ ਲੀਨ ਹੋਏ ਕਿ ਉਸ ਸਿਰਜਨ-ਹਾਰ ਨੂੰ ਇਨਾਂ ਦਾ ਮਕਾਨ ਆਪ ਬਨਾਉਂਣਾ ਪਿਆ। ਮਹਾਰਾਜ ਦਾ ਵਾਕ ਹੈ–"ਤੂੰ ਭਗਤਾਂ ਕੇ ਵਸ ਭਗਤਾਂ ਤਾਣ ਤੇਰਾ"।

ਇਸ ਸਬੰਧੀ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਅਪਣੀਆਂ ਵਾਰਾਂ ਵਿਚ ਲਿਖਦੇ ਹਨ - ਯਥਾ–"ਗਾਇ ਮੋਈ ਜੀਵਾਲੀਅਨ, ਨਾਮਦੇਵ ਦਾ ਛੱਪਰ ਛਾਇਆ"

ਜਦ ਉਹ ਸੜਿਆ ਹੋਇਆ ਮਕਾਨ ਤਿਆਰ ਹੋਗਿਆ ਤਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਗੁਆਂਢਣ ਪੁਛਦੀ ਹੈ, ਜੋ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਇਸ ਪ੍ਰਕਾਰ ਵਿਦਮਾਨ ਹੈ।

ਪਾਰ ਪੜੋਸਣਿ ਪੂਛ ਲੇ ਨਾਮਾ ਕਾਪਹਿ ਛਾਨਿ ਛਵਾਈ ਹੋ।
ਤੋਪਹਿ ਦੁਗਣੀ ਮਜੂਰੀ ਦੈ ਹਉ ਮੋਕਉ ਬੇਢੀ ਦੇਹੁ ਬਤਾਈ ਹੋ ॥ ੧ ॥
ਰੀ ਬਾਈ ਬੇਢੀ ਦੇਨੁ ਨ ਜਾਈ ਦੇਖ ਬੇਢੀ ਰਹਿਉ ਸਮਾਈ।
ਹਮਾਰੈ ਬੇਢੀ ਪ੍ਰਾਨ ਅਧਾਰਾ ॥ ੧ ॥ ਰਹਾਉ ॥
ਬੇਢੀ ਪ੍ਰੀਤ ਮਜੂਰੀ ਮਾਂਗੈ ਜਉ ਕੋਊ ਛਾਨ ਛਵਾਵੈ ਹੋ।
ਲੋਗ ਕੁਟੰਬ ਸਭਨੁ ਤੇ ਤੋਰੈ ਤਉ ਆਪਨ ਬੇਢੀ ਆਵੈ ਹੋ ॥
ਐਸੋ ਬੇਢੀ ਬਰਨ ਨ ਸਾਕਉ। ਸਭ ਅੰਤਰ ਸਭ ਠਾਂਹੀ ਹੋ।
ਗੂੰਗੇ ਮਹਾਂ ਅਮ੍ਰਿਤ ਰਸ ਚਾਖਿਆ ਪੂਛੇ ਕਹਨੁ ਨ ਜਾਈ ਹੋ॥ ੩ ॥
ਬੇਢੀ ਕੇ ਗੁਨ ਸੁਨ ਰੀ ਬਾਈ ਜਲਧ ਬਾਂਧ ਧ੍ਰੂ ਥਾਪਿਓ ਹੋ।
ਨਾਮੇ ਕੇ ਸੁਆਮੀ ਸੀਆ ਬਹੋਰੀ ਲੰਕ ਭਭੀਖੰਣ ਆਪਿਓ ਹੋ ॥ ੪ ॥

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਦਰਜ ਉਕਤ ਸ਼ਬਦ ਤੋਂ ਸਪਸ਼ਟ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਸਿਰਜਨ ਹਾਰਨੇ ਸ੍ਰੀਨਾਮਦੇਵਜੀ ਦਾ ਘਰ ਆਪ ਬਣਾਇਆ।

ਫੇਰ ਅਗਯਾਨੀ ਪੁਜਾਰੀਆਂ ਨੇ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਮੰਦਰ ਵਿਚ

ਕੀਰਤਨ ਕਰਦਿਆਂ ਨੂੰ ਉਠਾ ਦਿਤਾ ਤਾਂ ਉਸ ਭਗਤ ਵੱਛਲ ਦਾਤਾਰ ਨੇ ਮੰਦਰ ਦਾ ਮੂੰਹ ਫੇਰ ਕੇ ਭਗਤ ਜੀ ਵਲ ਕਰ ਦਿਤਾ, ਜਿਸ ਸਬੰਧੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਵਿਚ ਬਾਣੀ ਦਰਜ ਹੈ।

'ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਨਾਮਾ ਹਰਿ ਗੁਣ ਉਚਰੈ ਭਗਤ ਜਨਾ ਕਾ ਦੇਹੁਰਾ ਫਿਰੈ' ॥

ਪੁਨਾ–'ਫੇਰ ਦੀਆ ਦੇਹੁਰਾ ਨਾਮੇ ਕਉ ਪੰਡੀਅਨ ਕਉ ਪਿਛਵਾਰਲਾ'

ਜਦੋਂ ਦੋਖੀ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਅਪਣੀ ਕੁਟਲ ਨੀਤੀ ਕਰਕੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਪਾਖੰਡ ਖੰਡਨ ਦੇ ਪ੍ਰਚਾਰ ਤੋਂ ਨਾ ਰੋਕ ਸਕੇ ਤਾਂ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਪਾਸ ਜਾ ਸ਼ਿਕਾਇਤ ਕੀਤੀ, ਜਦ ਭਗਤ ਜੀ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਪਾਸ ਪਕੜੇ ਆਏ ਤਾਂ ਉਸਨੇ ਪੈਰਾਂ ਵਿਚ ਬੇੜੀਆਂ ਤੇ ਹੱਥਾਂ ਵਿਚ ਹਥਕੜੀਆਂ ਲਗਾ ਦਿਤੀਆਂ।

'ਪਾਵਹੁ ਬੇੜੀ ਹਾਥਹੁ ਤਾਲ, ਨਾਮਾ ਗਾਵੈ ਗੁਣ ਗੋਪਾਲ'।

ਜਦ ਭਗਤ ਜੀ ਇਸ ਸਖਤੀ ਤੋਂ ਭੀ ਨਾ ਡਰੇ ਅਤੇ ਅਪਣੇ ਅਨੰਦ ਵਿਚ ਮਗਨ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਕਿਸੇ ਅਯੋਗ ਹੁਕਮ ਦੀ ਪਰਵਾਹ ਨਾ ਕੀਤੀ ਤਾਂ ਉਨਾਂ ਨੂੰ ਖੂਨੀ ਹਾਥੀ ਅੱਗੇ ਸੁੱਟਿਆ ਗਿਆ।

'ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਚੜ੍ਹਿਓ ਅਹੰਕਾਰ, ਗਜ ਹਸਤੀ ਦੀਨੋ ਚਮਕਾਰਿ'।

ਜਦ ਮਹਾਵਤ ਹਾਥੀ ਪਾਸੋਂ ਨਾਮ ਦੇਵ ਜੀ ਪਰ ਹਮਲਾ ਕਰਾਉਂ ਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਉਹ ਸਭ ਦਾ ਰਾਖਾ ਆਪੇ ਰਖਸ਼ਾ ਕਰਦਾ ਹੈ।

'ਕਰੋ ਗਜਿੰਦੁ ਸੁੰਡ ਕੀ ਚੋਟ। ਨਾਮਾ ਉਬਰੈ ਹਰ ਕੀ ਓਟ'।

ਫੇਰ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਨੂੰ ਮੋਈ ਗਊਜੀਉਦੀ ਕਰਨ ਲਈ ਕਿਹਾ ਤਾਂ ਓਨ੍ਹਾਂ ਫਰਮਾਇਆ।

'ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਐਸੀ ਕਿਉ ਹੋਇ। ਬਿਸਮਲ ਕੀਆ ਨਾ ਜੀਵੈ ਕੋਇ"

ਇਹ ਆਖਕੇ ਭਗਤ ਜੀ ਅਪਣੇ ਰੰਗ ਵਿਚ ਮਸਤ ਰਹੇ। ਪਰ ਜਦ ਉਸ ਕਰਤੇ ਨੇ ਅਪਣੇ ਭਗਤ ਦੀ ਹਠੀ ਹੁੰਦੀ ਦੇਖੀ ਤਾਂ ਗਊ ਜੀਉਂਦੀ ਕਰ ਦਿਤੀ, ਜਿਸ ਸਬਧੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਸਾਰਾ ਬਿਰਤਾਂਤ ਵਿਸਤ੍ਰਾਂ ਲਿਖਆ ਹੈ॥

ਸੁਲਤਾਨ ਪੁਛੈ ਸੁਨੁ ਬੇ ਨਾਮਾ । ਦੇਖਉ ਰਾਮ ਤੁਮਾਰੇ ਕਾਮਾ । ੧ ॥
ਨਾਮਾ ਸੁਲਤਾਨੇ ਬਾਧਲਾ । ਦੇਖਉ ਹਰਿ ਤੇਰਾ ਬੀਠਲਾ॥੧॥ਰਹਾਉ॥
ਬਿਸਮਲ ਗਊ ਦੇਹੁ ਜੀਵਾਇ । ਨ ਤਰੁ ਗਰਦਨਿ ਮਾਰਉ ਠਾਇ ॥ ੨॥
ਬਾਦਸਾਹਿ ਐਸੀ ਕਿਉ ਹੋਇ । ਬਿਸਮਿਲ ਕੀਆ ਨ ਜੀਵੈ ਕੋਇ ॥੩॥
ਮੇਰਾ ਕੀਆ ਕਛੂ ਨ ਹੋਇ । ਕਰਿ ਹੈ ਰਾਮ ਹੋਇ ਹੈ ਸੋਇ ॥ ੪ ॥
ਬਾਦਸ਼ਾਹੁ ਚੜ੍ਹਿਓ ਅਹੰਕਾਰਿ । ਗਜ ਹਸਤੀ ਦੀਨੋ ਚਮਕਾਰ ॥ ੫ ॥
ਰੁਦਨ ਕਰੈ ਨਾਮੇ ਕੀ ਮਾਇ । ਛੋਡਿ ਰਾਮ ਕੀ ਨ ਭਜਹਿ ਖੁਦਾਇ ॥ ੬ ॥
ਨ ਹਉ ਤੇਰਾ ਪੂੰਗੜਾ ਨਾ ਤੂ ਮੇਰੀ ਮਾਇ ਪਿੰਡ ਪੜੈਤਉਹਰਿਗੁਨਗਾਇ॥੭॥
ਕਰੈ ਗਜਿੰਦ ਸੁੰਡ ਕੀ ਚੋਟ । ਨਾਮਾ ਉਬਰੈ ਹਰਿ ਕੀ ਓਟ ॥ ੮ ॥
ਕਾਜੀ ਮੁਲਾਂ ਕਰਹਿ ਸਲਾਮੁ । ਇਨਿ ਹਿੰਦੂ ਮੇਰਾ ਮਲਿਆ ਮਾਨ ॥੯॥
ਬਾਦਸਾਹ ਬੇਨਤੀ ਸੁਨੇਹੁ । ਨਾਮੇ ਸਰ ਭਰ ਸੋਨਾ ਲੇਹੁ ॥ ੧੦ ॥
ਮਾਲੁ ਲੇਉ ਤਉ ਦੋਜਕਿ ਪਰਉ । ਦੀਨੁ ਛੋਡਿ ਦੁਨੀਆ ਕਉ ਭਰਉ॥੧੧॥
ਪਾਵਹੁ ਬੇੜੀ ਹਾਥਹੁ ਤਾਲ । ਨਾਮ ਗਾਵੈ ਗੁਨ ਗੋਪਾਲ ॥ ੧੨ ॥
ਗੰਗ ਜਮਨ ਜਉ ਉਲਟੀ ਬਹੈ । ਤਉ ਨਾਮਾ ਹਰਿ ਕਰਤਾ ਰਹੈ ॥੧੩॥
ਸਾਤ ਘੜੀ ਜਬ ਬੀਤੀ ਸੁਣੀ । ਅਜਹੁ ਨ ਆਇਓ ਤ੍ਰਿਭਵਨ ਧਣੀ ॥੧੪॥
ਪਾਖੰਤਣ ਬਾਜ ਬਜਾਇਲਾ । ਗਰੁੜ ਚੜ੍ਹੇ ਗੋਬਿੰਦ ਆਇਲਾ ॥ ੧੫ ॥
ਅਪਨੇ ਭਗਤ ਪਰ ਕੀ ਪ੍ਰਤਿਪਾਲ । ਗਰੜ ਚੜ੍ਹੇ ਆਏ ਗੋਪਾਲ ॥ ੧੬ ॥
ਕਹਹਿ ਤ ਧਰਣਿ ਇਕੋਡੀ ਕਰਉ । ਕਹਹਿ ਤ ਲੇਕਰਿ ਊਪਰ ਧਰਉ ॥੧੭
ਕਹਹਿ ਤ ਮੋਈ ਗਊ ਦੇਇ ਜੀਆਇ । ਸਭ ਕੋਈ ਦੇਖੈ ਪਤੀਆਇ ॥੧੮॥
ਨਾਮਾ ਪ੍ਰਣਵੈ ਸੇਲਮ ਸੇਲ । ਗਊ ਦੁਹਾਈ ਬਛਰਾ ਮੇਲ ॥ ੧੯ ॥
ਦੂਧਹਿ ਦੁਹਿ ਜਬ ਮਟਕੀ ਭਰੀ । ਲੇ ਬਾਦਸਾਹ ਕੇ ਆਗੇ ਧਰੀ ॥੨੦॥
ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਮਹਲ ਮਹਿ ਜਾਇ । ਅਉਘਟ ਕੀ ਘਟ ਲਾਗੀ ਆਇ ॥੨੧॥
ਕਾਜੀ ਮੁਲਾਂ ਬਿਨਤੀ ਫੁਰਮਾਇ । ਬਖਸੀ ਹਿੰਦੂ ਮੈ ਤੇਰੀ ਗਾਇ ॥੨੨॥
ਨਾਮਾ ਕਹੈ ਸੁਨਹੁ ਬਾਦਿਸ਼ਾਹ । ਇਹ ਕਿਛੁ ਪਤੀਆ ਮੁਝੈ ਦਿਖਾਇ॥੨੩॥

ਇਸ ਪਤੀਆ ਕਾਇਹੈ ਪਰਵਾਨੁ। ਸਾਚਿਸੀਲਚਾਲਹੁ ਸੁਲਿਤਾਨ ॥੨੪॥
ਨਾਮਦੇਵ ਸਭ ਰਹਿਆ ਸਮਾਇ। ਮਿਲ ਹਿੰਦੂ ਸਭ ਨਾਮੇਪਹਿਜਾਹਿ॥੨੫॥
ਜਉ ਅਬਕੀ ਬਾਰ ਨ ਜੀਵੈਗਾਇ। ਤ ਨਾਮਦੇਵਕਾ ਪਤੀਆਜਾਇ ॥੨੬॥
ਨਾਮੇ ਕੀ ਗਤ ਰਹੀ ਸੰਸਾਰ। ਭਗਤ ਜਨਾ ਲ ਉਧਰਿਆ ਪਾਰ ॥੨੭॥
ਸਗਲਕਲੇਸ ਨਿੰਦਕ ਭਇਆ ਖੇਦੁ। ਨਾਮੇ ਨਾਰਾਇਣ ਨਾਹੀ ਭੇਦ੨੨॥੧॥੧੦

ਉਕਤ ਪ੍ਰਸੰਗ ਵਿਸਥਾਰ ਪੂਰਬਕ ਬਾਣੀ ਵਿਚ ਦਰਜ ਹੈ ਇਸ ਪਰ ਕਿਸੇ ਟੀਕਾ ਟਿਪਣੀ ਦੀ ਲੋੜ ਨਹੀਂ।

ਫੇਰ ਜਦ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੂੰ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਆਤਮਕ ਬਲ ਤੇ ਸਚਾਈ ਦਾ ਪਤਾ ਲਗਾ ਤਾਂ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਭਗਤ ਜੀ ਤੋ ਖਿਮਾ ਮੰਗੀ ਅਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਸਿਰੋ ਪਾਉ ਵਜੋਂ "ਸੇਹਜ" (ਦੁਸ਼ਾਲਾ) ਦਿਤੀ ਜੋ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਬਪਰਵਾਹੀ ਕਰਕੇ ਦਰਿਆ ਵਿਚ ਪਰਵਾਹ ਦਿਤੀ, ਫੇਰ ਜਦ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਆਦਮੀਆਂ ਨੇ ਮੁੜਕੇ ਪੁਛਿਆ ਤਾਂ ਦਰਿਆ ਵਿਚੋਂ ਕੱਢ ਦਿਤੀ ॥

ਇਨ੍ਹਾਂ ਆਤਮਕ ਬਲ ਵਾਲੇ ਸਾਰੇ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦੇ ਹੇਠ ਲਿਖੇ ਸ਼ਬਦ ਵਿਚ ਆਉਂਦਾ ਹੈ।

ਰਾਗ ਭੈਰਉ

ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਮਿਲੈ ਮੁਰਾਰਿ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਉਤਰੈ ਪਾਰਿ।
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਬੈਕੁੰਠ ਤਰੈ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਜੀਵਤ ਮਰੈ ॥੧॥
ਸਤਿਸਤਿਸਤਿਸਤਿਗੁਰਦੇਵ। ਝੂਠਝੂਠਝੂਠਝੂਠਆਨਸਭਸੇਵ ॥੧॥ ਰਹਾਉ
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਨਾਮੁ ਦ੍ਰਿੜਾਵੈ। ਜਉਗੁਰਦੇਉ ਤ ਦਹਿ ਦਿਸ ਧਾਵੈ ॥੧॥
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਪੰਚ ਤੇ ਦੂਰਿ। ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਮਰਬੋ ਝੂਰਿ ॥੨॥
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਅਮ੍ਰਿਤ ਬਾਨੀ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਅਕਥ ਕਹਾਨੀ।
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੇਹ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਨਾਮ ਜਪ ਲੇਹਿ ॥੩॥
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਭਵਨ ਤ੍ਰੈ ਸੁਝੈ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਊਚ ਪਦ ਬੂਝੈ।
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਸੀਸ ਅਕਾਸ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਸਦਾ ਸਾਬਾਸ॥ ੪ ॥

ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਸਦਾ ਬੈਰਾਗੀ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਪਰ ਨਿੰਦਾ ਤਿਆਗੀ।
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਬੁਰਾ ਭਲਾ ਏਕ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਲਿਲਾਟਹਿ ਲੇਖ॥੫॥
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਕੰਧ ਨਹੀ ਹਿਰੈ। ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਦੇਹਿਰਾ ਫਿਰੈ।
ਜਉ ਗੁਰ ਦੇਉ ਤ ਛਾਪਰਿ ਛਾਈ। ਜਉਗੁਰਦੇਉਸਿਹਜਨਿਕਸਾਈ॥੬॥
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉਤਅਠਸਠਨਾਇਆ। ਜਉਗੁਰਦੇਉਤਨਚਕਰਲਗਾਇਆ।
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਦੁਆਦਸ ਸੇਵਾ। ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਸਭੈ ਬਿਖ ਮੇਵਾ॥ ੭ ॥
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਸੰਸਾ ਤੂਟੈ। ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਜਮ ਤੇ ਛੂਟੈ।
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਭਉਜਲ ਤਰੈ। ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਤ ਜਨਮ ਨ ਮਰੈ॥੮॥
ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਅਠ ਦਸ ਬਿਉਹਾਰ। ਜਉ ਗੁਰਦੇਉ ਅਠਾਰਹ ਭਾਰ।
ਬਿਨ ਗੁਰਦੇਉ ਅਵਰ ਨਹੀਂ ਜਾਈ। ਨਾਮਦੇਉ ਗੁਰਕੀ ਸਰਣਾਈ॥੯॥

ਭੇਖੀ ਸੰਤ

ਇਸ ਪ੍ਰਸੰਗ ਨੂੰ ਕਈ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰਾਂ ਨੇ ਗਲਤ ਲਿਖਆ ਹੈ ਇਸ ਲਈ ਅਸੀਂ ਇਸ ਨੂੰ ਠੀਕ ਦਰਜ ਕਰਦੇ ਹਾਂ।

ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵਜੀ ਇਕ ਦਿਨ ਇਕ ਨਦੀ ਪਰ ਇਸ਼ਨਾਨ ਕਰ ਰਹੇ ਸਨ ਅਤੇ ਸਾਹਮਣੇ ਇਕ ਪਖੰਡੀ ਆਸਨ ਵਿਛਾਕੇ ਬਗਲ ਸਮਾਧੀ ਲਗਾਈ ਬੈਠਾ ਸੀ, ਇਕ ਸ਼ਾਹੂਕਾਰ ਨਦੀ ਤੋਂ ਪਾਰ ਜਾਣ ਲੱਗਾ ਤਾਂ ਇਸ ਕਿਨਾਰੇ ਉਸਦੇ ਰੁਪਈਆਂ ਵਾਲੀ ਵਾਂਸਲੀ ਭੁਲ ਗਈ, ਪਾਰ ਜਾਕੇ ਜਦ ਉਸਨੂੰ ਚੇਤਾ ਆਇਆ ਤਾਂ ਉਹ ਪਿਛੇ ਪਰਤਿਆ ਅਤੇ ਆਕੇ ਸੰਤ ਨੂੰ ਸਮਾਧੀ ਵਿਚ ਸਥਿਤ ਦੇਖਕੇ ਨਾ ਬੁਲਾਇਆ, ਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਵਾਂਸਲੀ ਸਬੰਧੀ ਪੁਛਿਆ। ਇਹ ਦੇਖਕੇ ਉਸ ਸਾਧੂ ਨੇ ਅਖਾਂ ਖੋਲਕੇ ਆਖਿਆ ਕਿ ਹਾਂ ਤੇਰੀ ਵਾਂਸਲੀ ਇਸੇ ਆਦਮੀ (ਭਗਤਜੀ ਨੇ) ਲਈ ਹੈ, ਜਦ ਉਹ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਰਾਜ ਦਰਬਾਰ ਵਿਚ ਲੈ ਚੱਲੇ ਤਾਂ ਹਵਾ ਦਾ ਬੁੱਲਾ ਜੋ ਆਇਆ ਤਾਂ ਸਾਧੂ ਦਾ ਆਸਨ ਉਡ ਗਿਆ ਅਰ ਹੇਠੋਂ ਵਾਂਸਲੀ ਨੰਗੀ ਹੋਗਈ, ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਸ਼ਾਹੂਕਾਰ ਨੂੰ ਕਿਹਾ ਕਿ ਤੇਰੀ ਵਾਂਸਲੀ

ਅਹੁ ਪਈ ਹੈ, ਉਹ ਸ਼ਾਹੂਕਾਰ ਬੜਾ ਸ਼ਰਮਿੰਦਾ ਹੋਇਆ ਭਗਤ ਜੀ ਤੋਂ ਖਿਮਾ ਮੰਗਣ ਲਗਾ, ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਕਿਹਾ ਸਾਨੂੰ ਤੇਰੇ ਪਰ ਤਾਂ ਕੋਈ ਅਫਸੋਸ ਨਹੀਂ, ਪਰ ਇਸ ਸਾਧੂ ਨੇ ਇਹ ਕੀ ਪਾਖੰਡ ਬਣਾ ਰਖਿਆ ਹੈ। ਉਪਰੋਂ ਭਗਵੇਂ ਕਪੜੇ ਪਾਏ ਹੋਏ ਹਨ ਤੇ ਵਿਚੋਂ ਇਹ ਕਰਤੂਤ ਹੈ, ਉਥੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਇਹ ਸ਼ਬਦ ਉਚਾਰਨ ਕੀਤਾ।

ਆਸਾ—ਸਾਪ ਕੁੰਚ ਛੋਡੈ ਬਿਖੁ ਨਹੀਂ ਛਾਡੈ।

ਉਦਕ ਮਾਹਿ ਜੈਸੇ ਬਗੁ ਧਿਆਨੁ ਮਾਡੈ ॥ ੧ ॥ ਰਹਾਉ ॥

ਕਾਹੇ ਕਉ ਕੀਜੈ ਧਿਆਨੁ ਜਪੰਨਾ। ਜਬ ਤੇ ਸੁਧ ਨਾਹੀ ਮਨ ਅਪਨਾ ॥੨॥

ਸਿੰਘ ਚ ਭੋਜਨੁ ਜੋ ਨਰ ਜਾਨੈ।ਐਸੇ ਹੀ ਠਗ ਦੇਉ ਬਖਾਨੈ ॥ ੨ ॥

ਨਾਮੇ ਕੇ ਸੁਆਮੀ ਲਾਹਿ ਲੇ ਝਗਰਾ। ਰਾਮ ਰਸਾਇਨ ਪੀਉ ਰੇ ਦਗਰਾ।੩।

ਘੋੜੀ ਦਾ ਪ੍ਰਸੰਗ

ਇਸ ਪ੍ਰਸੰਗ ਨੂੰ ਭੀ ਕਈ ਲੈਕਚਰਾਰ ਤੇ ਲੇਖਕ ਵਿਗਾੜਕੇ ਆਖਦੇ ਹਨ, ਇਸ ਲਈ ਅਸਲ ਸ਼ਕਲ ਵਿਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਾਂ।

ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਅਵਸਥਾ ਬ੍ਰਿਧ ਸੀ ਅਤੇ ਸਰੀਰ ਕਮਜ਼ੋਰ ਹੋ ਰਿਹਾ ਸੀ, ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਪੈਦਲ ਚਲਨ ਵਿਚ ਔਖਆਈ ਭਾਸਦੀ ਸੀ, ਜਿਸਤੇ ਫੁਰਨਾ ਫੁਰਿਆ ਕਿ ਜੇ ਘੋੜੀ ਮਿਲ ਜਾਵੇ ਤਾਂ ਅਰਾਮ ਹੋ ਜਾਵੇ, ਇਸਤੇ ਉਸ ਸਰਬ ਵਿਆਪੀ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਨੇ ਇਕਤਾਂ ਭਗਤਜੀ ਦੇ ਸੰਕਲਪਾਂ ਦਾ ਸਿਲਸਿਲਾ ਬੰਦ ਕਰਨ ਲਈ ਤੇ ਦੂਜੇ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਸਰਬ ਵਿਆਪੀ ਖਿਆਲ ਦੀ ਪ੍ਰੀਖਆ ਲੈਣ ਲਈ ਮੁਗਲ ਦਾ ਰੂਪ ਧਾਰਨ ਕੀਤਾ ਅਰ ਅਪਣੀ ਘੋੜੀ ਦਾ ਵਛੇਰਾ ਚੁੱਕਣ ਲਈ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਹੁਕਮ ਦਿਤਾ ਜਿਸ ਤੇ ਭਗਤ ਜੀ ਮੁਸਕਰਾਏ ਤੇ ਬੜੀ ਗੰਭੀਰਤਾ ਨਾਲ ਆਖਿਆ ਕਿ ਮੈਂ ਆਪ ਨੂੰ ਪਛਾਂਣ ਲੀਤਾ ਹੈ। ਆਓ ਅਲਸ ਰੂਪ ਵਿਚ ਦਰਸ਼ਨ ਦਿਓ। ਬਸ ਫੇਰ ਕੀ ਸੀ ਉਹ ਕਰਤਾਰ ਬੜਾ ਪ੍ਰਸੰਨ ਹੋਇਆ ਤੇ ਦਰਸ਼ਨ ਦਿੱਤੇ ਇਸ ਪ੍ਰਸੰਗ ਸਬੰਧੀ ਹੇਠ ਲਿਖਿਆ ਸ਼ਬਦ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਸਾਹਬ ਜੀ ਵਿਚ ਬਿਦਮਾਨ ਹੈ।

ਹਲੇ ਯਾਰਾ ਹਲੇ ਯਾਰਾ ਖੁਸ ਖਬਰੀ।

ਬਲਿਬਲਿ ਜਾਉਹਉਬਲਿ ਬਲਿ ਜਾਉ। ਨੀਕੀਤੇਰੀਬਿਗਾਰੀਆਲੇਤੇਰਾਨਾਉ
ਕੁਜਾ ਆਮਦ ਕੁਜਾ ਰਫਤੀ ਕੁਜਾ ਮੇਰਵੀ। ਦਰਵਾਰਕਾ ਨਗਰੀ ਰਾਸ ਬਿਗੋਈ
ਖੂਬ ਤੇਰੀ ਪਗਰੀ ਮੀਠੇ ਤੇਰੇ ਬੋਲ। ਦ੍ਵਾਰਕਾ ਨਗਰੀ ਕਾਹੇ ਕੇ ਮਗੋਲ ॥੨।
ਚੰਦੀ ਹਜ਼ਾਰ ਆਲਮ ਏਕ ਲਖਾਨਾ। ਹਮ ਚਿਨੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਸਾਂਵਲੇਬਰਨਾੜ
ਅਸਪਤਿ ਗਜਪਤਿ ਨਰਹ ਨਰਿੰਦ। ਨਾਮੇ ਕੇ ਸ੍ਵਾਮੀ ਮੀਰ ਮੁਕੰਦ ॥੪॥੨॥੩॥

ਉਕਤ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਹੋਰ ਕਈ ਐਸੇ ਪ੍ਰਸੰਗ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨਾਲ ਸਬੰਧ ਰਖਦੇ ਹਨ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਤੋਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਆਤਮਕ ਬਲ (will power) ਦਾ ਪਤਾ ਲਗਦਾ ਹੈ,ਪ੍ਰੰਤੂ ਸ਼ੋਕ ਇਸ ਗੱਲਦਾ ਹੈ ਕਿ ਸਾਡੇ ਹਿਰਦੇ ਨਾਮ ਤੋਂ ਖਾਲੀ ਅਤੇ ਸ਼ਰਧਾ ਤੋਂ ਸੱਖਣੇ ਹੁੰਦੇ ਹਨ ਅਰ ਬੁੱਧੀ ਬਹੁਤ ਛੋਟੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਜਿਸਤ੍ਰਾਂ ਖੂਹ ਦਾ ਡੱਡੂ ਸਮੁੰਦਰ ਦੀ ਲੰਬਾਈ ਚੌੜਾਈ ਤੋਂ ਇਨਕਾਰ ਕਰ ਦਿੰਦਾ ਹੈ । ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਸਾਡੀ ਤੁੱਛ ਬੁੱਧੀ ਆਤਮਕ ਬਲ ਦੇ ਚਮਤਕਾਰ ਦੇ ਸਮਝਣ ਤੋਂ ਅਸਮਰੱਥ ਹੋਣ ਪਰ ਕਿੰਤੂ ਕਰਨ ਲਗ ਪੈਂਦੀ ਹੈ, ਪਰ ਹੈਰਾਨੀ ਤਾਂ ਇਸ ਗਲ ਦੀ ਹੈ ਕਿ ਸਾਇੰਸ ਦੇ ਵੱਡੇ ਤੋਂ ਵੱਡੇ ਕੰਮ ਪਰ ਅਸੀਂ ਯਕੀਨ ਕਰ ਲੈਂਦੇ ਹਾਂ ਪਰ ਆਤਮਕ ਸ਼ਕਤੀ (will power) ਦੇ ਛੋਟੇ ਤੋਂ ਛੋਟੇ ਕਰਿਸ਼ਮੇਨੂੰ ਭੀ ਮੰਨਣਤੋਂਇਨਕਾਰ ਕਰ ਦਿੰਦੇ ਹਾਂ, ਪਰ ਅਸੀਂ ਤਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਆਤਮਕ ਬਲ ਦੇ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਪ੍ਰਸੰਗਾਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਉਸ ਸਬੰਧੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬ ਜੀ ਦੇ ਪ੍ਰਮਾਣ ਦਿੱਤੇ ਹਨ, ਜਿਸ ਤੋਂ ਕੋਈ ਭੀ ਸਮਝਦਾਰ ਸੱਜਣ ਖਾਸ ਕਰ ਸਿੱਖ ਸਿਰ ਨਹੀਂ ਫੇਰ ਸਕਦੇ। ਕਾਸ਼ ! ਕਿ ਅਸੀਂ ਸਿਮ੍ਰਨ ਕਰੀਏ, ਉਸ ਸਰਬ ਸ਼ਕਤੀ ਮਾਨ ਪਰ ਭਰੋਸਾ ਰਖੀਏ, ਸਾਡੇ ਵਿਚ ਸਿਦਕ ਆਵੇ ਤੇ ਅਸੀਂ ਇਨ੍ਹਾਂ ਗੱਲਾਂ ਦੇ ਸਮਝਣ ਯੋਗ ਹੋਈਏ।

—o—

ਮਤ ਅਥਵਾ ਧਾਰਮਕ ਖਿਆਲ

ਕਈ ਸਜਣ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਬੈਰਾਗੀ ਜਾਂ ਕੋਈ ਹੋਰ ਮੂਰਤੀ ਪੂਜਕ ਮਤ ਅਵਲੰਭੀ ਮੰਨਦੇ ਹਨ ਤੇ ਕਈ ਲੇਖਕਾਂ ਨੇ ਇਹੋ ਖਿਆਲ ਲਿਖੇ ਭੀ ਹਨ ਪਰ ਅਸੀਂ ਇਸ ਨਾਲ ਸਹਿਮਤਨਹੀਂ ਹਾਂ, ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਖਿਆਲ ਪਹਿਲੀ ਅਵਸਥਾ ਵਿਚ ਚਾਹੇ ਕੁਛ ਹੋਣ ਪ੍ਰੰਤੂ ਜਦ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਸ੍ਰੀ 'ਵਿਸ਼ੋਭਾ ਖੇਚਰ'ਜੀ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਗੁਰੂ ਧਾਰਨ ਕੀਤਾ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਖਿਆਲਾਂ ਨੇ ਕਿਸਤ੍ਹਾਂ ਪਲਟਾ ਖਾਧਾ ਇਸ ਸਬੰਧੀ ਉਹ ਆਪ ਐਂਉਂ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ।

"ਸਫਲ ਜਨਮ ਮੋਕਉ ਗੁਰ ਦੀਨਾ, ਦੁਖ ਵਿਸਾਰ ਸੁਖ ਅੰਤਰ ਲੀਨਾ।
ਗਿਆਨ ਅੰਜਨ ਮੋਕਉ ਗੁਰ ਦੀਨਾ। ਰਾਮਨਾਮ ਬਿਨ ਜੀਵਨਮਨਹੀਨਾ॥੧॥
ਨਾਮਦੇਉ ਸਿਮਰਨ ਕਰ ਜਾਨਾ। ਜਗ ਜੀਵਨ ਸਿਉ ਜੀਉ ਸਮਾਨਾ॥ ੨॥

ਇਸ ਗਿਆਨ ਹੋਣ ਨਾਲ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਮਤ ਨਿਰੋਲ ਈਸ਼੍ਵਰ ਭਗਤੀ ਹੋਗਿਆ, ਉਹ ਹਰ ਵਸਤੂ ਵਿਚ ਉਸ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦਾ ਜਲਵਾ ਦੇਖਦੇ ਸਨ ਤੇ ਹਰ ਆਵਾਜ਼ ਵਿਚ ਉਸੇ ਦਾ ਨਾਮ ਗੂੰਜਦਾ ਸੁਣਦੇ ਸਨ॥

"ਸਭੈ ਘਟ ਰਾਮ ਬੋਲੈ ਰਾਮ ਬੋਲੈ, ਰਾਮ ਬਿਨਾ ਕੋ ਬੋਲੈ ਰੇ"

ਉਹ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਤੋਂ ਬੇਮੁਖਾਂ ਦਾ ਮੂੰਹ ਤਕ ਨਹੀਂ ਸੀ ਦੇਖਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ॥

"ਜੋ ਨਾ ਭਜੰਤੇ ਨਾਰਾਇਣਾ, ਤਿਨਕਾ ਹਉਂ ਨਾ ਕਰਉ ਦਰਸ਼ਨਾ"

ਜਦ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਗ੍ਰਿਫਤਾਰ ਕਰਕੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਪੇਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਤੇ ਆਖਿਆ ਗਿਆ ਕਿ ਹਰੀ ਸਿਮਰਨ ਛਡ ਦਿਉ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਕਿਹਾ॥

"ਗੰਗ ਜਮਨ ਜਉ ਉਲਟੀ ਬਹੈ, ਤਉ ਨਾਮਾ ਹਰ ਹਰ ਕਰਤਾ ਰਹੈ"

ਜਦ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮਾਤਾ ਨੇ ਪੁਤ੍ਰ ਨੂੰ ਕਸ਼ਟਾਂ ਵਿਚ ਦੇਖਕੇ ਕਿਹਾ॥

"ਰੁਦਨੁ ਕਰੈ ਨਾਮੇ ਕੀ ਮਾਇ। ਛੋਡਿ ਰਾਮ ਕੀ ਨ ਭਜਹਿ ਖੁਦਾਇ"

ਤਾਂ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਜੋ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਨੂੰ ਸਭ ਤੋ ਵਧ ਪਿਆਰਾ ਸਮਝਦੇ ਸਨ ਕਿਹਾ

"ਨ ਹਉ ਤੇਰਾ ਪੂੰਗੜਾ ਨਾ ਤੂ ਮੇਰੀ ਮਾਇ"॥

ਉਹ ਹਰੀ ਸਿਮਰਣ ਦੇ ਇਤਨੇ ਆਸ਼ਕ ਸਨ ਕਿ ਜੇ ਕਿਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਜੀਭ

ਕਿਸੇ ਸਮੇਂ ਸਿਮਰਨ ਨਾ ਕਰੇ ਤਾਂ ਉਸਨੂੰ ਐਉਂ ਕੋਸਦੇ ਸਨ ॥

"ਰੇ ਜੇਹਬਾ ਕਰਉ ਸਤ ਖੰਡ। ਜਾਮਨ ਉਚਰਸ ਸ੍ਰੀ ਗੋਬਿੰਦ" ॥

ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂਦੇ ਉਚਾਰਨ ਕੀਤੇ ਹੋਏ ਅਨੇਕ ਐਸੇ ਸ਼ਬਦ ਹਨ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਤੋਂ ਉਸ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੀ ਅਨਿਨ ਭਗਤੀ ਅਤੇ ਅਤਯੰਤ ਪ੍ਰੇਮ ਪ੍ਰਗਟ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ॥ ਇਸਤੋ ਬਿਨਾ ਮੂਰਤੀ ਪੂਜਾ ਜਾਂ ਕ੍ਰਿਤਮ ਵਸਤੂਆ ਦੀ ਉਪਾਸ਼ਨਾ ਦੇ ਖੰਡਨ ਵਿਚ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਅਨੇਕ ਸ਼ਬਦ ਭਰੇ ਪਏ ਹਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚੋਂ ਕੁਛਕੁ ਅਸੀਂ "ਦੇਹਰਾ ਫਿਰਨ" ਦੇ ਸਿਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਦੇ ਚੁਕੇ ਹਾਂ। ਅਸੀਂ ਇਥੇ ਕੇਵਲ ਇਕੋ ਸ਼ਬਦ ਦਰਜ ਕਰਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਖਿਆਲਾਂ ਦੀ ਹੋਰ ਪੁਸ਼ਟੀ ਕਰਦੇ ਹਾਂ ॥

ਰਾਮਕਲੀ ਘਰ ੨। ਬਾਨਾਰਸੀ ਤਪ ਕਰੈ ਉਲਟ ਤੀਰਥ ਮਰੈ ਅਗਨ ਦਹੈ ਕਾਇਆ ਕਲਪ ਕੀਜੈ। ਅਸਮੇਧ ਜਗ ਕੀਜੈ ਸੋਨਾ ਗਰਭ ਦਾਨ ਦੀਜੈ ਰਾਮ ਨਾਮ ਸਰਿ ਤਊ ਨ ਪੂਜੈ ॥ ਛੋਡ ਛੋਡ ਰੇ ਪਾਖੰਡੀ ਮਨ ਕਪਟ ਨ ਕੀਜੈ। ਹਰਿ ਕਾ ਨਾਮ ਨਿਤ ਨਿਤਹ ਲੀਜੈ ॥ ੧ ॥ ਰਹਾਉ ॥

ਗੰਗਾ ਜਉ ਗੋਦਾਵਰਿ ਜਾਈਐ, ਕੁੰਭ ਜਉ ਕੇਦਾਰ ਨਾਈਐ। ਗੋਮਤੀ ਸਹਿਸ ਗਊ ਦਾਨ ਕੀਜੈ। ਕੋਟਿ ਜਉ ਤੀਰਥ ਕਰੈ, ਤਨ ਜਉ ਹਿਵਾਲੇ ਗਾਰੈ' ਰਾਮ ਨਾਮ ਸਰ ਤਊ ਨ ਪੂਜੈ। ਅਸ ਦਾਨ, ਗਜ ਦਾਨ, ਸਿਹਜਾ ਨਾਰੀ ਭੂਮ ਦਾਨ, ਐਸੋ ਦਾਨ ਨਿਤ ਨਿਤਹਿ ਕੀਜੈ। ਆਤਮ ਜਉ ਨਿਰਮਾਇਲ ਕੀਜੈ, ਆਪ ਬਰਾਬਰ ਕੰਚਨ ਦੀਜੈ ਰਾਮ ਨਾਮ ਸਰ ਤਊ ਨ ਪੂਜੈ। ਮਨਹਿ ਨਾ ਕੀਜੈ ਰੋਸ, ਜਮਹਿ ਨ ਦੀਜੈ ਦੋਸ, ਨਿਰਮਲ ਨਿਰਬਾਣ ਪਦ ਚੀਨ ਲੀਜੈ। ਜਸਰਥ ਰਾਇ ਨੰਦ ਰਾਜਾ ਮੇਰਾ ਰਾਮਚੰਦ ਪ੍ਰਣਵੈ ਨਾਮਾ ਤਤੁ ਰਸ ਅਮ੍ਰਿਤ ਪੀਜੈ ॥

ਇਸ ਸ਼ਬਦ ਵਿਚ ਬੈਰਾਗੀਆਂ ਦੇ ਕਰਮ ਕਾਡਾਂ ਅਤੇ ਹੋਰ ਕਿਰਤਮ ਪੂਜਾ ਸਬੰਧੀ ਸਪਸ਼ਟ ਵਾਕ ਆਖੇ ਗਏ ਹਨ ॥

ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਉਕਤ ਸਪਸ਼ਟ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੀ ਮੌਜੂਦਗੀ ਵਿਚ ਭੀ

ਕਈ ਸੱਜਣ ਉਨਾ ਦੇ ਬੈਰਾਗੀ ਮਤ ਅਵਲੰਭੀ ਹੋਣ ਦੀ ਹਾਲਾਂ ਤਕ ਭੀ ਰਟ ਲਗਾਈ ਜਾਂਦੇ ਹਨ ਪਰ ਵਾਕਿਆਤ ਭੀ ਬਿਲ ਕੁਲ ਇਸਦੇ ਉਲਟ ਹਨ। ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਪਿਛਲੀ ਅਵਸਥਾ ਦੇ ਕਈ ਸਾਲ ਜ਼ਿਲਾ ਗੁਰਦਾਸ ਪੁਰ ਦੇ ਇਕ ਨੱਗਰ "ਘੁਮਾਣ" ਵਿਚ ਗੁਜ਼ਾਰੇ ਸਨ ਜਿੱਥੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਯਾਦ ਗਾਰੀ ਅਸਥਾਨ ਭੀ ਹੈ, ਭਗਤ ਜੀ ਇਸ ਥਾਂ ਕਈ ਸਾਲ ਧਰਮ ਉਪਦੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਰਹੇ,ਪਰ ਇਸ ਨਗਰ ਦੇ ਆਲੇ ਦੁਆਲੇ ਦੇ ਪਿੰਡਾਂ ਵਿਚ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਲੋਗ ਬੈਰਾਗੀ ਮਤ ਦੇਧਾਰਨੀ ਨਹੀਂ ਬਣੇ, ਇਹ ਗਲ ਤਾਂ ਇਕ ਪਾਸੇ ਰਹੀ ਇਸ ਨਗਰ (ਘੁਮਾਣਾਂ) ਵਿਚ ਭੀ ਬਰਾਗੀ ਮਤ ਦੇ ਪੈਰੋਕਾਰ ਨਹੀਂ, ਇਹ ਗਲ ਭੀ ਜਾਣ ਦਿਓ, ਭਗਤਜੀ ਦੇ ਅਸਥਾਨ ਦੇ ਪੁਜਾਰੀ ਜੋ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਗੁਰੂ ਬਜ਼ੁਰਗ ਜਾਂ ਰੂਹਾਨੀ ਆਗੂ ਮੰਨਦੇ ਹਨ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਭੀ ਅਸਲ ਅਰਥਾਂ ਵਿਚ ਕੋਈ ਬੈਰਾਗੀ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚ ਭੀ ਤਿਆਰ ਬਰ ਤਿਆਰ ਅਮ੍ਰਿਤਧਾਰੀ ਸਿੰਘਾਂ, ਵੈਦਕ ਧਰਮੀਆਂ ਅਤੇ ਸਨਾਤਨ ਧਰਮੀਆਂ ਦੀ ਬੜੀ ਭਾਰੀ ਗਿਣਤੀ ਹੈ। ਜੇ ਭਗਤ ਜੀ ਬੈਰਾਗੀ ਹੁੰਦੇ ਤਾਂ ਇਸਦਾ ਪ੍ਰਚਾਰ ਜਰੂਰ ਕਰਦੇ, ਫਿਰ ਜਰੂਰੀ ਸੀ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਚਾਰ ਨਾਲ, ਆਲੇ ਦੁਆਲੇ, ਜਾਂ ਖਾਸ "ਘੁਮਾਣਾਂ" ਵਿਖੇ ਅਥਵਾ ਅਸਥਾਨ ਦੇ ਪੁਜਾਰੀਆਂ ਜਾਂ ਇਸਦੇ ਮੰਨਣ ਵਾਲਿਆਂ ਵਿਚ ਕੁਛ ਗਿਣਤੀ ਤਾਂ ਬੈਰਾਗੀਆਂ ਦੀ ਹੁੰਦੀ ਜੋ ਹੈ ਨਹੀਂ ਇਸਤੋਂ ਸਿੱਧ ਹੋਇਆ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਮਤ ਬੈਰਾਗੀ ਹਰਗਿਜ਼ ਨਹੀ ਸੀ ॥

ਭਗਤਜੀ ਦੇ ਗੁਰਦੁਆਰੇ ਜਾਓ ਤਾਂ ਦੂਰ ਤੋਂ ਹੀ ਖੰਡੇ ਵਾਲਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਸਾਹਬ ਦਸਦਾ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਬੈਰਾਗੀ ਮਤ ਦਾ ਅਸਥਾਨ ਨਹੀਂ, ਅੰਦਰ ਜਾਓ ਤਾਂ ਪੰਜਾਂ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਬਾਂ ਦਾ ਪ੍ਰਕਾਸ਼, ਆਸਾ ਦੀ ਵਾਰ ਦਾ ਕੀਰਤਨ, ਕੜਾਹ ਪ੍ਰਸ਼ਾਦ ਦੀ ਭੇਟਾ, ਬਗੈਰ ਜ਼ਾਤ ਪਾਤ ਦੇ ਲਿਹਾਜ਼ ਤੋਂ ਗੁਰੂ ਕੇ ਲੰਗਰ ਦਾ ਵਰਤਣ ਦਸਦਾ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਬਾਰਾਂ ਬੰਦੇ ਅਤੇ ਚੌਦਾਂ ਚੁੱਲ੍ਹਿਆਂ

ਵਾਲੇ ਬੈਰਾਗੀਆਂ ਦਾ ਮੰਦਰ ਨਹੀਂ, ਫੇਰ ਜਦ ਅਸੀਂ ਦੇਖਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਇਸ ਅਸਥਾਨ ਨਾਲ ਜ਼ਮੀਨ ਸਿਖਾਂ ਨੇ ਲਗਵਾਈ, ਅੰਦਰਲੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਸ੍ਰ: ਸ਼ਾਮ ਸਿੰਘ ਨੇ ਉਸਾਰੀ, ਬਾਹਰ ਤਲਾ ਦੀ ਬਾਹੀ ਰਾਣੀ ਚੰਦ ਕੌਰ ਨੇ ਬਣਵਾਈ, ਬਾਹਰਲੇ ਬੁੰਗੇ ਟਾਂਕ ਕਸ਼ੱਤ੍ਰੀਆਂ ਨੇ ਬਣਵਾਏ ਤਾਂ ਨਿਸਚਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਬੈਰਾਗੀ ਨਹੀਂ ਸਨ, ਸਚ ਮੁਚ ਅਗਰ ਭਗਤ ਜੀ ਬੈਰਾਗੀ ਸਨ ਤਾਂ ਕਿਸੇ ਬੈਰਾਗੀ ਦਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਜਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਅਸਥਾਨ ਨਾਲ ਪ੍ਰੇਮ ਹੁੰਦਾ ਤੇ ਉਹ ਇੱਥੇ, ਇਮਾਰਤ, ਪੱਥਰ ਅਥਵਾ ਹੋਰ ਕਿਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਦੀ ਸੇਵਾ ਕਰਾਉਂਦਾ ਪ੍ਰੰਤੂ ਸਾਨੂੰ ਥਾਂ ਥਾਂ ਢੂੰਡਣ ਪਰ ਭੀ ਕਿਸੇ ਬੈਰਾਗੀ ਦੇ ਨਾਮ ਦੀ ਸਿਲਾ ਨਜਰ ਨਹੀਂ ਪਈ। ਇਨਾ ਸਹੀ ਵਾਕਿਆਤ ਦੇ ਹੁੰਦਿਆਂ ਭੀ ਕੋਈ ਭਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਨਿਰੋਲ ਈਸ਼੍ਵਰ ਭਗਤ ਦੀ ਥਾਂ ਕੁਛ ਹੋਰ ਆਖੀ ਜਾਵੇ ਤਾਂ ਉਸਦਾ ਹਠ ਹੀ ਸਮਝਿਆ ਜਾਵੇਗਾ।

ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਪਰਵਾਰ

ਭਗਤ ਜੀ ਦੇ ਘਰ ਦੀ ਦਾਸੀ "ਜਾਨਾ ਬਾਈ" ਜੀ ਦਾ ਇਕ ਮਰਹੱਟੀ ਅਭੰਗ ਇਸ ਪ੍ਰਕਾਰ ਹੈ—

ਗੋਣਾਈ, ਰਾਜਾਈ, ਦੋਘਿ ਸਾਸੂ ਸੂਨਾ। ਦਾਮਾ, ਨਾਮਾ, ਜਾਣਾ ਬਾਪ ਲੇਕ ਨਾਦਾ, ਮਹਾਦਾ, ਗੋਂਦਾ, ਵਿਠਾ, ਚੌਘੇ ਪੁਤ੍ਰ। ਜਨਮਲੇ ਪਵਿਤ੍ਰ ਤਯਾਚੇ ਵੰਸੀ ਲਾਡਾਈ, ਗੋਡਾਈ, ਯੇਸ਼ਾ, ਸਾਖ ਰਾਈ ਚੌਘੀ ਸੂਨਾ ਯਾਹੀ ਨਾਮ ਯਾਚਿਆ ਲਿੰਬਾਈ ਤੇ ਲੇਕੀ ਆਊ ਬਾਈ ਬਹਿਣੀ। ਵੇਡੀ ਪਿਸ਼ੀ ਜਨੀ ਨਾਮਯਾਹੀ।

ਅਰਥ—ਗੋਣਾ (ਬਾਈ) ਰਾਜਾ (ਬਾਈ) ਦੋਵੇਂ ਨੂੰਹ ਸਸ।

ਦਾਮ (ਸ਼ੇਟ) ਨਾਮ (ਦੇਵ) ਪਿਤਾ ਪੁਤ੍ਰ।

ਨਰਾਇਣ (ਦਾਸ) ਮਹਾਂ ਦੇਵ, ਗੋਬਿੰਦ (ਦਾਸ) ਵਿਠਲ (ਦਾਸ) ਚਾਰੇ ਪੁਤ੍ਰ ਜਿਨਾਂ ਨੇ ਪਵਿਤ੍ਰ ਵੰਸ ਵਿਚ ਜਨਮ ਲੀਆ।

ਲਾਡਾਈ, ਗੋਣਾਈ, ਯੇਸ਼ਾਈ, ਸਾਕਰਾਈ, ਚਾਰੇ ਨੂੰਹਾਂ।

ਪੁਤ੍ਰੀ ਲਿੰਬਾ ਬਾਈ, ਭੈਣ ਆਊ ਬਾਈ, ਜਾਨਾ ਬਾਈ ਟਹਿਲਣ।

ਇਸ ਅਭੰਗ ਤੋਂ ਪਤਾ ਲਗਾ ਕਿ ਮਹਾਰਾਜ ਜੀ ਦੇ ਪਰਵਾਰ ਦੇ ੧੫ ਜੀਵ ਸਨ—

੧—ਪਿਤਾ—ਦਾਮਸ਼ੇਟ।
੨—ਮਾਤਾ—ਗੋਣਾ ਬਾਈ।
੩—ਆਪ—ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ
੪—ਪਤਨੀ—ਰਾਜਾ ਬਾਈ

ਚਾਰ ਪੁਤ੍ਰ

੫—ਨਰਾਇਣ ਦਾਸ
੬—ਗੋਬਿੰਦ ਦਾਸ
੭—ਮਹਾਂ ਦੇਵ
੮—ਵਿਠਲ ਦਾਸ

ਚਾਰ ਨੂੰਹਾਂ

੯—ਲਾਡਾ ਬਾਈ
੧੦ -ਗੋਡਾਈ
੧੧—ਯੇਸ਼ਾਈ
੧੨—ਸਾਕਰਾਈ
੧੩—ਆਊ ਬਾਈ (ਭੈਣ)
੧੪—ਲਿੰਬਾ ਬਾਈ (ਸਪੁਤੀ)
੧੫—ਜਾਨਾ ਬਾਈ (ਟਹਿਲਣ)

ਕੁਰਸੀ ਨਾਮਾ

ਯਦੂ ਸ਼ੇਟ ਤੋਂ ਲੈਕਰ

ਬਦੂ ਸ਼ੇਟ
|
ਹਰ ਸ਼ੇਟ (ਬਾਜਯਾ ਬਾਈ)
|
ਗੋਪਾਲ ਸ਼ੇਟ, (ਗੰਗਾ ਬਾਈ)
|
ਗੋਬਿੰਦ ਸ਼ੇਟਰਘੂ ਸ਼ੇਟ
|
ਨਰ ਹਰ ਸ਼ੇਟ (ਲਿੰਬਾ ਬਾਈ) ਜੀਵਾ ਸ਼ੇਟ (ਦਾਸੀ ਬਾਈ)
|
ਦਾਮ ਸ਼ੇਟ (ਗੋਣਾ ਬਾਈ)
|
ਨਾਮ ਦੇਵ (ਰਾਜਾ ਬਾਈ)
|
ਨਾਰਾਇਨ (ਲਾਡਾਈ) ਮਹਾਂ ਦੇਵ (ਗੋਡਾਈ) ਵਿਠਲ (ਸਾਕਰਾਈ)
ਗ਼ੋਬਿਦ ਸ਼ੇਟ (ਯੇਸ਼ਾਈ)

ਸੁਰਗਵਾਸ ਹੋਣ ਦੀ ਤਾਰੀਖ ਅਤੇ ਅਸਥਾਨ

ਲਗ ਭਗ ਸਾਰੇ ਇਤਹਾਸ ਕਾਰ ਇਸ ਗਲ ਪਰ ਸਹਿਮਤ ਹਨ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ੮੦ ਸਾਲ ਦੀ ਆਯੂ ਬਤੀਤ ਕਰਕੇ ਸਰੀਰ ਛਡਿਆ। ਅਸੀ ਕਿਸੀ ਦੂਸਰੀ ਥਾਂ ਜਨਮ ਦੀ ਤਾਰੀਖ ਪਰ ਚੰਗੀ ਤਰਾਂ ਵਿਚਾਰ ਕਰ ਚੁੱਕੇ ਹਾਂ, ਇਸ ਅਨਸਾਰ ਭਗਤਜੀ ਦੇ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਣ ਦੀ ਤਾਰੀਖ ੨ ਮਾਘ ੧੪੦੭ ਬਿਕ੍ਰਮੀ ੧੩੫੦ ਈਸਵੀ ਅਤੇ ੧੨੭੦ ਸਾਲਵਾਹਨ ਠੀਕ ਬਣਦੀ ਹੈ। ਬਾਕੀ ਰਿਹਾ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਣ ਦੀ ਥਾਂ ਇਸ ਪਰ ਵਿਚਾਰ ਕਰਨੀ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ।

ਭਾਵੇਂ ਇਹ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਹੈ ਤੇ ਲਗ ਭਗ ਸਾਰੇ ਇਤਹਾਕ ਖੋਜੀ ਇਸ ਗਲ ਨੂੰ ਮੰਨਦੇ ਭੀ ਹਨ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ "ਸ੍ਰੀ ਪੰਡਰ ਪੁਰ" ਜੀ ਵਿਖੇ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਏ, ਅਤੇ ਇਸ ਨਗਰ ਦੇ ਚੜ੍ਹਦੇ ਪਾਸੇ ਆਪਦੀ ਸਮਾਧੀ ਹੈ, ਜਿਸ ਕਰਕੇ ਇਸ ਨਗਰ ਦੇ ਇਸ ਪਾਸੇ ਵਾਲੇ ਦਰਵਾਜੇ ਦਾ ਨਾਮ ਭੀ "ਨਾਮਦੇਵ ਦ੍ਵਾਰ" ਕਰਕੇ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਹੈ। ਇਸ ਦਰਵਾਜੇ ਦੀਆਂ ਪੌੜੀਆਂ ਉੱਤਰ ਦਿਆਂ ਸੱਜੇ ਹੱਥ ਮਰਹਟੀ ਪੌਸ਼ਾਕ ਵਿਚ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੀ ਮੂਰਤੀ ਸਥਾਪਨ ਹੈ ਤੇ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਦੀ (ਖਸ਼ਤ੍ਰੀ) ਜਾਤੀ ਦਾ ਇਕ ਆਦਮੀ ਉੱਥੇ ਪੁਜਾਰੀ ਨੀਯਤ ਹੈ।

ਪਰ ਇਤਨੇ ਸਬੂਤਾਂ ਦੇ ਹੁੰਦਿਆਂ ਭੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵਜੀ ਦੇ ਦੇਹੁਰੇ ਸਾਹਬ (ਘੁਮਾਣਾ) ਦੇ ਇਕ ਮਹੰਤਜੀ ਨੇ ਅਪਣੀ ਰਚਿਤ ਜਨਮ ਸਾਖੀ ਵਿਚ ਭਗਤ ਜੀ ਦੀ ਸਮਾਧੀ ਘੁਮਾਣਾ ਵਿਚ ਲਿਖੀ ਹੈ, ਤੇ ਆਏ ਯਾਤ੍ਰੀਆਂ ਅਰ ਪ੍ਰੇਮ ਰੱਖਣ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਭੀ ਇਹੋ ਆਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਇੱਥੇ ਹੀ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਏ ਸਨ, ਅਸੀ ਇਸ ਗਲ ਨੂੰ ਤਾਂ ਮੰਨਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਨਗਰ "ਘੁਮਾਣ" ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਅਰਸਾ ਰਹਿਕੇ ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਬੰਦਿਆਂ ਨੂੰ ਸੱਤ ਮਾਰਗ ਦਾ ਉਪਦੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਰਹੇ, ਐਸੇ ਮਹਾਂ ਪੁਰਸ਼ ਜਿਸ ਥਾਂ ਟਿਕੇ ਹੋਣ ਉਹ ਥਾਂ ਅਤੀ ਪਵਿਤ੍ਰ ਹੈ ਅਤੇ ਐਸੀ ਥਾਂ ਪਰ ਜੋ ਭੀ ਉਨਾਂਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਕਾਇਮ ਕੀਤੀ ਜਾਵੇ ਸਭ ਦੇ ਪੂਜਣ ਅਤੇ ਸਤਕਾਰ

ਯੋਗ ਹੈ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਇਹ ਗਲ ਆਖਣੀ ਕਿ ਭਗਤਜੀ ਇਥੇ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਏ ਸਨ, ਜਾਂ ਉਨਾਂ ਦਾ ਇਥੇ ਸਸਕਾਰ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਸੀ ਅਥਵਾ ਉਨਾਂਦੀ ਇਹ ਸਮਾਧ ਹੈ, ਬਿਲਕੁਲ ਗਲਤ ਅਰ ਵਾਕਿਆਤ ਦੇ ਉਲਟ ਹੈ।

ਘੁਮਾਣਾ ਦੇ ਲਿਖਾਰੀ ਜੀ ਜਿਸ ਤਰੀਕੇ ਨਾਲ ਭਗਤ ਜੀ ਦਾ ਘੁਮਾਣਾਂ ਵਿਚ ਸੁਰਗ ਵਾਸ ਹੋਣਾ ਲਿਖਦੇ ਹਨ, ਉਹ ਵਿਚਾਰ ਦੀ ਘਸਵਟੀ ਅਗੇ ਬਿਲਕੁਲ ਨਹੀਂ ਠਹਿਰਦਾ।

ਉਹ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਕਿ ਕਗਤ ਜੀ ਨੂੰ ਘੁਮਾਣਾਂ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦਿਆਂ ਜਦ ਬਹੁਤ ਅਰਸਾ ਹੋ ਗਿਆ ਤੇ ਆਪਦੀ ਅਵਸਥਾ ਭੀ ਲਗ ਭਗ ੮੦ ਵਰਹੇ ਦੀ ਹੋ ਗਈ ਤਾਂ ਆਪ ਕੁਛ ਉਦਾਸ ਰਿਹਾ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਜਦ ਨਿਕਟ ਵਰਤੀ ਸੇਵਕਾਂ ਨੇ ਪੁਛਿਆ ਤਾਂ ਆਪਨੇ ਫਰਮਾਇਆ ਕਿ ਸਾਡਾ ਮਨ ਚਾਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਆਪਣੇ ਦੇਸ਼ ਵਲ ਚੱਲੀਏ, ਅਤੇ ਬ੍ਰਿਧ ਮਾਤਾ ਅਰ ਪਿਤਾ ਦੇ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰੀਏ।

ਅਗੇ ਜਾਕੇ ਇਹ ਲੇਖਕ ਜੀ ਲਿਖਦੇ ਹਠ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਅਪਣੇ ਦੇਸ਼ ਨੂੰ ਚਲੇ ਗਏ, ਲਿਖਾਰੀ ਜੀ ਇਹ ਭੀ ਮੰਨਦੇ ਹਨ ਕਿ ਆਪਨੇ ਸ੍ਰੀ ਪੰਡਰ ਪੁਰ ਜਾਕੇ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਦੇ ਚਰਨਾਂ ਪਰ ਸੀਸ ਰਖਿਆ, ਆਪ ਇਹ ਭੀ ਜ਼ਾਹਰ ਕਰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਆਪਦਾ ਨਗਰ ਜਾਣਾ ਸੁਣਕੇ ਸਾਰੇ ਸਨਬੰਧੀ, ਸ਼ਰਧਾਲੂ ਅਤੇ ਦੋਸਤ ਮਿਤ੍ਰ ਦਰਸ਼ਨਾਂ ਨੂੰ ਆਏ, ਭਗਤ ਜੀ ਨਾਲ ਵਾਰਤਾਲਾਪ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਈਸ਼੍ਵਰ ਭਗਤੀ ਦਾ ਉਪਦੇਸ਼ ਸੁਣਿਆ ਇਹ ਸਭ ਗਲਾਂ ਲਿਖਣ ਦੇ ਬਾਵਜੂਦ ਭੀ ਉਹ ਇਸ ਪ੍ਰਸੰਗ ਨੂੰ ਅਜੀਬ ਰੰਗਤਦੇ ਗਏ। ਆਪ ਫਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ ਕਿ ਸ੍ਰੀਪੰਡਰਪੁਰਜੀ ਜਾਣ ਲਗੇ ਤਾਂ ਭਗਤਜੀ ਆਪਣਾ ਸਰੀਰ ਇਥੇ ਛੱਡ ਗਏ ਤੇ ਕੇਵਲ ਆਤਮਾ ਹੀ ਪੰਡਰਪੁਰ ਜੀ ਗਈ, ਦੋ ਤਿੰਨ ਦਿਨ ਬਾਦ ਜਦ ਆਤਮਾ ਵਾਪਸ ਨਾਂ ਆਈ ਤਾਂ ਸੇਵਕਾਂ ਨੇ ਸਰੀਰ ਨੂੰ ਮੁਰਦਾ ਸਮਝਕੇ ਸਸਕਾਰ ਕਰ ਦਿਤਾ, ਕੁਛ ਦਿਨਾਂ ਬਾਦ ਆਤਮਾ ਮੁੜਕੇ ਆਈ ਤਾਂ ਸਰੀਰ ਨਾ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਨਾ ਹੋ ਸਕੀ ਤੇ ਸੇਵਕਾਂ ਨੂੰ ਉਨਾਂ ਦੀ ਗਲਤੀ ਚਿਤਾਰ ਕੇ ਵਾਪਸ ਚਲੀ ਗਈ, ਜਿਸ ਪਰ ਸੇਵਕਾਂ ਨੇ ਪਸਚਾਤਾਪ ਕੀਤਾ।

ਉੱਕਤ ਲੇਖਕ ਜੀ ਇਕ ਪਾਸੇ ਤਾਂ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਕਿ ਸ੍ਰੀ ਨਾਮਦੇਵ ਜੀ ਸਰੀਰ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਆਤਮਾ ਰੂਪ ਵਿਚ ਹੀ ਪੰਡਰਪੁਰ ਗਏ, ਅਤੇ ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਕਿ ਪੰਡਰਪੁਰ ਵਿਚ ਜਾਕੇ ਮਾਤਾ ਪਿਤਾ ਨੂੰ ਮਿਲੇ, ਸੀਸ ਨਿਵਾਇਆ, ਦਰਸ਼ਨ ਕੀਤਾ. ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਸੁਨੇਹੇ ਸੁਣੇ ਅਤੇ ਉਪਦੇਸ਼ ਦਿਤਾ, ਜਦ ਸਰੀਰ ਨਹੀਂ ਸੀ ਤਾਂ ਝੁਕਣ ਵਾਲਾ ਸਿਰ,ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਨ ਵਾਲੀਆਂ ਅੱਖਾਂ, ਸੁਣਨ ਵਾਲੇ ਕੰਨ ਅਤੇ ਅਤੇ ਉਪਦੇਸ਼ ਕਰਨ ਵਾਲੀ ਰਸਨਾ ਕਿਥੋਂ ਆ ਗਈ।

ਮਾਲੂਮ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਭਗਤ ਜੀ ਸ੍ਰੀ ਪੰਡਰਪੁਰ ਜੀ ਜਰੂਰ ਗਏ ਅਤੇ ਸਰੀਰ ਸਮੇਤ ਗਏ ਪਰ ਜਾਣ ਲਗੇ, ਅਪਣੇ ਗਲ ਦਾ ਚੋਲਾ ਅਥਵਾ ਖੜਾਵਾਂ ਛੱਡ ਗਏ, ਜਿਸ ਨਾਲ ਘੁਮਾਣਾ ਦੇ ਸੁਧਾਲੂਆਂ ਨੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਕਾਇਮ ਕਰ ਲਈ।

ਘੁਮਾਣਾ ਦਾ ਉਹ ਅਸਥਾਨ ਜਿਥੇ ਭਗਤ ਜੀ ਨੇ ਨਿਵਾਸ ਕੀਤਾ, ਮੰਨਣ ਅਤੇ ਪੂਜਣ ਯੋਗ ਹੈ। ਇਤਹਾਸ ਤੋਂ ਇਹ ਗਲ ਭੀ ਪ੍ਰਗਟ ਹੈ ਕਿ ਖੜਕ ਧਾਰੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਹਰਗੋਬਿੰਦ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਮਹਾਰਾਜ ਜਦ ਸ੍ਰੀ ਹਰਗੋਬਿੰਦ ਪੁਰ ਵਸਾਉਣ ਆਏ ਤਾਂ ਘੁਮਾਣਾਂ ਵਿਚ ਇਸ ਅਸਥਾਨ ਪਰ ਭੀ ਆਏ * ਸਤਿਗੁਰੂ ਜੀ ਦੇ ਚਰਣ ਪੈਣ ਨਾਲ ਇਹ ਅਸਥਾਨ ਹੋਰ ਭੀ ਪਵਿਤ੍ਰ ਹੋ ਗਿਆ ਤੇ ਉਨਾਂ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਵਿਚ ਖੰਡੇ ਵਾਲਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਸਾਹਿਬ ਲਗਾਇਆ ਗਿਆ ਜੋ ਹੁਣ ਤਕ ਝੂਲਦਾ ਹੈ ਅਤੇ ਇਕ ਬਾਰਾਂ-ਦਰੀ ਬਣਾਕੇ ਪੰਜਾ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਦਾ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਜੋ ਹੁਣ ਤਕ ਸ਼ੋਭ ਨੀਕ ਹੈ।

*(੧) ਗੁਰਬਿਲਾਸ ਛੇਵੀਂ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਰਚਤ ਪੰਡਤ ਤਾਰਾ ਸਿੰਘ ਗਿਆਨੀ ਧਿਆਇ ੧੫ ਸਫਾ ੪੩੪। (੨) ਤਵਾਰੀਖ ਗੁਰੂ ਖਾਲਸਾ ਹਿੱਸਾ ਪਹਿਲਾ ਜਿਲਦ ੨ ਪੰਨਾ ੬੪੨ ਪ੍ਰਸੰਗ ੪੦। (੩) ਜਨਮ ਸਾਖੀ ਭਗਤ ਨਾਮਦੇਵ ਰਚਤ ਬਾਵਾ ਪੂਰਨ ਦਾਸ ਸਫਾ ੪੨੪ ਤੋਂ ੪੨੭। (੪) ਖੜਗ ਧਾਰੀ ਹੁਲਾਸ ਰਚਤ ਭਾਈ ਜੋਧਾਸਿੰਘ ਗਿਆਨੀ ਸਫਾ ੧੨੯ ਤੋਂ ੧੩੧। ਉਕਤ ਇਤਹਾਸਕ ਪ੍ਰਮਾਣਾਂ ਤੋਂ ਸਿੱਧ ਹੈ ਕਿ ਖੜਗਧਾਰੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਉੱਥੇ ਗਏ।

* ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन *

भाग १७
संख्या २

फरवरी १९४१

क्रमसंख्या ६४

प्रधान सम्पादक—

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल. (आक्सफोर्ड)
आफिसर अकेडेमी (फ्रांस)

सूचना—

सम्पादक लेखकों के लेख का उत्तरदाता नहीं होगा।

प्रकाशक—मि० सदीक अहमदखां

श्रीकृष्ण दीक्षित प्रिंटर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड, लाहौर में मि० सदीक अहमद खां पब्लिशर ओरियण्टल कालेज लाहौर के लिये छापा।

॥ ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन ॥

विज्ञप्ति

उद्देश्य—इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य यह है कि प्राच्यविद्या सम्बन्धी परिशीलन वा तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जाय और विशेषतः उन विद्यार्थियों में अनुसन्धान का शौक पैदा किया जाए जो संस्कृत, हिन्दी और पञ्जाबी के अध्ययन में संलग्न हैं।

किस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करना अभीष्ट है—

यत्न किया जायेगा कि इस पत्रिका में ऐसे लेख प्रकाशित हों जो लेखक के अपने अनुसन्धान के फल हों। अन्य भाषाओं से उपयोगी लेखों का अनुवाद स्वीकार किया जायगा और संक्षिप्त तथा उपयोगी प्राचीन हस्तलेख भी क्रमशः प्रकाशित किए जायेंगे। ऐसे लेख जो विशेषतः इसी पत्रिका के लिए न लिखे गए हों, प्रकाशित न होंगे।

प्रकाशन का समय—

यह पत्रिका अभी साल में चार बार अर्थात् कालेज की पढ़ाई के साल के अनुसार नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्त में प्रकाशित होगी।

मूल्य—

इसका वार्षिक चन्दा ३) रुपये होगा विद्यार्थियों से केवल १॥) लिया जायगा।

पत्र व्यवहार और चन्दा भेजना—

पत्रिका के खरीदने के विषय में पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना आदि प्रिंसिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर के नाम से होना चाहिये। लेख सम्बन्धी पत्र व्यवहार सम्पादक के नाम होने चाहिएं।

प्राप्ति स्थान—

यह पत्रिका ओरियण्टल कालेज लाहौर के दफ्तर से खरीदी जा सकती है।

पञ्जाबी विभाग के सम्पादक सरदार बलदेवसिंह बी. ए. हैं। वही इस विभाग के उत्तरदायी हैं।

श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी

कृत

चण्डीचरित्र

सटीक

सम्पादिका—

श्रीमती रामप्यारी खन्ना

हिन्दीरत्न साहित्यालङ्कार

अमृतसर

विषयसूची

दशमग्रन्थान्तर्गत, दसवें पातशाह श्री गुरु गोबिन्दसिंहजी कृत
चराडी-चरित्र

[लेखिका—श्रीमती रामप्यारी खन्ना हिन्दीरत्न साहित्यालङ्कार अमृतसर]

दशम-ग्रन्थ की उत्पत्ति और उसका संक्षिप्त-परिचय

नौवें गुरु तेगबहादुर जी के परमोच्च बलिदान के बाद, खालसा-पन्थ की बागडोर दसवें गुरु, श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी के हाथ में आई। आप श्री गुरु तेगबहादुर जी के पुत्र और गुरु-गद्दी के एक मात्र अधिकारी थे। उस समय आपकी अवस्था केवल दस ग्यारह वर्ष के करीब थी।

श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी, जन्म से ही प्रतिभासम्पन्न, प्रखर-बुद्धि और दूरदर्शी थे। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के लिये अगाध प्रेम रखते थे। उनकी आकांक्षाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारिणी थीं। वे तत्कालीन अन्यायी और अत्याचारी शासन के बहुत विरुद्ध थे और उसको जड़ें उखाड़ डालने के परमेच्छुक थे। इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी खूब किया। उनकी सारी कोशिशें देश और जाति के लिए उन्नति का मार्ग ढूंढ निकालने को ही हुआ करती थीं। वे हिन्दुत्व के अवतार और सद्गुणों के भण्डार थे। उनकी तेजोमयी मूर्ति दुष्टों के लिए कालरूप और सज्जनों के लिए शान्ति-और सन्तोष-दायिनी थी। आर्य-सभ्यता की वे एक जीती जागती निशानी थे, हिन्दूपन की एक अद्भुत मिसाल थे।

अपने निश्चित कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने से पहले वे अपने चुने हुए साथियों के साथ हिमालय के दुर्गम पहाड़ों में चले गए। करीब २० वर्ष तक वहां रहे। इस समय में उन्होंने अनेक प्रकार की साधना करते हुए अनुभव किया कि खालसापन्थ मे, आर्य-जाति में और हिन्दूवीर वीराङ्गनाओं में प्राचीन आर्य-गाथाओं के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक साहित्य के संवर्द्धन की बड़ी जरूरत है। उन्होंने देखा कि सर्व-साधारण जनता में संस्कृत का ज्ञान बहुत कम है और यही कारण है कि वह अपने पूर्वजों के पुनीत चरित्रों से बहुत कुछ अनभिज्ञ है। हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो भारत के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक न्यूनाधिक रूप से सर्वत्र समझी जाती है, यदि इसमें आर्यगुण-गरिमा का अधिक से अधिक संवर्द्धन किया जाय तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है। अतः उन्होंने पञ्जाबी होते

हुए भी हिन्दी को विशेष रूप से अपनाया, यद्यपि कृपा पंजाबी और फ़ारसी पर भी की।

गुरु गोविन्दसिंह जी स्वयं भारी विद्वान् और परमोच्च कवि थे। विद्यारसिक और परमोदार होने के कारण सदा ही गुणज्ञों से घिरे रहते थे। कहा जाता है कि ५२ कवि उनके दरबार को सुशोभित किया करते थे। सेनापति भी उनमें से एक थे। उनका लिखा "गुर सोभा" ग्रन्थ गुरुमुखी अक्षरों में हमने भी देखा है। कहते हैं कि हृदय राम का "हनुमान-नाटक" गुरु जी ने ही पूरा कराया था। गुरु साहब स्वयं कविता करते और अपने दरबारी कवियों से भी कराते। उन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक देवी देवताओं के चरित्र वर्णन किये और कराए। भगवान् राम और कृष्ण के चरित्र अधिक विस्तार से कहे। भगवती दुर्गा का प्रसंग खूब जोर से वर्णन किया। एक तरह से नहीं, दो-दो और तीन-तीन तरह से। प्रार्थनात्मक कविताएं भी कहीं और उपाख्यान भी बनाए। सारांश यह कि वह सब कुछ लिखा और लिखाया जिसकी हिन्दु कौम को अजहद जरूरत थी। कविता में अपना उपनाम वह "स्याम" रखते थे। यह नाम उनकी माता ने प्यार से यों ही डाल रखा था। या शायद श्रीमान् स्याम की तरह बचपन में जरा ज्यादा विनोदी थे।

गुरु साहब का यह प्रयत्न बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। हिन्दु-जाति में पुनः नव-जीवन का संचार हो गया। अपने पूर्वजों के लिये पुनः उसके हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव भर गया और वह अपना अस्तित्व अनुभव करने लग गई।

गुरु गोविन्दसिंह जी अपना कार्य करके इह लीला समाप्त कर गए, इस असार संसार से चले गए। कहते हैं कि उनके बाद उनकी वाणी लोगों में कण्ठस्थ ही चली आने लगी। सिक्ख-इतिहास में बाबा दीपसिंह जी एक बड़े शूरवीर और धार्मिक पुरुष हो गए हैं। उन्होंने उचित समझा कि गुरु साहब की समग्र वाणी एक जगह लिपिबद्ध कर देनी चाहिये। उसके लिये उन्हों ने बड़ा प्रयत्न किया। उन तमाम गुणी ज्ञानियों और सिक्खों से, जो कि किसी समय श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी के चरणों में बैठ चुके थे, या जिनके पास गुरु साहब की वाणी का कोई अंश किसी भी रूप में सुरक्षित था, प्राप्त किया और सिलसिलेवार एक ग्रन्थ तैयार कर डाला। नाम रक्खा उसका "दशम ग्रन्थ।" यह नाम गुरु साहब का ग्रन्थ होने का बोध कराने के लिये भी जरूरी ख्याल किया गया।

दशम-ग्रन्थ तैयार हो गया। लोगों ने देखा पर कुछ सिक्खों ने किसी कल्पना के आधार पर उसका अस्तित्व ज्यादा पसन्द न किया। सिक्खों में दो दल हो गये। यह

देखकर बाबा दीपसिंह जी को ,और समग्र जाति-हितैषी हिन्दुओं को बड़ा दुःख हुआ।

उन दिनों अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर की दशा बहुत खराब हो रही थी। वह मुसलिम शासकों के अधिकार में था और मस्सा रंगड़ नाम का एक हाकिम उस में तरह २ की मनमानियें किया करता था। कहते हैं कि अकाल तख्त पर वह रंडियें नचाया करता था। भाई महिताबसिंह मीराकोटिया एक शूरवीर और भावुक सिख था। उससे यह दुराचार न देखा गया, इसलिये वह मस्से का सिर उतारने के लिये घर से निकल पड़ा। खालसा जी को भी इस का पता लग गया। उन्होंने फैसला किया कि अगर तो भाई महिताबसिंह मस्से का सिर काट लाया तब तो समझना चाहिये कि दशम ग्रन्थ का अस्तित्व गुरुसाहब को स्वीकार है, अन्यथा नहीं। दैवयोग से भाई महिताब सिंह मस्से का सिर काट लाया। खालसा पन्थ में खुशियें छा गई और दशम-ग्रंथ का अस्तित्व सब ओर से अभिनंदित किया गया। तबसे आज तक दशम ग्रंथ सिख समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि पूजा "आदि श्रीगुरुग्रंथ साहब" की ही होती है। यह एक महान् ग्रंथ है। गुरुमुखी के बारीक अक्षरों में करीब ग्यारह सौ पृष्ठ का है।

हिन्दी-साहित्य-संसार में कई सभा सोसायटियें हैं, कई बड़े-बड़े प्रकाशक हैं, कई उनके आधीन और कई स्वतन्त्र खोज करने वाले बड़े-बड़े विद्वान् हैं। पता नहीं इधर कोई ध्यान क्यों नहीं देता ? इस ओर से वे इतने अनभिज्ञ और उदासीन रहना क्यों पसन्द करते हैं ? वह इस ओर से कितने अनभिज्ञ हैं, इसका पता हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थों को देखने से लगता है। अमूमन किसी भी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ को उठा कर देखिए, अन्धेर खाता ही नज़र आयगा। किसी गुरु की कविता किसी गुरु के नाम से मिलेगी और वह भी अमूमन गलत मलत ही। परिचय भी वैसा ही नज़र आयगा। वह भी समग्र गुरुओं का नहीं, केवल दो तीन का ही।

हमारी देर से यह कोशिश रही है कि हिन्दी-साहित्य के विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित किया जाय। यह प्रयत्न भी उसी कोशिश का एक अंश है।

मेरी धर्मपत्नी को साहित्य-सेवा का बड़ा शौक है। पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों को पता है कि उसके लेख कभी-कभी निकला ही करते हैं। यह पुस्तक भी मेरी सहायता से उसी ने लिखी है।

मैं समझता हूँ कि इसमें कई त्रुटियें होंगी। पर प्रथम-प्रयास होने से यह

क्षमा के भी योग्य है, ऐसा मेरा ख्याल है। लेकिन फिर भी अगर कोई जिम्मेवारी है तो मेरी है। मैं ही इसके बारे में हर प्रकार का उत्तरदायी हूँ।

पाठ के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। पाठ, "दशम-ग्रन्थ" से लिया गया है। वह गुरुमुखी अक्षरों में है। पाठ को नागरी अक्षरों में करते हुए उसे नागरी अक्षरों की लेखप्रणाली में ही रक्खा है। कई वर्ष हुए मैंने अमृतसर की विख्यात सिख मिशनरी सोसायटी के लिए श्री जपुजी साहिब सटीक का एक हिन्दी संस्करण तैयार किया था। उसमें भी श्री जपुजी साहिब के मूलपाठ को नागरीलिपि के नियमानुसार ही रक्खा था। वह कई हजार की गिनती में छपा था। उसी मिसाल को सामने रख कर यहां ऐसा किया है।

टीका के सम्बन्ध में निवेदन है कि टीका आम तौर पर अपनी बुद्धि से ही की है। पर कहीं कहीं एक पंजाबी टीका से भी यत्किंचित् सहायता ली है। कई एक मित्रों की भी दृष्टि डलवाई है। लेखक उन सब के हृदय से कृतज्ञ हैं। साथ ही पूज्य डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप साहिब के भी, जिनकी असीम कृपा से यह सुअवसर हाथ आया है।

अन्त में एक बात कहनी है। यह सब काम केवल प्रेम और श्रद्धा से किया है। इसका उद्देश्य केवल साहित्य-सेवा है, और कुछ नहीं।

मनुष्य त्रुटियों से भरा है, इस लिए इसमें त्रुटियें न हों, यह हो नहीं सकता। उनका निराकरण तभी होगा जब विद्वज्जन इस पर विचार करेंगे और उन विचारों का हमें पता लगेगा।

आशा है पुस्तक रूप में आने के समय इस में कुछ और भी परिवर्तन किए जाएंगे।

गुरदित्ता खन्ना

चण्डी-चरित्र का सार

मार्कण्डेय पुराण के उत्तरार्द्ध में एक अत्यन्त सुन्दर शिक्षादायक प्रसङ्ग है—"दुर्गासप्तशती"। उसमें ५३५ श्लोक, १०८ अर्धश्लोक और ५७ उवाच, सब मिलाकर ७०० की संख्या है इसीसे उसे सप्तशती कहते हैं। श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने उसी सप्तशती के आधार पर अपने चण्डी-चरित्र की रचना की है, इस बात का उन्होंने अपनी रचना के प्रत्येक अध्याय के अन्त में स्वयं भी उल्लेख किया है। यह चरित्र २३३ सवैया, दोहा और कवित्त आदि में समाप्त हुआ है। इसका सार आरम्भ में जरा खुलासा करके समझाने के ख्याल से कुछ बाहरी प्रसङ्ग को भी मिलाकर लिखा जाता है—

(१)

दूसरे मनु के राज्याधिकार में "सुरथ" नाम का एक चैत्रवंशीय राजा हुआ। उसके शत्रुओं और दुष्ट मन्त्रियों के कारण उसका राज्य उसके हाथ से जाता रहा। वह मेधानामक ऋषि के आश्रम में चला गया। वहां अपने दुष्ट घरवालों से दुखी हो कर आए हुए समाधि नाम के एक वैश्य से उसकी भेंट हुई। दोनों ही मोह के कारण बेचैन हो रहे थे। दोनों ने ऋषि को दण्डवत् प्रणाम किया और बैठ कर अपनी दुःखगाथा सुनाई। राजा ने ऋषि से कहा कि जिस विषय में हम दोनों को दोष दीखता है उसकी ओर भी ममतावश हमारा मन जाता है, इसका क्या कारण है? महर्षि ने उनको मोह का कारण बतलाते हुए कहा कि मोह ज्ञानियों को भी होता है क्योंकि महामाया भगवती, अर्थात् भगवान् विष्णु की योगनिद्रा (तमोगुणप्रधान शक्ति) ज्ञानी पुरुषों के चित्त को भी जबरदस्ती खैंच कर मोहयुक्त कर देती है। इस पर राजा ने प्रश्न किया कि (१) वह महामाया कौन है? (२) वह कैसे उत्पन्न हुई? और (३) उसका कर्म तथा प्रभाव क्या है? इस पर ऋषिदेव ने सविस्तार कहते हुए महामाया भगवती का इस प्रकार चरित्रवर्णन किया।

विशाल जल-राशि में जहां भगवान् शेषनाग की शय्या सजाकर सो रहे थे। वहां उन्होंने नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा पैदा किया। फिर कान से मैल निकाल कर दो दैत्य बनाए। और उनका नाम रक्खा मधु और कैटभ। मधु कैटभ को देखकर ब्रह्मा जी बड़े भयभीत हुए और उन्होंने हृदय में जगद्-जननी का ध्यान किया। तब तो भगवान् की योगनिद्रा टूट गई और उन्होंने युद्ध का सब साज सजाया ताकि तमाम दैत्य मिट जाएं और देवताओं का राज्य बढ़े।

भगवान् ने उन दैत्यों से पांच हज़ार वर्ष तक युद्ध किया पर बना कुछ ना। भगवान् के इस शौर्य को देखकर मधु और कैटभ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा वर मांगो। भगवान् ने उनसे उनका सिर मांग लिया। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इस मांग को स्वीकार कर लिया। तब भगवान् ने उन दोनों को अपने घुटनों पर रख कर सुदर्शन चक्र से उनका सिर काट लिया और उनकी ज्योति अपने शरीर में मिला ली।

२

अब फिर क्या हुआ कि महिषासुर नाम का एक और दैत्य पैदा हो गया। उसने अपना बल संचित कर सारे संसार को जीत लिया उसने देवताओं को ललकार ललकार कर रणभूमि में मार डाला। इतने मारे कि उनकी गणना करना भी असम्भव हो गया। यह देख कर बचे खुचे सब देवता भाग उठे और पार्वती का ध्यान करते हुए कैलाश पर्वत पर आए। वहां रहते हुए जब उन्हें कई दिन बीत गए तो एक दिन पार्वती स्नान करने जाती हुई वहां से निकली। सुअवसर जानकर देवताओं ने अपनी सब दुर्दशा उसके आगे कह सुनाई और सहायता के लिये बड़े ज़ोर से प्रार्थना की। देवी को देवताओं की दुर्दशा पर बड़ी दया आई और राक्षसों पर क्रोध चढ़ा। तब उसने तमाम दैत्यों को क्षय करने का प्रण कर युद्ध का बिगुल बजा दिया।

देवी को मैदान में आया देखकर राक्षस बड़े गुस्से के साथ सामने आ डटे। उनकी गिनती पैंतालीस पदुम थी। उन्होंने बड़े-बड़े भयंकर अस्त्रों और शस्त्रों के साथ एक ही बार हमला कर दिया, पर देवी ने उन्हें कुछ भी न जाना। शेर पर सवार उस दिव्य शक्ति ने बात की बात में बीस पदुम सेना काट कर टुकड़े टुकड़े कर डाली। यह देखकर शेष सेना महिषासुर के पास जा पुकारी कि नाश कर दिया देवी ने। क्या करें कुछ पेश नहीं जाती। यह सुनकर उस दानवराज को बड़ा गुस्सा आया और उसने अपनी सारी सेना के नाम आज्ञा जारी कर दी कि अभी जाकर देवी को घेर लो। सुनते ही वह और जोर के साथ देवी पर टूट पड़े पर देवी ने उन्हें भी गाजर मूली की तरह काटना शुरू कर दिया। कितनों ही को शेर ने यमालय में भेजना शुरू कर दिया। इतना भयंकर युद्ध किया कि कैलाश में बैठे शिवजी का भी ध्यान छूट गया। यह देखकर महिषासुर खुद देवी के सामने आया और उसने बड़ा भयंकर युद्ध किया। आखिर देवी ने उसे भी मार डाला। यह देखकर देवता बड़े प्रसन्न हुए। फिर देवी ने इन्द्र को पुनः राजसिंहासन पर बैठाया। बड़ा उत्सव हुआ।

राक्षसों को मार कर और इन्द्र को राज्य देकर चण्डिका अन्तर्धान हो गई। ऋषि मुनि बड़े प्रसन्न हुए। बड़े आनन्द से रहने और याग यज्ञ करने लगे। इसी बीच मे शुम्भ और निशुम्भ नाम के दो और बलवान् दैत्य पैदा हो गए। शुम्भ ने चतुरंगिणी सेना सजा कर इन्द्रपुरी पर धावा बोल दिया। पहले तो डर कर इन्द्र ने अपने तमाम दरवाजे बन्द कर लिए पर आखिर उसे लड़ना ही पड़ा। भगवान् की इच्छा। दोनों ओर से बड़ा भयङ्कर युद्ध मचा। शुम्भ ने भयंकरता की पराकाष्ठा कर दी। देवताओं को मार मार कर भगा दिया। शुम्भ जीत गया। देवता हार गए। शुम्भ ने देवपुरी पर कब्जा कर लिया और वहां अपने प्रतिनिधि मुकर्रर कर दिए। देवता भाग गए और फिर पार्वती की शरण में पहुंचे। पार्वती ने उनका बहुत बुरा हाल देख कर पुनः दैत्यों को मार डालने का प्रण किया। माथे को फोड़कर काली प्रकट की। उसे देखकर पार्वती बड़े जोर से अट्टहास करके गरजी और बोली—"पुत्री कालिका! तू मुझ में लीन होजा। जैसे गंगा की धारा में यमुना लीन होती है, उसी प्रकार काली पार्वती के शरीर में लीन हो गई। अब पार्वती एक बहुत ही दिव्य छटा धारण कर बड़ा सुन्दर और आकर्षक रूप बना कर मेरु पर्वत की चोटी पर जा बिराजी। दैवयोग से एक दैत्य उधर से आ निकला। वह देवी के रूप को देख कर मोहित हो गया और बोला—"चण्डिके! मैं राजा शुम्भ का भाई हूँ। वह बड़ा बलवान्, तेजवान् और प्रतापवान् है। तू उसे वर ले"। चण्डिका ने जवाब दिया राक्षस! मैं बिना युद्ध किये उसे वर नहीं सकती। सुनते ही वह दौड़ता हुआ शुम्भ के पास पहुंचा और उसे चण्डिका का रूप यौवन सुनाकर विवाह के लिए उकसाने लगा। शुम्भ विवाह के लिए तैयार हो गया। धूम्रलोचन नामक एक बहुत बलवान् योद्धा उस समय वहाँ बैठा था। उसने उठ कर कहा, "आज्ञा हो तो मैं जाऊं। बातों से ही उसे खुश कर लाऊंगा और अगर नहीं मानेगी तो केशों से पकड़ लाऊंगा"। शुम्भ बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—जाओ अगर वह प्रसन्नतापूर्वक आए तो आए नहीं तो उसे बलपूर्वक ले आओ। धूम्र लोचन साथ में चतुरङ्गिणी सेना लेकर वहां गया। और उसने पुकार कर कहा कि—"चण्डिके! या तो राजा शुम्भ को वर लो और या युद्ध के लिये तैयार हो जाओ।" चण्डिका भवानी फौरन शेर पर सवार होकर नाचे उतरी। तमाम अस्त्र शस्त्र उसके हाथ में थे। युद्ध होना शुरू हो गया। बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। आखिर धूम्रलोचन मारा गया। सेना में हाहाकार मच गया।

४

राक्षस सेना का भारी कोलाहल सुन कर देवी की आंखें लाल हो गईं। उसके नेत्रों की ज्वाला बडवानल के समान भड़क उठी। तमाम राक्षस उस में जल कर स्वाहा हो गए। केवल एक बचा। उसे देवी ने औरों को लाने के लिए जानबूझ कर छोड़ दिया। वह राक्षस दौड़ता हुआ शुम्भ के पास पहुँचा और बोला कि सारी चतुरंगिणी-सेना सहित धूम्रलोचन मारा गया। सुन कर शुम्भ को बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर क्रोध करके उसने चण्ड और मुण्ड नाम के दो और बलवान् दैत्यों को बुला भेजा और भारी सेना के साथ यह आज्ञा देकर विदा किया कि या तो चण्डी को बान्ध लाओ अन्यथा खत्म कर आओ। चण्ड और मुण्ड चले। देवी के पहाड़ के नजदीक जाकर उन्हों ने खूब कोलाहल किया। सुनते ही देवी भी तमाम अस्त्र शस्त्र धारण कर और शेर पर चढ़ कर शंख बजाती हुई पहाड़ से नीचे उतर आई। जैसे आकाश में बाज़ को देखकर पक्षियों के झुण्डों में भगदड़ मच जाता है, उसी प्रकार देवी के महारौद्र-रूप को देखकर राक्षसदल में घबड़ाहट मच गई। देवी का एक एक बाण हजारों की संख्या में होकर राक्षसों को लगने लगा। मुण्ड भी खूब लड़ा। उसने शेर को भी और खुद देवी को भी एक बार तो जख्मी कर ही डाला। बहुत युद्ध होने के बाद मुण्ड मारा गया। अब चण्ड की बारी आई। उसे भी देवी ने बात की बात में यमपुरी भेज दिया।

५

राक्षस घूमते हुए कराहते हुए शुम्भ के पास जा पहुंचे। शुम्भ और निशुम्भ को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने निश्चय किया कि अब की बार रक्तबीज को भेजना चाहिए। वह बड़ा बलवान् दैत्य है। दूत भेज कर रक्तबीज को बुलाया गया और उसे सन्मानित कर उत्साहित कर युद्धार्थ भेजा गया। सेना की कमी उसके साथ भी न थी। माता भवानी अब की बार भी शेर पर सवार होकर बिजली की तरह चमकती और कड़कती हुई मैदान में आई। पहले तो राक्षस बड़े जोर से लड़े पर आखिर भाग उठे। भागते हुए राक्षसों को देखकर रक्तबीज ने पुनः उन्हें प्रेरित कर युद्ध भूमि में भेज दिया। राक्षस फिर खूब लड़े पर आखिर सब मारे गये। यह देखकर रक्तबीज बड़े गुस्से में आया और आप लड़ने लगा। उसके खून की एक-एक बूंद से अनेकों रक्तबीज पैदा होने लगे। देवी ने बारम्बार उन्हें मार मार कर पृथ्वी पर सुला दिया पर वह खत्म नहीं हुए। बढ़ते ही गए। तब देवी ने अपने मस्तक से ज्वाला निकाली। उससे काली प्रकट हुई काली से चण्डी

ने कहा कि मैं राक्षसों को मारती हूँ और तू उनका खून पीती जा। काली खून पीने लगी और चण्डी उन्हें मारने और काटने लगी, काली ने भी इसमें योग दिया और आखिर रक्तबीज को मार डाला।

६

रक्तबीजसहित राक्षस मारे गए पर कुछ-एक बचे भी रहे। वे भागकर शुम्भ और निशुम्भ के पास आए। सारी व्यथा उन्होंने कह सुनाई, रक्तबीज का मरना भी सुनाया। सुनकर शुम्भ और निशुम्भ ने अपनी तमाम सेना को युद्ध का साज सामान देकर अपने साथ कर लिया। बड़े वेग के साथ वे दोनों भाई चले और वहां आए जहां दुर्गा महारानी अवस्थित थीं। ज्योंही चण्डी और काली ने सुना कि राक्षस आए, वे दोनों पहाड़ से उतर आईं। उन्हें देख कर राक्षसराज को बड़ा गुस्सा आया और उसने हुक्म दिया कि क्षण भर में इन्हें नाश करदो। युद्ध आरम्भ होगया। काली ने हाथ में तलवार ली और चण्डी ने धनुष बाण। राक्षसों को मार मार कर तबाह कर दिया। राक्षस भाग कर शुम्भ के पास पहुंचे। उधर महाभयङ्कर युद्ध को देख कर भगवान् विष्णु ने दुर्गा की सहायता के लिए तमाम शक्तियों को भेज दिया। जैसे सावन मास में तमाम नदियें चल कर समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार वे तमाम शक्तियें देवी के पास चली आईं। उन्हें देख कर देवी ने उनका आदर सत्कार किया। देवताओं की इस और सेना को देख कर राक्षस बड़े गुस्से के साथ सामने आए। दुर्गा तो उन्हें मार मार कर ही गिराने लगी पर काली ने और ही विलक्षण व्यापार शुरू किया। दाढ़ों से उन्हें चबाने ही लग गई। इस प्रकार अपनी सेना का नाश होता देख राक्षस भाग उठे। तब तो शुम्भ ने निशुम्भ से कहा कि तुम आप सेना लेकर जाओ, इस प्रकार काम नहीं बनेगा। भाई की बात मान कर निशुम्भ दलबलसहित रणभूमि में आया। राक्षस जी तोड़ कर लड़े। देवी ने एक बरछी बड़े जोर से निशुम्भ के मस्तक में घुसेड़ दी। वह निशुम्भ के मुकुट तक को चीर कर वारपार निकल गई। निशुम्भ भी बड़ा बलवान् था। उसने वही बरछी लौटा कर देवी के शरीर में घुसेड़ दी। वह देवी के मुख में लगी। यह युद्ध ऐसा मचा कि जैसा पहले कभी मचा ही न था। कई बार खुद दुर्गा को भी जख्मी होना पड़ा। आखिर निशुम्भ मारा ही गो गया।

७

जब निशुम्भ मारा गया तो एक दैत्य दौड़ता हुआ शुम्भ के पास पहुँचा। उसने सब हाल कह सुनाया। सुनते ही शुम्भ आप भारी सेना लेकर गरजता हुआ

मैदान में आया। युद्ध का फिर भयानक रूप हो गया। देवी ने फिर घोर रूप धारण किया। दुर्गा काली और केहरी—तीनों ने मिल कर शत्रु-दल का नाश करना शुरू किया। शक्तियों ने भी साथ में योग दिया। तमाम राक्षस-सेना मारी गई और शुम्भ भी लड़ते लड़ते बलहीन हो गया। उसके शरीर से इतना खून निकला कि वह एकदम तेजोहीन हो गया। चण्डी ने उसे इस प्रकार हाथ पर उठा लिया जैसे भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया था। फिर उस दैत्य को पृथ्वी पर पटक दिया। पृथ्वी से उड़ कर वह आकाश को चला गया। देवी भी उसे मारने के लिए आकाश को ओर उडी। आकाश में युद्ध होने लगा। लड़ते लड़ते देवी ने तलवार का एक ऐसा जबरदस्त वार किया कि शुम्भ के दो टुकड़े हो गए। वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे मार कर आठ हाथों में अस्त्र शस्त्र लेकर देवी ने बचे खुचे तमाम दैत्यों को भी मार डाला। जो भाग सके वे भाग गए।

जिन दैत्यों के डर से इन्द्र कई बार भागा, ब्रह्मा जिनके भय से भयभीत रहता था, उन दैत्यों को देवी ने मार डाला। तमाम देवता इकट्ठे हुए और देवी की अभ्यर्थना करने लगे, काली के गुण गाने लगे। देवांगनाएं आरती उतारने और फूल बरसाने लगीं। देवी इन्द्र को सारा राज पाट देकर तथा चन्द्र और सूर्य को उनके स्थानों पर टिकाकर आप वहां से अन्तर्धान हो गई। उस समय आकाश में एक दिव्य प्रकाश हुआ, सूर्य चमक उठा। तमाम शक्तिएं पहले ही देवी में समा चुकी थीं। देवी सबका रूप थी।

गुरुसाहब आरम्भ में और अन्त में बड़े सुन्दर शब्दों में देवी की प्रार्थना करते हैं।

अथ चण्डी-चरित्र उक्ति-विलास

प्रथम अध्याय

स० आदि अपार अलेख अनन्त अकाल अभेख अलक्ख अनासा।
कै सिव सक्ति दुए स्रुति चार रजो तम सत्त तिहुं पुर बासा॥
द्योस निसा ससि सूर के दीप सुसृष्टि रची पंच तत्त प्रकासा।
बैर बढ़ाइ लराइ सुरासुर आपहि देखत बैठ तमासा॥१॥

जो परमेश्वर अपार (अगम्य) है, लेखन-शक्ति से बाहिर है, बेअन्त है, जन्म मरण से रहित है, अभेप है, और जिसे जान भी कोई नहीं सकता है, एवं जो अविनाशी है, उसी कल्याणकारी शिव ने, अपनी शक्ति से चारों वेद रचे और तीनों लोकों में सत, रज और तम का वास कराया। फिर दिन के लिये सूर्य और रात के लिए चन्द्रमा, यह दो दीपक भी बनाए। तत्पश्चात् पञ्चतत्त्वमयी सृष्टि का निर्माण किया। वही जगदाधार देवताओं और दैत्यों में वैर बढ़ा कर और उन्हें लड़ा कर तमाशा देखने लगा।

दो० कृपासिंध तुमरी कृपा जो कछु मो परि होइ।

रचौ चंडिका की कथा बाणी सुभ सभ होइ ॥२॥

हे कृपा के समुद्र! यदि आप की कृपा मुझ पर हो तो चण्डी की कथा कहूँ। मेरी सारी वाणी शुभ कर दीजिये।

दो० जोत जग मगै जगति मैं चंड चमुंड प्रचंड।

भुज दंडन दंडनि असुर मंडनि भुइ नव खंड ॥३॥

आपकी ज्योति सारे संसार में जगमगा रही है। आप चण्ड और चामुण्ड नाम के प्रचण्ड राक्षसों का नाश करने वाले हो। आपकी भुजाएं असुरों को दण्ड देने वालीं और नौखण्डमयी पृथ्वी का मण्डन करने वाली हैं।

स० तारन लोक उधारन भूमहिं दैत संघारन चंड तूही है।

कारन ईस कला कमला हरि अद्र-सुता जह देखौ उही है॥

तामसता ममता नमता कविता कवि के मन मद्धि गुही है।

कीनो है कंचन लोह जगत्र मैं पारस मूरति जाहि छुही है ॥४॥

हे हरि! तीनों लोक तारने वाली, पृथ्वी का उद्धार करने वाली एवं दैत्यदल-दलिनी चण्डिका आप ही हैं। विष्णु और लक्ष्मी, शिव और पार्वती का कारण रूप भी जहां तक देखा जाता है, आप ही हैं। त्रिगुणात्मक कविता का भी आप ही ने मेरे हृदय में सञ्चार किया है। संसार में आपकी पारसमूर्ति जिसको भी छू गई है, वह लोहे से सोना हो गया है, अर्थात् आपके कृपाकटाक्ष से पापी से भी पापी तर गया है।

दो० प्रमुद करन सभ भै हरन नाम चंडिका जासु।

रचौ चरित्र विचित्र तुअ करो सुबुद्ध प्रकासु ॥५॥

हे प्रभु! आपकी जिस महामाया का नाम चण्डिका है, जो सब प्रकार के भय का नाश करने वाली है और प्रसन्नता को देने वाली है, उसके विचित्र चरित्र का वर्णन करने लगा हूँ। मेरी बुद्धि को प्रकाशित कीजिए।

आइस अब जो होइ ग्रन्थ तउ मै रचौं।
रतन प्रमुद कर बचन चीन तामै गचौं ॥
भाखा सुभ सभ कर हो धरि हो कृत्त मैं।
अद्भुत कथा अपार समझ कर चित्त मैं ॥६॥

हे नाथ! अब यदि आप की आज्ञा हो तो मैं ग्रन्थ का निर्माण करूं। प्रसन्नता को देने वाले वाक्य रत्नों को चुनकर माला पिरोऊं। मेरी भाषा को सब प्रकार से शुद्ध कर दीजिए। मैं इस कथा को अद्भुत और अपार समझ कर छन्दों में वर्णन करता हूं।

स० त्रास कुटम्बके हुइकै उदास अवास को त्यागि बस्यो बन राई।
नाम सुरत्थ मुनीसर बेख समेत समाधि समाधि लगाई ॥
चंड अखंड खंडेकर कोप भई सुररच्छन को समुहाई।
बूझहु जाइ तिनै तुम साध अगाधि कथा किह भांति सुनाई ॥७॥

सुरथ नाम का राजा और समाधि नाम का वैश्य, दोनों (राजा विश्वासघातक नौकरों के षड्यन्त्र से शत्रुद्वारा हार कर और वैश्य अपने पारिवारिक जनों की दुष्टता से डर कर) उदास होकर बन में आ बसे। किस प्रकार चण्डी ने महान् क्रोध करके दुष्टों का संहार किया, सो सब अगाध कथा है, हे साधुजनो! मेधास ऋषि से जाकर सुनो।

तोटक छन्द — मुनीश्वर उवाच

हरि सोइ रहै सज सैन तहाँ।
जल जाल कराल विसाल जहाँ।
भयो नाभसरोज ते बिस्रुकरता।
स्रुतमैल ते दैत रचे जुगता ॥८॥

हरि वहां शय्या सजाकर सो रहे थे, जहां बड़े भयंकर और विशाल जल का समूह था। वहीं उन्होंने नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा पैदा किये। फिर कान से मैल निकाल कर दो दैत्य बनाए।

मधि कैटभ नाम धरे तिनके।
अति दीरघ देह भए जिनके ॥
तिन देख लुकेस डरयो हिय मै।
जग मात को ध्यान धरयो जिय मै ॥

उन का नाम मधु और कैटभ रक्खा। उन की देह बड़ी विशाल थी। उन्हें देख कर ब्रह्मा हृदय में बहुत डरा। फिर उसने हृदय में जगद्-जननी का ध्यान किया।

दो०—छुटी चंड जागे ब्रह्म करयो जुद्ध को साज।
दैत सभै घटि जाहि जिमि बढ़ै देवनन राज ॥१०॥

तब परब्रह्म की योगनिद्रा भंग हो गई और उन्होंने युद्ध का साज सजाया, ताकि तमाम दैत्यों का नाश हो और देवताओं का राज्य बढ़े।

स०—जुद्ध करयो तिन सौं भगवंत न मार सकै अति दैत बली है।
साल भये तिन पंच हजार दुहूं लरते नहिं बांह टली है॥
दैतन रीझ कह्यो वर मांग कह्यो हरि सीसन देह भली है।
धार उरू पर चक्र सौं काट कै जोत लै आपने अङ्ग मली है॥११॥

भगवान् ने उनसे युद्ध किया पर उन्हें मार न सके क्योंकि, दैत्य महाबली थे। लड़ते-लड़ते पाँच हज़ार वर्ष बीत गए पर भुजाएं किसी की भी न थकीं। तब दैत्यों ने प्रसन्न होकर भगवान् से कहा कि वर मांगो। भगवान् ने कहा कि सिर दे दो। उन्होंने कहा अच्छी बात है। तब भगवान् ने उन्हें अपने घुटनों पर रखकर सुदर्शन चक्र से उनका सिर काट डाला और उनकी ज्योति को अपने शरीर में मिला लिया।

घुटनों पर रख कर उनके सिर काटने का मतलब यह था कि उन्होंने वर माँगा हुआ था कि हमारी मौत वहां हो, जहां पानी न हो।

सोरठा—देवन थापयो राज मध कैटभ को मार कै।
दीनो सकल समाज वैकुण्ठगामी हरि भये ॥१२॥

इस प्रकार मधु कैटभ को मारकर देवताओं का राज्य स्थापित किया। उनको सब समाज सौंप कर आप भगवान् वैकुण्ठधाम को चले गए॥

"इति श्रीमारकंडेयपुराणे श्रीचंडीचरित्रे उक्तिविलासे मधुकैटभवधो नाम प्रथमाध्यायः"

दूसरा अध्याय

बहुरि भयो महिखासुर तिन तो क्या किया।
भुजा जोर करि जुद्ध जीत सब जगु लिया॥
सुरसमूह संहारे रणहि प्रचार कै।
टूक टूक कर डारे आयुध धार कै॥१३॥

फिर क्या हुआ कि महिषासुर नाम का एक और दैत्य पैदा हो गया । उसने सेना एकत्र कर ऐसा युद्ध किया कि सारे संसार को जीत लिया। देवताओं को युद्ध में ललकार ललकार कर मार डाला अपने अस्त्रों शस्त्रों से उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले ।

स०—जुद्ध कर्‍यो महिखासुर दानव मारि सभै सुर सैन गिरायो ।
कै कै दुटूक दए अरि खेत महा बरबंड महारण पायो ॥
स्रोणत रंग सनर्‍यो निसर्‍यो जसु इआ छबि को मन मै इह आयो।
मारिकै छत्रनि कुंड कै छेत्र मै मानहु पैठि कै रामजु नायो ॥१४॥

युद्ध करके महिषासुर ने देवताओं की सारी सेना मार डाली। युद्ध भूमि में उसने शत्रुओं के टुकडे २ कर डाले। बड़ा भयंकर युद्ध किया । खून के रंग में सना हुआ वह निकला। उसकी उस छवि को देखकर ऐसा मन में आता था कि मानो कुरुक्षेत्र के मैदान में क्षत्रियों के खून में नहा कर परशुराम जी निकले हैं ।

स०—लै महिखासुर अस्त्र सस्त्र सभै करवत्र जिउ चीर कै डारे ।
लुत्थ पै लुत्थ रही गुथ जुत्थ गिरे गिर से रथ से धव भारे ॥
गूद सने सित लोहू में लाल कराल परे रन मैं गज कारे ।
जिउ दरजी जम मृत्त के सीत मैं वागे अनेक कता करि डारे ॥१५॥

महिषासुर ने अस्त्र शस्त्र लेकर तमाम देवताओं को जैसे कोई आरे से लकड़ी चीर डालता है,चीर डाला। लोथ पर लोथ पड़ कर गुंथ सी गई। उनके ऊपर पहाड़ जैसे रथ और घोड़े गिर पड़े। रण भूमि में सफेद मज्जा और लाल लहू से सने हुए काले और भयङ्कर हाथी पड़े हुए थे । यमराजद्वारा मारे हुए उन सैनिकों को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों शीत काल में किसी दर्जी ने कपड़ों की अनेक प्रकार से काट छांट कर डाल दी हो ।

लै सुर सङ्ग सभै सुरपाल सुकोप कै सत्र की सैन पै धाए ।
दै मुख ढार लिये करवार हकार प्रचार प्रहार लगाए ॥
स्रौन मै दैत सुरङ्ग भए कवि ने मनमाहि इहै छबि पाए ।
राम मनो रन जीत कै भालक दै सिर पाउ सबै पहराए ॥१६॥

देवराज इन्द्र ने तमाम देवताओं को साथ लेकर शत्रु की सेना पर धावा किया। हाथ में तलवार लेकर और मुंह के आगे ढाल रख कर उसने ललकार कर घाव पर घाव किये। खून में रंगे हुए दैत्यों को देख कर कवि के मन में ऐसा आया कि राम ने विजय के बाद बन्दरों और रीछों को उपहार प्रदान किये हैं ।

घाइल घूमत है रण मै इक लोटत है धरनी बिललाते ।
दौरत बीच कबंध फिरै तिह देखत काइर है डरपाते ॥
इउ महिखासुर जुद्ध कियो तब जंबुक गिरझ भए रंगराते ।
स्रौन प्रवाह मै पाइ पसार कै सोए है सूर मनो मदमाते ॥१७॥

सैनिक युद्धभूमि में घायल घूमने लगे और कई कराहते हुए पृथ्वी पर लेटने लगे। रुण्डों के बिना मुण्डों को दौड़ते हुए देख कर कायर लोग डरने लगे । जब इस प्रकार महिषासुर ने युद्ध किया तो गीदड़ और गीध इत्यादि भी आनन्दित हो उठे । खून का प्रवाह बहने लगा उसमें पड़े हुए योद्धा ऐसे प्रतीत होने लगे कि मानो मतवाले पांव पसार कर सो रहे हैं।

जुद्ध कियो महिखासुर दानव देखत भान चले नहीं पंथा ।
स्रौन समूह चलयो लखि कै चतुरानन भूलि गए सब ग्रंथा ।
मास निहार कै ग्रिज्झ रटै चटसार पडै जिमु बारक संथा ।
सारसुती तट लै भट लोथ सृगाल कि सिद्ध बनावत कंथा ॥१८॥

इस प्रकार जब महिषासुर ने युद्ध किया तो सूर्य भी अपने रास्ते पर न चल सका । ब्रह्मा भी रक्तसमूह को देख कर अपने वेदों को भूल गया । गीध मांस देख कर इस प्रकार शब्द करने लगे जैसे पाठशाला में बच्चे अपना पाठोच्चारण करते हैं । शृगाल योद्धाओं की लाशों को इस प्रकार खेंच कर ले जाने लगे जैसे सिद्ध लोग सरस्वती के तट पर अपनी कफ़नी बनाते हैं ।

अगनत मारे को गने भजे जु सुर करि त्रास ।
धारि ध्यान मन सिवा को तकी पुरी कैलास ॥१९॥

बेअन्त देवता मारे गए । उनकी गणना कौन कर सकता है । यह देख कर देवताओं का हौसला टूट गया, वे भाग उठे। पार्वती का ध्यान करते हुए वे कैलाश पर्वत पर पहुंचे।

देवन को धन धाम सब दैतन लियो छिनाइ कै ।
गए काढि सुरधाम ते बसे सिवपुरी जाइ ॥२०॥

उधर देवताओं का घर द्वार भी छीन लिया गया और उन्हें मार मार कर देवपुरी निकाल दिया गया । वे बेचारे कैलाश में जा बसे ।

कितक दिवस बीते तहां नावन निकसी देवि ।
बिध पूरब सब देवतन करी देवि की सेवि ॥२१॥

वहां रहते हुए उन्हें कई

रेखता—कही है हकीकत मालूम खुद देवी सेती, लियो महिखासुर हमारा छीन धाम है। कीजै सोइ बात मात तुम को सुहात सभ सेवकी कदीम तक आए तेरी साम है। दीजै वाज देस हमैं मेटीए कलेस कीजिये अभेस उठे बड़ौ यहै काम है। कूकर को मारत न कोऊ नाम लैकै ताहि मारत है ताको लैकै खावद को नाम है ॥२२॥

फिर देवताओं ने अपनी सारी व्यथा देवी को कह सुनाई—बतलाया कि महिषासुर ने हमारा सारा धन धाम छीन लिया है। अब आप वही कीजिए जो आपको अच्छा लगे। हम तो सदा से आप के दास हैं, आप पर भरोसा रख कर आए हैं, हमारा देश हमें दिला दीजिये, हमारे क्लेश को दूर कीजिये, शत्रु दल का नाश कीजिये, बस यही हमारा कार्य हैं, जो आपने करना है। मा! कुत्ते को मारता हुआ कोई उसका नाम न लेकर उसके स्वामी का नाम लेता है, यानी उसे गालियें न निकाल कर उसके स्वामी को गालियें देता है।

दो०—सुनत बचन ए चंडका मन में उठी रिसाइ।
सभ दैतन को छै करउ बसउ सिवपुरी जाइ ॥२३॥

देवताओं के यह वचन सुनकर देवी मन में बहुत क्रोधित हुई और बोली देवताओ! तुम जाकर शिवपुरी में बसो। मैं तमाम राक्षसों का अभी नाश करती हूँ।

दैतन के बध को जबै चंडी कियो प्रकास।
सिंघ सङ्ख औ अस्त्र सभ सस्त्र आइगे पास ॥२४॥

ज्योंही राक्षसों का बध करने के लिए देवी निकली, शेर शंख और तमाम अस्त्र शस्त्र देवी के पास आगए।

दैत संघारन के नमित काल जन्मु इन लीन।
सिंघ चंड बाहन भयो सतरन कउ दुख दीन ॥२५॥

चंडी क्या, दैत्यों का बध करने के लिए मानो काल ने जन्म धारण किया है। शत्रुओं को दुख देने के लिए ही मानो शेर उसका वाहन बना है।

दारुन दीरघ दिग्गज से बल सिंहा ही के बल सिंघ धरे है।
रोम मनो सर कालहिके जन पाहन पीत पै वृच्छ धरे है॥
मेर को मद्धि मनो जमना लर केतकी पुञ्ज पै भृङ्ग ढरे है।
मानो महापृथ लैकै कमान सु भूधर भूम ते निआरे करे है ॥२६॥

शेर, कठोर और भयङ्कर हाथी के समान विशाल और शेरों में भी केहरी शेर जैसा

बलशाली बन गया उसके रोम मानो काल के बाण हैं और जो पीले बालों के चकतों पर हरे हरे रोम है, वह मानो पत्थर पर वृक्ष खड़े हैं । पूंछ की काली धार मानो मेरु पर्वत से यमुना निकल रही है और जो सफेदी पर काले निशान हैं वह मानो केतकी के फूलों पर भौंरे मंडला रहे हैं । चकते क्या हैं मानो राजा पृथु ने धनुष से पहाड़ों को पृथ्वी से जुदा कर दिया है ।

घंटा गदा त्रिसूल अस सङ्ख सरासन बान ।
चक्र बक्र कर मैं लिये जन ग्रीखम रित भान ॥२७॥

जैसे ग्रीष्म काल में सूर्य तेज हो जाता है, उसी प्रकार देवी प्रचंड हुई । उसने घंटा, गदा, त्रिशूल शंख तलवार, धनुषबाण और भयङ्कर चक्र हाथ में लिया ।

चंड कोप करि चंडका ए आयुध कर लीन ।
निकटि बिकटि पुर दैत्य के घंटा की धुन कीन ॥२८॥

यह सब हथियार हाथ में लिए प्रचंड क्रोध करके चंडिका ने दैत्यों की पुरी के नजदीक जाकर घंटा की भयानक ध्वनि की ।

सुनि घंटा केहरि सबदि असुरन अस रन लीन ।
चढ़े कोप कै जूथ हुइ जतन जुद्ध को कीन ॥२९॥

राक्षसों ने, जब उस घंटा की ध्वनि और शेर की गर्जना सुनी तो युद्ध के लिए तलवारें हाथ में लेलीं और जङ्ग का सब साज सजाकर यूथों के यूथ चल पड़े ।

पैंतालीस पदम असुर सजयो कटक चतुरङ्ग ।
कछु बाएं कछु दाहने कछु भट नृप के सङ्ग ॥३०॥

दैत्यों के स्वामी ने पैंतालीस पद्म राक्षसों की चतुरङ्गिणी सेना सजाई । कुछ अपनी दाहिनी ओर रक्खे, कुछ बाईं ओर, और कुछ साथ में ।

भए इकट्ठे दल पदम दस पंदरह अरु बीस ।
पंदरह कीने दाहने दस बाएं संगि बीस ॥३१॥

पन्द्रह दाहिनी ओर, दस बाईं ओर और बीस अपने साथ, इस प्रकार इन पैंतालीस पद्म योद्धाओं का क्रम रक्खा ।

दौर सभै इक बार ही दैत्य सुआए है चंड के सामुहे कारे ।
लै करि बान कमानन तान घने अरु कोप सौ सिंघ प्रहारे ॥
चंड सम्भार तबै करवार हकार कै सत्र समूह निवारे ।
खांडव जारन को अगनी तिह पारथ ने जनु मेघ बिडारे ॥३२॥

वे भयंकर और काले दैत्य एक ही बार दौड़ कर देवी के सामने आ गए और उन्होंने हाथ में धनुष बाण लेकर बड़े क्रोध के साथ शेर पर प्रहार किया। यह देखकर देवी ने अपनी तलवार को सम्हाला और क्रोध के साथ शत्रुदल को भगा दिया, जैसे नंदन कानन को जलाने के लिये अर्जुन ने बादलों को उड़ा दिया था। (अग्निदेव को एक बार अजीर्ण हो गया था। खांडववन को खाने से वह अच्छा हो सकता था। उसी के निमित्त अर्जुन ने ऐसा किया था। यह कथा महाभारत में विस्तार से आती है।)

दैत कोप इक सामुहे गयो तरंगम डारि।
सन्मुख देवी के भयो सलभ दीप अनुहार ॥२३॥

एक दैत्य क्रोध करके घोड़ा दौड़ाता हुआ देवी के सामने आया। उसकी गति ऐसी हुई जैसी दीपक के सामने पतंग की होती है।

बीर बली सिरदार दैइत सुक्रोध कै म्यान ते खग्ग निकारिओ।
एक दयो तन चंड प्रचंड कै दूसर केहरि के सिर झारिओ ॥
चंड संभार तबै बलु धार लयो गहिनारि धरा पर मारिओ।
जिउ धुबिया सरिता तट जाइकै लै पट को पट साथ पछारिओ॥२४

उस बलवान् दैत्य ने म्यान से तलवार निकाली और बड़े वेग से एक वार देवी पर और एक शेर पर किया। तब चंडिका ने बल सम्हाल कर राक्षस को गर्दन से पकड़ कर ऐसे पृथ्वी पर दे मारा जैसे धोबी नदी के किनारे जाकर कपड़े को पटड़े ऊपर पछाड़ता है।

देवी मार्‍यो दैत इउ लर्‍यो जु सन्मुख आइ।
पुनि सत्रनि की सैन मैं धसी सु सङ्ख बजाइ ॥२५॥

इसी प्रकार जो भी देवी के सामने आकर लड़ा, देवी ने उसे मार डाला। फिर वह शंख बजाकर शत्रुदल में घुस गई।

लै करि चण्ड कुवंड प्रचंड महा बरबंड तबै इह कीनो।
एक ही बार निहार हकार सुधार बिदार सभै दलु दीनो ॥
दैत घने रन माह हने लखि स्रोन सने कवि इउ मन चीनो।
जिउ खगराज बड़ो अहिराज समाज कै काट कता कर लीनो॥२६॥

जैसे ही चंडिका ने बड़े क्रोध के साथ हाथ में प्रचण्ड धनुष लिया कि दृष्टिमात्र से ही बलात् सारी शत्रुसेना में एक ही बार भगदड़ में मँच गई। कईयों को युद्ध करके मार दिया। उन मरों हुओं के खून को देखकर कवि के मन में ऐसा आया कि मानो पक्षिराज गरुड़ ने युद्ध में शेषनाग के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं?

देवी मारे दैत बहु प्रबल निबल से कीन ।

अस्त्र धार करि करन में चमू चाल हर लीन ॥३७॥

देवी ने हाथ में शस्त्र धारण कर बहुत से दैत्यों को मार दिया, बलवानों को निर्बल कर दिया और सेना की गति को भी रोक दिया।

भजी चमू महिखासुरी तकी सरनि निज ईस ।

धाइ जाइ तिन इउ कह्यो हन्यो पदम भट बीस ॥३८॥

तब तो वह महिषासुरी सेना भाग उठी और सीधी स्वामी के पास पहुंची एवं बोली कि बीस पद्म योद्धा मारे गए।

सुन महिखासुर मूढमत मन मैं उठा रिसाइ ।

आग्या दीनी सेन को घेरो देवी जाइ ॥३९॥

यह सुनते ही वह मूर्ख-बुद्धि वाला महिषासुर क्रोधित हो उठा और उसने सेना को आज्ञा दी कि जाकर देवी को घेर लो।

बात सुनी प्रभु की सब सैनहि सूरन मिल इक मन्त्र कर्यो है ।

जाइ परै चहूं ओर ते धाइ कै ठाट इहै मन मद्धि कर्यो है ॥

मार ही मार पुकार परे असि लै करि मैं दलु इह बिहर्यो है ।

घेर लई चहूं ओर ते चंड सुचंद मनो परवेख पर्यो है ॥४०॥

स्वामी की यह बात सारी सेना ने सुनी। योद्धाओं ने मिल कर सलाह की और इस निश्चय को मन में धारण कर लिया कि दौड़ कर चारों ओर से देवी को जा घेरें, उस पर टूट पड़ें। वह हाथों में तलवारें लेकर ऐसा ही करते हुए मार मार की पुकार करने लगे। उन्होंने चारों ओर से देवी को इस प्रकार घेर लिया जैसे चन्द्र को चन्द्रमण्डल घेर लेता है।

देखि चमूं महिखासुर की करि चंड कुवंड प्रचंड धर्यो है ।

दच्छन बाम चलाइ घने सर कोप भयानक जुद्ध कर्यो है ॥

भंजन ते अरि के तन के छुटि स्रोन समूह धरान पर्यो है ।

आठवो सिंध पचाइ हुतो मनो या रन मै बिधि ने उगर्यो है ॥४१॥

इस प्रकार महिषासुर की सेना को घेरा डाले देख कर देवी ने हाथ में प्रचण्ड धनुष धारण किया। दायें और बायें बहुत से बाण चला कर उसने क्रुद्ध हो भयानक युद्ध किया। शत्रुओं को मारने से उनका खून प्रवाह-धारा के रूप में पृथ्वी पर पड़ गया। उसे देख कर ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो ब्रह्मा ने जो आठवां सागर

कोप भई अरि दल बिखै चंडी चक्र सँभार ।

एक मारि के द्वै किये द्वै ते कीने चार ॥४२॥

शत्रुदल पर दुर्गा बड़ी क्रोधित हुई । उसने अपने चक्र को सँभाला और किसी को मार कर दो टुकड़े कर दिए और किसी के दो से भी चार टुकड़े कर दिए ।

इह भांति को जुद्ध कर्‌यो सुनि कै कइलास मै ध्यान छुट्यो हर का

पुनि चंड संभार उभार गदा धुनि संख बजाइ कर्‌यो खटका ॥

सिर सत्रनि के पर चक्र पर्‌यो छुट ऐसे बह्यो करिकै बरका ।

जनु खेलन को सरितातट जाइ चलावत है छिछली लरका ॥४२॥

दुर्गा के इस प्रकार किए हुए युद्ध को सुन कर कैलाश में बैठे हुए शिव का भी ध्यान छूट गया । दुर्गा ने फिर गदा को सँभाल कर उभारा और संख बजाकर शब्द किया । शत्रुओं के सिर पर बल पूर्वक जो चक्र चला तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो नदी के किनारे पर खेलते हुए बच्चे छिछली चला रहे हैं ।

देख चमू महिखासुरी देवी बलहि संभारि ।

कछु सिंघहि कछु चक्र सों डारे सभै संहारि ॥४४॥

महिषासुर की सेना को देखकर देवी ने फिर अपना बल सँभाला । कुछ तो उसने अपने चक्र से मार डाले और कुछ को शेर ने फाड़ डाला ।

इक भाजे नृप पै गए कह्यो हनी सभ सैन ।

इउ सुनि कै कोपयो असुर चढि आयो रन ऐन ॥४५॥

तब कई भाग कर महिषासुर के पास चले गए और कहने लगे कि देवी ने सारी सेना मार डाली है । सुनते ही राक्षसराज क्रोधित हो उठा और रणभूमि में आगया ।

जूझ परी सभ सैन लखी जब तौ महिखासुर खग्ग संभार्‌यो ।

चंड प्रचंड के सामुहि जाइ भयानक भालक जिउ भभकार्‌यो ॥

मुग्दर लै अपने करि चंड सु कै बरि ता तन ऊपर डार्‌यो ।

जिउ हनुमान उखार पहार कै रावन के उर भीतर मार्‌यो ॥४६॥

जब महिषासुर ने देखा कि सारी सेना जूझ मरी है तो उसने अपनी तलवार को सँभाला और चण्डी के सामने आकर रीछ की तरह भयानक गर्जन करने लगा । फिर एक मुग्दर लेकर बड़े जोर से उसने देवी पर पटक दिया जैसे कि हनुमान् ने पहाड़ उखाड़ कर रावण की छाती पर दे मारा था ।

फेर सरासन को गहिकै कर बीर हने तिन पान न मंगे ।
घायल घूम परे रन माहि कराहत है गिरसे गिर लंगे ॥
सूरन के तन कौचन साथि परे धर भाउ उठे तह चङ्गे ।
जानो दवा बन माझ लगे तह कीटन भच्छ कै दौर भुजंगे ॥४७॥

तब तो फिर चण्डी ने हाथ में धनुष लिया और योद्धाओं को ऐसे मारा कि उन्होंने पानी तक न मांगा। घायल युद्धभूमि में घूमते हैं और कराहते हैं। पहाड़ जैसे हाथी भी लँगड़े हो गए। कवचों से सुसज्जित योद्धाओं के शरीर पृथ्वी पर पड़े हैं। उन्हें देख कर यह सुन्दर भावना उठी कि मानो बन में दावाग्नि लगने पर कीटों को खाने के लिए सांप दौड़ रहे हैं अथवा ज़ख्मी सांपों को खाने के लिए कीड़े दौड़ रहे हैं।

कोप भरी रन चंड प्रचंड सु प्रेरकै सिंघ धसी रन मै ।
करवार लै लाल किये अरिखेत लगी बडवानल जिउ बन मै ॥
तब घेर लई चहुं ओर ते दैतन इउ उपमा उपजी मन मै ।
मन ते तन तेजु चलयो जगमात को दामन जान चले घन मै ॥४८॥

अत्यन्त क्रोध से भरी हुई चण्डिका शेर को हांक कर रण में धंस गई। हाथ में तलवार लेकर उसने शत्रुदल को लोहूलुहान कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो जल में बडवानल लग रही हो। तब दैत्यों ने भी देवी को चारों ओर से घेर लिया। जगज्जननी के शरीर की आभा को दैत्यों के मध्य में सङ्क्रान्त। देख कर मन में ऐसी उपमा पैदा हुई कि मानो बादलों के बीच में बिजली चमक रही है।

फूट गई धुजनी सगरी असि चंड प्रचंड जबै कर लीनो ।
दैत मरे नहि भेख करै बहु तउ बरबंड महाबल कीनो ॥
चक्र चलाइ दयो करि ते सिर सत्र को मार जुदा करि दीनो ।
स्रोनतधार चली नभ को जनु सूर को राम जलांजल दीनो ॥४९॥

ज्योंही चण्डिका ने प्रचण्ड तलवार हाथ में ली कि शत्रुदल में भगदड़ मच गई। राक्षस मरते नहीं नाना प्रकार के वेष धारण करते हैं और योद्धा भारी जोर लगाते हैं, यह देख कर देवी ने हाथ से चक्र चलाया। चक्र ने शत्रु का सिर काटकर पृथक् कर दिया। तब खून की धारा इस प्रकार आकाश को चली कि मानो परशुराम जी ने सूर्य को जलांजलि दी है।

सब सूर सँघार दये तिह खेत महाबरबंड पराक्रम कै ।
तह स्रोनत-सिंध भयो धरनि पर पुंज गिरे असिकै धमकै ॥

जगमात प्रताप हने सुर ताप सुदानव सेन गई जम कै ।

बहुरौ अरि सिंधुर कै दल पैठ कै दामन जिउ दुरगा दमकै ॥५०॥

पराक्रम की पराकाष्ठा करके देवी ने तमाम योद्धा रणभूमि में पछाड़ डाले। उससे पृथ्वी पर खून का समुद्र उमड़ आया। तलवार की झनकार से ही दैत्यों के झुण्ड के झुण्ड गिर पड़े। जगज-जननी के प्रताप से देवताओं के कष्ट दूर हो गए। दैत्य यमपुरी को चले गए। दुर्गा फिर शत्रुओं के हाथियों के झुण्ड में प्रवेश करके बिजली की तरह चमकने लगी।

जब महिखासुर मारयो सब दैतन को राज ।

तब कायर भाजे सभै छाड्यो सकल समाज ॥५१॥

जब तमाम दैत्यों का राजा महिषासुर मार दिया गया तो वहां जो कायर थे अपना सारा साज समाज छोड़ कर भाग खड़े हुए।

महाबीर क्रहरी दुपहरी को भान मानो देवन के काज देवी डारयो दैत्य मारि कै। और दल भाजयो जैसे पौन हूं ते भाजे मेघ इन्द्र-दीनो राज बलु आपनो सुधारु कै। देस देस के नरेस डारे हैं सुरेस पाइ कीनो अभिखेक सुर मंडल बिचारि कै। यहां भइ गुप्त प्रकटि जाइ तहां भई जहां बैठे हर हरि-अम्बर को डारि कै ॥५२॥

ग्रीष्मकाल के सूर्य की तरह तेजस्वी तथा क्रोधी योद्धा महिषासुर को देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिए देवी ने मार डाला। शेष जो उसकी सेना थी, वह ऐसे भागी जैसे पवन से मेघ भागते हैं। देवी ने अपने बल से इन्द्र को राज्यसिंहासन पर बैठाया। उस समय देश देश के राजाओं ने इन्द्र के पैरों में अभिवादन किया। देवी ने देव-मण्डली से विचार कर इन्द्र को राजतिलक किया। इसके बाद देवी वहां से अन्तर्धान होगई और वहां जा प्रकट हुई जहां भगवान् शङ्कर बाघम्बर बिछा कर बैठे थे।

दूसरा अध्याय समाप्त।

तीसरा अध्याय

लोप चंडका हो गई, सुरपति को दै राज ।

दानव मारि अभेख कर कीने सन्तन काज ॥५३॥

इन्द्र को राज्य देकर चण्डिका लुप्त हो गई। उसने राक्षसों को मार कर नष्ट कर दिया, यह सन्तों का ही कार्य हुआ।

याते प्रसन्न भए हैं महामुनि देवन के तप मै सुख पावैं

झांजर ताल मृदंग उपंग रबाब लिये सुर साज मिलावैं।

किन्नर गंधरब गान करैं गनि जच्छर उपच्छ निरत दिखावै ॥५४॥

इससे बड़े बड़े ऋषि और मुनि खुश हो गए क्योंकि देवताओं के अधिपत्य में ही वे सुख पाते हैं। वह समय सर्वथा पुण्यमय प्रतीत होने लगा कई यज्ञ में संलग्न हो गए, कई वेद पाठ में तत्पर दिखाई देते थे, और कई सांसारिक तापत्रय के नाशार्थ एकत्रित होकर समाधिस्थ हुए। झांज मृदंग, उपंग और रबाब की सुरें मिलाकर किन्नर और गंधर्व गाने लगे और अप्सराएं नृत्य करने लगीं। बड़ा आनंद मनाया गया।

संखन की धुन घंटनि की कर फूलन की बरखा बरखावैं।

आरती कोट करैं सुर सुन्दर पेख पुरन्दर के बलि जावैं॥

दान व दच्छन देकै प्रदच्छन भाल मैं कुंकम अच्छत लावैं।

होत कुलाहल देवपुरी मिलि देवन के कुलि मंगल गावैं ॥५५॥

करोड़ों देवता शंख बजाते हैं घंटों की ध्वनि करते हैं, फूल बरसाते हैं और इन्द्र की सुन्दर आरती उतारते हुए उसपर न्योछावर होते हैं। दानी दान देकर प्रदक्षिणा करते हैं और मस्तक पर केसर का तिलक लगा कर उस पर चावल चढाते हैं। देवताओं के कुल मिल कर मांगलिक गायन गाते हैं। इससे देवपुरी में मनोहर चहल-पहल हो उठी है।

ऐसे चंड प्रताप ते देवन बढ्यो प्रताप।

तीन लोक जै जै करैं रटैं नाम सत जाप ॥५६॥

इस प्रकार चंडिका के प्रताप से देवताओं का प्रताप बढा। तीनों लोक जय-जयकार करने और दुर्गासप्तशती का पाठ करने लगे, अथवा सत्य की महिमा गाने लगे।

इसी भांति सौं देवतन राज कियो सुख मान।

बाहुर सुंभ निसुंभ दुई दैत बढे बलवान ॥५७॥

जब इस प्रकार देवता सुखपूर्वक राज्य करने लगे। इसी बीच में शुम्भ निशुम्भ नाम के दो और बड़े बलवान् दैत्य हो उठे।

इन्द्रलोक के राजहित चढि धाए नृप सुंभ।

सैना चतुरंगिनी रची पायक रथ है कुंभ ॥५८॥

उनमें से राजा शुम्भ ने इन्द्र का राज्य हथियाने के लिये चतुरंगिणी सेना लेकर धावा बोल दिया।

बाजत डंक परी धुन कान सुसंक पुरंदर मुंदत पौरै।

कांप समुद्र उठे सगरे बहु भार भई धरनी गति औरे ॥
मेरु हल्यो दहल्यो सुरलोक जबै दल सुंभ निसुंभ के दौरे ॥५९॥

डंके की चोट कानों से सुनते ही शंकित होकर इन्द्र ने दरवाजे बंद कर लिए। युद्ध के लिये एकत्र हुए दैत्यों को देखकर देवसेना तेजोहीन हो गई। सारे सागर कांप उठे और बहुत बोझ के कारण पृथ्वी की गति और की और हो गई। जब शुम्भ और निशुम्भ युद्ध के लिये दौड़े तो सुमेरु पर्वत हिल गया और देवताओं की छाती धक धक करने लग गई। देवपुरी कांप उठी।

देव सबै मिलिकै तबै गए सक्र पहि धाइ।
कह्यो दैत आए प्रबल कीजै कहा उपाइ ॥६०॥

तब तमाम देवता मिलकर दौड़ते हुए इन्द्र के पास गए और कहने लगे कि राक्षसों की जबरदस्त सेना चढ़ आई है। अब क्या उपाय किया जाय ?

सुनि कोपय्यो सुरपाल तब कीनो जुद्धउपाइ।
सेख देवगन जे हुते ते सब लिये बुलाइ ॥६१॥

सुनते ही इन्द्र क्रोधित हो उठा और युद्ध की तैयारी करने लगा। जो शेष देवता थे उन्हें भी उसने युद्धार्थ बुला लिया।

भूम को भार उतारन कौ जगदीस विचार कै जुद्ध ठटा।
गरजै मदमत्त करि बदरा बगपंत लसै जन दंत गटा ॥
पहरे तन त्रान फिरै तह बीर लिये बरछी करि बिज्जु छटा।
दल दैतन को अरि देवन पै उमड्यो मनो घोर घमंड घटा ॥६२॥

पृथ्वी का भार उतारने के लिए विचार कर जगदीश्वर ने युद्ध आरंभ कराया है। मस्त हाथी बादलों की तरह गर्जन करते हैं। उनके दांत मानो बगलों के पंक्ति समूह हैं। कवच पहर कर और हाथों में बिजली सी चमकती बर्छी लेकर योद्धा फिरते हैं। राक्षसों के दल अपने शत्रु देवताओं पर इस प्रकार उमड़ रहे हैं जैसे घनघोर बादलों की घटा हो।

सकल दैत इकठे भए करयो जुद्ध को साज।
अमरैपुरी महि जाइ कै घेर लियो सुरराज ॥६३॥

तमाम राक्षस जमा हो गए और उन्होंने युद्ध का साज सजा कर अमरपुरी में इन्द्र को जा घेरा।

खोलि कै दुआर किवार सभै निकसी असुरार की सैन चली।
रन मैं तब आनि इकत्र भई लखि सत्र की पत्र जिउ सैन हली ॥

द्रुम दीरघ जिउ गज बाजि हले रथ पाइक जिउ फल फूल कली।
दल सुंभ को मेघ बिडारन को निकस्यो मघवा मनो पौन बली ॥६४॥

तब तमाम दरवाजे खोल कर किवाड़ उखाड़ कर देवताओं की सेना भी युद्ध के लिए चल पड़ी और युद्धिभूमि में आकर जमा हो गई। उसे देख कर शत्रु की सेना पत्ते की तरह हिलने लगी। बड़े-बड़े वृक्षों की तरह हाथी और घोड़े हिलने लगे। फूलों और फलों की तरह रथी और प्यादे हिलने लगे। शुम्भ का दल मानो मेघ है और इन्द्र मानो जबरदस्त वायु है और वह उसे तितर बितर करने के लिए चला, ऐसा प्रतीत होने लगा।

इत कोप पुरंदर देव चढे उत जुद्ध को सुम्भ चढे रन मै।
कर बान कमान कृपान गदा पहिरे तन त्रान तबै तन मै॥
तब मार मची दुहु ओरन ते न रह्यो भ्रम सूरन के मन मैं।
बहु जंबुक ग्रिज्झ चले सुनि कै अति मोद बढ्यो सिब के गन मै॥

इधर तो क्रोध करके इन्द्र चढ़ा और उधर शुम्भ भी युद्ध के लिए रणभूमि में चढ़ आया। योद्धा शरीर पर कवच धारण किए हुए और हाथों में धनुष बाण तलवार और गदा लिए हुए हैं। तब दोनों ओर से खूब मार काट शुरू हुई। योद्धाओं के मन में कोई कसक बाकी न रह गई। युद्ध की खबर सुन कर अनेक गीदड़ और गीध चल पड़े और शिवजी के गण भी प्रसन्न हो उठे।

राज पुरंदर कोप कियो इत जुद्ध को दैत्य जुरे उत कैसे।
स्याम घटा घुमरी घनघोर कै घेरि लियो हरि को रवि तैसे॥
सक्रकमान के बान लगे सर फोक लसै अरि के उर ऐसे।
मानो पहार करार मैं चोंच पसार रहे सिसु सारक जैसे॥६६॥

इधर तो राजा इन्द्र ने क्रोध किया और उधर युद्ध के लिए राक्षस कैसे एकत्र हुए कि मानो इन्द्ररूपी सूर्य को राक्षसरूपी गर्जती हुई घनघोर घटाओं ने घेर लिया हो। इन्द्र के धनुष से निकले हुए बाण शत्रु की छाती पर कैसे शोभा देने लगे कि मानों पहाड़ की कन्दराओं में सारकों के बच्चे चोंच मार रहे हैं।

बान लगे लख सुंभ दइत धंसे रन लै करवारन को।
रंगभूमि मैं सत्र गिराइ दए बहु स्रौन बह्यो असुरारन को॥
प्रगटे गन जंबुक ग्रिज्झ पिसाच सु यौ रन भांति पुकारन को।
सु मनो भट सारसुती तट नात है पूरब पाप उतारन को ॥६७॥

बाया लगे देखकर शुम्भ राक्षस तलवारें लेकर युद्धभूमि में निकल आया और रणभूमि में बहुत से शत्रुओं को मारने लगा। असुरों के शत्रु देवताओं का खून बहने लगा। रण में कोलाहल मचाने के लिए अनेक गीदड़ गीध और पिसाच प्रकट हो गए। मानो पुरातन पाप उतारने के लिए योद्धा लोग सरस्वती में नहा रहे हैं।

जुद्ध निसुंभ भयान रच्यो अस आगे न दानवहू कर्यो है।
लोथन ऊपरि लोथ परी तह गीध सृगालनि मांस चर्यो है॥
गूद बहे सिर केसन ते सित पुंज परवाह धरान पर्यो है।
मानु जटाधर की जट ते जनु रोस कै गंग को नीर धर्यो है॥

निशुम्भ ने ऐसा भयानक युद्ध किया कि जैसा कभी किसी दानव ने भी नहीं किया था। लाशों के ऊपर लाशें पड़ गईं। गीधों और गीदड़ों ने खूब मांस खाया। योद्धाओं के सिर से सफेद मज्जा बह कर पृथ्वी पर एक सफेद प्रवाह की तरह बहने लगी, मानो शिवजी महाराज की जटा से क्रोध करके गंगा जी का जल बह रहा है।

बार सिवार भए तिह ठौर सु फेन जिउ छत्र फिरे तरता।
कर अंगुलका सफरी तलफै भुज काट भुजंग करे करता॥
हय नक्र धुजा द्रुम स्रोनत नीर मै चक्र जिउ चक्र फिरै गरता।
तब सुंभ निसुंभ दहूं मिलि दानव मार करी रन मैं सरता॥६९॥

उस जगह पर जो बाल थे वह शैवाल की तरह प्रतीत होते थे। छत्र झाग की तरह तैरने लगे। हाथ की अंगुलियां तड़फती मछली के समान दिखने लगीं। कटी हुई भुजायें विधाता ने सांप की तरह बना दीं। घोड़े मगरमच्छ के समान और ध्वजाएं वृक्षों के समान एवं रथों के पहिए नदी में भँवर की तरह उस खूनरूपी जलप्रवाह में तैरने लगे। यह सब तब हुआ, जब शुंभ और निशुम्भ दोनों ने मिल कर युद्ध में भारी मार काट करके खून की नदी बहा दी।

सुर हारे जीते असुर लीने सकल समाज।
दीनो इन्द्र भजाइ कै महा प्रबल दल साज॥७०॥

देवता हार गए और दानव जीत गए। उन्होंने सारा साज समाज अपने अधिकार में कर लिया। प्रबल सेना सजाकर इन्द्र को भगा दिया।

छीन भंडार लयो है कुबेर ते सेसहु ते मनिमाल छुड़ाई ।
जीत लुकेस दिनेस निसेस गनेस जलेस दियो है भजाई ॥
लोक किये तिन तीनहू आपने दैत पठै तह दै ठकुराई ।
जाइ बसे सुरधाम तेऊ तिन सुंभ निसुंभ की फेरि दुहाई ॥७१॥

कुबेर से भंडार छीन लिया । शेषनाग से मणियों की माला छीन ली । ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, गणेश और वरुण को उन्होंने भगा दिया । तीनों लोक अपने अधिकार में कर लिए और वहां दैत्यों को स्वामी बना कर भेज दिया और उन्होंने वहां जाकर शुम्भ और निशुम्भ का जयजयकार अथवा आधिपत्य घोषित किया ।

खेत जीत दैतन लिये गए देवता भाज ।
इहै विचारिओ मन विखै लेह सिवा ते राज ॥७२॥

दैत्यों ने मैदान जीत लिया । देवता भाग गए । भागकर वे सोचने लगे कि अब क्या करें ? माता भवानी से ही राज्य की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाय, यह उन्होंने निश्चय किया ।

देव सुरेस दिनेस निसेस महेसपुरी महि जाइ बसे हैं ।
भेस बुरे तहं जाइ दुरे सिर केस जुरे रन ते जु त्रसे हैं ॥
हाल बिहाल महाविकराल संभाल नहीं जनु काल ग्रसे हैं ।
वारहिबार पुकार करी अति आरतवंद दरीन धसे हैं ॥७३॥

तमाम देवता—सूर्य चन्द्रमा और इन्द्र इत्यादि शिवपुरी में जा बसे । उनकी सूरत बदसूरत हो रही थी । शिर के बाल जुड़े हुए थे । वे युद्ध से अत्यन्त भयभीत हो गए वे हाल से बेहाल हो रहे थे । वे बेचारे बड़े भयङ्कर लग रहे थे मानो काल के ग्रसे हुए हैं । बारम्बार आर्तनाद करते हुए कन्दराओं में जा घुसे ।

कान सुनी धुन देवन की सब दानव मारन को पन कीनो ।
हुइ कै प्रतच्छ महाबरबंड सुक्रुद्ध है जुद्ध विखै मन दीनो ॥
भाल को फोर कै कालि भई लखि ता छवि को कवि को मन भीनो ।
दैतसमूहि बिनासन को जमराज ते मृत मनो भव लीनो ॥७४॥

जब देवी ने देवताओं की आर्तवाणी सुनी तो फौरन सब दैत्यों को मारने का प्रण धारण किया और प्रत्यक्ष होकर बड़े गुस्से के साथ दैत्यों से युद्ध करने की ठानी उस महामाया ने अपने माथे को फोड़कर काली को प्रकट किया । काली की शोभा

को देख कर कवि का मन उपमा देने को ललचाता हुआ बोल उठा कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो दैत्य-दल का नाश करने के लिये मृत्यु और यमराज दोनों ने जन्म धारण किया हो ।

पान कृपान धरे बलवान सु कोप कै बिज्जुल जिउ गरजी है ॥
मेरसमेत हले गरुए गिर सेस के सीस धरा लरजी है ॥
ब्रह्म धनेस दिनेस डर्यो सुनि कै हरि की छतिया तरजी है ।
चंड प्रचंड अखंड लिये कर कालिका काल ही जिउ अरजी है ॥७५

वह बलशालिनी देवी हाथ में तलवार लेकर बिजली की तरह कड़की, जिससे मरुपर्वतसहित बड़े-बड़े पहाड़ भी हिल पड़े । शेषनाग के शिर पर अवस्थित पृथ्वी डोलने लग गई । ब्रह्मा, कुबेर और सूर्य डर गए विष्णु की छाती भी धड़कने लग गई । क्रोधित चंडिका हाथ में तेज शस्त्रों को लेकर खड़ी है, वह साक्षात् यमराज की आज्ञा की तरह प्रतीत होती थी ।

निरख चंडका तासु को तबै बचन इह कीन ।
हे पुत्री तु कालिका होहु जु मुझ मैं लीन ॥७६॥

उस काली को देखकर चण्डिका भवानी ने कहा—हे पुत्री ! तू मुझ में लीन होजा ।

सुनत वचन इहि चंडि को ता महि गई समाइ ।
जिउ गंगा की धार मै जमना पैठी धाइ ॥

चण्डिका के यह वचन सुनकर कालिका उसमें इस प्रकार समा गई, जैसे गङ्गा की धारा में यमुना मिल जाती है ।

बैठ तबै गिरजा अर देवन बुद्धि इहै मन मद्धि विचारी ।
जुद्ध किये बिनु फेर फिरे नहिं भूम सभै अपनी अवधारी ॥
इन्द्र कह्यो अब ढील बनै नहिं मात सुनो यह बात हमारी ।
दैतन के बध काज चली रन चंड प्रचंड भुजंगिनी कारी ॥७८॥

तब पार्वती और देवताओं ने बैठ कर मन में विचार किया कि बिना युद्ध अब पृथ्वी का उद्धार नहीं हो सकता है। राक्षसों ने सर्वत्र अपना अधिकार जमा रक्खा है वह नहीं हटाया जा सकता । इन्द्र ने कहा—माता अब देरी करना ठीक नहीं है ।

तब दैत्यों को मारने के लिए काली सांपिनी की तरह चण्डिका चल पड़ी।

कञ्चन सो तन खञ्जन से दृग कञ्जन की सुखमा सँकुची है।
लै करतार सुधा कर मै मद मूरत सी अँग अङ्ग रची है॥
आनन की सर को सस नाहिन और कछू उपमा न बची है।
सृङ्ग सुमेर के चंड विराजत मानो सिंघासन बैठी सची है॥७९॥

सोने जैसा पार्वती का शरीर है। खंजन जैसे नेत्र हैं और उन नेत्रों की मुलायमी कमल को भी सँकुचाने वाली है। माधुर्य तो मानो ब्रह्मा ने अपने हाथ में अमृत लेकर मूर्ति के अङ्ग अङ्ग में भर दिया है। मुख की समता चन्द्रमा नहीं कर सकता और उसके सिवाय और कोई उपमा के योग्य उदाहरण नहीं है। मेरु पहाड़ की चोटी पर बैठी हुई पार्वती ऐसी शोभायमान है, मानो शची सिंहासन पर बैठी हो।

ऐसे सृङ्ग सुमेर कै सोभत चंडि प्रचंड।
चन्द्रहास करि बर धरे जन जम लीनो दंड॥८०॥

सुन्दर हाथों में तलवार लिये मेरुपर्वत पर बैठी भगवती ऐसी शोभा दे रही है, जैसे काल यमदण्ड लिए बैठा हो।

किसी काज को दैत्य इकु आयो है तिह ठाइ।
निरख रूप बर चंडि को गयो मूर्छा खाइ॥८१॥

कोई राक्षस किसी कार्यवश उधर से आ निकला। वह चण्डी के अत्यन्त सुन्दर स्वरूप को देख कर मूर्छित हो धरती पर गिर पड़ा।

उठि संभारि करि जोर कै कही चंडि सों बात।
नृपति सुंभ को भ्रात हौं कह्यो बचन सँकुचात॥८२॥

फिर वह होश में आकर उठा और हाथ जोड़ कर कहने लगा कि लज्जा तो आती है पर कहे देता हूं कि मैं शुम्भ का भाई हूँ।

तीन लोक जिन बसि किये अतिबल भुजा अखंड।
ऐसो भूपति सुंभ है ताहि बरो वरि चंड॥८३॥

राजा शुम्भ ऐसा है, जिसने अपने विशाल और अजय बाहुबल से तीनों लोकों को अपने वश में कर रक्खा है। हे श्रेष्ठ चण्डिके! तुम उसी को वरण करो।

सुनि राकस की बात को देवी उत्तर दीन।
जुद्ध करे विन नहिं बरौं सुनहुँ दैत परवीन ॥८४॥

राक्षस की बात सुनकर चण्डी ने उत्तर दिया—हे चतुर राक्षस! मैं बिना युद्ध किए नहीं वर सकती। अर्थात् अगर शुम्भ ने मेरे साथ विवाह करना है तो मेरे साथ युद्ध करे।

इह सुन दानव चपलगति गयो सुंभ के पास।
पर पाइन कर जोर कै करी एक अरदास ॥८५॥

यह सुनकर वह द्रुतगामी राक्षस शुम्भ के पास गया और प्रणाम करके हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक बोला।

और रतन नृप धाम तव त्रियारतन ते हीन।
बधू एक बन मै बसै तिह तुम बरौ प्रबीन ॥८६॥

कहने लगा—हे चतुर राजन्! आपके घर में और तो अनेक रत्न हैं पर स्त्री-रत्न नहीं है। एक स्त्री बन में रहती है, आप उसे वर लीजिये।

सुनी मनोहरि बात नृप बूझयो पुनि ताहिको।
मोसो कहिये भ्रात बरनन ताहि शरीर को ॥८७॥

यह मन को मोहने वाली बात सुन कर राजा बोला—भाई उसके शरीर का तो वर्णन कीजिये कि कैसा है?

हरि सो मुख है हरिता दुख है अलकै हरिहारप्रभा हरती है।
लोचन हैं हरिसे सरसे हरिसे भरुटे हरिसी बरूनी है ॥८७॥
केहरि सो करहा चलबो हरिपै हरिकी हरिनी तरती है।
है कर मै हरि पै हरि सौ हरिरूप किये हरि की घरनी है ॥८८॥

वह बोला—चन्द्रमा जैसा उसका मुख दुःखों को दूर करने वाला है। शिवजी के हार सांपों की भी शोभा हरने वाली उसकी अलकें हैं। नेत्र उसके कमल के समान हैं। भौंह धनुष और पलकें बाणों के समान हैं। कमर उसकी शेर जैसी और चाल एरावत हाथी के समान हैं। मन को मोहने वाली पार्वती पहाड़ पर बैठी हुई है, उसके हाथ में तलवार है, शेर पर सवार है। धनुषधारिणी है, मनोहारिणी है।

कवित्त—मीन मुरझाने कञ्ज खञ्जन खिसाने अलि फिरत दीवाने डोले
जित तित ही। कीर औ कपोत बिंब कोकला कलापी बन लूटै

फूटै फिरैं मन चैनहू न कितही ॥ दारम चरक गयो पेख दसननि पाँति रूप ही की कान्ति जग फैल रही सित ही । ऐसी गुन-सागर उजागर सुनागर है लीनो मन मेरो हरि नैन कोर चित ही ॥८९॥

और सुनिये ! उसकी चञ्चलता को देख कर मछलियें शर्माती हैं । नेत्रों की कोमलता को देख कर कमल शर्माते हैं खञ्जन सँकुचाते हैं । और भौंह पर भँवरें दीवाने हुए जहाँ तहां डोल रहे हैं । नासिका को देख कर तोते और गर्दन को देखकर कबूतर, ओठों को देख कर बिंब, आवाज को सुनकर कोयल और चाल को देख कर मोर बन में लुटे हुए से फिर रहे हैं । उन्हें कहीं भी चैन नहीं है । राजन् ! उस सुन्दरी के दांतों की पंक्तियों को देख कर अनार चटके जाते हैं । चांद की चांदिनी उसके रूप से ही निकली है । अथवा उसके रूप को देख कर सफेदी संसार में बौरा रही । वह ऐसी गुनों की सागर उजागर और नागर स्त्री है कि उसने अपनी आंखों की कोर से ही मुझे मोहित कर लिया है । क्या कहूं , बड़ी अद्भुत सुन्दरी है ।

बात दैत की सुंभ सुनि बोलयो कछु मुसकात ।
चतुर दूत कोउ भेजिये लखि आवै तिह घात ॥९०॥

दैत्य की यह बात सुन कर शुम्भ कुछ मुस्कराया और बोला किसी चतुर दूत को भेजिये जो दाव समझ आये ।

बहुरि कही उन दैत अब कीजे एक विचार ।
लायक भट जो सैन मै भेजहु दै अधिकार ॥९१॥

दैत्य फिर कहने लगा कि अब एक ही विचार कीजिये वह यह कि सेना में जो योग्य योद्धा हो उसे अधिकार देकर वहाँ भेजा जाय ।

बैठो हुतो नृप मद्धि सभा उठिकै करि जोर कह्यो मम जाऊं ।
बातन ते रिझवाइ मिलाइहों नातरि केसन ते गहि ल्याऊं ॥
क्रोध करै तब जुद्ध करौं रन स्रोनत की सरतान बहाऊं ।
लोचन धूम कहै बल आपनो स्वासन साथ पहार उड़ाऊं ॥९२॥

धूम्रलोचन सभा में बैठा था । वह हाथ जोड़ कर बोला—आज्ञा हो तो मैं जाऊँ । मैं उसे बातों में ही प्रसन्न कर लूंगा और आप से मिला दूंगा। अगर ऐसा न हो

सकेगा तो केशों से पकड़ लाऊंगा। यदि क्रोध करेगी तो उससे युद्ध करूंगा। खून की नदियां बहा दूंगा। मुझ में ऐसी सामर्थ्य है कि श्वासों से पहाड़ उड़ा सकता हूँ।

उठे वीर को देख कै शुंभ कही तुम जाहु।
रीझे आवै आनियो खीझै जुद्ध कराहु ॥९३॥

योद्धा को तैयार देख कर शुंभ बोला—जाओ, अगर वह प्रसन्न हो तो ले आओ, अन्यथा उससे युद्ध करो।

तहां धूम्रलोचन चले चतुरङ्गन दल साज।
गिर घेरयो घनघटा जिउ गरज गरज गजराज ॥९४॥

अब धूम्रलोचन चतुरङ्गिणी सेना सजा कर वहां को चल दिया। जैसे गरज गरज कर घटाएं घिर आती हैं इसी प्रकार उसने गरज-गरज कर पहाड़ को घेर लिया, जिस पर महामाया विराजमान थी।

धूम्रनैन गिरराजतट ऊंचे कही पुकार।
कै बर सुंभ नृपाल को कै लर चंडि सँभार ॥९५॥

फिर धूम्रलोचन ऊँचे पहाड़ पर चढ़ कर ऊँचे स्वर से बोला—दुर्गे! या तो राजा शुम्भ को वर लो या अपनी तलवार सँभाल लो युद्ध होगा।

रिपु के वचन सुनंत ही सिंघ भई असवार।
गिरते उतरी बेग दै कर आयुध सभ धार ॥९६॥

शत्रु के यह वचन सुन कर चण्डी हाथों में सब अस्त्र शस्त्र लेकर जल्दी ही पहाड़ से नीचे उतर आई।

कोप कै चंड प्रचंड चढी इत क्रोध के धूम्र चढै उत सैनी।
बान कृपानन मार मची तब देवी लई बरछी कर पैनी॥
दौर दई अर के मुख मैं कटि ओठ दए जिमु लोह कै छैनी।
दन्त गंगा जमुना तन स्याम सो लोहू बह्यो तिह माहि त्रिबेनी ॥९७॥

इधर प्रचण्ड क्रोध करके चण्डिका चढ़ी और उधर गुस्सा खाकर सेनापति धूम्रलोचन चढ़ा। दोनों ओर से तीर और तलवारों की मार मचने लगी। तब देवी ने हाथ में तीक्ष्ण बर्छी ले ली और दौड़ कर शत्रु के मुंह में घुसेड़ दी। उससे उसके इस प्रकार ओंठ कट गए, जैसे छैनी से लोहा कट जाता है। राक्षसों के दांत मानो गङ्गा

है, काला शरीर यमुना है, और खून सरस्वती है, इस प्रकार त्रिवेणी का सङ्गम हो गया।

घाउ लगै रिस कै द्रग धूम्र सुकै बलि आपनो खग्ग सँभारिओ।
बीस पचीसक वार करे तिन केहरि के पगु नैकु न हारिओ ॥
धाइ गदा गहि फोर कै फउज को घाउ सिवा सिर दैत के मारिओ।
शृंग धराधर ऊपरि को जन कोप पुरंदर बज्र प्रहारिओ ॥९८॥

जब धूम्रनयन को घाव लगे तो उसने क्रोध करके अपनी तलवार को सँभाला। उसने कोई बीस पचीस वार शेर पर किये पर शेर एक पांव भी पीछे न हटा। तब देवी ने गदा पकड़ कर सेना को चीरते हुए धूम्रलोचन के सिर पर जा वार किया। वह गदा उसे इस प्रकार लगी, जैसे क्रोध में आए हुए इन्द्र का बज्र पहाड़ों को लगता है।

लोचन धूम्र उठे किलकार लियो संग दैतन के कुरमा।
गहि पान कृपान अचानक तान लगाइ है केहरि के उरमा ॥
हरि चंडि लियो बरिकै करते अरु मुंड कट्यो असुरंपुरमा।
मनो आन्धी बहै धरनी पर छूटत खजूरते टूट पर्यो खुरमा ॥९९॥

तब धूम्रनेत्र दैत्य-दल को साथ लेकर गरजता हुआ उठा और हाथ में तलवार लेकर अकस्मात् उसने शेर की छाती पर वार किया। यह देखकर चण्डी ने भी हाथ में तलवार ली और धूम्रनेत्र का सिर काट कर दैत्यपुरी में पटक दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो आंधी के आने से खजूर के पेड़ से खजूर का गुच्छा गिर पड़ा हो।

धूम्रनैन जब मार्यो देवी इह परकार।
असुर सैन बिनु चैन हुई कीनो हाहाकार ॥१००॥

जब इस प्रकार देवी ने धूम्रनेत्र को मार दिया तो दैत्यदल में व्याकुलता छा गई, हाहाकार होने लग गया।

तीसरा अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

सोर सुन्यो जब दैतन को तब चंडि प्रचंड तची अखियां।
हरध्यान छुट्यो मुनको सुनि कै धुनि टूटि खगेस गई पखियां ॥

दृग ज्वाल बड़ी बडवानल जिउ कवि ने उपमा तिहकी लखियां।

सभु छार भयो दल दानव को जिमु धूम हलाल की मखियां ॥१०१

जब दैत्यों का कोलाहल सुना तो प्रचंड चंडिका ने आंखें चढ़ाईं। फलत: शङ्कर की ओर लगा मुनियों का ध्यान भी छूट गया। गरुड़ के पंख टूटने लगे। दुर्गा की आंखों की ज्योति बडवानल के समान बढ़ गई। कवि ने उसकी उपमा यों जानी—तमाम दैत्य-दल जल कर इस प्रकार स्वाहा हो गया, जैसे विष के धुएं से मक्खियां स्वाहा हो जाती हैं।

और सकल सैना जरी बचयो सु एकै प्रत।

चण्डि बचायो जानि कै औरन मारन हेत ॥१०२॥

सारी सेना तो जल गई पर एक प्रेत बच रहा। उसे चण्डी ने औरों को मारने के लिये जान बूझ कर बचा रहने दिया।

भाज निसाचर मन्दमत कही सुम्भ पै जाइ।

धूम्रनैन सैना सहित डारयो चण्ड खपाइ ॥१०३॥

वह मन्दमति राक्षस भाग कर शुम्भ के पास गया और कहने लगा कि धूम्र नयनसहित सारी सेना को चण्डी ने मार डाला है।

सकल कटे भट कटक के पाइक रथ है कुम्भ।

यौ सुनि बचन अचरज है कोप कियो नृप सुम्भ ॥१०४॥

तमाम पैदल, घुड़सवार, रथ-सवार और गजसवार सेना चण्डी ने काट डाली है, यह सुन कर शुम्भ बड़े आश्चर्य और गुस्से में आया।

चण्ड मुंड द्वै दैत तब लीनो सुंभ हकार।

चलि आए नृप सभा महि करि लीनी असि ढार ॥१०५॥

तब शुम्भ ने चण्ड और मुण्ड नाम के दो दैत्यों को बुलाया। सुनते ही वे हाथों में ढाल और तलवार लेकर राजसभा में आ गए।

अब वन्दन दोनों किये बैठाए नृप तीर।

पान दए मुख ते कह्यो तुम दोनो मम बीर ॥१०६॥

आते ही उन्होंने राजा की बन्दना की। राजा ने उन्हें पास बैठा लिया और पान का बीड़ा देकर कहा कि तुम दोनों मेरे बहादुर योद्धा हो।

निज कट को फैंटा दयो अरु जमधर करवार ।
ल्यावहु चण्डी बांध कै नातर मारो डार ॥१०७॥

फिर उसने उन्हें अपने कमर का फेंटा दिया और कटार वा तलवार देकर कहा — या तो चण्डी को बांध कर ले आओ, अन्यथा मार डालो ।

कोप चढे रन चण्ड औ मुंड सु लै चतुरङ्गन सैन भली ।
तब सेस के सीस धरा लरजी जन मद्ध तरङ्गनि नाव हली ।
खुर बाजन धूर उड़ी नभ को कवि के मन ते उपमा न टली ।
भव-भार अपार निवारन को धरनी मनो ब्रह्म के लोक चली ॥१०८

चतुरङ्गिणी सेना सजा कर बड़े गुस्से के साथ चण्ड और मुण्ड ने चढ़ाई कर दी । उस समय शेषनाग के सिर पर अटक रही धरती इस प्रकार हिलने लग गई, जैसे लहरों में नाव हिलती है । घोड़ों की टाप से आकाश धूल से धूसरित हो गया । कवि के मन में अब भी उपमा आने से नहीं रुकी । ख्याल आया, मानो संसार का भार उतारने के लिए पृथ्वी ब्रह्मलोक को चली जा रही है ।

चण्ड मुण्ड दैतन दुहूं सबल प्रबल दलु लीन ।
निकट जाइ गिर घेरि कै महा कुलाहलु कीन ॥१०९॥

चण्ड और मुंड ने संगठित और सबल सेना साथ ली और देवी के पहाड़ को घेर कर बड़ा कोलाहल मचा दिया ।

जब कान सुनी धुनि दैतन की तब कोप कियो गिरजा मन मैं ।
चढ़ सिंघ सुसङ्ख बजाइ चली सभि आयुध धार तवै तन मैं ॥
गिरते उतरी दल बैरन के पर यो उपमा उपजी मन मैं ।
नभ ते बहरी लख छूट परी जनु कूक कुलङ्गन के गन मैं ॥११०॥

जब गिरिजा ने दैत्यों का कोलाहल कानों से सुना तो बड़ा क्रोध किया और उसी समय तमाम अस्त्र शस्त्र धारण कर सिंह पर सवार हो सङ्ख बजा दिया । फिर वह पहाड़ से शत्रुदल में ऐसे उतरी, जैसे कोयलों के झुण्ड में बहरी (पक्षी विशेष) टूट पड़ता है । यही उपमा कवि के मन में उस समय पैदा हुई सो कह दी ।

चण्डि कुवण्ड ते बाण छुटे इक ते दस सौ ते सहंसर बाढे ।
लच्छक हुइ करि जाइ लगै तन दैतन मांझ रहे गडि गाढे ॥

को कवि ताहि सराह करै अतिसे उपमा जु भई बिन काढे ।
फागुन पौन के गौन भए जनु पातु विहीन रहे तरु ठाढे ॥१११॥

चण्डी के धनुष से छुटे हुए बाण एक से दस और दस से सौ एवं सौ से हजार बन कर बरसने लगे और लक्ष्य बन कर वह दैत्यों के शरीर में गढ़ने लगे । कौन ऐसा कवि है, जो उनकी सराहना न करेगा । अत्यन्त सुन्दर उपमा तो स्वयं ही बन रही है, मानो फागुन के महीने में वायु के वेग से वृक्ष पत्तों से रहित हुए खड़े हैं ।

मुंड लई करवार हकार कै केहरि के अँग अङ्ग प्रहारे ।
फेर दई तन दौर के गौरि को घाइ लगे निकसी अँग धारे ॥
स्रौन भरी थहरै कर दैत को को उपमा कवि और विचारे ।
पान गुमान सु ग्वाइ अघाइ मनो जम अपनी जीभ निहारे ॥११२॥

तब मुंड दैत्य ने भी हाथ में तलवार ली और ललकार कर शेर के ऊपर वार किया । फिर दौड कर दुर्गा के शरीर पर भी चला दी । उस के घावों से खून की धारा बह निकली । खून से भरी हुई तलवार को हिलती देखकर कौन कवि है जो इसके सिवाय दूसरी उपमा पर विचार करेगा कि मानो यमराज पान खाकर अभिमान के साथ अपनी जिह्वा को देख कर प्रसन्न हो रहा है ।

घाउ कै दैत चल्यो जब ही तब देवी निखङ्ग ते बान सु काढे ।
कान प्रमान लों खैंच कमान चलावत एक अनेक हुइ बाढे ॥
मुंड लै ढाल दई मुख ओट धसे तिह मद्धि रहे गडि गाढे ।
मानहु कूरम पीठ पै नीठ भए सहसे फन के फन ठाढे ॥११३॥

इस प्रकार जख्मी करके ज्योंही दैत्य चलने लगा दुर्गा ने भी तरकस से बाण निकाल लिये । कान तक धनुष को खैंच कर वह एक चलाए तो अनेक हो जाएं । मुण्ड ने मुंह के आगे ढाल ले ली । बाण उस मजबूत ढाल में भी गड़ गए । ऐसा दिखाई देने लगा, मानो कछुए की पीठ पर शेषनाग के फन भली प्रकार गड़ गए हैं ।

सिंघहि प्रेरकै आगे भई करि मै अस लै बर चंड सँभार्यो ।
मारि कै धूरि किये चकचूर गिरै अरि पूर महारण पार्यो ॥

फेरि कै घेर लियो रण माहि सु मुंड को मुंड जुदा करि डारयो।
ऐसी परयो धरि ऊपर जाइ जिउ बेलहि ते कदूआ कटि डारयो॥११४॥

शेर को हांक कर देवी और आगे हुई और उसने अपने बल को संभाला। राक्षसों को मार कर चकना चूर कर दिया। उन्हें धूल में मिला दिया। शत्रुओं ने गिर गिर कर रणभूमि को भर दिया। फिर देवी ने युद्धस्थल में मुंड को घेर लिया और उसका सिर भी धड से जुदा कर डाला। वह ऐसे पड़ा, जैसे बेल से कदूआ कट कर गिरता है।

सिंघ चढ़ी मुख सङ्ख बजावत जिउ घन मै तडता दुत मंडी।
चक्र चलाए गिराय दयो अरि भाजत दैत बड़े कर बंडी॥
भूत पिसाचन मास अहार करै किलकार खिलार कै झण्डी।
मुंड को मुंड उतार दयो अब चंड को हाथ लगावत चण्डी॥११५॥

सिंह पर सवार शङ्ख बजाती हुई दुर्गा ऐसी लगने लगी, जैसे बादलों में बिजली लगती है। उसने चक्र चलाकर बड़े-बड़े बलवान् शत्रुओं को गिरा दिया, भगा दिया। भूत और पिशाच मांस खाते हैं और किलकार किलकार कर अपना निशान उड़ाते हैं। मुण्ड का मुंड उतार कर अब देवी चण्ड को हाथ लगाती है।

मुंड महारन मद्धि हनयो फिर कै बर चंड तबै इह कीनो।
मार बिदार दई सभ सैन सु चंडका चंड सो आवह कीनो॥
लै बरछी कर मै अर को सिर कै बर मार जुदा करि दीनो।
लै कै महेस त्रिमूल गनेस के रुंड कियो जनु मुंड विहीनो॥११६॥

जब उस (पूर्ववर्णित) युद्ध में चण्डी ने बड़े जोर से मुंड को मार दिया और उसकी सेना का नाश कर डाला तो फिर चण्ड से युद्ध शुरू किया। हाथ में बरछी लेकर चण्डी ने राक्षस के हृदय में मारी और बलपूर्वक उसका सिर भी धड़ से जुदा कर डाला। मानों हाथ में त्रिशूल लेकर शिवजी ने गणेश को बिना रुंड मुंड के कर डाला हो।

चौथा अध्याय समाप्त

पांचवां अध्याय

घाइल घूमत कोट, जाइ पुकारे सुंभ पै ।

मारे देवी घोट, सुभट कटक के बिकट अति ॥११७॥

करोड़ों घायलोंने घूमते हुए शुम्भ के पास जा पुकार की कि देवी ने अत्यन्त विकट योद्धाओं को भी मसल मसल कर मार डाला है ।

राज गात को बाति इह कही जु ताही ठौर ।

मरिहो जीअति न छाडहो कहिओ सत्त नहि और ॥११८॥

यह सुनते ही राजा के मुंह से यह बात उसी जगह निकल पड़ी कि मर जाऊंगा लेकिन जीते जी न छोड़ूंगा । यह सत्य कहा है, मिथ्या नहीं ।

तुंड सुभट के चण्डका चढि बोली इह भाइ ।

मानो अपनी मृत्त को लीनो असुर बुलाइ ॥११९॥

चण्डिका भवानी शुम्भ के मुंह पर चढ़ कर इस भांति बोली –"असुर ! तूने अपनी मौत को स्वयं ही बुला लिया है ।

सुम्भ निसुम्भ दुहूं मिल बैठ मन्त्र तब कीन ।

सैना सकल बुलाइ कै सुम्भ बीर चुन लीन ॥१२०॥

तब शुम्भ और निशुम्भ दोनों ने बैठ कर आपस में सलाह की और सारी सेना को बुला कर उसमें से बलवान् योद्धा चुन लिये ।

रकतबीज को भेजीए मन्त्रन कही विचार ॥

पाथर जिउ गिर डार कै चण्डहि हनै हकार ॥१२१॥

मन्त्रियों ने सलाह करके कहा—"रक्तबीज को भेज दीजिये । वह ललकार कर देवी को ऐसे मार देगा जैसे पहाड़ से गेर कर पत्थर फोड़ा जाता है ।

भेजो कोऊ दूत ग्रह ते लिआवै ताहि को ।

जीत्यो जिन परहूत भुज बलि जाके अमित है ॥१२२॥

जिसने इन्द्र को भी जीत लिया था, जिसकी भुजाओं का बल अपार है, उस रक्तबीज को कोई दूत भेज कर बुला भेजिए ।

स्रौनतबिंद पै दैत इकु गयौ करी अरदास ।

राज बुलावत सभा मै बेग चलो तिह पास ॥१२३॥

तब एक दूत रक्तबीज के पास गया और विनयपूर्वक बोला—"राजा आपको सभा में बुला रहे हैं। जल्दी उनके पास चलिये।"

रकतबीज नृप सुम्भ को कीनो आन प्रनाम
असुर सभा मधि भाउ करि कह्यो करहु मम काम ॥१२४॥

रक्तबीज ने आकर शुम्भ को प्रणाम किया। राजा ने दैत्य सभा में उसका सत्कार करके कहा—"मेरा एक काम है करना होगा।"

स्रौनतबिंद को सुम्भ निसुम्भ बुलाइ बैठाइ कै आदरु कीनो।
दै सिर ताज बड़े गजराज सु बाज दए रिझवाइ कै लीनो॥
पान लै दैत कही इह चण्डि को रुंड करो अब मुंड बिहीनो।
ऐसो कह्यो तिन मद्धि सभा नृप रीझ कै मेघ अडंबर दीनो॥१२५॥

रक्तबिन्दु को शुम्भ और निशुम्भ दोनों ने बुलाकर आदरपूर्वक बैठाया। फिर उसके सिर पर मुकुट रक्खा। बड़े-बड़े मस्त हाथी और घोड़े दिये। प्रसन्न होकर रक्तबीज ने वह सब ग्रहण किया। फिर पान का बीड़ा लेकर बोला—"मैं अभी चंडी का सिर धड़ से जुदा करता हूँ। जब इस प्रकार राजदरबार में उसने कहा तो राजा ने प्रसन्न होकर उसे डङ्का भी प्रदान किया।"

स्रौनतबिंद को सुम्भ निसुंभ कह्यो तुम जाहु महा दलु लै कै।
छार करो गरूए गिरराजहि चंड पचार हनो बलु कै कै॥
कानन मै नृप की सुन बात रिसात चल्यो चड़ि ऊपरि गै कै।
मानो प्रतच्छ होइ अंतक दंत कौ लै कै चल्यो रन हेत जु छै कै॥१२६॥

फिर दोनों शुम्भ और निशुंभ ने रक्तबीज से कहा—"तुम भारी सेना लेकर जाओ और उस भारी पर्वत को धूल में मिला दो, जिस पर दुर्गा रह रही है। फिर दुर्गा को ललकार कर बलपूर्वक मार डालो। राजा की यह बात कान से सुनते ही वह क्रोधित होकर हाथी पर सवार हो गया। मानो यमराज हाथी का रूप धारण करके रक्तबीज को क्षय करने के लिये चल पड़ा है।

बीज रकत्र सुबंब बजाइकै आगै किये गज बाज रथईआ।
एक ते एक महाबलि दानव मेर को पाइन साथ मथईआ॥
देखि तिनै शुभ अंग सुदीरघ कौच सजे कर बांधि भथईआ।
लीनो कमानन बान कृपान समान कै साथ लए जु सथईआ॥१२७॥

रक्तबीज ने डंका बजाकर हाथी घोड़े और रथ आगे किए। दानव एक से एक बढ़ कर महाबली योद्धा हैं। सुमेरु पर्वत तक को पैरों तले मसल डालने की ताकत रखते हैं। रक्तबीज ने उन्हें देखा। वे विशालकाय राक्षस कवच सजाते हैं, कमर में तरकस बांधते हैं, तब वह बाण कृपाण आदि युद्ध का सामान और लड़ने वाले साथियों को लेकर चल दिया।

रकतबीज दल साज कै उतरे तट गिरराज।

स्रवन कुलाहल सुनि सिवा कर्यो जुद्ध को साज ॥१२८॥

रक्तबीज सेना सजा कर गिरिराज हिमालय के समीप जा उतरा। उसके कोलाहल को कानों से सुन कर शिवा ने भी युद्ध के साज सजाए।

हुइ सिंघह असवार गाजगाज कै चंडका।

चली प्रबल अस धार, रकतबीज के बधनमित ॥१२९॥

शेर पर सवार होकर तलवार की धार के समान चण्डी बिजली की तरह कड़कती हुई रक्तबीज को मारने के लिये चल पड़ी।

आवत देख कै चंड प्रचंड की स्रौनतबिंद महा हरखिओ है।

आगे ह्वै सत्र धसे रन मद्धि सु क्रुद्ध कै जुद्ध को सरखिओ है॥

लै उमडिओ दलु बादल सों कवि नै जसु इआ छवि को परखिओ है।

तीर चलै इम बीरन के बहु मेघ मनो बल कै बरखिओ है ॥१३०॥

प्रचंड चण्डिका को आते देख रक्तबीज बड़ा प्रसन्न हुआ तमाम शत्रु आगे बढ़ कर युद्ध में धँस गए। रक्तबिन्दु आप भी गुस्सा खाकर युद्ध को चल पड़ा। वह सेना बादलों की तरह उमड़ पड़ी। कवि ने उस छवि को यों जाना।

बीरन के करते छुट तीर सरीरन चीर कै पार कराने।

तोर सराहन फोर कै कउचन मीनन के रिप जिउ थहराने॥

घाउ लगे तन अनेक सु स्रउन चलिओ बहिकै सरिताने।

मानहु फार पहारहूं को सुत तच्छक के निकसे करवाने ॥१३१॥

वीरों के हाथ से छूट कर तीर शरीरों को चीर कर पार निकल गए। धनुषों को तोड़ कर, कवचों को फोड़ कर दधीरे पक्षी की तरह बाण निकलने लगे। चंडी के शरीर पर अनेक घाव लगे। उनसे खून की नदी बह निकली। मानो पहाड़ को फोड़ कर सांप कपड़े पहन कर निकल रहे हैं।

बीरन के करते छुट तीरसु चंडका सिंघनि जिउ भभकारी।
लै करि बान कमान कृपान गदा गहि चक्र छुरी अउ कटारी॥
काट कै दामन छेद कै भेद कै सिंधुर की करी भिन्न अंबारी।
मानहु आग लगाइ हनु गढ़ लङ्क अवास की जारी अटारी॥१३२॥

जब योद्धाओं के हाथ से बाण छूटे तो चण्डी शेर की तरह गरजी और हाथ में धनुष, बाण, कृपाण, गदा, चक्र, छुरी और कटारी पकड़ ली। फिर उसने रस्सी को काट कर हाथी के ऊपर से अम्बारी दूर करदी। मानो हनुमान् ने लङ्का को आग लगाकर उसके महल की अटारी जलादी हो।

तोर कै मोर कै दैतन के मुख घोर कै चण्ड महा असि लीनो।
जोर कै फोर कै ठोर कै बीर सु राछस को हति कै तिह दीनो॥
खोर कै तोर कै बोर कै दानव लै तिन के करे हाड चबीनो।
स्रौन को पान करयो जिउ दवा हरि सागर को जल जिउ रिख पीनो॥१३३॥

दैत्यों के मुंह तोड़ तोड़ कर मरोड़ मरोड़ कर देवी ने हाथ में भयङ्कर तलवार ली और उन्हें एक जगह एकत्र कर मार दिया। बुला कर, खैंच कर उनकी हड्डियें चबा डालीं। उनका खून इस प्रकार पिया जैसे भगवान् कृष्ण ने अग्नि को पिया था और अगस्त्य ऋषि ने समुद्र को सोख लिया था।

चंड प्रचंड कुवंड कर गहि जुद्ध करियो न गने भट आने।
मार दई सभ दैत चमूं तिह स्रोनत जम्बुक ग्रिज्झ अघाने॥
भाल भयानक देखि भवानी को दानव इउ रन छांड पराने।
पौन के गौन को तेज प्रतापते पीपर के जिउ पत्रि उड़ाने॥१३४॥

प्रचण्ड चण्डिका ने हाथ में धनुष धारण किया और ऐसा युद्ध मचाया कि योद्धाओं को अपने बेगाने की सुधबुध भूल गई। सारी दैत्यसेना मार दी। इतना खून चला कि जम्बुक और गीध तृप्त हो गये। देवी के भयानक मस्तक को देखकर बचे खुचे राक्षस इस प्रकार भाग गए जैसे पवन के वेग से उसके तेज प्रताप से पीपल के पत्ते उड़ जाते हैं।

आहव मै खिझ कै थर चण्डि करं धर के हरि पै अर मारे।
एकन तीरन चक्र गदा हति एकन के तन केहरि फारे॥

है-दल गै-दल पैदल घाइ कै मार रथी बिरथी कर डारे।
सिंधर ऐसे परे तिह ठौर जिउ भूम मैं झूमि गिरे गिर कारे ॥१३५॥

श्रेष्ठ चण्डिका ने युद्ध में खीझ कर हाथ में तलवार लेकर दुश्मनों को फिर मारा। किसी को तीरों से, किसी को चक्र से और किसी को गदा से मार डाला। कितनों को शेर ने फाड़ डाला। घुड़सवार, गजसवार और पैदल सब मार डाले। रथी बेरथी कर दिये। वहा गिरे हुए हाथी ऐसे प्रतीत होने लगे, मानो बड़े-बड़े पहाड़ लुढ़क कर गिर पड़े हैं।

रकतबीज की चमूं सभ भागी करि तिह त्रास।
कहियो दैत पुनि घेरि कै करो चंड को नास ॥१३६॥

रक्तबीज की शेष सारी सेना मारे डर के भाग गई। पर उसने फिर सब को एकत्र कर कहा—"चण्डी का नाश कर दो"।

कानन मैं सुनि कै इह बात सुबीर फिरे कर मै असि लै कै।
चंड प्रचंड सु जुद्ध करयो बलि कै अत ही मन क्रुद्धत ह्वै कै॥
घाउ लगै तिन के तन मै इम स्रौन गिरयो धरनी पर चुऐ कै।
आग लगै जिमु कानन मै तन तिउ रही बानन की धुनि ह्वै कै ॥१३७॥

यह कानों से सुनते ही सब योद्धा लोग हाथों में तलवारें लेकर लौट आए। उस प्रचण्ड चण्डिका से उन्होंने बड़े गुस्से के साथ शक्तिभर युद्ध किया। घावों के लगने से उनके शरीर से खून इस प्रकार पृथ्वी पर चू पड़ा, जैसे जङ्गल में आग लगती है। बाणों की आवाज ऐसे आने लगी जैसे तिनकों की खड़खड़ाहट होती है।

आइस पाइके दानव को दल चंड के सामु है आइ अरयो है।
ढार औ सांग कृपाननि लै कर मै बर बीरन जुद्ध करयो है।
फेर फिरे नहि आहव ते मन मैं तिह धीरज गाढो धरयो है।
रोक लई चहू ओर ते चंड सु भान मनो परबेख अरयो है ॥१३८॥

आज्ञा पाकर राक्षसदल चण्डी के सामने डट गया। ढाल, बरछी और तलवार लेकर उन भारी योद्धाओं ने युद्ध किया। युद्धभूमि से लौटना नहीं है, यह सोच कर उन्होंने और भी भारी धैर्य रक्खा। चारों ओर से चण्डी को इस प्रकार रोक लिया, जैसे सूर्य को प्रवार रोक लेता है।

कोप कै चंड प्रचंड कुवंड महाबल कै बल वंड सम्भारयो ।
दामन जिउ घन से दल पैठ कै कै पुरजे-पुरजे दल मारयो ॥
बाननि साथ बिदार दए अरि ता छबि को कवि भाव विचारयो ।
सूरज की किरने सर मासहि रेन अनेक तहा करि डारयो ॥१३९॥

तब क्रोधित हो कर प्रचण्ड चण्डिका ने बड़ा भारी धनुष हाथ में लिया और अपने बल को संभाला । बादलों में से निकली हुई बिजली की तरह वह शत्रु दल में धँस गई और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले । बाणों के साथ जो उसने शत्रुओं को विदीर्ण किया तो उस छवि को कवि ने अपने मन में इस प्रकार विचारा । बाण मानो सूर्य की किरणें हैं और माँस के टुकड़े परमाणु हैं, जो उसने वहां अनेक कर डाले हैं ।

चंड चमूं बहु दैतन की हति फेरि प्रचण्ड कुवंड सम्भारयो ।
बानन सों दल फोर दइयो बलकै थर सिंघ महा भभकारयो ॥
मार दए सिरदार बडे धर स्रौन बहाइ बड़ो रन पारयो ।
एक कै सीस दयो धनु यौ जनु कोप कै गाज कै मंडप मारयो ॥१४०॥

चण्डिका ने दैत्यों की बहुत सी सेना को मार डाला । फिर प्रचण्ड धनुष संभाला और बलपूर्वक बाणों द्वारा शत्रुदल को फाड़ डाला । बलवान् शेर ने भी उस समय खूब गर्जना की । बड़े-बड़े सरदार उसने भी मार डाले । रणभूमि में बेशुमार खून गिरा, धड़ पड़े । देवी ने किसी के शरीर में धनुष ही धँसा दिया जैसे क्रोध करके बिजली ने मण्डप के मीनार को गिरा दिया हो ।

चंड चमूं सब दैत की ऐसे दई संहार ।
पौनपूत जिउ लङ्क को डारयो बाग उखार ॥१४१॥

चण्डी ने राक्षसों की सेना को इस प्रकार मार दिया जैसे हनुमान् जी ने अशोक-बन को उखाड़ डाला था ।

गाज कै चंड महाबलि मेघ सी बूंदन जिउ अर पै सर डारे ।
दामन सों खग लै करि मै बहु बीर अधंधर कै धर मारे ॥
घाइल घूम परे तिह इउ उपमा मन मै कवि यौ अनुसारे ।
स्रउन प्रवाह मनो सरिता तिह मद्धि धसी करि लोथ करारे ॥१४२॥

महाबलशालिनी चण्डिका ने बादलों के समान गरज कर वर्षा की तरह शत्रुओं पर बाण चलाए। बिजली जैसी तलवार हाथ में लेकर बहुत से वीरों को अधमरा कर दिया, पृथ्वी पर पटक दिया, वे घायल हो घूमने लगे। अब की उपमा कवि ने इस प्रकार मन में विचारी, मानो खून का प्रवाह नदी है और उसमें पड़े हुए हाथी उसके किनारे हैं।

ऐसे परे धरनी पर बीर सु कै कै दुखंड सु चंडहि डारे।
लोथन ऊपरि लोथ गिरी बहि स्रौन चल्यो जनु कोट पनारे।
लै करि बियाल सो बियाल बजावत सो उपमा कवि यौ मन धारे।
मानो महा परलै बहे पौन सो आपस मैं भिर है गिर भारे ।१४३॥

इस प्रकार चण्डी द्वारा दो टुकड़े हुए योद्धा पृथ्वी पर पड़े हैं। लाशों के ऊपर लाशें पड़ी हुई हैं। खून ऐसे बह रहा है, जैसे करोड़ों पनाले बहते हैं। पिशाच लोग हाथी से हाथी टकरा रहे हैं। उसे देख कर कवि ने यह उपमा मन में सोची कि मानो महाप्रलय में वायु के वेग से पहाड़ आपस में टकरा रहे हैं।

लै कर मैं असि दारुन काम करे रन मैं अर सो अरणी है।
सूर हने बली कै बलवान सु स्रौन चल्यो बहि बैतरनी है॥
बांह कटी अध बीच ते सुंड सी सो उपमा कवी ने बरनी है।
आपसि मैं लर कै सुमनो गिरते गिरी सर्प की दुइ घरनी है॥१४४॥

हाथ में भयंकर तलवार लेकर देवी युद्ध में भयंकर ही काम कर रही है। उस ने बलपूर्वक योद्धाओं को मार डाला। उनके खून की वैतरणी नदी बह चली। अध बीच में से कटी हुई हाथी की सूंड जैसी भुजाओं को देख कर कवि ने यह उपमा वर्णन की कि मानों दो सांपों की पत्नियें आपस में लड़कर पहाड़ से गिर पड़ी हैं।

सकल प्रबल दल दैत को चंडी दयो भजाइ।
पाप ताप हरिजाप ते जैसे जात पराइ ॥१४५॥

राक्षसों की सारी प्रबल सेना को चण्डी ने ऐसे भगा दिया जैसे हरिनाम के जाप से पाप और ताप भाग जाते हैं।

भानते जिउ तम पौन ते जिउ घन मोर ते जिउ फन तिउ सकुचाने।
सूर ते कातुरु कूर ते चातुरु सिंघ ते सातुर ऐनि डराने॥

सूम ते जिउ जस ब्योग ते जिउ रस पूत कपूत ते जिउ बंसहाने ।
धर्म जिउ क्रुद्ध ते भर्म सुबुद्ध ते चंड के युद्ध देत पराने ।।१४६।।

वे (राक्षस) इस प्रकार सहम गए, भाग गए जैसे सूर्य से अन्धेरा वायु से बादल और मोर से सांप भाग जाता है। अथवा जैसे योद्धा से कायर, झूठे से चतुर, शेर से खरगोश अथवा हरिण, सूम से यश, विरह से रस, कुपुत्र से वंश, क्रोध से धर्म और सुन्दर बुद्धि से भ्रम भाग जाता है, चण्डी के युद्ध से सब राक्षस भी इसी तरह भाग गए।

फेर फिरे एव युद्ध कै करवारन लै कर तारन क्रुद्ध हुइ धाए ।
एक लै बान कमानन तान कै तूरन तेज तुरंग तुराए ।।
धूर उडी खुर पूरन ते पथ अरध हुइ रवि मंडल छाए ।
मानहु फेर रचे बिधि लोक धरा खट आठ अकास बनाए ।।१४७।।

पर राक्षस फिर सब के सब हाथों में तलवारें लेकर क्रोधित होकर युद्ध के लिये दौड़ पड़े। कई धनुष पर बाण चढ़ा कर तेज घोड़ों पर दौड़े। उनके घोड़ों की टाप से धूल इतनी ऊँचे उड़ी कि सूर्यमण्डल आच्छादित हो गया, मानों ब्रह्मा ने फिर पृथवी पर १४ आकाश बना दिये हैं।

चंड प्रचंड कुवंड लै बाननि दैतन के तन तूलि जिउ तूंबे ।
मार गोइन्द दए करवार लै दानव मान गयो उड पूंबे ।।
बीरन के सिर की सित पाग चली बहि स्रौन ऊपर खूंबे ।
मानहु सारसुती के प्रवाह मै सूरन के जस के उठ बूंबे ।।१४८।।

तब तो चण्डिका ने भी भयङ्कर धनुष बाण हाथ में लेकर राक्षसों के शरीर रुई के तूम्बे की तरह उड़ा दिए। तलवार लेकर हाथियों को कत्ल कर डाला। राक्षसों का सारा अभिमान आक के तूम्बे की तरह उड़ गया। वीरों के सिर की सफेद पगड़ियें खून की नदियों में झाग के गुच्छे की तरह तैरने लगीं, मानो सरस्वती के प्रवाह में योद्धाओं के यश के गुच्छे बह रहे हैं।

दैतन साथ गदा गहि हाथ सु क्रुद्ध ह्वै जुद्ध निसंग कर्‌यो है ।
पान कृपान लए बलवान सुमार तब दल छार कर्‌यो है ।
पाग समेत गिरिओ सिर एक को भाउ इहै कबि ताको धर्‌यो है ।
पूरन पुंन भए नभते सु मनो भूअ टूट नछत्र पर्‌यो है ।।१४९।।

फिर देवी ने हाथ में गदा पकड़ कर और क्रोधित होकर दैत्यों से निःशंक युद्ध किया। तेज़ तलवार हाथ में लेकर बलवान् योद्धाओं को मार मार कर खाक में मिला दिया। कितनों का सिर पगड़ी सहित ही पृथ्वी पर गिर पड़ा। उन्हें देख कर कवि के मन में यह उपमा आई, मानो पुण्य समाप्त होने पर नक्षत्र पृथ्वी पर आ पड़े हैं।

बारन बारद जिउ निरवार महाबलधार तबै इह कीआ।
पान लै बान कमान को तान संहार सनेह ते स्रौनत पीआ॥
एक गए कुमलाइ पराइ कै एकन को धरक्यो तन हीआ।
चंड के बान किधो कर भानहि देखि कै दैत गई दुत दीआ॥१५०॥

पहले तो चण्डी ने यह किया कि बलपूर्वक हाथियों को हटा दिया और फिर धनुष पर बाण चढ़ा कर शत्रु को मार डाला और प्रेम से खून पी डाला। तब तो कई सहम कर ही भाग गए। कितनों का हृदय धड़कने लगा कि न जाने अब क्या होगा। चण्डी के बाण सूर्य हैं और राक्षस अन्धेरा। सूर्य को देख कर अन्धेरा छिप गया, अथवा चण्डी के बाण रूपी सूर्य के सामने राक्षसों का तेज रूपी दीपक मध्यम पड़ गया।

लै कर मै असि कोप भई असि धार महाबल को रन धार्यो।
दौर कै ठौरह ते बहु दानव एक गोइन्द बडो रन मार्यो।
कौतकि ता छबि को रन पेख तबै कबि इउ मन मद्धि बिचार्यो।
सागर बांधन के समए नल मानो पहार उखार कै डार्यो॥१५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर चण्डी अत्यन्त क्रोधित हुई और उसने बड़े बल से युद्ध जीत लिया। दौड़ दौड़ कर उसने अनेक राक्षस मार डाले और साथ ही एक बड़े हाथी को भी मार डाला। कौतुक से युद्ध की छवि को देख कर कवि ने अपने मन में यह उपमा विचारी, मानो सेतु बांधने के समय नल ने पहाड़ उखाड़ कर समुद्र में फैंक दिया है।

मार जबै सैना लई तबै दैत इह कीन।
सस्त्र धार कर चंडि के बधिबे को मन दीन॥१५२॥

जब इस प्रकार देवी ने सारी सेना मार डाली तो अब दैत्यराज ने यह किया कि तमाम अस्त्र शस्त्र धारण करके चण्डी को मारने का निश्चय किया, उधर मन लगाया।

बाहन सिंघ भयानक रूप लख्यो सब दैत महा डर पाओ।
संख लिए कर चक्र औ बक्र सरासन पत्र बचित्र बनाओ ॥
धाइ भुजाबल आपन है हिम सो तिन यौ अति जुद्ध मचाओ।
क्रुद्ध कै स्रौनत बिंध कहे रन इआही ते चंड का नाम कहाओ ॥१५३

जब दैत्यों ने सिंहवाहिनी का भयानक रूप देखा तो बड़े भयभीत हुए। सिंहवाहिनी ने हाथ में शङ्ख, तीच्या चक्र और विचित्र प्रकार का धनुष बाया लिया। यह देख कर शोणितबिन्दु अपनी भुजाओं के बल से क्रोधित होकर दौड़ता हुआ बोला—"तूने हम से बहुत युद्ध मचा रक्खा है और उसी से तू अपना नाम चंडिका कहा रही है। अब आ मेरे सामने।"

मारि लयौ दलु औग भजयो
तब कोप कै आपन ही सुमिरयो है।
चंडि प्रचंडि सो युद्ध करयो
अस हास छुटयो मन नाहि गिरयो है ॥
लै कै कुवंड करवाल धार कै
स्रौन समूह मैं ऐसो तरयो है।
देव अदेव समुंद मथयो मनो
मेर को मद्धि धरयो सुफिरयो है ॥१५४॥

देवी ने कुछ सेना को मार डाला। कुछ भाग निकली। तब तो शोणितबिन्दु को अकेले ही लड़ना पड़ा। प्रचण्ड चण्डिका से उसने ऐसा युद्ध किया कि तलवार चाहे उसके हाथ से गिर गई तो गिर गई पर पैर पीछे न किया। हाथ में धनुष लेकर और बल संभाल कर वह खून में ऐसे तैरा, जैसे देवताओं और दानवों द्वारा अमृतमथन के समय सुमेरु पर्वत तैरता था।

क्रुद्ध कै युद्ध को दैत बली नद स्रौन को पैर कै पार पधारिओ।
लै करवार औड ढार संभार कै सिंघ कौ दौर कै जाइ हकारिओ ॥
आवत पेखि कै चंड कुवंड ते बान लगयो तन मूरछ पारिओ।
राम के भ्रातन जिउ हनुमान को सैल समेत धरा पर डारिओ ॥१५५॥

बलवान् दैत्य ने क्रोध करके ऐसा युद्ध किया कि खून के दरिया से तैरकर पार

हो गया। फिर ढाल तलवार सँभाल कर उसने 'शेर को जा ललकारा। दैत्य को आता हुआ देख कर देवी ने धनुष पर चढ़ा कर ऐसा बाण मारा कि वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जैसे राम के भाई भरत ने पर्वतसहित हनुमान् को पृथ्वी पर पटक दिया था।

फेर उठ्यो कर लै करवार को चंड प्रचंड सिउ जुद्ध करिओ है।
घायल कै तन केहरि ते बहु स्रौन समूह धरान परिओ है ॥
सो उपमा कवि ने बरनी मनकी हरनी तिह नाम धरिओ है।
गेरन रणए नगं पर कै बरखा धरनी परि मानहु रंग ढरिओ है॥१५६॥

पर वह फिर उठ बैठा और हाथ में तलवार लेकर प्रचण्ड चण्डिका से युद्ध करने लगा। उसने शेर को घायल कर दिया। उसका बहुत सा खून पृथ्वी पर गिरा। उस उपमा को कवि ने वर्णन किया है, उसका नाम मन को हरने वाली रक्खा है। शेर का खून नहीं पड़ा है मानो गेरू के पहाड़ से वर्षाकाल में उसका रंग ढुलक कर पृथ्वी पर पड़ा है।

स्रौनतबिंद सो चंड प्रचंड सु जुद्ध करियो रन मद्धि रुहेली।
पै पल मै दल मीज दरयो तिल ते जिमु तेल निकारत तेली ॥
स्रौन परियो धरनी पर च्वैं रंगरेज की रैनी जिउ फूट कै फेली।
घाउ लसै तन दैत के यौ जनु दीपक मद्धि फनूस की थेली ॥१५७॥

प्रचण्ड चण्डिका ने क्रोध करके शोणितबिन्दु से रणभूमि मे युद्ध किया। पल भर में उसने दैत्यदल को ऐसे मींज डाला जैसे तेली तिलों से तेल निकालता है। उसका खून चूकर पृथ्वी पर पड़ा, मानो रँगरेज की देग फूट कर रंग बहा रही है। दैत्यों के शरीर पर घाव ऐसे शोभायमान हो रहे हैं, जैसे फानूस की थैली में दीपक।

स्रौनत बिंद को स्रौन परियो धरि स्रौनतबिंद अनेक भए है।
चंडि प्रचंड कुवंड संभारि कै बाननि साथ संघार दए हैं ॥
स्रौन समूह समाइ गए बहु रोसु भए हति फेर लए हैं।
बारद धार परै धरनी मनो बिंबर ह्वै मिटि कै जु गए हैं ॥१५८॥

शोणितबिन्दु का खून ज्योंही पृथ्वी पर पड़ा कि अनेक शोणितबिन्दु पैदा हो गए। पर प्रचण्ड चण्डिका ने तलवार सँभाल कर और बाण चलाकर सबको मार दिया। शोणितबिन्दु मर गए। फिर जी उठे। फिर मर गए। मानो बादलों की धारा धरती पर पड़ती है और उससे बुद-बुदे बनते और मिटते हैं।

जेतक स्रोन की बूंद गिरे रन तेतक स्रौनतबिंद ह्वै आई ।

मार ही मार पुकार हकार कै चंडिका चंड ह्वै सामुहि धाई ॥

पेखि कै कौतक ता छिन मैं कवि ने मन मैं उपमा ठहराई ।

मानहु सीस महल्ल के बीच सु मूरत एक अनेक की छाई ॥१५९॥

युद्धभूमि में जितनी बून्दें खून की गिरती हैं, उनसे उतनेही रक्तबीज पैदा होजाते हैं और मारो मारो की पुकार मचाते हुए दौड़ कर चण्डी के सामने आते हैं। उस छवि को देखकर कवि के मन में यह उपमा ठहरी के मानो शीशमहल के बीच एक मूर्ति के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

स्रौनतबिंद अनेक उठे रन क्रुद्ध कै जुद्ध को फेर जुटे हैं।

चंडि प्रचंड कमान ते बान सुभान की अंस समान छुटे हैं ॥

मार बिदार दए सु भए फिर लै मुदगर जिमु धान कुटे हैं।

चंडि दिए सिर खंड जुदे करि बिल्लन ते जनि बिल्ल तुटे हैं ॥१६०॥

युद्धभूमि में अनेक शोणितबिन्दु क्रोधित होकर उठे और युद्ध में लग गए। उधर प्रचण्ड चण्डिका के धनुष से सूर्य की किरणों के समान बाण निकले। चण्डी दैत्यों को मारती है पर वह फिर जी उठते हैं। जैसे मूसल से धान कूटे जाते हैं, वैसे ही दुर्गा उन्हें कूटती है, मारती है। चण्डिकाने अनेकों के सिरों के टुकड़े टुकड़े कर डाले। जिस प्रकार बेल के वृक्ष से बेल टूटता है, राक्षसों के शिर टूटने लगे।

स्रौनतबिंद अनेक भए असि लै करि चंड सु ऐसे उठे हैं।

बूंदन ते उठ कै वह दानव बानन वारद जान वुठे हैं।

फेर कुवंड प्रचंडि संभार कै बान प्रहार संघार सुटे हैं।

ऐसे उठे फिर स्रउन ते दैत सु मानहु सीत ते रोम उठे हैं ॥१६१॥

शोणितबिन्दु तो फिर अनेक हो गए और हाथ में तलवार लेकर बड़े वेग से उठे। बूंदों से अनेक दानव उठकर बादलों की तरह छा जाते हैं और बाण बरसाते हैं। आखिर, प्रचण्ड धनुष लेकर देवी ने उन्हें मार ही डाला। पर वे फिर भी खून की बून्दों से उठ कर खड़े हो गए, जैसे शीत में रोम खड़े हो जाते हैं, ।

स्रौनतबिंद भए इकठे बरचंड प्रचंडि को घेरि लियो है।

चंडि औ सिंघ दुहूं मिल कै सभ दैतन को दल मार दियो है ॥

फेर उठे धुनि को करि कै सुन कै मुनि को छुट ध्यान गयो है।
भूलि गए सुर के अवसान गुमान न स्रौनतबिंद गयो है ॥१६२॥

और उन अनेक शोणितबिन्दुओं ने एकत्र हो कर प्रचण्ड पर श्रेष्ठ चण्डिका को घेर लिया। तब चण्डी ने और शेर ने—दोनों ने मिल कर तमाम दैत्यों को मार डाला। परन्तु वे फिर भयंकर शब्द करके उठ खड़े हुए। उनके शब्द को सुनकर मुनियों का ध्यान भी छूट गया। देवताओं का उत्साह जाता रहा कि शोणितबिन्दु का अभिमान चूर न हुआ।

रकतबीज सो चंडिका इउ कीनो बर जुद्ध।
अगनत भए दानव तबै कछु न बसाइओ क्रुद्ध ॥१६३॥

यद्यपि चण्डिका ने रक्तबीज से उत्कृष्ट युद्ध किया पर उसका क्रोध दानवों का कुछ कर न सका। वे फिर भी अनेक हो गए।

ऐख दसो दिस ते बहु दानव चंडि प्रचंड तची अखिआं।
तब लैके कृपान जु काट दए अर फूल गुलाब की जिउ पखिआं॥
स्रौन की छींट परी तन चंडिके सो उपमा कवि ने लखिआं।
जनु कंचन मंदर में जरीआ जरि लाल मनी जु बना रखिआं॥१६४॥

दश दिशाओं में अनेक राक्षसों को देख कर प्रचण्ड चण्डिका ने आंखें चढ़ाईं और तलवार लेकर इस प्रकार सब राक्षसों को काट दिया जैसे गुलाब की पंखड़िएं तोड़ दी जाती हैं। उनके खून की जो बूंदें चण्डी के शरीर पर गिरीं, उन्हें देख कर कवि ने यह उपमा बिचारी कि मानो सोने के मंदिर में किसी जरिये ने लाल मणिऐं जड़ रक्खी हैं।

क्रुद्ध कै जुद्ध कर्‍यो बहु चंडि ने एतो कर्‍यो मधु सो अबिनासी।
दैतन के बध कारन को निजु भाल ते जुआल की लाट निकासी॥
काली प्रतच्छ भई तिहते रन फैल रही भय बीर प्रभा सी।
मानहु स्रंग सुमेर को फोरि कै धार परी धर पै जमुना सी॥१६५॥

क्रोधित होकर चण्डिकाने ऐसा भारी युद्ध किया, जैसा मधु राक्षससे अविनाशी ने किया था। उसने दैत्यों का नाश करने लिये अपने मस्तक से ज्वाला की लाट निकाली, जिससे काली प्रत्यक्ष होगई। उससे युद्धभूमिमें भय और शूरवीरों में एक ज्योति सी फैल गई। मानो सुमेरुपर्वत की चोटी फोड़ कर यमुना की धारा पृथ्वीपर गिर पड़ी हो।

मेरु हिल्यो दहलयो सुरलोक दसो दिस भूधर भाजत भारी ।
चालि परयो तिह चउदहि लोक मै ब्रह्म भइयो मन मै भ्रम भारी ॥
ध्यान रह्यो न जटी सु फटी हर यौ बलि कै रन मै किलकारी।
दैतन के बध कारण को कर काल सी काली कृपान संभारी ॥१६६॥

अब दैत्यों को मारने के लिये काली ने काल जैसी तलवार हाथ में ली और जोर से किलकारी मारी तो सुमेरु पर्वत हिल गया। देवलोक दहल गये । दशों दिशाओं में बड़े बड़े भारी पहाड़ भागने लगे । तीनों लोकों और चौदहों भुवनों में हलचल मच गई । ब्रह्मा के भी मन में भारी भ्रम पैदा हो गया। शिवजी महाराज का भी ध्यान छूट गया। पृथ्वी फट गई।

चण्डी काली दुहूं मिलि कीनो इहै विचारि ।
हउ हनिहों तू स्रौन पी अरि दलि डारहि मारि ॥१६७॥

अब चण्डी और काली दोनों ने मिल कर विचार किया। चण्डी ने कहा मैं तो दैत्यों को मारती हूँ और हे काली! तू खून पी। इसप्रकार शत्रु दलको मार डालती हैं।

काली औ केहरि संगि लै चंडि सु घेर सबै बन जैसे दवा पै ।
चंडि के बानन तेज प्रभाव ते दैत जरे जैसे इंट अवा पै ॥
कालिका स्रौन पियो तिन को कवि नै मन मैं लियो भाउ भवापै ।
मानहु सिंधु को नीर सभै मिलि धाइकै जाइ परे है तवा पै ॥१६८॥

तब काली और सिंह को साथ लेकर चण्डिका ने राक्षसों को इस प्रकार घेर लिया जैसे बन को दावाग्नि घेर लेती है। चण्डी के तेजोमय बाणों के प्रभाव से राक्षस ऐसे जलने लगे, जैसे आवा (भट्टी) में ईंटें जलती हैं। काली ने जो उनका खून पीना शुरू किया तो उसे देख कर कवि के मन में ऐसा भाव बंधा कि मानो समुद्र का सारा जल इकट्ठा होकर वेग के साथ तवे पर पड़ गया हो।

चण्डि हने अरु कालिका कोप कै स्रौनतबिंदन सो इह कीनो ।
खग्ग संभार हकार तबै किलकार बिदार सबै तनु दीनो ॥
आमिख स्रौन अचयो बहु कालिका ता छबि मैं कवि इउ मन चीनो ।
मानो छुधातरु हुइकै मनुच्छ सु सालन लासहि सो बहु पीनो ॥१६९॥

कालिका ने ऐसा किया कि क्रोध कर अपनी तलवार को सम्हाल कर हुँकार किया

और ललकार कर शोणितबिन्दु के सारे दल को तितर बितर कर दिया। चण्डिका ने उन्हें मार डाला। कालिका ने अनेकों का लहू पिया और मांस खाया। उस छवि को कवि ने अपने मन में इस प्रकार जाना मानो भूख ने मनुष्य का रूप धारण कर लिया है और वह साग खा रहा है और लस्सी पी रहा है।

जुद्ध रक्तरबीज करयो धरनी पर यौं सुर देखत सारे।
जेतक स्रोन की बूंद गिरैं उठ तेतक रूप अनेकहि धारे॥
जुगनिआन फिरी चहूं ओर ते सीस जटा कर खप्पर भारे।
स्रोनत बूंद परै अचवै सभ खग्ग लै चंडि प्रचंड संघारे॥१७०॥

इस प्रकार रक्तबीज ने पृथ्वी पर युद्ध किया, जिसे तमाम देवता देख रहे थे। जितनी भी बूंदें पृथ्वी पर गिरें उतने ही रक्तबीज अनेकों रूप धार कर उठ खड़े हों। तब शिर पर जटाएं धारण किए और हाथ में भारी खप्पर लिये चारों ओर से जोगिनियें आ गईं। अब तलवार लेकर चण्डिका दैत्यों का प्रचण्ड संहार करने लगी और वे उनके खून की सब बून्दें पीने लगीं।

काली औ चंडि कुदंड संभार कै दैत सो जुद्ध निसंग सजयो है।
मार महारन मद्ध भई पहरेक लौ सार सो सार बजयो है॥
स्रौनतबिंद गिरयो धरनी पर इउ असि सो अर सीस भजयो है।
मानो अतीत करयो चित को धनवंत सभै निज माल तजयो है॥१७१॥

तब फिर चण्डी और कालिका ने धनुष चढ़ाया और निःशंक होकर दैत्यों से युद्ध किया। एक पहर भर भीषण युद्ध हुआ। लोहा से लोहा बजा। तब शोणितबिन्दु पृथ्वी पर गिर पड़ा। तलवार से उसका सिर कट गया। मानो धनी ने वैरागी होकर अपना सब धन दौलत परित्याग कर दिया हो।

चंडी दियो बिदार, स्रौन पान काली करयो।
छिन मैं डारयो मार, स्रौनबिंद दानव महा॥१७२॥

चण्डी ने उसे फाड़ दिया और काली ने खून पिया। इस प्रकार महादैत्य शोणितबिन्दु को क्षण भर में मार डाला।

इति श्रीमार्कण्डेयपुराणे चण्डीचरित्र उक्तिविलासे रक्तबीजवधो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

पांचवां अध्याय समाप्त हुआ।

छठा अध्याय

तुच्छ बचे भज कै रन त्याग कै सुंभ निसुंभ पै जाइ पुकारे ।
स्रौनतबीज हनिओ दुहुने मिलि और महाभट मार बिदारे ॥
इउ सुनि कै उनके मुख ते तब बोल उठिओ करि खग्ग संभारे ।
इउ हनिहौ बरचंड प्रचंडि अजा बन मैं जिमु सिंघ पछारे ॥१७३॥

जो थोड़े से राक्षस मरने से बच गये, वे रणभूमि त्याग कर और भागकर शुम्भ और निशुम्भ के पास जा पुकारे कि चण्डी और काली दोनों ने मिल कर शोणितबिन्दु को मार डाला है तथा और भी बड़े बड़े योद्धाओं का संहार कर दिया है । यह सुन कर तलवार हाथ में लेकर शुम्भ और निशुम्भ दोनों भाई बोले, हम काली को और बलवती चण्डिका को ऐसे मारेंगे, जैसे बन में शेर बकरी को मार देता है ।

सकल कटक के भटन को दिओ जुद्ध को साज ।
सस्त्र पहर कै इउ कह्यो हनिहों चंडिहि आज ॥१७४॥

फिर उन्होंने सारी सेना के योद्धाओं को युद्ध का सामान दिया और आप भी शस्त्र धारण कर बोले—"आज ही चण्डी को मार डालेंगे"।

कोप कै सुंभ निसुंभ चढ़े धुनि दुंदभ की दसहूं दिसि छाई ।
पाइक अग्र भए महि बाज रथी रथ साज कै पांति बनाई ॥
माते मतंग के पुंजन ऊपरि सुंदर तुंग धुजा फहराई ।
सक्र सो जुद्ध के हेत मनो धरि छाडि सपच्छु उडे गिरिराई ॥१७५॥

शुम्भ निशुम्भ गुस्सा खाकर चढ़े । उनकी दुन्दुभी की आवाज़ दशों दिशाओं में फैल गई । पैदल आगे हुए घुड़सवार बीच में और उनके पीछे रथियों ने रथों की पंक्तियें सजा कर बांधी । मस्त हाथियों के समूहों पर और सुन्दर घोड़ों पर ध्वजाएं उड़ाई गईं । मानों इन्द्र से युद्ध करने के लिये पहाड़ों के राजा पंख धारण कर पृथ्वी त्याग आकाश को उड़े जा रहे हों ।

सुंभ निसुंभ बनाइ दलु घेरि लियो गिरिराज ।
कवच अंग कसि कोप करि उठे सिंघ जिउ गाज ॥१७६॥

शुम्भ और निशुम्भ ने सेना सजा कर मेरु पर्वत को जा घेरा । कवच धारण कर क्रोध के साथ वे ऐसे उठे जैसे शेर गरज कर उठता है ।

सुंभ निसुंभ सुबीर बली मनु कोप भरे रनभूमिहि आए ।
देखन मैं सुभ अंग उतंग तुरा करि तेज धरा पर धाए ॥
धूर उडी तब ता छिन मैं तिह के कन ता पग सो लपटाए ।
ठौर अडीठन जै करबे कहि तेज मनो मन सीखन आए ॥१७७॥

गुस्से में भरे हुए बली शुम्भ और निशुम्भ रणभूमि में आ गए। देखने में सुंदर और उन्नत अंगों वाले तेज घोड़ों पर चढ़ कर वे पृथ्वी पर खूब दौड़े। तब उस समय जो धूल उड़ी, उसके कण पैरों में लगे हुए ऐसे प्रतीत होने लगे, मानो अपरिचित स्थान को जय करने के लिये वे मन ही मन तेज सीखने के लिये आए हैं।

चंडि कालका स्रवन मैं तनक भनक सुनि लीन ।
उतर स्रंग गिरिराज ते महाकुलाहलि कीन ॥१७८॥

ज्यों ही चण्डिका और काली ने जरा सी ही भनक कानों में सुनी कि राक्षस फिर आ गए हैं, त्यों ही उन्होंने पहाड़ की चोटी से उतर कर भारी कोलाहल मचा दिया।

आवत देखि कै चंडि प्रचंड को कोप कर्यो मन मैं अति दानो ।
नास करो इह को छिन मैं करि बान संभार बड़ो धन तानो ॥
काली कै वक्र विलोकन ते सु उठिओ मन मैं भ्रम जिउ जम जानो ।
बान समूह चलाइ दिए किलकार उठ्यो जु प्रलै घन मानो ॥१७९॥

प्रचण्ड चण्डिका को आते देखकर दैत्यों ने दिल में बड़ा क्रोध किया। हाथ में बाण लेकर और भारी धनुष तान कर बोले —"इसे क्षणभर में नाश कर दो। पर काली के टेढा देखने मात्र से उनके मन में यमराज का भ्रम होने लग गया, अर्थात् वह काली को यमराज ही समझने लग गये। तो भी बाणों की झड़ी लगाकर वह ऐसे गरजने लगे, मानो प्रलयकाल के बादल हैं।

बैरिन के घन से दल पैठि लियो कर मैं धनु साइकु ऐसे ।
स्याम पहार से दैत हने तम जैसे हरे रवि की किरनै से ॥
भाज गई धुजनी डरकै कवि कोऊ कहै तिहकी छबि कैसे ।
भीम को स्रौन भरिऔ मुख देखिकै छाडि चले रन कौरो जैसे ॥१८०॥

देवी ने भी शत्रुओं के बादल जैसे घनघोर दल में धंस कर हाथ में धनुष बाण लिया। जैसे अन्धकार को सूर्य की किरणें नाश कर देती हैं, उसी प्रकार पहाड़ जैसे

काले राक्षसों को देवी ने मार डाला । सेना जो डर कर भाग गई, उसकी शोभा को कोई कवि कैसे कह सकता है कि मानो खून में सने हुए भीम के मुख को देख कर कौरवों की सेना भाग उठी हो।

कवित्त—आगिया पाइ सुंभ की सु महाबीर धीर जोधे आए चंडि ऊपर सु क्रोध कै बनी ठनी। चंडिका लै बान औ कमान काली किरपान छिन मधि कै कै बलु सुभ की हनी अनी। डर तजि खेत महाप्रेत कीने बानन से बिचल बिथर ऐसे भाजगी अनीकनी। जैसे मारू थल मैं सुबह बहे पौनहू के धूर उडि चले हुईके कोटिक कनी कनी ॥१८१॥

बड़े वीर धीर योद्धा शुम्भ की आज्ञा पाकर बड़े बन ठन कर गुस्से के साथ चण्डी के ऊपर चढ़ आए। चण्डी ने धनुष बाण लेकर और कालिका ने तलवार लेकर क्षण भर में शुम्भ की सारी सेना मार डाली। बाणों से दैत्यों को विचलित कर दिया और तलवार की धार से भगा दिया। वे मारे डर के युद्धभूमि को छोड़ गए। जैसे प्रातः काल मरुस्थल में पवन के चलने से धूलि के करोड़ों कण उड़ जाते हैं, राक्षस उड़ गए।

खग्ग लै काली औ चंडि कुअंडि बिलोकि कै दानव इउ दबटे हैं।
केतिन चाब गई मुखि कालिका केतिन के सिर चंडि कटे हैं॥
स्रोनतसिंधु भयो धर मैं रन छांड गए इक दैत फटे हैं।
सुंभ पै जाइ कही तिन इउ बहु बीर महा तिह ठौर लटे हैं॥१८२॥

कालिका को तलवार लिये और चण्डी को धनुष लिये देख कर राक्षस यों ही दब गए। युद्ध करना ही न पड़ा। कितनों को तो कालिका अपने मुंह में चबा गई और कितनों के शिर चण्डी ने काट डाले। पृथ्वी पर खून का समुद्र बन गया। कई दैत्य बिना लड़े रणभूमि छोड़ गए। कई लड़ कर घायल हो गए। उन्होंने जाकर शुम्भ से कहा—'युद्ध भूमि में बहुत से बड़े २ वीर मरे पड़े हैं'।

देखि भयानक जुद्ध को कीनो बिसनु बिचार।
सकति सहाइह के निमित भेजी रन हि मझार॥१८३॥

भयानक युद्ध को देखकर विष्णु भगवान् ने विचार कर अन्य शक्तियों को भी उस शक्ति की सहायता के लिए भेज दिया।

आयस पाइ सभै सकती चलिकै तहां चंडि प्रचंड पै आई।
देवी कहियो तिनको कर आदरु आइ भले जनु बोल पठाई॥

ता छवि की उपमा अति ही कवि ने अपने मन मैं लखि पाई ।
मानहु सावन मास नदी चलिकै जलरास मैं आन समाई ॥१८४॥

आज्ञा पाकर तमाम शक्तियें प्रचण्ड चण्डिका के पास आई । देवी ने उनका आदर सत्कार करके कहा, "अच्छा ही हुआ तुम आगई हो" । उस अत्यन्त छवि की उपमा को कवि ने मन में इस प्रकार जाना मानों सावन मास की नदियें चल कर जल-समूह (समुद्र) में जा समाई हों ।

देखि महादलु देविन को बरबीर सु सामुहे जुद्ध को धाए ।
बानिनि साथि हने बलु कै रन मैं बहु आवत बीर गिराए ॥
दाड़न साथ चबाइ गई कलि और गहे चहूं ओर बगाए ।
रावन सो रिस कै रन मैं पतिभालक जिउ गिरिराज चलाए ॥१८५॥

महाबलशालिनी देवियों का दल देख कर बलवान् योद्धा युद्ध के लिये दौड़ कर सामने आ गए । देवियों ने उनके आते ही उन्हें बलपूर्वक बाणों के साथ पृथ्वी पर गिरा दिया और मार डाला । काली उन्हें दाढ़ों के साथ चबा गई और फिर पकड़ पकड़ कर चारों ओर फैंकने लगी । इस प्रकार कि जैसे युद्ध में रावण से गुस्सा खाकर जामवन्त ने पहाड़ जहां तहां फैंक दिये थे ।

फेर लै पान कृपान संभार कै दैतन सो बहु जुद्ध कर्यो है ।
मार बिदार संघार दिए बहु भूमि परे भट स्रोन झर्यो है ।
गूद बह्यो अर सीसन ते कवि ने तिह को इहभाउ धर्यो है ।
मानो पहार को स्रंगहु ते धरनी पर आन तुसार पर्यो है ॥१८६॥

फिर हाथ में तेज तलवार सम्भाल कर दैत्यों से भारी युद्ध किया । बहुतों को साथ फाड़ डाला । मार डाला । पृथ्वी पर पड़े हुए योधाओं का खून झरने लगा । उनके शिर से मज्जा बह चली । कवि ने उसकी उपमा को इस प्रकार मन में धारण किया, मानो पहाड़ की चोटी से बर्फ आकर पृथ्वी पर गिरी पड़ी है ।

भाज गई धुजनी सभै रहियो न कछू उपाय ।
सुंभ निसुंभहि सो कहियो दलु लै तुमहू जाउ ॥१८७॥

जब दैत्य सेना निरुपाय हो गई तो भाग निकली । तब शुम्भ निशुम्भ से बोला- अब तुम सेना लेकर जाओ ।

मान कै सुंभ को बोल निसुंभ चलयो दल साज महाबल ऐसे ।
भारथ जिउ रन मैं रिस पाइ क्रुद्ध कै जुद्ध करयो करनै से ॥
चँडि के बाण लगे बहु दैत कौ फोरि कै पार भए तन कैसे ।
सावन मास कृसान के खेत उगे मनो धान के अंकुर जैसे ॥१८८॥

अब निशुम्भ शुम्भ का कहना मान कर महाबली सेना सजा कर इस प्रकार चला, जैसे महाभारत के युद्ध में अर्जुन क्रोधित होकर युद्ध को चला था और जिस प्रकार उसने करण से युद्ध किया था, उसी प्रकार इसने भी किया। पर चण्डी के बाण उसके शरीर को फोड़ कर इस तरह पार हो गए, जैसे सावन मास में किसान के खेत को फोड़ कर धान के अंकुर निकल आते हैं।

बानन साथ गिराइ दिए बहुरो असि लै कर इउ रन कीनो ।
मारि बिदारि दई धुजनी सभ दानव को बल हुई गइओ छीनो ॥
स्रौनसमूह परयो तिह ठौर तहां कवि ने जसु इउ मन चीनो ।
सातहूं सागर को रचिकै बिधि आठवों सिंधु करयो है नवीनो ॥१८९॥

चण्डी ने पहले तो बाणों के साथ उसे गिरा दिया । फिर हाथ में तलवार लेकर ऐसा युद्ध किया कि क्या कहना। दैत्यों की सेना को मार कर विदीर्ण कर दिया। सारे दैत्यों का बल क्षीण हो गया । उस स्थान पर जो खून का प्रवाह चला, उसे देख कर कवि ने अपने मन में ऐसा जाना मानो विधाता ने सात समुद्र रचने के बाद, अब एक और नया आठवां समुद्र रच डाला है।

लै कर मैं असि चंडि प्रचंड सु क्रुद्ध भई रन मद्धि लरी है ।
फोर दई चतुरंग चमू बल कै बहु कालिका मार धरी है ॥
रूप दिखाइ भयानक इउ असुरंपति भ्रात की कांति हरी है ।
स्रौन सो लाल भई धरनी सु मनो अंग सूही की सारी करी है ॥१९०॥

प्रचण्ड चण्डिका हाथ में तलवार लेकर क्रोधित हुई और रण के मध्य में लड़ी। उसने बलपूर्वक चतुरङ्गिणी सेना का नाश कर दिया । काली ने बहुत सी सेना मार डाली। इस प्रकार भयानक रूप दिखा कर असुरों के पति के भाई निशुम्भ की सारी कान्ति हर ली। खून से पृथ्वी लाल हो गई, मानो उसने अपने शरीर पर लाल साड़ी पहिन ली है।

दैत संभार सभै अपनो बलि चंडि सो जुद्ध को फेरि अरे हैं ।
आयुध धारि लरे रन इउ जनु दीपक मद्धि पतंग परे हैं ॥

चंडि प्रचंड कुदंड संभार सभै रन मद्ध दु टूक करे हैं ।
मानो महाबन मैं बन बृच्छन काटि कै बाढी जुदे कै धरे हैं ॥१९१॥

दैत्य अपने सारे बल को सँभाल कर फिर चण्डी से युद्ध के लिए डट गये। शस्त्र धारण कर वे चण्डी के ऊपर इस प्रकार पड़े जैसे दीपक के ऊपर पतङ्गे पड़ते हैं। प्रचण्ड चण्डिका ने धनुष सँभाल कर सबको युद्ध भूमि में दो टूक कर दिया। मानो घने जंगल में लकड़हारे ने बड़े-बड़े वृक्षों को काट २ कर अलग २ धर दिये हों।

मार लियो दल और भज्यो मन मैं तब कोप निसुंभ कर्यो है ।
चंडि के सामुहे आनि अर्यो अति जुद्ध कर्यो पगु नाहि टर्यो है ॥
चंडि के बान लग्यो मुख दैत को स्रौन समूह धरनि पर्यो है ।
मानहु राहु ग्रसियो नभ भानु सु स्रौनत को अति बौन कर्यो है ॥१९२॥

कुछ सेना तो चण्डी ने मार दी और कुछ वैसे ही भाग गई। तब निशुम्भ बड़ा क्रोधित हुआ और चण्डी के सामने आकर डट गया और घोर युद्ध करने लगा। उस ने पांव पीछे नहीं हटाया। चण्डी के बाण आकर दैत्य के मुंह में लगे। इससे बहुत सा खून पृथ्वी पर धारा की तरह गिर पड़ा। मानो आकाश में सूर्य को राहु ने ग्रस लिया है और वह खून की कय कर रहा है।

सांग संभार करं बलधार कै चंडि दई रिपुभाल में ऐसे ।
जोर कै फोर गई सिरत्रान को पार भई पट फार अनैसे ॥
स्रौन की धार चली पथ अरध सो उपमा सु भई कहु कैसे ।
मानो महेस के तीसरे नैन की जोत उदोत भई खुल तैसे ॥१९३॥

चण्डी ने बरछी हाथ में सँभाल कर बड़े जोर से दैत्य के माथे पर ऐसे मारी कि उसकी नोक सिर के मुकट को फाड़ कर बड़ी तेजी से बाहर हो गई। खून की धारा पृथ्वी के ऊपर को चल निकली। उसकी उपमा कैसे कही जाय ? मानो महादेव के तीसरे नेत्र के खुलने पर ज्योति प्रकट हुई हो है।

दैत निकास कै सांग वहै बलि कै तब चंडि प्रचंड के दीनी ।
जाइ लगै तिहके सुख मैं बहि स्रौन गिरयो अति ही छबि कीनी ॥
इउ उपमा उपजी मन मैं कवि ने इह भांत सोइ कह दीनी ।
मानहु सिंगलदीप की नार गरे मैं तंबोर की पीक नवीनी ॥१९४॥

वही बरछी दैत्य ने निकाल कर जोर से प्रचण्ड चण्डिका को मार दी। वह बरछी चण्डिका के मुंह में जा लगी। उससे खून बहने लगा। खून ने भी अत्यन्त शोभा धारण की। कवि के मन में जो उपमा इससे पैदा हुई, उसे उसने इस प्रकार कह दिया—मानो सिंहल-द्वीप की स्त्री के गले में पान की नई पीक शोभा दे रही है।

जुद्ध निसुंभ करयो अति ही जस इआ छबि को कवि को बरनै।
नहिं भीखम द्रोण कृपा अर द्रोणज भीम न अरजन औ करनै॥
बहु दानव कै तन स्रौन की धार छुटी सु लगे सर के फरनै।
जनु रात को दूरि बिभास दसौ दिस फैल चली रवि किरनै॥१९५॥

जितना भारी युद्ध निशुम्भ ने किया उसकी शोभा को कौन कवि है जो वर्णन कर सकता है। भीष्म द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भीम, अर्जुन और कर्ण—किसी ने भी ऐसा युद्ध नहीं किया। बाणों के फाल लगने से राक्षसों के शरीर से खून की भारी धारा बह निकली जैसे रात्रि के अन्धेरे को दूर करने के लिए सूरज की किरणें दशों दिशाओं में फैल जाती हैं।

चंडि लै चक्र धसी रन मैं रिस क्रुद्ध कियो बहु दानव मारे।
फेरि गदा गहिकै लहिकै चहिकै रिपु सैन हती ललकारे॥
लैकर खग्ग अदग्ग महा सिर दैतन के बहु भू पर झारे।
राम के जुद्ध समे हनूमान जुआन मनो गिराए गिर डारे॥१९६॥

चण्डी फिर क्रोधित होकर हाथ में चक्र लेकर रण में धंस गई और बहुत से दानवों को मार डाला। फिर गदा पकड़ कर इच्छानुसार शत्रु की सेना को ललकार कर धराशायी कर दिया। चमकीली तलवार हाथ में पकड़ कर अनेक दैत्यों के बड़े २ शिर पृथ्वी पर गिरा दिये, जैसे राम रावण के युद्ध में हनुमान् ने बड़े-बड़े पहाड़ लाकर डाल दिये थे।

दानव एक बड़ो बलवान कृपान लै पान हकार कै धायो।
काढि कै खग्ग सु चंडिका म्यान ते ता तन बीच भले बर लायो॥
टूट परयो सिर वा धर ते जसु इआ छबि को कवि के मन आयो।
ऊच धराधर ऊपरि ते गिरयो काक कराल भुजंगम खायो॥१९७॥

एक बहुत बलवान् राक्षस हाथ में तेज तलवार लेकर ललकारता हुआ दौड़ा। चण्डिका ने म्यान से तलवार निकाल कर उसके शरीर पर बड़े जोर से वार किया, जिससे शीघ्र ही उसका सिर धड़ से जुदा होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। वह छबि

कवि के मन में इस प्रकार आई, मानो ऊँचे पर्वत से भयंकर सांप का खाया हुआ कौआ पृथ्वी पर गिरा हो ।

बीर निसुंभ को दैत बली इक येर तुरंग गयो रन सामुहि ।
देखते धीरज नाहि रहे अबि को समरत्थ है बिक्रम जा महि ॥
चंडि लै पान कृपान हने अरि फेरि दई सिर दानव ता महि ।
मुंडहि तुंडहि रुंडहि चीर पलान की कान धसी बसुधा महि ॥१९८॥

बीर निशुम्भ का एक बलवान् दैत्य घोड़ा दौड़ा कर युद्ध में सामने आया। उसे देख कर अब कौन है, जिसे धैर्य रह सके ? किसमें सामर्थ्य है जो सामने ठहर सके ? पर चण्डी ने हाथ में तेज तलवार पकड़ कर शत्रुओं को मारते हुए बड़े जोर से एक वार उस दैत्य के शिर पर भी कर ही दिया। नतीजा यह हुआ कि चण्डी की तलवार शिर मुंह और शरीर से भी निकलकर पृथ्वी में जा धँसी ।

इउ जब दैत हत्यो बरचंड सु और चल्यो रन मद्धि पचारे ।
केहरि के समुहाई रिसाइ कै धाइकै धार दुतीनक फारे ॥
चंडि लई करवार संभार हकार कै सीस दई बलु धारे ।
जाई पर्यो सिर दूर पराइ जिउ टूटत अंब बिआर के मारे ॥१९९॥

इस प्रकार जब उस दैत्य को वीरोत्तमा चण्डिका ने मार दिया तो एक और योद्धा ललकारता हुआ युद्ध को चल दिया। वह क्रोध करके दौड़ा और दो तीन वार उसने शेर पर वार कर दिए। तब चण्डी ने तलवार संभाली और ललकारते हुए बड़े ज़ोर से उस राक्षस के सिर पर दे मारी। फलत: जैसे आंधी से आम पृथ्वी पर गिर पड़ता है, वैसे ही उस राक्षस का शिर कट कर दूर पृथ्वी पर जा गिरा।

जान निदान को जुद्ध बनियो रन दैत समूह सबै उठि धाए ।
सार सो सार की रार मची तब कायर छांड कै खेत पराए ॥
चंडि के खग्ग गदा लग दानव रंचक रंचक हुइ तन आए ।
मूंगर लाइ हलाइ मनो तरु काछी ने पेड ते तूत गिराए ॥२००॥

अब युद्ध ही एक चारा है, यह जान कर सारा दैत्य समूह लड़ने को उठ दौड़ा। लोहा से लोहा बजने लगा। यह देख कर कायर मैदान छोड़ कर भाग निकले। चण्डी का खड्ग और गदा लगने से राक्षसों का शरीर जरा जरा सा टुकड़े २ होने लगा, जैसे बागवान के छड़ लगने से वृक्ष से शहतूत पृथ्वी पर गिरता है।

पेखि चमूं बहु दैतन की पुनि चंडिका आपने सस्त्र संभारे ।
बीरन के तन चीर पटीर से दैत हकार पछार संघारे ॥
घाउ लगे तिन को रनभूम मैं टूट परे धर ते सिर निआरे ।
जुद्ध समै सुतभान मनो ससि के सभ टूट जुदे कर डारे ॥२०१॥

राक्षसों की भारी सेना देख कर चण्डी ने फिर अपने शस्त्र सँभाले। वीरों के शरीर चन्दन की तरह चीर डाले। ललकार ललकार कर दैत्यों को पछाड़ कर मार डाला। रण भूमि में उनके शरीर जख़मी हो गए। सिर धड़ से जुदा हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े, मानो युद्ध में शनि ने चन्द्रमा के टुकड़े २ कर डाले हैं।

चंडि प्रचंड तबै बलधार संभार लई करवार करी कर ।
कोप दई असि सुंभ के सीस बही इह भांति रही तरवातर ॥
कौउन सराह करै कहि ता छिन सो त्रिव होइ परे धरनी पर ।
मानहु सार की तार लै हाथ चलाई है साबुन को सबुनी गर ॥२०२॥

प्रचण्ड चण्डी ने फिर बल सँभाला और दृढ़ता पूर्वक तलवार हाथ में ली। क्रोध करके निशुम्भ के सिर पर ऐसे जोर से प्रहार किया कि तलवार दोसार हो गई। उस छवि को देख कर कौन है जो उसकी प्रशंसा कर सकता है? अर्थात वह अनुपम है। निशुम्भ का सिर दो टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। मानो साबुनसाज ने लोहे की तार हाथ में लेकर साबुन में चलाई है। अर्थात् जिस प्रकार लोहे की तार से साबुन चीर दिया जाता है, उसी प्रकार चण्डिका ने तलवार से शुम्भ का सिर चीर दिया।

छठा अध्याय समाप्त

सातवां अध्याय

जब निसुंभ रन मारयो देवी इह परकार ।
भाज दैत्य इक सुंभ पै गयो तुरंगम डार ॥ २०३ ॥

जब देवी ने इस प्रकार निशुम्भ को रण में मार दिया तो एक दैत्य जल्दी से घोड़ा दौड़ा कर शुम्भ के पास पहुंचा।

आन सुंभ पै तिन कही सकल जुद्ध की बात ।
तव भाजे दानव सभै मारि लियो तुअ भ्रात ॥२०४॥

उसने आन कर युद्ध की सारी बात शुम्भ को जाकर कह सुनाई। बोला-"तेरा भाई युद्ध में मारा गया है" और तेरे सब दानव भाग गये हैं।

सुंभ निसुंभ हन्यो सुनिकै बरबीर के चित्त मैं छोभ समायो ।
साज चढ्यो गज बाज समाज कै दानव पुंज लिये रन आयो ॥
भूमि भयानक लोथ परी लखि स्रौन समूह महा बिसमायो ।
मानहु सारसुती उमडी जल सागर कै मिलिबे कु धायो ॥२०५॥

जब शुंभ ने निशुंभ का मरना सुना तो उस वीरोत्तम का हृदय क्षोभ से भर गया और वह दैत्यसमूह की चतुरङ्गिणी सेना सजा कर युद्ध में आगया। वह बड़ा विस्मित हुआ जब उसने देखा, कि युद्धभूमि में भयानक लोथें पड़ी हुई हैं और रक्तसमूह इस प्रकार बह रहा है मानो सरस्वती का जल उमड़ कर समुद्र में मिलने के लिये दौड़ चला है।

चंडि प्रचंडसु केहरि कालिका औ सकती मिलि जुद्ध करियो है ।
दानव सेन हती इनहू सब इउ कहिकै मन कोप भरियो है ॥
बंध कबंध परियो अवलोक कै सोक कै पाइ न आगे परियो है ।
धाइ सकियो न भइओ भइ भीतर चीतह मानह लंग परियो है ॥२०६॥

तब प्रचण्ड चण्डिका ने, उसके शेर ने काली ने और शक्तियों ने मिल कर युद्ध किया। "इन्होंने सारी दानवसेना मार डाली है" यह कह कर शुम्भ बड़ा क्रोधित हुआ। भाई बान्धवों के धड़ पड़े हुए देख कर मारे शोक के उसके पांव बढ़ने से रुक गए। वह भीतर ही भीतर भयभीत भी बड़ा हुआ पर दौड़ भी न सका, मानो शेर लंगड़ा हो गया है।

फेरि कहियो दल को जब सुंभ सु मान चले तब दैंत घने ।
गजराज सु बाजन के असवार रथी रथ पायक कौन गने ॥
तहा घेर लइ चहुं ओर ते चंडि महा तिन के तन दीह बने ।
मनो भान को छाइ लयो उमड़े घन घोर घमंड घटा निसने ॥२०७॥

जब शुम्भ ने दल से फिर लड़ने के लिए कहा तो वह भारी दल कहा मान कर लड़ने को चल पड़ा। बड़े २ हाथी, अच्छे घोड़ों के असवार, रथी रथ और पैदल इतने अधिक थे कि उनकी गणना हो ही नहीं सकती। उन दीर्घकाय राक्षसों ने चण्डी को चारों ओर से घेर लिया, मानो संध्यासमय घमण्डी घनघोर बादलों ने गरज २ कर सूर्य को घेर लिया है।

चहूं ओर घेरो परयो तबै चंडि इह कीन ।
काली सो हँसि तिन कही नैन सैन करि दीन ॥२०८॥

जब चारों ओर से घेरा पड़ गया तो चण्डी ने हंस कर नेत्रों के इशारे से काली से कहा—इन्हें भी मार देना चाहिये।

कवित्त—केते मार डारे औ केतक चबाइ डारे केतक बगाइ डारे काली कोप तब ही। बाज गज भारे तेतो नखन सो फार डारे ऐसो रन भैंकर न भयो आगे कब ही। भागे बहु बीर काहू सुध न रहो सरीर हाल चाल परी मरे आपस मैं दब ही। पेख सुरराइ मन हरख बढ़ाइ सुर पुंजन बुलाइ करै जै जैकार सब ही ॥२०९॥

तब काली ने क्रोध करके कई दानव मार डाले, कई चबा डाले और कई फेंक ही दिये। बड़े २ घोड़े और हाथी तो नाखूनों से ही फाड़ डाले। ऐसा भयंकर युद्ध पहले कभी नहीं हुआ। कई योद्धा भाग उठे। उन्हें अपने शरीर की भी सुधबुध न रही। इतनी हलचल पड़ी कि आपस में दब कर ही मरने लगे। यह देख कर इन्द्र मन में बड़ा प्रसन्न हुआ और देवताओं को बुला कर जय जयकार करने लगा।

कवित्त—क्रोधमान भयो कह्यो राजा सभ दैंतन को ऐसो जुद्ध कीनो काली डारियो बीर मारकै। बल को संभार कर लीनी करवार ढार पैठों रन मधि मारि मारि इउ उचार कै। साथ भए सुंभ के सु महाबीर धीर योधे लीने हथियार आप अपने संभार कै। ऐसे चले मानो रविमंडल छपानो मानो सलभ उडानो पुंज पंखन सहार कै ॥२१०॥

तब क्रोधित होकर राक्षसराज ने दैत्यों से कहा "काली ने ऐसा युद्ध किया है कि तमाम योद्धाओं को मार डाला है।" फिर वह अपने बल को सँभाल कर हाथ में तलवार और ढाल पकड़ कर मारो मारो करता हुआ युद्धभूमि में घुस गया। अपने हथियार सँभाल कर बड़े बड़े धीर वीर योद्धा भी उसके साथ हो लिये। राक्षस दल ऐसे चला मानो सूर्यमण्डल को ढांपने के लिये टिड्डीदल अपने पंख सुधार कर उड़ चला है।

दानव सैन लखि बलवान सु बाहिन चंडि प्रचंड भ्रमानो।
चक्र अलातकी बात बघूरन छत्र नहीं सम औ खरसानो ॥
ता रन मांहि सु ऐसे फिरयो जल-भौंर नहीं सर ताहि बखानो।
और नहीं उपमा उपजै सु दुहू रुख केहरि के मुखि मानो ॥२११॥

बलवान् राक्षससेना को आई देखकर प्रचण्ड चण्डिका ने अपने शेर को इतने जोर जोर से घुमाया कि उसके सामने वायु, आतिशबाजी की चर्खी, गुबारा और शाण चीज ही क्या हैं। वह रण में ऐसा फिरा कि जल के भँवर भी उसके घुमाव का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। और तो कोई उपमा पैदा नहीं होती, यही कहा जा सकता है कि दो तरफ मुख वाला शेर फिर रहा था।

जुद्ध महा असुरं गनि साथहि भयो तब चंडि प्रचंडहि भारी।
सैन अपार हकार सुधार बिदार संघार दई रन कारी॥
खेत भयो तहा चार सौ कोस लौ सो उपमा कवि देख विचारी।
पूरन एक घरी न परी जि गिरे धर पै बर जिउ पति झारी॥२१२॥

तब प्रचण्ड चण्डिका का असुरों के साथ बड़ा भारी युद्ध हुआ। काली ने उस अपार सेना को युद्ध में ललकार कर खूब मार काट कर फेंक दिया। चार सौ कोस तक युद्धभूमि ही बन गई। उसे देख कर कवि ने अपने मन में यह उपमा बिचारी कि मानो एक घड़ी भी पूरी न होने पाई कि शिशिर ऋतु में पत्तों की तरह दैत्य पृथ्वी पर गिर पड़े।

मार चमू चतुरंग लई तब लीनो है सुंभ चमुंड को आगा।
चाल पर्यो अवनी सिगरी हरि जू हरि-आसन ते उठि भागा॥
सूख गयो त्रस कै हरि हारि सु संकति अंक महा भयो जागा।
लाग रहियो लपटाइ गरे महि मानहु मुंड की माल को तागा॥२१३॥

जब चतुरङ्गिणी सेना मारली तो शुम्भ के चामुण्ड नामक दैत्य ने नेतृत्व लिया अथवा वह देवी के आगे हो गया। सारी पृथ्वी हिलने लगी। शिवजी अपने आसन से उठ दौड़े। उनके गले में हार की तरह पड़े हुए सांप डर कर सूख गए और सशंकित होकर गले में चिपट गए वे मानो मुंड की माला का धागा हो गये हों।

चंडि के सामुहि आइ कै सुंभ कहियो मुख सो इह मैं सभ जानी।
काली समेत सभै सकती मिलि दीनो खपाइ सभै दल बानी॥
चंडि कहिओ मुख ते उनको तोऊ ता छिन गोर के मद्धि समानी।
जिउ सरता के प्रवाह के बीच मिले बरखा बहु बूंदन पानी॥२१४॥

चण्डी के सामने आकर शुम्भ अपने मुख से बोला—"मैंने यह सब कुछ जान लिया है। काली सहित तमाम शक्तियों ने मिल कर मेरी सारी सेना और उसके सब नेता मार

डाले हैं।" असल में यह उसका व्यंग था। सुन कर चण्डी ने काली और शक्तियों से कहा तुम सब मुझ में मिल जाओ। वे सब उसमें उसी समय इस प्रकार मिल गईं, जैसे नदी के प्रवाह में वर्षा की बूंदों का जमा होरहा बहुत सा पानी मिल जाता है।

कै बनि चंडि महारन मद्धि सु लै जमदाड़ की ता परि लाई।
बैठ गई अर के उर मैं तिह स्रौनत जुगती पूर अघाई॥
दीरघ जुद्ध बिलोक कै बुद्ध कविस्वर के मन मैं इह आई।
लोथ पै लोथ गई पर इउ सु मनो सुरलोक की सीढ़ी बनाई॥२१५॥

उस महायुद्ध में चण्डी ने बड़े जोर से कटार दैत्य पर चलाई जो कि उसके हृदय में जाकर लगी। उस से इतना खून निकला कि योगनियें पूरी तरह तृप्त हो गईं। दीर्घ युद्ध को देख कर कवि के मन में ऐसा आया कि लोथ पर लोथ जो पड़ गई है, वह मानो स्वर्ग की सीढ़ी तैयार हो गई है।

सुंभ चमू संग चंडिका क्रुद्ध कै जुद्ध अनेकन वार मच्यो है।
जंबुक जुग्गन ग्रिध मजूर रक्कत्र की कीच मैं ईस नच्यो है॥
लुत्थ पै लुत्थ सुभी तै भई सित गूद अउ मेद लै ताहि गच्यो है।
भउन रंगीन बनाइ मनो करि मावि सचित्र बचित्र रच्यो है॥२१६॥

क्रोधित हो कर चण्डिका ने शुम्भ की सेना के साथ कई बार युद्ध किया। गीध जम्बुक और योगनियें मानो मजदूर हैं। खून की कीचड़ में शिवजी मानो घानी कर रहे हैं। इस प्रकार यम के लिये घर बन रहा है। लोथ पर लोथ पड़ी हुई है, मानो दीवार खड़ी हो गई है। सफेद मज्जा कली और गूदा चूना है। इस प्रकार रङ्गीन भवन बना कर मानो विश्वकर्मा ने उस में अनेक प्रकार की चित्रकारी भी करदी है।

दुंद सु जुद्ध भयो रन मैं उत सुंभ इतै बर चंडि संभारी।
घाए अनेक भए दुहूं के तन पौरख गयो सभ दैत को हारी॥
हीन भई बल ते भुज कांपत सो उपमा कवि ऐसे बिचारी।
मानहु गारुड के बल ते लटी पंचमुखी जुग सांपन कारी॥२१७॥

रणभूमि में दोनों का द्वन्द्व युद्ध हुआ। उधर शुम्भ, इधर चण्डी। दोनों योद्धा होशियार। दोनों के शरीर पर अनेक घाव हो रहे हैं। आखिर दैत्य के पौरख ने हार

मान ली। उसकी भुजाएं बलहीन हो कर कांपने लगीं। उसे देख कर कवि ने अपने मन में यह उपमा बिचारी कि मानो गरुड़ के बल से दो पंचमुखी काली सांपनिएं कांप रही हैं।

कोप भई बरचंडि महा बधु जुद्ध करयो रन मैं बलधारी।
लै के कृपान महा बलवान पचार कै सुंभ के ऊपरि झारी॥
सार सों सार की धार बगी झनकार उठी तिस ते चिनगारी।
मानहु भादव माह की रैन लसै पटबीजन की चमकारी॥२१८॥

अब चण्डिका फिर बहुत क्रोधित हुई और उसने बड़ी वीरता से युद्ध किया। एक भारी भयंकर तलवार लेकर ललकारती हुई ने शुम्भ पर चला दी। लोहे से लोहे की जो धार टकराई तो उस से झनकार हुई और आग की चिनगारिएं निकल पड़ीं। मानो भादों मास की अन्धेरी रात में जुगनुओं की चमक शोभा दे रही है।

घाइन ते बहु स्रौन परयो बल छीन भयो नृप सुंभ को कैसे।
जोत घटी मुख की तन की मनो पूरन ते परवा ससि जैसे॥
चंडि लियो करि सुंभ उठाइ कह्यो कवि ने मुख ते जसु ऐसे।
रच्छक गोधन के हित कानह उठाइ लियो गिरि गोधन जैसे॥२१९॥

शुम्भ के घावों से खून जो बहुतसा निकला उससे वह अत्यन्त बलहीन हो गया। उस के मुख की ज्योति और शरीर की कान्ति जाती रही, जैसे पूर्णमासी के बाद चन्द्रमा की जाती रहती है। चण्डी ने शुम्भ को हाथ पर उठा लिया। कवि ने अपने मुंह से उस का यश इस प्रकार वर्णन किया कि मानो गोधन की रक्षा के लिये कृष्ण गोपाल ने गोवर्धन उठा लिया हो।

कर ते गिर धरनी परयो धरते गयो अकास।
सुंभ संघारन के नमित गई चंडि तिह पास॥२२०॥

शुम्भ हाथ से गिर कर पृथ्वी पर पड़ा और पृथ्वी से उड़ कर आकाश को चला गया। अब उसे मारने के लिये देवी भी आकाश में चढ़ गई।

बीच बवै नभमंडल चंडिका जुद्ध करयो जस आगे न होऊ।
सूरज चंदु नछत्र सचीपति और सभै सुर पेखत सोऊ॥
खैच कै मुंड दई करवार की एक को मार कीए तब दोऊ।
सुंभ दुटूक है भूमि परिओ तन जिउ कलवात सो चीरत कोऊ॥२२१॥

आकाश में जाकर चण्डिका ने ऐसा युद्ध किया, जैसा पहले कभी हुआ ही नहीं और न आगे हो। सूर्य, चन्द्रमा, तारागन, इन्द्र और तमाम देवता उसे देखने लगे। चण्डी ने खैंच कर एक ऐसी तलवार चलाई कि शुम्भ का सिर दो टुकड़े हो गया। फिर देवी ने उस का शरीर ऐसे चीर डाला, जैसे आरे से लकड़ी चीरी जाती है। वह दो टुकड़े हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सुंभ मारि कै चंडिका उठी सु संख बजाइ।
तब धुनि घंटा की करी महा मोद मन पाइ ॥२२२॥

इस प्रकार शुम्भ को मार कर चण्डिका ने शंख बजाया और फिर मन में अत्यंत प्रसन्न होकर घंटा की ध्वनि की।

दैतराज छिन मैं हन्यो देवी इह परकार।
अष्ट करन मैं सस्त्र गहि सैना दई संघार ॥२२३॥

इस प्रकार क्षणभर में देवी ने दैत्यराज को मार डाला। फिर आठों हाथों में नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र धारण कर सेना का संहार कर दिया।

चंडि के कोप न ओप रही रन मैं असि धार भई समुदाई।
मारि बिदारि संघारि दिए तब भूप बिना करै कौन लराई॥
कांप उठे अरि त्रास दीए घरि छांडि दई सभ पौरखताई।
दैत चले तजि खेत इउ जैसे बड़े गुन लोभ ते जात पराई ॥२२४॥

चण्डी के क्रोध के साम्हने दैत्यों की बड़ाई कुछ न रही। चण्डी तलवार लेकर सामने आई। उसने दैत्यों को मार काट कर नष्ट कर डाला। राजा के बिना अब लड़ाई कौन लड़े ? यह विचार कर शत्रु हृदय में कांप उठे। उन्होंने अपना सब बल पौरष त्याग दिया। वे मैदान छोड़े कर इस प्रकार चले गये जैसे लोभ से गुण चले जाते हैं।

भाज गयो मघवा जिनके डर ब्रह्म ते आदि सभै भै भीते।
तेई वै दैत पराइ गए रन हार निहार भए बल रीते॥
जंबुक ग्रिद्ध निरास भए बनवास गए जुग जामन बीते।
संत सहाइ सदा जग माइ सु सुंभ निसुंभ बड़े अरि जीते ॥२२५॥

जिन के डर से इन्द्र भाग गया था, ब्रह्मा आदि सब भयभीत हो गये थे वेही दैत्य अब अपने आपको बलहीन हुआ जान कर,हार मानकर मैदान छोड़ गए। जम्बुक

और गीध निराश हो कर बनवास को चले गए। सन्तों की सदा सहायता करने वाली जगजननी ने शुम्भ और निशुम्भ को जो बड़े भारी शत्रु थे, जीत लिया।

देव सभै मिलि कै इक ठौर सु अच्छत कुंकम चंदन लीनो।
तच्छन लच्छन दै के प्रदच्छन टीका सु चंडि के भाल मैं दीनो॥
ता छन को उपज्यो तह भाव इहै कवि ने मन मैं लख लीनो।
मानहु चंद के मंडल मैं सुभ मंगल आन प्रवेसहि कीनो॥२२६॥

अब सब देवता चन्दन केसर और अक्षत लेकर एक जगह एकत्र हुए और उसी समय उन्होंने देवी के माथे पर टीका लगा दिया। लाख लाख प्रदक्षिणा की। उस छवि से जो भाव पैदा हुआ, उसको कवि ने अपने मन में इस प्रकार देखा मानो चन्द्र-मण्डल में शुभ मंगल ने आकर प्रवेश किया है।

कवित्त—मिलि कै सु देवन बड़ाई करी कालिका की इहो जगमात तैं तो कट्यो बड़ो पाप है। दैतन को मार राज दीनो तैं सुरेसहूं को बड़ो जसु लीनो जग तेरोई प्रताप है। देत हैं असीस दिजराज रिख बारि-बारि तहा ही पढ्यो है ब्रह्म-कौचहूं को जाप है। ऐसो जस पूर रह्यो चंडिका को तीन लौक जैसे धार सागर मैं गंगाजी को आप है॥२२७॥

तमाम देवता मिल कर काली की बड़ाई करते हुए कहने लगे—"हे संसार की मां! तूने बहुत बड़ा पाप काट दिया है। दैत्यों को मार कर इन्द्र को जो राज्य दिया है, उस से तूने बहुत यश पाया है। संसार में तेरा ही प्रताप है। ऐसा कहते हुए ऋषि और ब्राह्मण बारम्बार आशीर्वाद देने लगे। फिर उन्होंने ब्रह्मकवच का जाप भी किया। चण्डिका का यश तीनों लोकों में इस प्रकार फैल गया, जैसे समुद्र में गंगा का साफ जल फैल जाता है।

देहि असीस सभै सुरनारि सुधारि कै आरति दीप जगायो।
फूल सुगन्ध सु अच्छत दच्छन जच्छन जीत को गीत सुहायो॥
धूप जगाइकै संख बजाइकै सीस नवाइकै बैन सुनायो।
हे जगमाइ सदा सुखदाइ तैं सुंभ को घाइ बड़ो जस पायो॥२२८॥

देवताओं की स्त्रियें आशीर्वाद देने लगीं। उन्होंने आरती सजा कर दीपक जगाया। यक्षों की स्त्रियें फूल सुगन्धि और अक्षत लेकर विजय के गीत गाने लगीं।

उन्होंने धूप जगा कर शंख बजाया । सिर निवा कर प्रार्थना की कि हे जगत् माता! सदा सुख देने वाली ! सुम्भ को मार कर तूने बड़ा यश पाया है।

सक्रहि साजि समाज दै चंडि सु मोद महा मन माहि रही है।
सूर ससी नभ थाप कै तेजु दै आप तहा ते सु लोप भई है ॥
बीच अकास प्रकास बढ्यो तह की उपमा मन ते न गई है।
धूर के पूर मलीन हुतो रवि मानहु चं डका ओप दई है ॥२२९॥

चण्डिका इन्द्र को साज समाज देकर मन में बड़ी प्रसन्न हुई । सूर्य और चन्द्रमा को आकाश में पुनः स्थापित कर और उनका तेज उन्हें पुनः प्रदान कर आप वहां से लोप हो गई। उस समय आकाश में जो प्रकाश बढ़ा,उसकी उपमा मन से नहीं गई। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो धूर से धूसरित सूर्य को चण्डी ने प्रकाश प्रदान किया है ।

कवित्त—प्रथम मधकैटमद मथन महखासुरै मानमरदनकरन तरन बार चंडिका। धूम्रदगधरनधर धूर धानी करन चंड अरु मुंड के मुंड खंड खंडिका ॥ रक्तबीज हरन रकत भछन करन दरनअन सुंभ रन गर रिस मंडिका । सुंभ बल धार संहार करवार करि सकल खलु असुर दल जै तजै चंडिका ॥२३०॥

हे पार करने वाली नौका रूप वरदातृ दुर्गे ! हे मधु कैटभ का मद मर्दन करने वाली ! हे महिषासुर का अभिमान नाशनी ! धूम्रनयन को धराशायी करने वाली, चण्ड और मुण्ड को खण्डित करने वाली ! रक्तबीज का रक्तपान करके उसे क्षय करने वाली ! युद्ध में निशुम्भ पर क्रोध करने वाली और बलपूर्वक शुम्भ को मारने वाली ! तमाम दुष्ट राक्षसों का संहार करने वाली ! तेरी जय हो, जय हो।

देह सिवा बर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं न टरौं ।
न डरौं अरि सो जब जाइ लरो निसचै कर आपनी जीत करौं ॥
अरु सिक्ख हौं आपने ही मन कौ इह लालच हउ गुन तौ उचरौं ।
जब आयु की औध निदान बनै अत ही रन मैं तब जूझ मरौं ॥२३१॥

हे पार्वती ! मुझे यही वर दो कि में शुभ कर्मों से कभी न टलूं। शत्रु से में कभी न डरूं। जब जाकर लडूं तो निश्चय ही अपनी जीत करूं। मुझे अपने सिक्खों में भी

यही गुण भरने की लालसा है, इसी लिये मैंने यह उच्चारण किया है। जब आयू की अवधि नजदीक आ जाय तो युद्ध में ही लड़ कर मरूं।

चंडि चरित्र कवित्तन में बरनयो सभ ही रस रुद्र मई है।

एक ते एक रसाल भयो नख ते सिख लौ उपमा सु नई है ॥

कउतक हेत करी कवि ने सतसै की कथा इह पूरी भई है।

जाहि के नमित्त पड़ै सुनि हैं नर सो निसचे करि ताहि दई है ॥२३२॥

यह चण्डी का चरित्र कवित्तों में कहा है। सारा ही रुद्र-रस में है। कवित्त एक से एक सरस बना है। उपमाएं भी सब नई ही दी हैं। कवि ने कौतुक के लिये ही यह सब किया है। सप्तशती की यह कथा पूरी हो गई है। जो मनुष्य जिस कामना से इसे पढ़ेगा, या सुनेगा, उसकी वह कामना निश्चय ही पूरी हो जायगी।

ग्रंथ सति सैय्या को करयो जा सम अवरु न कोइ।

जिह नमित कवि ने कह्यो सु देह चंडिका मोइ ॥२३३॥

सप्तशती का ग्रन्थ, जिस के समान और कोई नहीं है, बनाया है। जिस कामना के लिये कवि ने रचा है, हे देवी! वह प्रदान कीजिये।

चण्डीचरित्र सम्पूर्ण।

"ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਆਕਰਣ" ਦੀ ਪੜਤਾਲ

[ਵੱਲੋਂ ਡਾਕਟਰ ਮੋਹਣ ਸਿੰਘ]

੧. ਵਿਆਕਰਣ :—

[ੳ] ਤਰੰਗ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਪੁਲਿੰਗ ਨਹੀਂ। ਆਪ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਵੈਰਾਗ ਦਾ ਤਰੰਗ।

[ਅ] ਪੁਸਤਕ ਇਸਤ੍ਰੀ ਲਿੰਗ ਹੈ। ਆਪ ਪੰਜਾਬੀ ਲਿੰਗ–ਚੇਤਨਤਾ ਦੇ ਵਿਰੁੱਧ (ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਵਿਚ ਪੁਸਤਕ ਨਪੁੰਸਕ ਲਿੰਗ ਹੈ , ਇਸਨੂੰ ਪੁਲਿੰਗ ਵਰਤਦੇ ਹਨ। "ਪਿਛਲੇਰੇ ਸਮੇ ਦੇ ਨਵੀਨ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਪੁਸਤਕਾਂ ਦੀ ਬੋਲੀ"।

[ੲ] ਥਾਂ ਇਸਤਰੀ ਲਿੰਗ ਹੈ ਪੁਲਿੰਗ ਨਹੀਂ। "ਓਹਨਾਂ ਦੇ ਥਾਂ ਸੂਰ ਵਰਤੇ"। ਮਹਲਾ ੩ : ਜੇ ਲਖ ਇਸਤਰੀਆ ਭੋਗ ਕਰਹਿ"

[ਸ] ਵੇਦ ਦਾ "ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਣ" ਆਪ ਨੇ "ਵਦਿਕ" ਬਣਾਇਆ ਹੈ। ਇਹ ਗ਼ਲਤ ਹੈ, ਵੈਦਿਕ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ। ਏਸੇ ਤਰਹਾਂ ਆਪ "ਵੈਦਿਕ ਸਮੇਂ" ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਜੋ ਅਸੁੱਧ ਹੈ।

[ਹ] ਇਕ ਪਾਸੇ ਤਾਂ ਆਪ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਅਨੁਕਰਣ ਕਰਦੇ ਹਨ ਤੇ ਪੁਸਤਕ ਨੂੰ ਪੁਲਿੰਗ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਤੇ ਪ੍ਰਕਾਰ ਨੂੰ ਪ੍ਰਕਾਰ ਹੀ, ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ ਨ ਕੇਵਲ ਵੈਦਿਕ ਨੂੰ ਵੇਦਿਕ ਬਲਕਿ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਨੂੰ ਪ੍ਰਚਲਤ ਲਿਖਦੇ ਹਨ। ਚਾਲੂ ਜਾਂ ਚਲੰਤ ਲਿਖਦੇ। "ਕੀਹ" ਕੌਣ ਬੋਲਦਾ ਹੈ ?

[ਕ] ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਵਿਚ "ਕਾਵਯ" ਹੈ। ਕੇਹੜਿਆਂ ਉਚਾਰਣੀ ਅਸੂਲਾਂ ਨਾਲ ਆਪ ਨੇ ਉਸਨੂੰ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਕਾਵਿ ਬਣਾਇਆ ਹੈ ? ਕੋਈ ਹੋਰ ਮਿਸਾਲਾਂ ਦੇਣ।

[ਖ] ਕੁਦਰਤ ਨੂੰ ਆਪ ਕੁਦਰਤਿ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਤੇ ਤਰਹ (ਗੱਦ ਵਿਚ) ਨੂੰ ਤਰ੍ਹਾਂ। ਜਦ ਹ ਅਖੀਰ ਵਿਚ ਹੈ ਤਾਂ ਏਸ ਨੂੰ ਪੈਰੀਂ ਪਾਉਣ ਦੀ ਕੀ

ਲੜ ਹੈ। ਵਿਚ ਆਉਣ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਤਾਂ ਆਪ ਵਖ ਦਰਜਾ ਦੇਂਦੇ ਹਨ "ਬੋਹੜੇ" ਪਰ ਇਹਦੇ ਨਾਲ ਇਹ ਸਲੂਕ ਕਿਓਂ ? ਕੁਦਰਤ ਤੇ ਤਰਹ ਦੋਵੇਂ ਅਰਬੀ ਲਫ਼ਜ਼ ਹਨ ਤੇ ਮੁਅੰਨਸ। ਹੋਰ ਮੁਅੰਨਸ ਤ-ਅੰਤੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਨਾਲ ਸਿਆਰੀ ਕਿਉਂ ਨਾ ਹੋਵੇ ? ਅਉਰਤ ਮੁਅੰਨੱਸ ਹੈ। ਮਹੱਲਾ ਪੰਜ ਵਿਚ ਅਉਰਤ ਹੈ ਪਰ ਤ ਨਾਲ ਸਿਆਰੀ ਨਹੀਂ। (ਗੁਰੂ ਅਰਜਨ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ 'ਲਫ਼ਜ਼' ਭੀ ਵਰਤਿਆ ਹੈ) । ਮੁਕਾਮਿ ਪੁਲਿੰਗ f , ਮੁਸ਼ਕੁ, ਇਸਤ੍ਰੀ ਲਿੰਗ, ਅਕੁੜ।

[ਗ] ਪ੍ਰਕਾਰ, ਪ੍ਰਭਾਵ, ਪ੍ਰਚਲਤ ਤਾਂ ਲਿਖੇ ਪਰ "ਪ੍ਰਗਟ" ਲਿਖਣ ਵੇਲੇ ਪਰਗਟ ਕਿਓਂ ਲਿਖਿਆ ?

[ਘ] ਇਹ "ਸਿਮ੍ਰਿਤੀਆਂ" ਕੀ ਹਨ ? ਸਮਝ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ ਕਿ ਪੰਜਾਬੀਆਨਣ ਦੇ ਆਪ ਨ ਕੇਹੜੇ ਨੇਮ ਬੱਧੇ ਹੋਏ ਹਨ। "ਅਪਭ੍ਰੰਸ" ਲਿਖਿਆ, " ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤ " ਲਿਖਿਆ " स्मृति ਠੀਕ ਕਿਓਂ ਨਾ ਲਿਖੀ ? ਸਮੇਂ ਦੀ ਬਿੰਦੀ ਤਾਂ ਠੀਕ ਹੀ ਲਿਖ ਦਿੱਤੀ। ਪਰ "ਸੰਬੰਧ" ਨੂੰ ਸਨਬੰਧ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ।

ਗੁਰ ਵਾਕ—ਸਿਮਰਤ ਸਾਸਤਰ ਬੇਦ ਸਭੈ ਬਹੁ ਭੇਦ ਕਹਿਉ ਹਮ ਏਕ ਨਾ ਜਾਨਯੋ।

[ਙ["ਸਾਹਿਤਕ" ਕਿਓਂ ? "ਸਾਹਿਤਿਕ" ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ।

[ਚ] ਇੱਕ ਪਾਸੇ ਤਾਂ "ਵਿਲਖਸ਼ਣ" ਦਾ "ਵਿਲਖੱਣ" ਬਣਾਇਆ ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ "ਰਿਸ਼ੀ" ਤੇ "ਭਾਸ਼ਾ" ਲਿਖਿਆ, "ਰਿਖੀ" ਤੇ "ਭਾਖਾ" ਦੀ ਥਾਂ ਉੱਤੇ। ਕਿਧਰੇ "ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ" ਹੈ ਕਿਧਰੇ "ਸਹਸਕ੍ਰਿਤੀ", ਸਹਸ ਕਿਰਤੀ ਕਿਓਂ ਨਹੀਂ ? ਗੁਰਵਾਕ:—ਕਹੂੰ ਪਹਲਵੀ ਪਸਤਵੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ ਹੋ। ਕਹੰ ਦੇਸ ਭਾਖਿਆ ਕਹੂੰ ਦੇਵ ਬਾਨੀ। ਕਹੂੰ ਮਲੇਛ ਭਾਖਿਆ ਕਹੂੰ ਬੇਦ ਰੀਤੰ। ਕਈ ਦੇਸ ਦੇਸ ਭਾਖਾ ਰਟੰਤ।

ਲੱਖ਼ਸ਼ਣ ਦਾ ਲਛੱਣ ਪੰਜਾਬੀ ਹੈ । ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਸੁਕਸ਼ਮ ਦਾ

ਸੂਛਮ ਬਣਾਂਦੇ ਹਨ। "ਸੂਛਮ ਰੂਪ ਨ ਬਰਨਾ ਜਾਈ"।

੨. ਵਰਤੋਂ :-

]ਛ] ਪ੍ਰਤਿ ਦੀ ਥਾਂ "ਜੋਗ" ਵਰਤ ਗਏ ਜੋ ਗ਼ਲਤ ਹੈ। 'ਇਹ ਇਤਰਾਜ਼ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਸੱਜਣਾਂ' ("ਕਰਣ" ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ ਜੇ "ਸਜਣ" ਦੁਰੁਸਤ ਹੈ ਤਾਂ। ਤੇ ਜੇ ਕਰਨ ਠੀਕ ਹੈ ਤਾਂ ਸੱਜਨ ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ।) ਜੋਗ ਇਹ ਸੂਚਨਾ ਕਰ ਦੇਣੀ ਕਾਫ਼ੀ ਹੈ।

[ਜ] "ਵਲਵਲੇ ਵਿਚ ਜੁੜਦੇ ਸਨ"। ਕੋਈ ਮੁਹਾਵਰਾ ਨਹੀਂ। ਨਵਾਂ ਇਸਤੇਮਾਲ ਦੇ ਤੌਰ ਤੇ ਵੀ ਬੇਜਾ ਹੈ। "ਕੈਹਦੇ"। ਪੰਜਾਬੀ ਦੁਨੀਆਂ "ਕਹਿੰਦੇ" ਜਾਂ ਕੈਂਹਦੇ ਜਾਂ ਕਹੰਦੇ ਲਿਖਦੀ ਆਈ ਹੈ। ਆਪ ਨੇ ਨਵੀਂ ਕਾਢ ਕੱਢੀ ਹੈ।

[ਝ] "ਫੇਰ ਉਹ ਬਾਣੀ ਕਦੇ ਫ਼ਾਰਸੀ ਅੱਖਰਾਂ ਦੀ ਪੋਸ਼ਾਕ (ਪੁਸ਼ਾਕ ਚਾਹੀਦਾ ਸੀ) ਵਿਚ ਕਦੇ ਸਹਸ ਕ੍ਰਿਤੀ ਅੱਖਰਾਂ ਦੇ ਵੇਸ ਵਿਚ ਅਤੇ ਕਦੇ ਠੇਠ ਪੰਜਾਬੀ ਦੇ ਬਾਣੇ ਵਿਚ ਪਰਗਟ ਹੁੰਦੀ ਸੀ"। ਅਖਰ ਗ਼ਲਤ, ਸ਼ਬਦ ਜਾਂ ਲਫ਼ਜ਼ ਚਾਹੀਦਾ ਸੀ। letter ਤੇ word ਵਿਚ ਆਪ ਨੂੰ ਫ਼ਰਕ ਨਾ ਸੁੱਝਿਆ।

੩. ਫੁਟਕਲ :—

[ਟ] ਡੂੰਘਾਈ ਗ਼ਲਤ, ਡੂੰਘਿਆਈ ਠੀਕ। ਓਂ ਤਾਂ ਆਪ "ਨਾ ਵਾਕਿਫ਼" ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਦੱਸਣ ਵਾਸਤੇ ਕਿ ਮੈਂ ਆਮ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਵਾਂਗੂ "ਵਾਕਬ" ਜਾਂ "ਵਾਕਫ਼" ਨਹੀਂ ਲਿਖਦਾ ਤੇ ਇਸ ਦੇ ਇਸਮਿ ਫ਼ਾਇਲ ਹੋਣ ਤੋਂ ਵਾਕਿਫ਼ ਹਾਂ ਪਰ ਪ੍ਰਚਲਿਤ ਤੇ ਸਾਹਿਤਿਕ ਕਿਓਂ ਨਾ ਲਿੱਖੇ।

[ਠ] ਕੌਣ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੀਆਂ ਲੱਗਾਂ ਮਾਤਰਾਂਵਾਂ ਹਟਾ ਦਿਉ। ਹਾਂ ਜੇ ਹੁਣ ਉਹ ਲਫ਼ਜ਼ ਓਸੇ ਤਰਹਾਂ ਨਹੀਂ ਬੰਨ੍ਹੇ ਜਾਂਦੇ ਤਾਂ ਸਾਨੂੰ ਲਿਖਣ ਵੇਲੇ ਉਹਨਾਂ ਲਫ਼ਜ਼ਾਂ ਦੇ ਮੌਜੂਦਾ ਉੱਚਾਰਣ ਤੇ ਸਾਡੀ

ਵਰਤਮਾਨ ਵਿਆਕਰਣੀ ਪਰਕਿਰਤੀ ਅਨੁਸਾਰ ਹੀ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਲਿਖਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ। ਕੁਦਰਤ ਨੂੰ ਕੁਦਰਤਿ ਕਿਉਂ ?

"ਉਪਰਲੇ ਦੋਹਾਂ ਕਿਸਮਾਂ ਦੇ ਇਤਰਾਜ਼ਾਂ ਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਤਸੱਲੀ" ....ਬਹੁਤ ਹੀ ਕੋਝਾ, ਬੋਝਲ ਵਾਕ-ਅੰਸ ਹੈ।

"ਉਹਨਾਂ", ਇਹਨਾਂ" ਲਿਖ ਚੁਕੇ ਹਨ। ਅੱਗੇ "ਜਿਨ੍ਹਾਂ" ਲਿਖਦੇ ਹਨ, ਇਹ ਸ਼ਬਦ ਜੋੜ ਦੀਆਂ ਮੇਟੀਆਂ ਬਣਾਣ ਵਾਲੇ ਹਨ।

[ਡ] ਲੱਗਾਂ ਮਾਤਰਾਂਵਾਂ ਬਾਰੇ ਜੇਹੜੀ ਪੁਸਤਕ ਮੈਂ ਅੱਜ ਤੋਂ ਡੇਹਡ ਸਾਲ ਪਹਿਲਾਂ ਲਿਖ ਚੁੱਕਾ ਹਾਂ ਤੇ ਜਿਸ ਨੂੰ ਆਪ ਵੇਖ ਚੁੱਕੇ ਹਨ,ਉਸ ਦਾ ਹਵਾਲਾ ਠੀਕ ਭਾਈ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਨਹੀਂ ਦਿੱਤਾ ; ਖ਼ੈਰ ! ਪੁਸਤਕਾਂ ਦਾ ਹਵਾਲਾ ਤੇ ਹੋਰ ਵੀ ਕਈ ਬਹਿਰਾਂ-ਚੁਰਾਉ ਨਹੀਂ ਦੇਂਦੇ। ਇੱਕੋ ਲਫ਼ਜ਼ ਦਿਆਂ ਅੱਡ ਅੱਡ ਰੂਪਾਂ ਦਾ ਕਾਰਨ ਵਿਆਕਰਣ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਉੱਚਾਰਣ ਦੇ ਫ਼ਰਕ, ਕਵਿਤਾ ਦੀਆਂ ਲੋੜਾਂ ਤੇ ਸ਼ੈਲੀ ਦਾ ਰਲ-ਗੱਡ ਹੋਣਾ ਵੀ ਕਾਰਨ ਹੋ ਸਕਦੇ ਹਨ।

[ਢ] "ਮਨ-ਘੜਤ ਖ਼ਿਆਲ" ਕੀ ਵਸਤ ਹੈ ?

"ਅਧਿਆਇ" ਜ਼ਰਾ ਮੁਲਾਹਜ਼ਾ ਹੋਵੇ। ਇਹਨਾਂ ਸਾਨੂੰ ਪਿੱਛੇ ਪਾਲੀ ਤੀਕ ਖਿਚ ਖੜਨਾ ਏਂ। ਚੰਗਾ ਭਲਾ ਅਧਿਆ ਜਾਂ ਧਿਆ ਬੁਲੀਂਦਾਂ ਹੈ, ਸੁਣੀਂਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਸੰਸਕਿਰਤ-ਪੂਜਕਾਂ ਨੇ ਅਧਿਆਇ ਲਿਖਕੇ ਪੰਜਾਬੀ ਨੂੰ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤਾਬੀ ਬਣਾ ਕੇ ਹੀ ਛੱਡਣਾ ਏਂ।

[ਣ] "ਨਿਯਮ" ਲਿਖਿਆ ਪਰ "ਸਮਯ" ਨੂੰ "ਸਮੇਂ" ਕਰਕੇ ਬੱਧਾ ਭਲਾ ਨਿਯਮ ਨੂੰ ਵੀ ਨੀਅਮ ਜਾਂ ਨੇਮ ਕਰ ਦੇਂਦੇ ਤਾਂ ਕੀ ਹਰਜ ਸੀ।

[ਤ] "ਗੁਰੂ ਤੇਗ਼ ਬਹਾਦੁਰ ਜੀ ਦੇ ਵੇਲੇ ਹਿੰਦੀ ਅਤੇ ਉਰਦੂ ਦਾ ਭੀ ਪੰਜਾਬੀ ਉੱਤੇ ਕਾਫ਼ੀ ਪ੍ਰਭਾਵ ਪੈ ਚੁਕਿਆ ਸੀ"। ਭਾਈ ਸਾਹਿਬ ਉਰਦੂ ਓਦੋਂ ਅਜੇ ਜੰਮੀ ਵੀ ਨਹੀਂ ਸੀ, ਤੇ ਹਿੰਦੀ ਤੋਂ ਮੁਰਾਦ ਕਿਹੜੀ ਉਪਭਾਖਾ ਹੈ ? ਲੋਕੀ ਤੇ ਇਹ ਸਾਬਿਤ ਕਰ ਚੁਕੇ ਨੇ ਕਿ ਉਰਦੂ ਪੰਜਾਬੀ ਤੋਂ ਬਣੀ

ਤੇ ਖੜੀ ਬੋਲੀ ਵੀ ਪੰਜਾਬੀ ਤੋਂ। ਵੇਖੋ ਏਹਜਾਜ਼ ਹੁਸੈਨ ਤੇ ਗੁਲਾਬ ਰਾਇ।

[ਬ] "ਕੁਦਰਤੀ ਸਿੱਟਾ ਨਿਕਲਣਾ ਸੀ"। ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਦਾ ਪਰਭਾਉ, Natural Result ਦਾ ਉਲਥਾ। ਕਿਉਂ ਜੀ ਗ਼ੈਰ ਕੁਦਰਤੀ ਸਿੱਟਾ ਕਿਹੜਾ ਹੁੰਦਾਂ ਹੈ?

"ਚਿਹਨ" ਖ਼ੂਬ ਲਿਖਿਆ। ਆਖ਼ਰ ਕਿਉਂ, ਅਖ਼ੀਰ ਚਾਹੀਦਾ ਏ। "ਤ੍ਰੇਵੇ" ਮੁਲਾਹਜ਼ਾ ਹੋਵੇ। ਇਹ ਤ੍ਰੈ ਦੀ ਪੈਰੀਂ ਰਾਰਾ ਕੀ ਕਹਿੰਦਾ ਏ। ਤਿੰਨੇ ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ? ਇਹ dialectic lapse ਕਿਉਂ? "ਨਿਰੇ ਇਹੀ ਨਹੀਂ" ਕੋਝੀ ਜ਼ਬਾਨ ਤ ਗ਼ਲਤ ਵੀ। ਗ੍ਰੰਥ ਕਿਉਂ, ਗਰੰਥ ਜਾਂ ਗਿਰੰਥ ਕਿਉਂ ਨਹੀਂ। ਵੇਖੋ:–ਨਮਸਕਾਰ ਸ੍ਰੀ ਖੜਗ ਕੋ ਕਰੌ ਸੁਹਿਤ ਚਿਤੁ ਲਾਇ।

ਪੂਰਨ ਕਰੌ ਗਿਰੰਥ ਇਹ ਤੁਮ ਮੁਹਿ ਕਰਹੁ ਸਹਾਇ॥

ਏਸ ਹਿਸਾਬ ਗੰਢ ਨੂੰ ਵੀ ਗ੍ਰੰਥਿ ਲਿਖਿਆ ਕਰੋ।

[ਦ] "......ਸ਼ਬਦ ਭੀ ਮਿਲਦੇ ਹਨ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਵੱਖੋ ਵਖਰੇ ਰੂਪ ਅਤੇ ਲਿੰਗ ਮਿਲਦੇ ਹਨ"। ਦੋ ਵਾਰੀ ਮਿਲ ਗਏ। ਇੱਕੋ ਵਾਰੀ ਨਾਲ ਕੰਮ ਸਾਰਦੇ। ਆਪ ਨੇ ਖ਼ੁਦ ਇਕ ਫ਼ਿਕਰੇ ਵਿਚ ਅਖ਼ੀਰਲੀ ਤੇ ਸਿੱਟਾ ਨਿਕਲਦਾ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਇਸ ਤੋਂ ਮੇਰਿਆਂ ਇਤਰਾਜ਼ਾਂ ਦੀ ਦੁਰੁਸਤੀ ਦੀ ਤਾਈਦ ਹੁੰਦੀ ਹੈ।

[ਧ] "ਅਨਜ" ਦਾ "ਅਨ" ਤਾਂ ਬਣਾਇਆ ਪਰ "ਕਾਵਜ" ਦਾ "ਕਾਵ" ਨਹੀਂ, ਹੋਰ 'ਿ'ਲਾ ਦਿੱਤੀ। ਦਸਮ ਗੁਰੂਜੀ ਦੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ-ਭਾਖਾ ਦਾਨੀ ਸ਼ਕੋਂ ਪਰੇ ਹੈ। ਆਪ ਲਿਖਦੇ ਹਨ :–"ਕਹੂੰ ਕੋਕ ਕਾਬ ਹੁਇ ਕੈ ਪੁਰਾਨ ਕੋ ਪੜਤ ਮਤ ਕਤਹੂੰ ਕੁਰਾਨ ਕੋ ਨਿਦਾਨ ਜਾਨ ਲੇਤ ਹੋ"। ਅਨਜ ਨੂੰ ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਇਕ ਥਾਂ ਕਾਫ਼ੀਏ ਦੀ ਲੋੜ ਅਨੁਸਾਰ ਠੀਕ ਅਨਿਆ ਬੱਧਾ ਹੈ।

ਦਸ ਸਹੰਸ੍ਰ ਤਿਹਿ ਗ੍ਰਿਹ ਭਈ ਕੰਨਿਆ।

ਜਿਹ ਸਮਾਨ ਕਹ ਲਗੈ ਨ ਅੰਨਿਆ॥ (ਚਲਦਾ)

ਅਪਭਰੰਸ਼ ਸਾਹਿਤ ਤੇ ਜੈਨੀ

[ਪੰਜਾਬੀ ਭਾਖਾ ਇਕ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਹੈ । ਮੈਂ ਇਸ ਬਾਰੇ ਆਪਣੀ ਰਾਇ ਤੇ ਮਸ਼ਹੂਰ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀ ਰਾਇ ਆਪਣੀ ਪੁਸਤਕ ਜਪੁਜੀ ਵਿਚ ਦਰਜ ਕਰ ਚੁਕਾ ਹਾਂ। ਹੇਠਾਂ ਜੈਨ ਐਨਟੀਕ੍ਵੇਰੀ,ਭਾਗ ੬ ਕਿਰਣ ੨, ਬਾਬਤ ਸਿਤੰਬਰ ੧੯੩੯ ਵਿੱਚੋਂ ਸਾਹਿਤਜ ਭੂਮਰ ਦਾ ਲੇਖ ਤਰਜਮਾ ਕਰਕੇ ਦੇਂਦੇ ਹਾਂ ਜਿਸ ਤੋਂ ਪੰਜਾਬ, ਸਿੰਧ, ਮਾਰਵਾੜ ਆਦਕ ਦੀ ਭਾਖਾ ਉੱਤੇ ਕਾਫ਼ੀ ਚਾਨਣ ਪੈਂਦਾ ਹੈ । —ਮੋਹਣ ਸਿੰਘ]

ਭਾਰਤ ਦੀਆਂ ਸਾਹਿਤਿਕ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦੇ ੍ਰਮ-ਬੱਧ ਮੁਤਾਲਏ ਦਾ ਅਰੰਭ ਮੁਸ਼ਕਲ ਨਾਲ ਡੇਹਡ ਸੌ ਵਰਹੇ ਪਹਿਲਾਂ ਤੋਂ ਹੋਇਆ ਹੈ । ਸਨ ੧੭੯੩ ਈਸਵੀ ਵਿਚ ਸਰ ਵਿਲੀਅਮ ਜੋਨਜ਼ ਦੀ ਮਸ਼ਾਹੂਰੀ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਇਸ ਸ਼ੁਭ ਕਾਰਜ ਦੀ ਸਿਰੀ ਗਣੇਸ਼ ਹੋਈ। ਓਸ ਵੇਲੇ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦਾ ਧਿਆਨ ਖਿੱਚਣ ਵਾਲਾ ਸਿਰਫ਼ ਸੰਸਕਿਰਤ ਸਾਹਿਤ, ਓਹਦਾ ਵੀ ਕਾਵਜ ਸੀ। ਫੇਰ ਵੈਦਿਕ ਧਰਮ ਦੇ ਸਾਹਿਤ ਨੇ ਕਾਵਜ ਦੀ ਥਾਂ ਲੀਤੀ। ਪਰ ਤਦ ਤੋਂ ੫੦ ਵਰਹੇ ਬਾਦ ਤੀਕ ਪਰਾਕਿਰਤ ਸਾਹਿੱਤ ਵਲ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਨਹੀਂ ਸੀ ਗਈ। ਇਹਦਾ ਕਾਰਣ ਇਹ ਸੀ ਕਿ ਇਹ ਸਾਹਿੱਤ ਦੇ ਮੁਖ ਰੱਛਕ ਜੈਨੀ ਸਨ, ਜਿਹਨਾਂ ਕਲ੍ਹ ਤੀਕ ਆਪਣੇ ਸਾਹਿੱਤ ਦੇ ਪਰਗਟ ਕਰਨ ਦੀ ਕੋਸ਼ਸ਼ ਕਹੀਂ ਕੀਤੀ ਸੀ । ਸਚਮੁਚ ਪਰਾਕਿਰਤ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਰਚਨਾ ਕਰਣ ਦਾ ਹੱਕ ਤੇ ਅਧਿਕਾਰ ਪਰਾਚੀਨ ਸਮੇਂ ਤੋਂ ਹੀ ਜੈਨੀਆਂ ਦੇ ਹਥ ਹੀ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਬਰਾਹਮਣਾਂ ਤੇ ਬੋਧਾਂ ਨੇ ਬੇਸ਼ਕ ਕਰੀਬ ਕਰੀਬ ਏਸੇ ਤਰਹਾਂ ਤਰਤੀਬ ਵਾਰ ਸੰਸਕਿਰਤ ਤੇ ਪਾਲੀ ਭਾਖਾਵਾਂ ਵਿਚ ਰਚਨਾ ਰਚਣ ਦਾ ਅਧਿਕਾਰ ਪਾਈ ਰਖਿਆ ਸੀ । ਲੇਕਿਨ ਜੈਨੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਪਰਾਕਿਰਤ ਭਾਖਾ ਦੀ ਬਿਸੇਖ ਉੱਨਤੀ ਹੋਈ

ਸੀ। ਇਹਦਾ ਕਾਰਨ ਇਹੀ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਭਾਖਾ ਸਿਰਫ਼ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਸਾਹਿਤਿਕ ਭਾਖਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਰਹੀ ਬਲਕਿ ਜੈਨ ਧਰਮ ਦੀ ਸਿਖਿਆ ਵੀ ਏਸੇ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਦਿੱਤੀ ਜਾਂਦੀ ਰਹੀ ਹੈ। ਏਸੇ ਲਈ ਅਜੇ ਸਾਨੂੰ ਪਰਾਕਿਰਤ ਦਿਆਂ ਮੁਖ਼ਤਿਲਫ਼ ਰੂਪਾਂ ਦੇ ਅਸਪਸ਼ਟ ਦਰਸ਼ਨ ਜੈਨ ਸਾਹਿੱਤ ਵਿਚ ਹੀ ਹੁੰਦ ਹਨ। ਮਾਗਧੀ ਤੇ ਅਰਧਮਾਗਧੀ ਪਰਾਕਿਰਤਾਂ ਦੇ ਬਚੇ ਹੋਏ ਨਮੂਨੇ ਹੁਣ ਸਿਰਫ਼ ਸੇਤੰਬਰ ਜੈਨੀਆਂ ਦੇ ਸੂਤਰ ਗਰੰਥ ਹੀ ਹਨ। ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰੀ ਪਰਾਕਿਰਤ ਦਾ ਵੀ ਖ਼ਾਸ ਇਸਤੇਮਾਲ ਜੈਨੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਹੀ ਟੀਕਿਆਂ ਆਦ ਦੇ ਲਿਖਣ ਵਿਚ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਇਸ ਪਰਾਕਿਰਤ ਦਾ ਸਾਹਿੱਤ ਈਸਾ ਦੀਆਂ ਪਹਿਲੀਆਂ ਸਦੀਆਂ ਵਿਚ ਖ਼ਾਸ ਤੌਰ ਤੇ ਪੈਦਾ ਹੋ ਗਇਆ ਸੀ, ਜਿਹਾ ਕਿ ਕਵੀ ਹਾਲ ਦੀਆਂ ਰਚਨਾਵਾਂ ਤੇ ਪ੍ਰਵਰਸੇਨ ਦੇ ਸੇਤੁਬੰਧ ਨਾਂ ਦੇ ਗਰੰਥ ਤੋਂ ਜ਼ਾਹਿਰ ਹੈ। ਸੌਰਸੈਨੀ ਪਰਾਕਿਰਤ ਦਾ ਇਸਤੇਮਾਲ ਦਿਗੰਬਰ ਜੈਨੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਖ਼ਾਸ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਸਿਰੀ ਕੁੰਦ ਕੁੰਦਾਚਾਰਜ, ਸੁਆਮੀ ਕਾਰਤਿਕੇਅ, ਵੱਟਕੇਰ ਆਚਾਰਜ, ਨੇਮੀ ਚੰਦਰ ਸਿਧਾਂਤ ਚੱਕਰ ਵਰਤੀ ਆਦਕ ਆਚਾਰਜਾਂ ਨੇ ਏਸੇ ਸ਼ੌਰ-ਸੈਨੀ ਪਰਾਕਿਰਤ ਵਿਚ ਮੂਲਮਈ ਰਚਨਾਵਾਂ ਰਚੀਆਂ ਹਨ। ਪੈਸ਼ਾਚੀ ਪਰਾਕਿਰਤ ਨਾਲ ਜੈਨੀਆਂ ਦਾ ਪਰੇਮ ਨਹੀਂ ਰਹਿਆ ਤੇ ਮੰਦ ਭਾਗਾਂ ਕਰਕੇ ਉਸਦਾ ਸਾਹਿੱਤ ਹੀ ਲੱਭਦਾ ਨਹੀਂ। ਹਾਂ ਏਸੇ ਪਰਾਕਿਰਤ ਦੀ ਭੈਣ ਜਿਹੜੀ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਸੀ, ਉਸਦਾ ਸਾਹਿੱਤ ਮਿਲਦਾ ਹੈ ਤੇ ਉਹ ਖ਼ਾਸ ਕਰਕੇ ਦਿਗੰਬਰ ਜੈਨੀਆਂ ਦਾ ਹੀ ਹੈ। ਏਸ ਲੇਖ ਵਿਚ ਏਸੇ ਅਪ-ਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦੀ ਉਤਪੱਤੀ, ਇਤਿਹਾਸ ਤੇ ਉਸਦੇ ਨਾਲ ਜੈਨੀਆਂ ਦੇ ਸਨਬੰਧ ਨੂੰ ਪਰਗਟ ਕਰਨਾ ਸਾਡਾ ਮਕਸਦ ਹੈ। ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦੀ ਪਰਾਚੀਨਤਾ ਦੇ ਬਾਰੇ ਜਾਣਨ ਲਈ ਸਭ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਇਹ ਵੇਖ ਲੈਣਾਂ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ ਕਿ ਉਸਦਾ ਜਿਕਰ ਕਿਹਨਾਂ ਪੁਰਾਣਿਆਂ ਸਾਹਿੱਤ-ਰਸੀਆਂ ਨੇ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਏਸੇ ਖ਼ਾਤਰ ਤੇ ਇਸ ਗੱਲ ਦਾ ਨਿਰਨਾ ਕਰਨ ਲਈ ਹੇਠਾਂ

ਕੁਝ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

(੧) ਪਤੰਜਲੀ ਜਿਹੜਾ ਕਿ ਈਸਾ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਦੀ ਦੂਜੀ ਸਦੀ ਦਾ ਸੀ ਤੇ ਵਿਆਕਰਣ ਮਹਾਭਾਸ਼ ਦਾ ਮਸ਼ਹੂਰ ਲੇਖਕ ਹੈ, ਉਹ ਸ਼ੈਦ ਸਭ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਸ਼ਬਦ ਦਾ ਇਸਤੇਮਾਲ ਭਾਖਾ ਵਿਗਿਆਨ ਦੇ ਸਨਬੰਧ ਵਿਚ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਉਹ ਉਸਨੂੰ ਪੇਂਡੂ ਮਨੁਖਾਂ ਦੇ ਮੂੰਹੋਂ ਨਿਕਲਿਆ ਹੋਇਆ ਸੰਸਕਿਰਤ ਦਾ ਵਿਗੜਿਆ ਰੂਪ ਹੀ ਦਸਦਾ ਹੈ। "ਹਰ ਸ਼ਬਦ (ਲਫ਼ਜ਼) ਦੇ ਅਨੇਕ ਵਿਗੜੇ ਰੂਪ ਹਨ, ਜਿਹਾ ਕਿ ਗੋ ਦੇ ਅਪਭਰੰਸ਼-ਵਿਗੜੇ-ਰੂਪ ਗਾਵੀ, ਗੋਣੀ, ਗੋਤਾ, ਗੋਪਤਾਲਿਕਾ ਆਦਕ ਹਨ"। ਏਥੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਭਾਵ ਵਿਗੜੀ ਬੋਲਚਾਲ ਤੋਂ ਹੈ। ਏਸੇ ਲਈ ਇਹ 'ਭਰਤ' ਕਵੀ ਦੇ ਭਰਿਸ਼ਟੇ (ਨਿਭ੍ਰਸ਼ਟ) ਸ਼ਬਦ ਦੇ ਵਾਂਗਰ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਇਸਦਾ ਤਅਲੁੱਕ ਆਭੀਰਾਂ ਨਾਲ ਵੀ ਜ਼ਾਹਿਰ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ ਤੇ ਨ ਇਹ ਸਾਧਾਰਣ ਜਨਤਾ (ਆਮ ਲੋਕਾਂ) ਦੀ ਹੀ ਭਾਖਾ ਸਾਬਿਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ।

(੨) ਕਵੀ ਭਰਤ ਭਾਰਤੀ ਨਾਟ-ਸਾਸਤਰ ਦਾ ਸਭ ਤੋਂ ਪੁਰਾਣਾ ਲਿਖਾਰੀ ਹੈ। ਇਹ ਸ਼ੈਦ ਈਸਾ ਦੀ ਦੂਜੀ ਜਾਂ ਤ੍ਰੀਜੀ ਸਦੀ ਵਿਚ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਇਹ ਆਪਣੀ ਨਾਟਜ ਸਾਸਤ੍ਰ ਨਾਂ ਦੀ ਕਿਤਾਬ ਵਿਚ ਪਰਾਕਿਰਤ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਜਿਹਨਾਂਨੂੰ ਉਹ ਨਾਟਕ ਦਿਆਂ ਪਾਤਰਾਂ ਵਿਚੋਂ ਖ਼ਾਸ ਖ਼ਾਸ ਦੀ ਬੋਲਚਾਲ ਦੀ ਭਾਖਾ ਦਸਦਾ ਹੈ, ਨਾਲੇ ਉਹਨਾਂ ਦਿਆਂ ਛੰਦਾਂ ਦੇ ਨਮੂਨੇ ਵੀ ਦੇਂਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਨਾਟਕ ਵਿਚ ਸੁੱਧ ਸੰਸਕਿਰਤ, ਵਿਗੜੀ ਸੰਸਕਿਰਤ ਜਿਸਨੂੰ 'ਭਰਿਸ਼ਟ' ਦਾ ਨਾਂ ਦੇਂਦਾ ਹੈ, ਅਤੇ ਦੇਸੀ ਭਾਖਾ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਦੇਸੀ ਭਾਖਾ ਮੁਖ਼ਤਲਿਫ਼ ਸੂਬਿਆਂ ਦੀ ਅਸਥਾਨੀ ਭਾਖਾ ਹੈ, ਜਿਵੇਂ ਅਜਕਲ ਸੂਬਿਆਂ ਦਿਆਂ ਅਲਗ ਅਲਗ ਜ਼ਿਲਿਆਂ ਵਿਚ ਪੇਂਡੂ ਭਾਖਾਵਾਂ ਵਖਰੀਆਂ ਵਖਰੀਆਂ ਮਿਲਦੀਆਂ ਹਨ! ਭਰਤ ਨੇ ਭਾਵੇਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦਾ ਸਾਫ਼ ਜ਼ਿਕਰ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ ਹੈ

ਕਿਉਂਕਿ ਓਸਦੇ ਵੇਲੇ ਉਹ ਭਾਖਾ ਤਰੱਕੀ ਕਰ ਰਹੀ ਸੀ ਤੇ 'ਆਭੀਰ ਕੋਟੀ' ਅਖਵਾਉਂਦੀ ਸੀ, ਤਾਂ ਵੀ ਉਸਦੀ ਹੋਂਦ ਸਾਫ਼ ਸਾਬਿਤ ਹੈ। ਉਹ ਪੰਜਾਬ ਤੇ ਉਪਰਲੇ ਸਿੰਧ ਦੇ ਨਿਵਾਸੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਬੋਲੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ ਤੇ ਉਸਦਾ ਕੋਈ ਵੀ ਸਾਹਿੱਤ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਹੋਰ ਕਈ ਬਿਚਰਦੀਆਂ ਅਵਾਰਾ (Nomadic) ਜਾਤੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਵੀ ਬੋਲੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ, ਜਿਹਨਾਂ ਨੇ ਹੀ ਪੁਰਾਣੀਆਂ ਪਰਾਕਿਰਤਾਂ ਨੂੰ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਰੂਪ ਦਿੱਤਾ ਸੀ।

(੩) ਧਰਸੇਨ ਦੂਜਾ, ਕਾਠੀਆਵਾੜ ਸੁਰਾਸ਼ਟਰ ਵਿੱਚ ਬਲੱਭੀਨਗਰ ਦਾ ਅਧਪਤੀ ਸੀ। ਇਸਦੇ ਇਕ ਪੱਥਰ ਲੇਖ ਵਿਚ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਸਾਫ਼ ਜ਼ਿਕਰ ਹੈ ਤੇ ਉਹ ਬੜੇ ਮੱਹਤ ਦਾ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਵਿਚ ਧਰਸੇਨ ਆਪਣੇ ਪਿਓ ਗੁਹਸੇਨ ਨੂੰ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਵਿੱਚ ਗਰੰਥ ਰਚਣ ਵਿੱਚ ਸਿਧ ਹੱਥ ਦਸਦਾ ਹੈ। ਗੁਹਸੇਨ ਦੇ ਉਕਰੇ ਪਥਰ ਸਨ ੫੫੯ ਤੇ ੫੬੯ ਈਸਵੀ ਦ ਮਿਲੇ ਹਨ। ਏਸ ਲਈ ਅਪਭਰੰਸ਼ਾਂ ਵਿੱਚ ਕਵਿਤਾਰਚਨਾ ਈਸਾ ਦੀ ੬ ਵੀਂ ਸਦੀ ਵਿੱਚ ਹੋਣ ਲਗੀ ਸੀ, ਭਾਵੇਂ ਕੋਈ ਕਾਵਿ ਉਸ ਸਮੇਂ ਦਾ ਨਹੀਂ ਮਿਲਿਆ ਹੈ।

(੪) ਭਾਨਵ ਨੂੰ ਵੀ ਗ਼ਾਲਿਬਨ ਈਸਾ ਦੀ ਛੇਂਵੀਂ ਸਦੀ ਦੇ ਅਖ਼ੀਰ ਵਿੱਚ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦਾ ਗਿਆਨ ਸੀ, ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਸਾਫ਼ ਲਿਖਦਾ ਹੈ:-

> शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्य पद्यं च तद्विधा ।
>
> संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१.१६॥

(੫) ਦੰਡੀ ਆਪਣੇ ਕਾਵ ਆਦਰਸ਼ ਵਿੱਚ ਓਸ ਸਮੇਂ (ਤਤਕਾਲੀਨ) ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਚੌਹਾਂ ਹਿੱਸਿਆਂ ਵਿੱਚ ਵੰਡਦਾ ਹੈ। ਵਾਗਭੱਟ ਨੇ ਵੀ ਇਹਨਾਂ ਹੀ ਚੌਹਾਂ ਭੇਦਾਂ ਦਾ ਵਰਨਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਦੰਡੀ ਐਉਂ ਦੱਸਦਾ ਹੈ:—

> तदेत द्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
>
> अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहु रार्याश्चतुर्विधम । १.३२॥

ਇਹਦੇ ਵਿਚ ਸਾਹਿਤ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ, ਅਪਭਰੰਸ਼ ਤੇ ਰਲੱਗਡ ਰੂਪ ਦਾ ਦੱਸਿਆ ਹੈ। ਅਪਭਰੰਸ਼ ਨੂੰ ਉਹ ਆਭੀਰਾਂ ਆਦਕ ਦੀ ਭਾਖਾ ਜਿਹੜੀ ਸਾਹਿੱਤ ਵਿਚ ਵਰਤੀ ਗਈ ਹੋਵੇ, ਦਸਦਾ ਹੈ। ਭਾਵੇਂ ਸ਼ਾਸਤਰਾਂ ਮੂਜਬ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੋਂ ਛੁਟ ਸਾਰੀਆਂ ਹੀ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦੱਸੀਆਂ ਗਈਆਂ ਹਨ, ਤਾਂ ਵੀ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਕਵਿਤਾ ਨੂੰ ਉਹ 'ਆਸਾਰ' ਆਦਕ ਵਿਚ

ਵੰਡੀ ਦਸਦਾ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਬਿਆਨਾਂ ਤੋਂ ਜ਼ਾਹਿਤ ਹੈ ਕਿ ਦੰਡੀ ਦੇ ਵੇਲੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦਾ ਇਸਤੇਮਾਲ ਦੇਸ ਦੇ ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਖ਼ਾਸ ਤੌਰ ਤੇ ਹੋਣ ਲੱਗ ਪਇਆ ਸੀ।

ਉਹ ਭਰਤ ਦੇ ਸਮੇਂ ਵਾਂਗ ਕੇਵਲ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਨਾਟਕਾਂ ਦਿਆਂ ਨੀਚ ਪਾਤਰਾਂ ਦੇ ਮੂੰਹ ਦੀ ਹੀ ਭਾਖਿਆ ਨਹੀਂ ਰਹੀ ਸੀ। ਫੇਰ ਭੀ ਆਭੀਰ, ਆਦਕ ਜ਼ਾਤੀਆਂ ਦੀ ਇਹੀ ਭਾਖਾ ਸੀ ਜਿਹਨਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਆਭੀਰ ਹੀ ਇਸਦੇ ਅਪਨਾਣ ਵਿੱਚ ਅੱਗੇ ਤੇ ਮੁੱਖੀ ਸਨ। ਨਾਲੇ ਇਸ ਸਾਹਿਤਿਕ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦੇ ਅਧਕਾਰੀ ਸਿਰਫ਼ ਕਵੀ ਤੇ ਅਚਾਰਜ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਨ ਬਲਕਿ ਏਸ ਉੱਤੇ ਅਮੂਮਨ (ਸਾਧਾਰਣ ਤੌਰ ਤੇ) ਆਭੀਰ, ਸਬਰ, ਚੰਡਾਲ, ਆਦਕ ਜ਼ਾਤੀਆਂ ਦਾ ਭੀ ਹੱਕ ਸੀ। ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਇਹਨਾਂ ਜ਼ਾਤੀਆਂ ਦੇ ਨਿਵਾਸ ਅਸਥਾਨ ਆਦਕ ਬਦਲਦੇ ਗਏ, ਤਿਉਂ ਤਿਉਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਵੀ ਫ਼ਰਕ ਪੈਂਦੇ ਗਏ, ਇਹ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦਾ ਕਹਿਣਾ ਹੈ। (ਭਵਿ. ਕਾ. ਗਾ. ਨੰ. ੨੦, ਮੂ. ਖ., ੪੩) ਦੰਡੀ ਦਾ ਸਮਾਂ ਈਸਵੀ ਦੀ ੭ ਵੀਂ–੮ ਵੀਂ ਸਦੀ ਮੰਨਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

(੬) ਰੁਦਰੱਟ ਈਸਾ ਦੀ ੯ ਵੀਂ ਸਦੀ ਦਾ ਵਿਦਵਾਨ ਹੈ। ਓਸ ਨੇ ਆਪਣੇ ਕਾਵ ਅਲੰਕਾਰ ਵਿਚ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਉਸਨੂੰ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ, ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ ਆਦਕ ਦੇ ਨਾਲ ਗਿਣਿਆ ਹੈ। ਇਹ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦੇ ਛੇ ਰੂਪ ਦਸਦਾ ਹੈ, ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ, ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ, ਮਾਗਧੀ, ਪਿਸ਼ਾਚੀ, ਸ਼ਉਰਸੈਨੀ ਤੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ (੨ । ੧੧-੧੨)

(੭) ਰਾਜਕਿਸ਼ੋਰ ਨੇ ਵੀ ਆਪਣੀ ਕਾਬ ਮੀਮਾਂਸਾ ਵਿਚ ਕਈਆਂ ਅਸਥਾਨਾਂ ਤੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਇਹ ਮੁਖ ਕਰਕੇ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ, ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ, ਅਪਭਰੰਸ਼ ਤੇ ਮਿਲੌਟੀ ਭਾਖਾ ਦੇ ਭੇਦ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਤੇ ਗੌੜ ਆਦਕ ਦੇਸਵਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਅਧਕਾਰੀ, ਲਾਟ (ਗੁਜਰਾਤ) ਦੇਸ ਵਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤਾ ਦਾ, ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਮਰੂਦੇਸ਼

(ਮਾਰਵਾੜ), ਟੱਕੋ' (ਪੂਰਬੀ ਪੰਜਾਬ) ਤੇ ਭਾਦਾਨਕ-ਵਾਸੀਆਂ ਨੂੰ ਹਕਦਾਰ ਦਸਦਾ ਹੈ। ਅਵੰਤੀ, ਪਾਰਿਯਾਤ੍ਰ (ਬਿੰਧੀਆ ਦੇਸ) ਤੇ ਦਸ਼ਪੁਰ ਦੇ ਕਵੀਆਂ ਨੂੰ ਭੂਤਭਾਖਾ ਵਿੱਚ ਕਵਿਤਾ ਕਰਦਾ ਦਸਦਾ ਹੈ, ਨਾਲੇ ਮੱਧਦੇਸ ਦੇ ਕਵੀ ਨੂੰ ਇਹਨਾਂ ਸਾਰੀਆਂ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਵਿੱਚ ਪਾਰੰਗਤ ਦਸਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਵੀ ਲਿਖਦਾ ਹੈ ਕਿ ਸਉਰਾਸ਼ਟਰ, ਤਿਰਵਨ ਆਦਕ ਦੇਸਾਂ ਦੇ ਨਿਵਾਸੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਭਾਖਣ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਨਾਲ ਰਲਾ ਕੇ ਕਰਦੇ ਸਨ। ਰਾਜਸ਼ੇਖਰ ਦੇ ਇਸ ਕੌਲ ਦਾ ਸਮਰਥਨ, ਅਜਕਲ ਜਿਹੜੇ ਗਰੰਥ ਮਿਲਦੇ ਹਨ, ਉਹਨਾਂ ਤੋਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਅਪਭਰੰਸ਼ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ ਉਤੇ ਹੌਲੇ ਹੌਲੇ ਦਿਗੰਬਰ ਤੇ ਸ੍ਵੇਤੰਬਰ ਜੈਨੀਆਂ ਦਾ ਅਧਕਾਰ ਜੰਮਦਾ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਜੈਕੋਬੀ ਨੇ ਇਹ ਠੀਕ ਹੀ ਆਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਦਿਗੰਬਰੀਆਂ ਦਾ ਅਧਕਾਰ ਤੇ ਕਬਜ਼ਾ ਬਸਤੀ ਮਾਰਵਾੜ ਤੇ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਇਕ ਹਿੱਸੇ ਉੱਤੇ ਬਹੁਤਾ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਰਾਜਸ਼ੇਖਰ ਦਿਆਂ ਲੇਖਾਂ ਤੋਂ ਇਹ ਵੀ ਜ਼ਾਹਿਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਓਸ ਦੇ ਵੇਲੇ ਵੀ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਸਾਧਾਰਣ ਜਨਤਾ ਦੀ ਭਾਖਾ ਬਣੀ ਹੋਈ ਸੀ॥

(੮) ਨਾਮ ਸਿੰਧੂ ਨੇ ਕਾਬ ਅਲੰਕਾਰ (੧੧-੧੨) ਦੀ ਵ੍ਰਿੱਤਿ ਵਿੱਚ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਉਲੇਖ ਐਉਂ ਕੀਤਾ ਹੈ :

ਇਸ ਦਾ ਮਹੱਤ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਨਾਮਸਿੰਧੂ (੧) ਅਪਭਰੰਸ਼ ਨੂੰ ਖ਼ੁਦ ਇਕ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ ਮੰਨਦਾ ਹੈ, (੨) ਆਪਣੇ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਹੋਏ ਕਵੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਲਿਖੀ ਗਈ ਭਾਖਾ ਦੇ ਤਿੰਨ ਭੇਦ ਉਪਨਾਗਰ, ਆਭੀਰ ਤੇ ਗਰਾਮ ਰੂਪ ਵੀ ਗਿਣਾਂਦਾ ਹੈ, (੩) ਪਰ ਉਹ ਇਹਨਾਂ ਤਿੰਨਾਂ ਤੋਂ ਵੱਧੀਕ ਭੇਦ ਦਸਦਾ ਹੈ, (੪) ਤੇ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਨਸਾਧਾਰਣ ਦੀ ਹੀ ਇਹ ਭਾਖਾ ਸੀ। ਇਸ ਦੇ ਇਕ ਹੋਰ ਲੇਖ ਤੋਂ ਪਰਗਟ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਓਸ ਵੇਲੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦਾ ਖਿਲਾਰ ਪੂਰਬ ਵਿੱਚ ਮਗਧ ਤੀਕ ਹੋ ਗਇਆ ਸੀ। ਨਾਮ ਸਿੰਧੂ ਨੇ ਆਪਣੀ ਟੀਕਾ ਸੰਮਤ ੧੧੨੫ ਵਿਚ (ਈਸਵੀ

ਸਨ ੧੦੬੯) ਪੂਰੀ ਕੀਤੀ ਸੀ।

(ਭਵਿਖ ਗਾਇਦਨ ਨੰਬਰ ੨੦, ਭੂਮਿਕਾ, ਸਫ਼ਾ ੫੭।)

ਇਸਦੇ ਇਲਾਵਾ ਹੋਰ ਵੀ ਕਈ ਛੋਟੇ ਛੋਟੇ ਉਲੇਖ ਲਭਦੇ ਹਨ। ਪਰ ਉਹ ਕਿਸੇ ਵਿਸੇਖ ਮਹੱਤ ਦੇ ਨਹੀਂ। ਇਹਤਰਹਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਦੇ ਪਰਾਚੀਨ ਉਲੇਖ ਮਿਲਦੇ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਤੋਂ ਭਵਿਖ-ਦੱਤ ਕਥਾ ਭੂਮਿਕਾ ਵਿਚ ਇਹ ਪਰਨਾਮ ਕੱਢੇ ਗਏ ਹਨ।

(੧) ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਈਸਾ ਦੀ ਦੂਜੀ ਸਦੀ ਵਿਚ ਘਟ ਤੋਂ ਘਟ ਆਭੀਰੀ ਭਾਖਾ ਦੇ ਨਾਂ ਨਾਲ ਮੌਜੂਦ ਸੀ ਤੇ ਸਿੰਧ ਮੁਲਤਾਨ ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਦੇ ਸ਼ਿਮਾਲੀ ਹਿਸੇ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦੇ ਆਭੀਰਾਂ ਤੇ ਹੋਰ ਜਾਤੀਆਂ ਦੁਆਰਾ ਬੋਲੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ।

(੨) ਈਸਾ ਦੀ ਅਠਵੀਂ ਸਦੀ ਤੀਕ ਵੀ ਇਹ ਆਭੀਰ ਆਦਕ ਕੌਮਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਮੰਨੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ ਤੇ ਇਸ ਦਾ ਨਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਸੀ। ਇਸਦਾ ਸਾਹਿਤ ਵੀ ਏਸ ਦਰਜੇ ਦਾ ਹੋ ਗਇਆ ਸੀ ਕਿ ਭਾਮਾਹ ਤੇ ਦੰਡੀ ਨੂੰ ਵੀ ਇਹ ਗਲ ਕਬੂਲਣੀ ਪਈ।

(੩) ਈਸਾ ਦੀ ੯ਵੀਂ ਸਦੀ ਤੋਂ ਇਹ ਆਭੀਰ, ਸਬਰ, ਚੰਡਾਲ ਜਾਤੀਆਂ ਦੀ ਹੀ ਭਾਖਾ ਨਹੀਂ ਮੰਨੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ ਬਲਕਿ ਵਿਚਾਲੀ ਸਰੇਣੀ ਤਥਾ ਹੋਰ ਸਭ (ਮੁਹੱਜ਼ਬ) ਪੁਰਖ ਵੀ ਏਸ ਵਿੱਚ ਗਲ ਬਾਤ ਕਰਦੇ ਸਨ। ਭਾਵੇਂ ਮੁਹੱਜ਼ਬ ਸਮਾਜ ਵਿੱਚ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਨੂੰ ਹੀ ਮੁੱਖ ਥਾਂ ਹਾਸਿਲ ਸੀ ਤੇ ਨਾਟਕਾਂ ਵਿੱਚ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਰਿਵਾਜ ਸੀ। ਦੂਜਿਆਂ ਲਫ਼ਜ਼ਾਂ ਵਿੱਚ ਇਹ ਆਮ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਹੋ ਗਈ ਸੀ। ਓਸ ਵੇਲੇ ਇਹ ਦੱਖਣ ਵਿਚ ਸਉਰਾਸ਼ਟਰ ਤੀਕ ਤੇ ਪੂਰਬ ਵਿੱਚ ਸ਼ੈਦ ਮਗਧ ਤੀਕ ਖਿਲਰੀ ਹੋਈ ਸੀ।

(੪) ੧੧ ਵੀਂ ਸਦੀ ਦੇ ਵਿਚਕਾਰ ਕਵੀ ਵੀ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਨੂੰ ਸਿਰਫ਼ ਇਕ ਸਾਹਿਤਿਕ ਭਾਖਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਬੋਲਚਾਲ ਦੀਆਂ ਕਈਆਂ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਕਬੂਲ ਹੇ ਸਨ। ਜਿਹਨਾਂ ਭੇਦਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਇਕ

ਭੇਦ ਸਹਿਤਿਕ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਉਨਤ ਹੋਇਆ ਸੀ।

ਇਹਨਾਂ ਖਾਸ ਗੱਲਾਂ ਦਾ ਏਕੀਕਰਣ ਆਭੀਰ (ਅਜਕਲ ਦੀ ਅਹੀਰ) ਜਾਤੀ ਦੇ ਬਿਥਾਰ (ਫੈਲਾ, ਖਿਲਾਰ, ਖਿੰਡਾ) ਤੋਂ ਠੀਕ ਬਹਿ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਜਿਹਨਾਂ ਦੇ ਕਾਰਨ ਹੀ ਦੇਸ ਦੀ ਬੋਲਚਾਲ ਦੀਆਂ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਵਿੱਚ ਅੰਤਰ (ਫ਼ਰਕ) ਪਇਆ ਸੀ। ਮਹਾਭਾਰਥ ਵਿੱਚ ਆਭੀਰ ਲੋਕੀ ਭਾਰਤ ਦੇ ਪੱਛਮੀ ਪ ਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਸਿੰਧੂ ਨਦੀ ਦੇ ਕੰਢੇ ਤੇ ਵਸਦੇ ਦੱਸੇ ਗਏ ਹਨ। ਮਨੂਸਿਮਰਤੀ (੧੦।੧੫) ਵਿਚ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਪਿਉ ਤੇ ਅੰਮਬਸ਼ਠ ਮਾਂ ਦੀ ਉਲਾਦ ਲਿਖਿਆ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਇਹਨਾਂ ਦਾ ਈਸਵੀ ਸਦੀ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਪੰਜ਼ਾਬ ਵਿਚ ਵਸਣਾ ਪਰਗਟ ਹੈ। ਈਸਾ ਦੀ ਦੂਜੀ ਤੇ ੩ ਜੀ ਸਦੀ ਦੇ ਸਿਲਾ ਲੇਖ ਵਿਚ ਵੀ ਇਹਨਾਂ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਹੈ। ਝਾਂਸੀ ਦੇ ਕੋਲ ਦਾ ਅਹਿਰਵਰ ਪਰਦੇਸ ਇਹਨਾਂ ਹੀ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਨਿਵਾਸ ਅਸਥਾਨ ਮਨਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਤੋਂ ਬਾਦ ੪ ਥੀ ਸਦੀ ਵਿਚ ਉਹ ਮਾਲਵੇ ਵਿਚ ਵੱਸ ਗਏ ਦੀਹਦੇ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਦਾ ਇਕ ਹਿੱਸਾ ਓਸ ਵੇਲੇ ਅਸਥਾਈ ਰੂਪ ਵਿਚ ਦਸ ਗਇਆ ਸੀ ਓਥੇ, ਤੇ ਰਾਜ ਕਰਨ ਲਗ ਪਇਆ ਸੀ। (ਭੰਡਾਰਕਰ ੪—ਐਨਥੋਵੇਨ, ਸਫ਼ਾ ੨੩) ਯੂ. ਪੀ. ਸੂਬੇ ਦੇ ਵਿਰਜ਼ਾਪੁਰ ਜ਼ਿਲੇ ਦਾ ਆਰੌਰ ਪਰਦੇਸ ਵੀ ਅੰਹੀਰਾਂ ਦਾ ਵਾਸ ਦੱਸਦਾ ਹੈ। ਇਸੇ ਵੇਲੇ ਅਪਭਰੰਸ਼—ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਵੀ ਉੱਨਤੀ ਹੋਣ ਲੱਗੀ ਸੀ ਕਿਉਂਕਿ ਉਪਰ ਦਸੇ ੬ ਵੀਂ ਸਦੀ ਦੇ ਵਿਦਵਾਨ ਇਹੋ ਹੀ ਦੱਸਦੇ ਹਨ। ਫੇਰ ਆਭੀਰ ਸਊਰਾਸ਼ਟਰ ਤੇ ਮਗਧ ਵਲ ਟੁਰ ਗਏ ਹੋਣਗੇ, ਤਾਹੀਓਂ ਤਾਂ ਓਥੇ ਵੀ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਦੀ ਪਰਧਾਨਤਾ ਹੋ ਗਈ ਸੀ। ਏਸ ਤਰਹਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਭਾਖਿਆ ਦਾ ਸਰਬੰਧ ਆਭੀਰ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਅਸਪਸ਼ਟ ਹੈ। ਅਸਲ ਵਿਚ ਇਹਨਾਂ ਦੀ ਉਤਪਤ ਇਹਨਾਂ ਤੋਂ ਹੋਈ ਖ਼ਿਆਲ ਕੀਤੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਈਸਵੀ ਸਨ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਵੀ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਹੋਂਦ ਮਿਲਦੀ ਹੈ।

(ਚਲਦਾ)

ਕਬੀਰ–ਕਾਲ ਦੀ ਹਿੰਦੀ *

ਅਜ ਜਿਸ ਭਾਖਿਆ ਨੂੰ ਲੈ ਕੇ ਓਸ ਦੇ ਨਾਂ ਦੇ ਸਨਬੰਧ ਵਿਚ ਬਿਵਾਦ ਕੀਤਾ ਜਾ ਰਹਿਆ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਉਰਦੂ ਹੈ ਕਿ ਹਿੰਦੀ, ਜਾਂ ਜਿਸ ਰਾੜ ਨੂੰ ਮੇਟਣ ਲਈ ਇਕ ਪੰਚ ਵਾਂਗਰ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਨੇ ਉਸ ਦਾ ਨਾਂ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨੀ ਰਖ ਦਿੱਤਾ ਹੈ, ਉਹ ਨਾ ਤਾਂ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਨਾਲ ਹੀ ਭਾਰਤਵਰਸ਼ ਵਿਚ ਜੰਮੀ ਨਾਂ ਹੀ ਮੁਸਲਮਾਨਾਂ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ-ਕਾਲ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਇਹ ਤਾਂ ਸਰਬਸਿਧ ਗਲ ਹੈ ਕਿ ਮੁਸਲ-ਮਾਨਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਵੀ ਤਾਂ ਭਾਰਤ ਦਾ ਜਨ-ਸਮੂਹ ਕੋਈ ਨ ਕੋਈ ਭਾਖਾ ਬੋਲਕੇ ਆਪਣਾ ਕੰਮ ਚਲਾਉਂਦਾ ਸੀ। ਕੋਈ ਉਹ ਅਨਪੜ੍ਹ (ਮੂਕ) ਤੇ ਪਸ਼ੂਆਂ ਵਰਗਾ (ਪਾਸ਼ਵਿਕ) ਜੀਵਨ ਬਿਤਾਉਣ ਵਾਲਾ ਸਮਾਜ ਤਾਂ ਹੈ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੀ ਉਹੀ ਭਾਖਾ ਮੂਲ ਕਰਕੇ ਹਿੰਦੀ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨੀ ਜਾਂ ਉਰਦੂ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ, ਤੇ ਵਾਸਤਵ ਵਿਚ ਗਲ ਐਉਂ ਹੀ ਹੈ।

ਏਥੇ ਬਿਸਥਾਰ ਨਾਲ ਇਹ ਦੱਸਣ ਦੀ ਲੋੜ ਨਹੀਂ ਕਿ ਅਸਲੀ ਮੌਲਿਕ ਵੈਦਿਕ ਭਾਖਾ ਤੋਂ ਕਿਵੇਂ ਦਰਜਾ ਬਦਰਜਾ ਕਰਮ ਵਾਰ (ਕ੍ਰਮਸ਼ਃ) ਵੇਦ ਭਾਖਾ, ਪਰਾਚੀਨ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ, ਪਰਾਚੀਨ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ, ਤੇ ਚਾਲੂ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੇ ਭਾਰਤ ਦੀਆਂ ਭਾਰਤੀ (ਦੇਸੀ – ਮੋਹਣਸਿੰਘ) ਭਾਖਿਆਂਵਾਂ ਦਾ ਵਿਗਾਸ ਹੋਇਆ ਜਿਹਨਾਂ ਨੂੰ ਭਾਖਸ਼ਾਸਤਰ ਦੇ ਜਾਣਨ-ਵਾਲਿਆਂ ਨੇ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼, ਸੌਰਸ਼ੈਨੀ, ਮਹਾਰਾਸ਼ਟਰੀ ਆਦਿਕ ਨਾਂ ਦੇਕੇ ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਪਰਚਾ (ਜਾਨਕਾਰੀ) ਕਰਾਇਆ ਹੈ। ਸਾਡਾ ਮਤਲਬ ਏਨਾ ਹੀ ਏਥੇ ਕਹਿ ਦੇਣ ਨਾਲ ਸਿੱਧ ਹੋ ਜਾਇਗਾ ਕਿ ਭਾਰਤਵਰਸ਼ ਤੇ ਉਸਦੇ ਸਿਰਿਆਂ ਦੇ ਵਧੇਰੇ ਸੂਬਿਆ ਦੀਆਂ ਵਰਤਮਾਨ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦਾ ਸਭ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾ

---

* ਮਾਧੁਰੀ, ਲਖਨਊ, ਅਗਸਤ ੧੯੩੯ ਵਿਚੋਂ ॥

(ਆਦਿਮ) ਰੂਪ ਵੈਦਿਕ ਭਾਖਾ ਜਾਂ ਤੱਜਨਜ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ-ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤ ਦੀ ਹੀ ਕੋਈ ਨਾ ਕੋਈ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਸੀ। ਇਹ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਸ਼ਬਦ ਭਾਖਾ ਵਿਕਾਸ ਸ਼ਾਸਤਰ ਦੇ ਇਤਿਹਾਸ ਵਿਚ ਬਿਸੇਖ ਮੱਹਤ ਰਖਦਾ ਹੈ, ਜਿਹਾ ਕਿ ਅੱਗੇ ਚੱਲ ਕੇ ਜ਼ਾਹਿਰ ਹੋਵੇਗਾ।

ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਵਿਚ ਅਰਬੀ–ਮੁਸਲਮਾਨਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਤੇ ਏਥੋਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਉਤੇ ਕੋਈ ਚੋੜਾ-ਡੂੰਘਾ ਅਸਰ ਨਹੀਂ ਪਇਆ ਜਾਪਦਾ। ਉਸਦਾ ਜੋ ਕੁਝ ਵੀ ਪਰਭਾਵ ਜਾਂ ਪਰਿਣਾਮ ਹੋਇਆ ਉਹ ਕੇਵਲ ਸਿੰਧ, ਬਲੋਚਿਸਤਾਨ (ਤੇ ਸ਼ਾਇਦ ਕੱਛ ਭੁੱਜ) ਸੂਬਿਆਂ ਤੀਕ ਹੀ ਮਹਿਦੂਦ (ਸੀਮਿਤ) ਰਹਿਆ। ਘਟ ਤੋਂ ਘਟ ਭਾਖਾ-ਸ਼ਾਸਤਰ ਦੀ ਤਵਾਰੀਖ਼ ਤੋਂ ਅਜੇਹੇ ਕਿਸੇ ਸਰਬ-ਭੌਮ ਇਤਿਹਾਸ ਦੀ ਸਾਖੀ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ ਜਿਸ ਦੇ ਸਹਾਰੇ ਕਹਿਆ ਜਾ ਸਕੇ ਕਿ ਅਰਬਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਨਾਲ ਓਸ ਵੇਲੇ ਦੀ ਆਮ ਬੋਲੀ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤ ਤੇ ਸਾਹਿਤਿਕ ਬੋਲੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਨਾਲ ਹੋਰਨਾਂ ਬਾਹਰਲੀਆਂ ਭਾਖਾਵਾਂ ਦਾ ਲੈਣ ਦੇਣ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇ । ਓਸ ਵੇਲੇ ਦੀ ਭਾਖਾ –ਚਾਲੂ ਬੋਲੀ ਤੇ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀ ਸਾਹਿਤਿਕ ਭਾਖਾ-ਦਾ ਕੋਈ ਖ਼ਾਸ ਨਾਂ ਵੀ ਨਹੀਂ ਸੁਣਿਆ ਜਾਂਦਾ । ਪਰ ਦਿੱਲੀ ਤੇ ਲਹੌਰ ਵਿਚ ਮੁਸਲਮਾਨਾਂ ਦੇ ਸਿੰਘਾਸਨਾਂ ਦੇ ਪ੍ਰਤਿਸਠਾਨ ਦੇ ਨਾਲ ਨਾਲ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਦੇ ਆਦਾਨ ਪ੍ਰਤਿਆਦਾਨ ਦਾ ਕਾਰਜ (ਖ਼ੁਦ ਬਖ਼ੁਦ ਜਾਂ ਅਸੁਭਾਵਿਕ ਰੂਪ ਨਾਲ ਹੀ) ਅਵੱਸ਼ ਹੋਣ ਲੱਗ ਪਇਆ। ਮੁਸਲਮਾਣ ਭਾਖਾ–ਤੱਤ ਜਾਣੂਆਂ ਨੇ ਵੇਖਿਆ ਕਿ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੀ ਸਾਧਾਰਣ ਪਰਜਾ ਕਿਵੇਂ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਸ਼ੁਧ ਅਰਬੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਸ਼ਬਦਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਉਚਾਰਣ ਦੁਆਰਾ ਭਰਿਸ਼ਟ ਕਰ ਰਹੀ ਹੈ। ਉਹਨਾਂ ਨੇ ਇਹ ਵੀ ਤੱਕਿਆ ਕਿ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦਾ ਇਹ ਭਰੰਸ਼ਨ ਉਸ ਜਨਤਾ ਦੇ ਦੁਆਰਾ ਹੀ ਬਿਸੇਖ ਰੂਪ ਨਾਲ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਜਿਹੜੀ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਸਹਿਯੋਗ ਕਰਕੇ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਸੰਸਰਗ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ; ਨਾਲੇ ਜਿਸਦੇ ਅਨੇਕ ਆਦਮੀਆਂ ਨੇ ਮੁਸਲਮਾਨੀ ਧਰਮ ਵੀ

ਅੰਗੀਕਾਰ ਕਰ ਲਇਆ ਹੈ। ਹੁਣ ਉਹਨਾਂ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਇਹ ਸਵਾਲ ਸੀ ਕਿ ਉਹ ਉਸ ਭਾਖਿਆ ਦਾ ਕੀ ਨਾਂ ਰਖਣ। ਇਸ ਭਾਖਾ ਨੂੰ ਉਹ ਗ਼ੁਲਾਮਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ (Vernacular) ਜਾਂ ਇਸੇ ਭਾਵ ਦਾ ਵਿਅੰਜਕ ਕੋਈ ਹੋਰ ਨਾਂ ਦੇ ਕੇ ਅਭਿਹਿਤ ਨਹੀਂ ਸਨ ਕਰ ਸਕਦੇ ਕਿਉਂਕਿ ਇਸ ਦੇ ਬੋਲਣ ਵਾਲੇ ਅਨੇਕ ਮੁਸਲਮਾਨ ਵੀ ਤਾਂ ਸਨ ਤੇ ਕੋਈ ਮੁਸਲਮਾਨ ਧਰਮ ਸ਼ਾਸਤਰ ਅਨੁਸਾਰ ਗ਼ੁਲਾਮ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸੱਕਦਾ। ਇਸੇ ਲਈ ਉਹਨਾਂ ਨੇ ਇਸ ਭਾਖਾ ਨੂੰ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਕਹਿਆ । ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਸ਼ਬਦ ਦਾ ਪਰਿਆਇ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਰੇਖ਼ਤਾ ਹੈ । ਫ਼ਾਰਸੀ ਧਾਤੂ (ਮਸਦਰ) ਰੇਖ਼ਤਨ, ਰੇਜ਼ੀਦਨ – ਡੇਗਣਾ, ਬਣਾਉਣਾ, ਤੇ ਭ੍ਰੰਸ਼ ਦਾ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਧਾਤੂ ਭ੍ਰਿਸ਼ੁ, ਭ੍ਰੰਸ਼ ਅਧ - ਪਤਨੇ = ਹੇਠਾਂ ਡੇਗਣਾ । ਨਾਲ ਹੀ ਇਹਨਾਂ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਨੇ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੀ ਅਸਲੀ ਭਾਖਾ ਨੂੰ ਤੇ ਏਥੋਂ ਦੀਆਂ ਸੂਬੇਈ ਭਾਖਿਆਵਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਹਿੰਦੀ ਜਾਂ "ਹਿੰਦਵੀ" ਦੇ ਨਾਂ ਨਾਲ ਹੀ ਅਭਿਹਿਤ ਕੀਤਾ। ਲਗਭਗ ੧੪ ਵੀਂ ਸਦੀ ਵਿਚ ਅਮੀਰ ਖ਼ੁਸਰੋਂ ਨੇ ਲਿਖਿਆ ਸੀ :

ਹਸਤ ਦਵਮ ਆਂਕਿ ਜ਼ਿ ਹਿੰਦ ਆਦਮਿਯਾਂ।
ਜੁਮਲਾ ਬਗੋਬੰਦ ਬਾਂਹਾਂ ਬੇਬਯਾਂ (?)।
ਲੇਕ ਅਜ਼ ਅਕਸਾਇ ਦਿਗਰ ਹਰਕਸੇ।
ਗੁਫ਼ਤ ਨਯਾਰਦ ਸਖ਼ੁਨੇ ਹਿੰਦ ਬਸੇ॥
ਹਸਤਰ ਖ਼ਤਾ ਵ ਮੁਗ਼ਲ ਵ ਤੁਰਕ ਵ ਅਰਬ।
ਦਰ ਸਖ਼ੁਨੇ ਹਿੰਦਵੀ ਮਾ ਦੋਖ਼ਤਾ ਲਬ॥

ਮਸਨਵੀ ਨੂਰਿ ਸਿਪੇਹਰ।

ਇਸਦਾ ਅਭਿਪਰਾ ਇਹੀ ਹੈ ਕਿ ਭਾਰਤਵਰਸ਼ ਦੇ ਲੋਕੀ ਹਰੇਕ ਦੇਸ ਦੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਉਚਾਰਣ ਸਰਲਤਾ ਨਾਲ ਕਰ ਲੈਂਦੇ ਹਨ। ਓਥੋਂ ਦੀਆਂ ਭਿੰਨ ਭਿੰਨ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਬੋਲ ਸਕਦੇ ਹਨ । ਪਰ "ਹਿੰਦਵੀ" ਭਾਖਾ

ਦੀ ਇਹ ਵਿਲਖਣਤਾ ਹੈ ਕਿ ਇਸ ਭਾਖਾ ਨੂੰ ਹੋਰ ਦੇਸ ਵਾਲੇ ਨਹੀਂ ਬੋਲ ਸਕਦੇ। ਸਾਫ਼ ਤੌਰ ਤੇ ਇਹ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੇ ਕਠਿਨ ਉਚਾਰਣਾਂ ਵਲ ਖ਼ੁਸਰੋ ਦਾ ਇਸ਼ਾਰਾ ਹੈ। ਅਜਕਲ ਦੇ ਯੋਰਪ ਦੇ ਵਡੇ ਵਡੇ ਵਿਦਵਾਨ ਪ੍ਰੋਫ਼ੈਸਰ ਤੇ ਆਚਾਰਜ ਵੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਸੁਧ ਉਚਾਰਣ ਕਰਦੇ ਨਹੀਂ ਵੇਖੇ ਜਾਂਦੇ। ਇਸੇ ਕਠਨਾਈ ਨੂੰ ਉਹ ਤਤਕਾਲੀਨ ਅਰਬ, ਈਰਾਨ, ਤੂਰਾਨ ਆਦਿਕ ਦੇਸਾਂ ਦੇ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਵੀ ਵੇਖਦਾ ਸੀ ਤੇ ਏਸ ਲਈ ਉਸਨੇ ਇਸਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ।

ਖ਼ੁਸਰੋ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੋਂ ਜੰਮੀਆਂ ਬੰਗਾਲੀ, ਗੁਜਰਾਤੀ, ਸਿੰਧੀ, ਪੰਜਾਬੀ ਆਦਿਕ ਪਰਾਂਤਿਕ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਤੋਂ ਵੀ ਪਰਿਚਿਤ ਸੀ ਜਿਹੜੀਆਂ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੇ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼, ਦੇਸ਼ਜ ਜਾਂ ਤਤਸਮ ਸ਼ਬਦਾਂ ਦੇ ਮੇਲ ਨਾਲ ਬਣੀਆਂ ਸਨ, ਅਥਵਾ ਬਣ ਰਹੀਆਂ ਸਨ, ਪਰ ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਉੱਲੇਖ ਉਹ "ਹਿੰਦਵੀ" ਅਰਥਾਤ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੋਂ ਅਲਗ ਕਿਟਦਾ ਵਾਲੇ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਓਸੇ ਪੁਸਤਕ ਨੂਰਿ ਸਿਪੇਹਰ ਵਿਚ ਉਸਨੇ ਹਿੰਦ ਦੇ ਸੂਬਿਆਂ ਦੇ ਤੇ ਪਰਾਂਤੀ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਦੇ ਨਾਂ ਇਸ ਪਰਕਾਰ ਗਿਣਾਏ ਹਨ :

ਸਿੰਧੀ – ਸਿੰਧ ਸੂਬੇ ਦੀ ਬੋਲੀ
ਲਾਹੌਰੀ – ਪੰਜਾਬ (ਲਾਹੌਰ – ਮੋਹਣ ਸਿੰਘ)
ਸੂਬੇ ਦੀ ਬੋਲੀ
ਕਸ਼ਮੀਰਾ – ਕਸ਼ਮੀਰ ਦੀ
ਬੰਗਾਲੀ – ਬੰਗਾਲ ਦੀ
ਗੌੜੀ – ਪਛਮੀ ਬੰਗਾਲ ਤੇ ਬਿਹਾਰ ਦੀ
ਗੁਜਰਾਤੀ – ਗੁਜਰਾਤ ਸੂਬੇ ਦੀ
ਤਿਲੰਗੀ – ਤ੍ਰਿਕਲਿੰਗ ਸੂਬੇ ਦੀ
ਮਾਬਰੀ – ਕਰਨਾਟਕ ਸੂਬੇ ਦੀ
ਧੁਰ ਸਮੰਦੀ – ਦੁਾਰ ਸਮੁਦ੍ਰ ਜਾਂ ਕਾਰੋਮੰਡਲ ਤਟ ਦੀ

ਅਵਧੀ – ਅਵਧ ਪ੍ਰਾਂਤ ਦੀ
ਤੇ ਦੇਹਲਵੀ – ਦੇਹਲੀ ਪ੍ਰਾਂਤ ਦੀ ਭਾਖਾ

ਉਤੇ ਆਏ ਦੇਹਲਵੀ ਸ਼ਬਦ ਉੱਤੇ ਅੱਗੇ ਚਲ ਕੇ ਪਰਕਾਸ਼ ਪਾਵਾਂਗੇ।

ਅਮੀਰ ਖ਼ੁਸਰੋ ਨੇ ਆਪਣੇ ਇਕ ਹੋਰ ਗ੍ਰੰਥ ਵਿਚ ਵੀ ਹਿੰਦਵੀ ਦੀ ਇਹ ਵੀ ਇਕ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਦੱਸੀ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਵਿਚ ਹੋਰ ਕਿਸੇ ਭਾਖਾ ਦਿਆਂ ਸ਼ਬਦਾ ਦਾ ਮੇਲ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦਾ, ਉਹ ਬਿਲਕੁਲ ਸੁਧ ਹੈ, ਇਸ ਤੋਂ ਵੀ ਇਹ ਸਪਸਟ ਹੈ ਕਿ ਅਮੀਰ ਖ਼ੁਸਰੋ ਦੀ ਹਿੰਦਵੀ ਹਿੰਦ ਦੀ ਅਸਲੀ ਤੇ ਪਰਾਚੀਨ ਭਾਖਾ ਹੈ ਜਿਹੜੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੋਂ ਭਿੰਨ ਹੋਰ ਕੁਝ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਉਪਰਲੇ ਕਥਨ ਤੋਂ ਇਹ ਜ਼ਾਹਿਰ ਹੈ ਕਿ ਭਾਖਾ ਦੇ ਸਵਾਲ ਨੂੰ ਉਹ ਦੋ ਵਖਰੇ ਵਖਰੇ ਪਰ ਬਿਉਹਾਰ ਉਪਯੋਗੀ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਕੋਣਾਂ ਨਾਲ ਵਿਚਾਰਦਾ ਸੀ, ਦੇਸ਼ ਦੀ ਸਰਬ ਬਿਆਪੀ ਜਾਂ ਸਾਰਵਭੌਮ ਭਾਖਾ (ਜਿਸ ਨੂੰ ਅਜਕਲ Lingua Franca ਜਾਂ ਸ਼ੁਧ ਅਰਥਾਂ ਵਿਚ Lingua Indica ਕਹਿਣਾ ਠੀਕ ਹੋਵੇਗਾ) ਦੇ ਨਾਤੇ ਨਾਲ ਉਹ ਇਸ ਦੇਸ ਦੀ ਭਾਖਾ ਨੂੰ ਹਿੰਦਵੀ ਸਵੀਕਾਰ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਅਸੀਂ ਫਿਰ ਕਹਿਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਭਾਖਾ ਦੇ ਪਰਚਾਰ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਤਾਂ ਏਕਾਂਤ ਰੂਪ ਵਿਚ ਤੇ ਹੁਣ ਵੀ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਨਾ ਜਾਣਨ ਵਾਲਿਆਂ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਲਈ ਵੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਹੀ ਇਕ ਅਜੇਹੀ ਭਾਖਾ ਹੈ ਜਿਸ ਨੂੰ ਹਿੰਦੀ ਜਾਂ ਦੇਸ ਦੀ ਸਾਰਵਭਮ ਭਾਖਾ ਕਹਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ, ਏਸ ਲਈ ਇਹ ਕਹਿਣਾ ਉਚਿਤ ਹੀ ਹੈ ਕਿ ਹਿੰਦਵੀ ਸ਼ਬਦ ਤੋਂ ਖ਼ੁਸਰੋ ਦਾ ਮਤਲਬ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਭਾਖਾ ਹੀ ਹੈ। ਦੇਸ ਦੇ ਭਿੰਨ ਭਿੰਨ ਸੂਬਿਆਂ ਦੀਆਂ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਹੀ ਅਜ-ਕਲ ਦੀਆਂ ਪ੍ਰਾਂਤੀ ਬੋਲੀਆਂ ਦੇ ਪਰਾਚੀਨ ਰੂਪ ਸਨ। ਇਹਨਾਂ ਪ੍ਰਾਂਤੀ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਵਿਚੋਂ ਇਕ ਭਾਖਾ ਦੇਹਲਵੀ ਸੀ। 'ਰੇਖ਼ਤਾ' ਦਾ ਜਨਮ ਉਸ ਵੇਲੇ ਤੀਕ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ ਹੋਣਾ, ਅਰਥਾਤ ਫ਼ਾਰਸ ਦੇ ਮਾਨਦੰਡ ਤੋਂ ਭ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਅਰਬੀ ਬੋਲਣ ਵਾਲੀ ਜਨਤਾ ਜਾਂ ਗੋਰੇਸ਼ਾਹੀ

ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਦਾ ਬਿਉਹਾਰ ਕਰਨ ਵਾਲਾ ਜਨ-ਸਮੂਹ ਉਸ ਵੇਲੇ ਮਹੱਤ ਨਹੀਂ ਪ੍ਰਾਪਤ ਕਰ ਸਕਿਆ ਹੋਣਾ।

ਪਰ ਇਕ ਅਜਿਹਾ ਸਮਾਂ ਆਇਆ ਕਿ ਭਾਰਤਵਰਸ਼ ਵਿਚ ਵੀ ਫ਼ਾਰਸੀ - ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੇ ਅਨੁਕਰਣ ਤੇ ਸਾਹਿਤ ਤਿਆਰ ਕੀਤਾ ਜਾਣ ਲਗਾ ਤੇ ਭਰਿਸ਼ਟੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਭਾਖਾ ਜਾਂ ਗੋਰੇਸ਼ਾਹੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਬਿਉਹਾਰ ਵਿਚ ਆਉਣ ਲੱਗੀ। ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਫ਼ਾਰਸੀ ਜਾਂ ਇਸ ਭਾਖਾ ਦੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ (ਤਹਿਜ਼ੀਬ) ਤੋਂ ਜੀਵਨ ਲੈਣ ਵਾਲਿਆਂ ਦੇਸ਼ਾਂ ਤੇ ਰਾਸ਼ਟਰਾਂ ਦੀ ਪਰਜਾ ਏਥੇ ਆਕੇ ਵਧੇਰੇ ਵੱਸਣ ਲੱਗੀ, ਤਿਉਂ ਤਿਉਂ ਏਥੇ ਫ਼ਾਰਸੀ-ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ ਦੀ ਨਕਲ ਹੋਣ ਲਗੀ। ਏਥੇ ਆਉਣ ਵਾਲਿਆਂ ਵਿਚ ਓਂਤਾਂ ਵਿਦਵਾਨ, ਪੰਡਿਤ, ਵੈਦ, ਕਵੀ, ਬਪਾਰੀ ਆਦਿਕ ਸਾਰੇ ਹੀ ਸਨ, ਪਰ ਜ਼ਿਆਦਾ ਤੈਦਾਦ ਹੁੰਦੀ ਸੀ, ਅਨਪੜ੍ਹ ਤੇ ਅਧਪੜ੍ਹੇ ਫ਼ੌਜੀਆਂ ਦੀ, ਕੁਲੀਆਂ ਦੀ, ਗ਼ਰੀਬ ਤੇ ਯਤੀਮ ਨੌਜਵਾਨਾਂ ਦੀ ਤੇ ਬੇ-ਆਸਰਾ ਮੰਗਤਿਆਂ ਦੀ। ਅਜਕਲ ਵੀ ਤਾਂ ਬਿਦੇਸਾਂ ਵਿਚ ਜਾਕੇ ਜੀਵਕਾ ਚਲਾਉਣ ਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਸੰਖਿਆ ਦਾ ਅਨੁਪਾਤ ਇਸੇ ਤਰਹਾਂ ਦਾ ਹੈ। ਅਜੇਹੇ ਲੋਕੀ ਫ਼ਾਰਸੀ–ਸੰਸਕ੍ਰਿਤੀ ਨੂੰ ਸੁਧ ਰੂਪ ਵਿਚ ਕਦੇ ਨਹੀਂ ਰਖ ਤੇ ਵਧਾ ਸਕਦੇ ਸਨ। ਫਿਰ ਜਿਹਨਾਂ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਤੇ ਕਵੀਆਂ ਨੇ ਭਾਰਤ ਵਰਸ਼ ਵਿਚ ਆ ਕੇ ਆਸਰਾ ਗ੍ਰਹਿਣ ਕਰ ਲੀਤਾ ਸੀ, ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਘਣਾ ਸਨਬੰਧ ਵੀ ਫ਼ਾਰਸ ਦੇ ਵਿਦਵਤ – ਸਮਾਜ ਨਾਲੋਂ ਛੁਟ ਗਇਆ ਸੀ ਤੇ ਉਹ ਅਨੁਕਰਣ ਕਰਦੇ ਸਨ ਓਸੇ ਫ਼ਾਰਸੀ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਦਾ। ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਚੇਲੇ ਤੇ ਪੁਤਰ ਪੋਤਰੇ ਆਦਿਕ ਤਾਂ ਫ਼ਾਰਸ ਦੀ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਤੋਂ ਪਰਤੱਖ ਰੂਪ ਵਿਚ ਸ਼ਾਇਦ ਹੀ ਕਦੇ ਜਾਣੂ ਹੋਣ ਦਾ ਔਸਰ ਪਰਾਪਤ ਕਰਦੇ ਜਾਂ ਕਰ ਸਕਦੇ ਸਨ। ਨਤੀਜਾ ਇਹ ਕਿ ਫ਼ਾਰਸੀ–ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਦਾ ਭਾਰਤੀ ਰੂਪ ਈਰਾਨੀ ਰੂਪ ਸੀ, ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਭੱਦਾ ਤੇ ਘਟੀਆ ਹੋ ਚਲਿਆ ਸੀ। ਇਹ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਰੂਪ ਸੀ ਜਿਹੜਾ ਕਾਵਜ ਭਾਰਤ ਵਰਸ਼ ਵਿਚ ਫ਼ਾਰਸ ਦੇ ਕਾਵ ਦੇ

ਅਨੁਕਰਣ ਵਿਚ ਰਚਿਆ ਗਇਆ, ਜਿਹੜਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਗਰੰਥ ਲਿਖਿਆ ਗਇਆ, ਉਸਨੂੰ ਈਰਾਨ ਦਿਆਂ ਗਰੰਥਾਂ ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਘਟੀਆ ਹੀ ਨਹੀਂ ਥਾਪਿਆ ਗਇਆ, ਸਗੋਂ ਨਫ਼ਰਤ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਨਾਲ ਵੇਖਿਆ ਗਇਆ। ਏਸੇ ਲਈ ਭਰਿਸ਼ਟ ਜਾਂ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਅਰਥਾਤ ਰੇਖ਼ਤਾ ਵੀ ਕਹਿ ਦਿਤਾ ਗਇਆ। ਮੀਰ ਨੇ ਸਾਫ਼ ਲਿਖਿਆ ਹੈ :

ਰੇਖ਼ਤਾ ਕਿ ਸ਼ੇਅਰਸਤ ਬਤੌਰਿ ਸ਼ੇਅਰਿ ਫ਼ਾਰਸੀ ਬ ਜ਼ਬਾਨਿ ਉਰ-ਦੂਇ ਮੁਅੱਲਾਇ ਬਾਦਸ਼ਾਹਿ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ (ਜ਼ਿਕਰਿ ਮੀਰ, ਸਫ਼ਾ ੬੩)। ਅਰਥਾਤ ਰੇਖ਼ਤਾ ਉਸ ਕਾਵ ਨੂੰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਜਿਹੜਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਕਾਵ ਦੇ ਅਨੁਸਰਣ ਵਿਚ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦਿਆਂ ਬਾਦਸ਼ਾਹਵਾਂ ਦੇ ਸੈਨਿਕਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਰਚਿਆ ਜਾਂਦਾ ਸੀ। ਇਹ ਬਾਦਸ਼ਾਹੀ ਲਸ਼ਕਰ ਦੇ ਸੈਨਿਕ ਕੌਣ ਹੁੰਦੇ ਸਨ, ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਭਾਖਾ ਕੀ ਸੀ, ਉਸ ਨੂੰ ਫਿਰ ਵਿਸਥਾਰ ਨਾਲ ਕਹਿਣ ਦੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਨਹੀਂ।

ਹੁਣ ਦੇਹਲਵੀ ਜਾਂ ਦੇਹਲੀ ਸੂਬੇ ਦੀ ਭਾਖਾ ਉਤੇ ਧਿਆਨ ਕਰੋ। ਅਬੁਲਫ਼ਜ਼ਲ ਨੇ ਵੀ ਪ੍ਰਾਂਤੀ ਭਾਖਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਦੇਹਲਵੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕੀਤਾ ਹੈ (ਆਈਨਿ ਅਕਬਰੀ, ਭਾਗ ੩, ਸਫ਼ਾ ੪੫, ਨਵਲ ਕਿਸ਼ੋਰ ਪ੍ਰੈਸ ਦਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਐਡੀਸ਼ਨ)।

ਓਸ ਸਮੇਂ ਵੀ ਇਸ ਉਰਦੂ ਸ਼ਬਦ ਦਾ ਜਨਮ ਭਾਖਾ–ਵਾਚਕ ਅਰਥ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਸੀ ਹੋਇਆ। ਦਰਬਾਰ ਵਿਚ ਰਾਜਕੀ ਭਾਖਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਮੰਨੀ ਜਾਂਦੀ ਸੀ ਤੇ ਰੇਖ਼ਤਾ ਦਾ ਕੋਈ ਮਹੱਤ ਪੂਰਣ ਅਸਥਾਨ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਹਾਂ, "ਹਿੰਦਵੀ", ਐਉਂ ਜਾਪਦਾ ਹੈ, ਮੁਸਲਮਾਨ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿਚ ਆਪਣਾ ਅਸਥਾਨ ਛੋੜ ਚੁਕੀ ਸੀ ਕਿਉਂਕਿ ਅਬੁਲ ਫ਼ਜ਼ਲ ਜਿਹਾ ਲੇਖਕ ਵੀ ਸਾਰਵਦੇਸ਼ਿਕ ਭਾਖਾ ਦਾ ਵਿਵਰਣ ਦੇਣ ਦੇ ਪਰਸੰਗ ਵਿਚ ਇਸਦਾ ਨਾਮ ਨਹੀਂ ਲਿਖਦਾ। ਇਸਦੇ ਉਲਟ ਉਹ ਇਹੀ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦਿਆਂ ਸੂਬਿਆਂ ਦੀਆਂ ਭਿੰਨ ਭਿੰਨ

ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਅਲਗ ਅਲਗ ਹੋਣ ਤੇ ਵੀ ਪਰਸਪਰ ਤੇ ਅਧਿਕਤਾ ਨਾਲ ਇਤਨੀਆਂ ਮਿਲਦੀਆਂ – ਜੁਲਦੀਆਂ ਹਨ ਕਿ ਸਾਧਾਰਣ ਤੌਰ ਤੇ ਸਮਝ ਲੀਤੀਆਂ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ। ਪਰ ਸਚ ਗਲ ਤਾਂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਦੇਹਲੀ ਸੂਬੇ ਦੀ ਦੇਹਲਵੀ ਜ਼ਬਾਨ ਹੀ ਉਹ ਭਾਖਾ ਸੀ ਜਿਹੜੀ ਓਸ ਵੇਲੇ ਖੜੀ ਬੋਲੀ ਜਾਂ ਹਿੰਦੀ ਦਾ ਪਹਿਲਾ (ਪੂਰਬ) ਰੂਪ ਸੀ, ਨਾਲੇ ਜਿਹੜੀ ਬਿਦੇਸੀ ਰਾਜ ਕਰਮਚਾਰੀਆਂ ਦੇ ਪਰਭਾਵ ਦੇ ਕਾਰਨ ਓਸ ਵਾਸਤਵਿਕ ਹਿੰਦੀ ਤੋਂ ਦੂਰ ਹੁੰਦੀ ਜਾ ਰਹੀ ਸੀ, ਜਿਸ ਵਿਚ ਬਿਦੇਸੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਮੇਲ, ਖ਼ੁਸਰੋ ਦੇ ਕਥਨ ਅਨੁਸਾਰ ਅਸੰਭਵ ਸੀ ਤੇ ਜਿਸ ਦਾ ਉਚਾਰਣ ਵੀ ਬਿਦੇਸੀਆਂ ਦੇ ਲਈ ਇਕ ਮੁਸ਼ਕਲ ਮਸਲਾ ਸੀ। ਇਹ ਕਬੂਲ ਕੀਤਾ ਜਾਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਕਿ ਹਿੰਦਵੀ ਵਿਚ ਇਹ ਪਰਿਵਰਤਨ ਬਿਦੇਸੀਆਂ ਖ਼ਾਸ ਕਰ ਮੁਸਲਮਾਣਾਂ ਦੇ ਪਰਭਾਉ ਤੇ ਸੰਸਰਗ ਦੇ ਕਾਰਨ ਨਹੀਂ ਸਨ ਹੋਏ ਬਲਕਿ ਭਾਖਾ ਵਿਕਾਸ ਦਿਆਂ ਸਿਧਾਂਤਾ ਦੇ ਅਨੁਸਾਰ, ਬੋਲੀ ਸੁਗਮ ਤੇ ਸਰਲ ਬਣਾਈ ਜਾਣ ਦੇ ਕਾਰਨ ਵੀ ਹੋਏ ਸਨ। ਅਰਾਜਕਤਾ ਦੇ ਸਮੇਂ ਵਿਚ ਸੁਧ ਹਿੰਦਵੀ ਦੇ ਪੜ੍ਹਨ ਪੜ੍ਹਾਣ ਦੀ ਬਿਵਸਥਾ ਇਤਨੀ ਪੱਕੀ ਤੇ ਸਰਬ ਬਿਆਪੀ ਨ ਰਹਿ ਸਕੀ ਕਿ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ-ਭਾਖਾ ਦਾ ਪਰਚਾਰ ਸਾਰਵ ਭੌਮ (ਆਲਮ ਗੀਰ) ਰੂਪ ਵਿਚ ਦੇਸ ਭਰ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦਾ। ਸਿਟਾ ਇਹ ਨਿਕਲਿਆ ਕਿ ਅਪਭ੍ਰੰਸ ਸ਼ਬਦਾ ਦੀ ਜ਼ਿਆਦਤੀ ਹੋਰ ਵੀ ਜ਼ਿਆਦਾ ਜਲਦੀ ਨਾਲ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਇਕ ਅਜੇਹੀ ਭਾਖਾ ਤਿਆਰ ਹੋਣ ਲਗੀ ਜਿਹੜੀ ਪੁਰਾਣੀ ਪ੍ਰਾਕ੍ਰਿਤ, ਅਪਭ੍ਰੰਸ ਤੇ ਸ਼ੌਰਸੇਨੀ ਤੋਂ ਕਈਆਂ ਗੱਲਾਂ ਵਿਚ ਵਖਰੀ ਸੀ। ਮੁਸਲਮਾਣੀ ਜਨਤਾ ਦੇ ਸੰਸਰਗ ਦੇ ਕਾਰਨ, ਪੁਰਾਣੀ ਸ਼ਾਸਤਰੀ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਤੇ ਸ਼ੌਰਸੇਨੀ ਆਦਿਕ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਤਾਂ ਕੇਵਲ ਪੁਸਤਕ ਦੀਆਂ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਰਹਿ ਗਈਆਂ ਤੇ ਇਹ ਨਵੀਂ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਭਾਖਾ ਆਪਣੇ ਦੋ ਸੂਬਿਆਂ ਵਿਚ ਸੁਤੰਤਰ ਰੂਪ ਨਾਲ ਦੇਹਲਵੀ ਜਾਂ ਰੇਖ਼ਤਾਂ ਦੇ ਨਾਂ ਥਲੇ ਵਧਣ ਫੱਲਣ ਲਗੀ। ਦੋਵੇਂ ਹੀ ਮੁਲੋਂ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਸਨ, ਪਰ ਉਹਨਾਂ ਵਿਚ

ਇਕ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੀ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਸੀ, ਦੂਸਰੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਦੀ । ਇਕ ਉੱਤੇ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੀ ਤੇ ਪੁਰਾਣੀ ਭਾਰਤੀ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਦੀ ਛਾਪ ਸੀ ਤੇ ਦੂਜੀ ਉਤੇ ਫ਼ਾਰਸੀ ਦੀ। ਪਰ ਪੁਰਾਣੀ ਈਰਾਨੀ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਨਾਲ ਇਸ ਛਾਪ ਦਾ ਕੋਈ ਸਨਬੰਧ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਭਾਵੇਂ ਸ਼ਾਹਨਾਮਾ ਆਦਿਕ ਗਰੰਥ ਈਰਾਨ ਦੇ ਪਰਾਚੀਨ ਇਤਿਹਾਸ ਦੀ ਪ੍ਰਤਿਸ਼ਠਾ ਵਿਚ ਰਚੇ ਗਏ ਸਨ, ਤਦ ਵੀ ਉਹਨਾਂ ਵਿਚ ਆਤਮਾ ਬੋਲਦੀ ਸੀ ਬਗ਼ਦਾਦ ਤੇ ਅਰਬ ਦੀ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਦੀ। ਅਰਬ - ਬਿਜੈ ਦੇ ਮਗਰੋਂ ਈਰਾਨ ਅਸਲ ਵਿਚ ਆਪਣਾ ਸਭ ਕੁਝ ਗੰਵਾ ਚੁਕਿਆ ਸੀ। ਉਹ ਮਾਨਸਿਕ ਤੇ ਆਤਮਿਕ ਰੂਪ ਵਿਚ ਗ਼ੁਲਾਮ ਬਣ ਗਇਆ ਸੀ।

ਵਰਤਮਾਨ ਹਿੰਦੀ ਜਾਂ ਖੜੀ ਬੋਲੀ ਹੀ ਉਸ ਦੇਹਲਵੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਓਹ ਵਿਕਸਿਤ ਰੂਪ ਹੈ ਜਿਸ ਨੂੰ ਲੈ ਕੇ ਅਜ ਹਿੰਦੀ ਉਰਦੂ ਦਾ ਝਗੜਾ ਖੜਾ ਕੀਤਾ ਗਇਆ ਹੈ। ਇਹ ਤਾਂ ਠੀਕ ਹੈ ਹੀ ਕਿ ਮੁਸਲਮਾਨੀ ਸ਼ਾਸਨ ਦੇ ਕਾਫ਼ੀ ਦੇਰ ਤੀਕ ਰਹਿਣ ਤੇ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦੁਆਰਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਨੂੰ ਅਦਾਲਤੀ ਭਾਖਾ ਕਬੂਲਣ ਦੇ ਕਾਰਨ, ਇਸ ਦਹਲਵੀ ਵਿਚ ਫ਼ਾਰਸੀ, ਅਰਬੀ, ਤੁਰਕੀ ਆਦਿਕ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਦੇ ਸ਼ਬਦ ਵੀ ਕਸਰਤ ਨਾਲ ਮਿਲਣ ਲਗ ਪਏ। ਸਚ ਤਾਂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਜਦ ਹਿੰਦੂਆਂ ਨੇ ਅੰਗਰੇਜ਼ਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਤੋਂ ਠੀਕ ਪਹਿਲਾਂ ਆਪਣੇ ਪੁਨਰ ਉਤਥਾਨ (ਫੇਰ ਉਠਣ) ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਸੀ ਤਾਂ ਰਾਸ਼ਟਰੀ ਤਥਾ ਰਾਜਨੀਤਿਕ ਦਰਿਸ਼ਟੀ ਨਾਲ ਵੀ ਉਹਨਾਂ ਮੁਸਲਮਾਨ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦਾ ਸਹਯੋਗ ਪਰਾਪਤ ਕਰਨ ਲਈ ਧਾਰਮਿਕ ਕਠੋਰਤਾ ਨੂੰ ਕੰਮ ਕੀਤਾ, ਅਸਹਯੋਗ ਦੀ ਨੀਤੀ ਸ਼ਿਥਿਲ ਕਰ ਦਿਤੀ, ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਅਨੇਕ ਧਾਰਮਿਕ, ਰਾਜਨਿਤਿਕ, ਬਿਉਹਾਰ ਤੇ ਜੁੱਧ–ਬਿਗਿਆਨ ਸਨਬੰਧੀ ਸ਼ਬਦਾ ਨੂੰ ਕਬੂਲਿਆ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਅਸਥਾਨ ਦਿੱਤਾ। ਇਕ ਤਰਹਾਂ ਨਾਲ ਐਉਂ ਹੋਣਾ ਅਨਿਵਾਰਜ ਵੀ ਸੀ,

ਅਜਕਲ ਅਸੀਂ ਵੇਖਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਇਸ ਸ਼ਾਂਤੀ ਦੇ ਸਮੇਂ ਵਿਚ ਵੀ ਅਸਾਡੀ ਬੋਲਚਾਲ ਦੀ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਅਦਾਲਤਾਂ, ਡਾਕਖ਼ਾਨਿਆਂ, ਡਾਕਟਰੀ, ਰੇਲ–ਤਾਰ ਤੇ ਮੇਲੇ-ਤਮਾਸ਼ਿਆਂ ਦੁਆਰਾ ਯੋਰਪੀਨ ਭਾਖਾਂਵਾਂ ਦੇ ਅਨੇਕ ਲਫ਼ਜ਼ ਐਉਂ ਅਸਥਾਨ ਪਾਂਦੇ ਜਾ ਰਹੇ ਹਨ ਕਿ ਉਹ ਪਿੰਡਾਂ ਤੀਕ ਵਿਚ ਜਾ ਪਹੁੰਚੇ ਹਨ। ਜਹਾਂਗੀਰ, ਸ਼ਾਹਜਹਾਂਨ ਤੇ ਔਰੰਗਜ਼ੇਬ ਦੀਆਂ ਲੰਮੀਆਂ ਹਕੂਮਤਾਂ ਦਾ ਵੀ ਏਹੋ ਜੇਹਾ ਹੀ ਨਤੀਜਾ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇਗਾ।

ਇਸ ਵਰਤਮਾਨ ਖੜੀ ਬੋਲੀ ਜਾਂ ਹਿੰਦੀ ਦਾ ਇਕ ਛੋਟਾ ਜੇਹਾ ਲੇਖ ਹਾਲ ਵਿਚ ਇਕ ਫ਼ਾਰਸੀ ਪੁਸਤਕ ਦੁਆਰਾ ਪਰਾਪਤ ਹੋਇਆ ਹੈ, ਜਿਸ ਨਾਲ ਸਾਡੇ ਉਤਲੇ ਕਥਨ ਦੀ ਸਿੱਧੀ ਹੋਵੇਗੀ। ਸਈਅਦ ਸੁਲੇਮਾਨ ਨਦਵੀ ਨੇ ਆਪਣੇ ਦੋਸਤ ਹਕੀਮ ਅਬਦੁਲ ਅਜ਼ੀਜ਼ ਮਸ਼ਰਿਕੀ (ਜਲੰਧਰ) ਦੇ ਹਥ-ਪੁਸਤਕਾਂ ਦੇ ਭੰਡਾਰ ਦੇ ਸੂਫ਼ੀ–ਸਾਹਿਤ–ਸਗ੍ਰਹਿ ਵਿਚੋਂ ਜਵਾਹਿ _ਲ ਅਸਰਾਰ (ਰਹੱਸ–ਰਤਨ) ਨਾਮਕ ਫ਼ਾਰਸੀ ਭਾਖਾ ਦਾ ਇਕ ਗਰੰਥ ਪਰਾਪਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਇਹ ਕਹਿਣਾ ਕਠਿਨ ਹੈ ਕਿ ਇਸਦੀ ਰਚਨਾ ਕਦ ਹੋਈ ਸੀ, ਪਰ ਗਰੰਥ ਪਰਾਚੀਨ ਕਹਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਸ ਗਰੰਥ ਵਿਚ ਪਰਸੰਗ ਦੇ ਤੌਰ ਤੇ ਕਬੀਰ ਤੇ ਕੁਝ ਬੈਰਾਗੀਆਂ ਦੀ ਬਾਤਚੀਤ ਲੇਖਕ ਨੇ ਫ਼ਾਰਸੀ – ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਲਿਖੀ ਹੈ, ਪਰ ਕਬੀਰ ਦੇ ਕਥਨ ਨੂੰ ਓਸੇ ਦਿਆਂ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿਚ ਉਧਰਿਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਬਹੁਤ ਮੁਮਕਿਨ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਲਫ਼ਜ਼ ਕਬੀਰ ਦੇ ਹੀ ਹੋਣ (ਤੇ ਨਾ ਹੋਣ ਦੀ ਕੋਈ ਵਜਹ ਨਜ਼ਰ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦੀ)। ਤਾਂ ਤੇ ਇਕ ਭਾਖਾ ਸ਼ਾਸਤਰੀ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਵਿਚ ਇਹ ਉਧੱਰਣ–ਭਾਗ ਹੀ ਇਸ ਗਰੰਥ ਦਾ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਧ ਮੁੱਲ ਵਾਲਾ ਅੰਸ ਹੈ। ਫ਼ਾਰਸੀ ਫ਼ਾਰਸੀ ਕਰਕੇ ਹੀ ਛਾਪੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਤੇ ਬਾਕੀ ਸਵਾਲ ਜਵਾਬ ਉਰਦੂ ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਦੋਹਾਂ ਵਿਚ।

هجوم اتیتاں و بیراگیاں پیش کبیر آمدند وگفتند

اے کبیر توں اتیت و بیراگی ہے - توں واسطے تیرتھ کے اور استھان کے کیوں نہیں چلتا - اُتھے تیرتھ کروں ور استھان کو چل -

کبیر گفت کہ

بابا تم اتیت او بڑے بیراگی ہو اور میں اناڑی ہوں - تم جاو میں پاپیا ہوں بیراگی ہا گفتند کہ

نہ - تو چل ہمارے ساتھ و بیراگ چھوڑ

کبیر حیلہ کردو گفت

بیراگیو - چھوڑ دو

بیرا گیاں بگزاشتند - باز کبیر گفت کہ

بھائی اب کی مجھے چھوڑ دو - ایہہ تو تمبرا میرا لے جاو - اِسے تیرتھ اور اشنان کراو دوسری بار میں چلوں گا -

یہ ہزار مذمت ماند و تونبرا ہمراہ داد - بیرا گیاں تو نبہ گرفتہ رفتند - ہر جا تیرتھ اسنان کردند - تونبرا ہم کنانیدند - بعد از مدت آمدند پیش کبیر -

کبیر پرسید کہ -

تونبرا کہاں ہے -

بیرا گیاں گفتند کہ

ہے

تونبرا پیش کبیر گزاشتند

کبیر گفت کہ

تونبرا کو توڑو

بیرا گیاں تونبرا شکستند - باز کبیر گفت کہ

کیسی ہے -

بیرا گیان گفتند

کڑوا ہے

کبیر گفت کہ

اے بیراگیو تیرتھ اور اشنان کئے کیا ہوتا ہے جب ترا تانبی میٹھا نہ ہووے وہ جو کڑوا تھا تو تیرتھ اور اشنان سوں میٹھا نہ ہوا جائیگا - اصل میٹھا نہ ہوتی اس کے تئیں سنگت کڑوی بیل کی تھی تو او میٹھا کیونکر ہووے جو میٹھی سنگت ہوتی تو میٹھا ہوتا -

ਇਸ ਉਧਰਣ ਵਿੱਚ ਇਹ ਦੋ ਗੱਲਾਂ ਧਿਆਨ – ਜੋਗੀਆਂ ਹਨ ਕਿ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਅਤਿਥਿ * (ਸੰਨਿਆਸੀ ਦੇ ਅਰਥ ਵਿਚ) ਫ਼ਾਰਸੀ ਵਿਚ ਅਤੀਤ ਕੇਵਲ ਉਚਾਰਣ ਦੀ ਮੁਸ਼ਕਲ ਕਰਕੇ ਹੋ ਗਇਆ ਹੈ।

ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਅਤਿਥੀ ਹੈ, ਇਸ ਤਰਹਾਂ ਸਨਾਨ, ਇਸ਼ਨਾਨ ਜਾਂ ਅਸ਼ਨਾਨ। ਤਈਂ, ਸੋਂ, ਥਾ, ਗੇ, ਗਾ, ਤਾ, ਕੇ

(ਚਲਦਾ)

* ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन *

भाग १७
संख्या ३

मई १९४१

क्रमसंख्या ६५

प्रधान सम्पादक—

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल. (आक्सफोर्ड),
आफिसर अकेडेमी (फ्रांस).

सूचना—

सम्पादक लेखकों के लेख का उत्तरदाता नहीं होगा।

प्रकाशक—मि० सदीक अहमदखां।

श्रीकृष्ण दीक्षित प्रिंटर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड, लाहौर ने मि० सदीक अहमद खां पब्लिशर ओरियण्टल कालेज लाहौर के लिये छापा।

॥ ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन ॥

विज्ञप्ति

उद्देश्य—इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य यह है कि प्राच्यविद्या-सम्बन्धी परिशीलन या तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जाय और विशेषतः उन विद्यार्थियों में अनुसन्धान का शौक पैदा किया जाय जो संस्कृत, हिन्दी और पञ्जाबी के अध्ययन में संलग्न हैं।

किस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करना अभीष्ट है—

यत्न किया जायेगा कि इस पत्रिका में ऐसे लेख प्रकाशित हों जो लेखक के अपने अनुसन्धान के फल हों। अन्य भाषाओं से उपयोगी लेखों का अनुवाद स्वीकार किया जायगा और संक्षिप्त तथा उपयोगी प्राचीन हस्तलेख भी क्रमशः प्रकाशित किए जायेंगे। ऐसे लेख जो विशेषतः इसी पत्रिका के लिए न लिखे गए हों, प्रकाशित न होंगे।

प्रकाशन का समय—

यह पत्रिका अभी साल में चार बार अर्थात् कालेज की पढ़ाई के साल के अनुसार नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्त में प्रकाशित होगी।

मूल्य—

इसका वार्षिक चन्दा ३) रुपये होगा; विद्यार्थियों से केवल १॥।) लिया जायगा।

पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना—

पत्रिका के खरीदने के विषय में पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना आदि प्रिंसिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर के नाम से होना चाहिये। लेखसम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक के नाम होने चाहिएं।

प्राप्तिस्थान—

यह पत्रिका ओरियण्टल कालेज लाहौर के दफ्तर से खरीदी जा सकती है।

पञ्जाबी विभाग के सम्पादक सरदार बलदेवसिंह बी. ए. हैं। वही इस विभाग के उत्तरदायी हैं।

विषयसूची

भोजराजकृत युक्तिकल्पतरु के अन्तर्गत

नीतियुक्ति की आलोचना

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल., लाहौर ।]

भोजराज का समय—

(१) भारतवर्ष के इतिहास[२] में अलबेरूनी ने लिखा है कि इतिहास लिखने के समय, धारा और मालवे पर भोजदेव राज्य करते थे। इससे सिद्ध होता है कि अलबेरूनी के समय भोजराज जीवित थे। अलबेरूनीकृत भारतवर्ष के इतिहास का रचनाकाल ई० स० १०३० (=वि० सं० १०८७) है।

(२) भोजराज के दानपत्रों में से एक दानपत्र वि० सं० १०७६ (= ई० स० १०२०) और दूसरा वि० सं० १०७६ (=ई० स० १०२३) का है।

(३) भोजराजकृत राजमृगाङ्ककरण का रचनाकाल शक संवत् ६६४ (=वि० सं० १०६६ = ई० स० १०४२) है जो कि राजमृगाङ्ककरण में मिलता है।

इन प्रमाणों से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि भोजराज वि० सं० १०७६ (= ई० स० १०२०) से वि० सं० १०६६ (= ई० स० १०४२) तक तो अवश्य ही जीवित थे।

(४) धनपालकृत तिलकमञ्जरी[४] में लिखा है कि मुञ्ज (वाक्पतिराज द्वितीय) ने अपने भतीजे भोज को युवराज बनाया। किन्तु वि० सं० १०५० और वि० सं० १०५४ (=ई० स० ९९३ और ई० स० ९९७) के बीच दक्षिण के राजा तैलप द्वारा मुञ्ज के मारे जानेके समय भोज की आयु छोटी थी। इसीसे भोज के पिता सिन्धुराज को मालवे के सिंहासन पर बैठाया गया था। अन्त में सिन्धुराज की अणहिलवाड़ा (गुजरात) के सोलंकी नरेश

१. See राजा भोज by विश्वेश्वरनाथ रेउ।

२. Alberuni's Indica; Prof. Sachau's Trans. Vol. I. P. 191.

३. See राजमृगाङ्ककरण—'शाके वेदर्तुनन्दे'।

४. आकीर्णाग्रितल: सरोजकलशच्छत्रादिभिर्लाञ्छनै—

स्तस्याजायत मांसलायुतभुज: श्रीभोज इत्यात्मज:।

प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसति: ख्यातेन मुञ्जाख्यया

य: स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्त: स्वयम् ॥४३॥

चामुण्डराज के साथ युद्ध में मृत्यु हुई। चामुण्डराज का समय वि० सं० १०५४ (= ई० स० ९९७) से वि० सं० १०६६ (= ई० स० १०१०) तक है। इसलिए इन्हीं वर्षों में किसी समय सिन्धुराज मारे गये होंगे और भोजराज गद्दी पर बैठे होंगे।'[1]

(५) डाक्टर बूलर के अनुसार भोजराज का राज्यारोहण वर्ष ई० स० १०१० (= वि० सं० १०६६) है। इसकी पुष्टि में बूलर ने विक्रमाङ्कदेवचरित के इस पद्य का निर्देश किया है :—

भोजक्ष्माभृत्स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
स्तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा॥ १८. ९६.

'अर्थात्—मानो धारा नगरी ने द्वार पर बैठ कर बोलते हुए कबूतरों के शब्द द्वारा बिल्हण से कहा कि भोजराज की समता कोई नहीं कर सकता। शोक कि उसके सामने तुम क्यों नहीं आये।'

बूलर का अनुमान है कि बिल्हण के मध्यभारत में पहुंचने तक भी भोजराज जीवित थे। इसलिए उन्होंने भोजराज का देहान्त वि० सं० ११११९ (=ई० स० १०६२) के अनन्तर माना है, क्योंकि शीघ्र से शीघ्र बिल्हण इसी वर्ष काश्मीर से चले थे।

इस बात का समर्थन बूलर ने राजतरङ्गिणी के निम्ननिर्दिष्ट पद्य से किया है :—

स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन्क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ॥

'उस समय विद्वानों में श्रेष्ठ धारा के राजा भोज और काश्मीर के राजा कलश—जो दोनों ही अपनी दानवीरता से प्रसिद्ध थे—एक से कवियों के आश्रयदाता थे।'

बूलर का कथन है कि इस पद्य में 'तस्मिन् क्षणे' इस वाक्यांश का सम्बन्ध ई० स० १०६२ (=वि० सं० १११९) में कलश की राज्यप्राप्ति के आनन्तरिक समय से है। किन्तु भोज और बिल्हण के लगभग सौ वर्ष बाद राजतरङ्गिणी लिखी गयी थी। इसलिए सम्भव है कि राजतरङ्गिणी का यह वृत्तान्त प्रामाणिक न हो। पर बिल्हण-कृत विक्रमाङ्कदेवचरित में एक पद्य आता है :—

---

१. 'भोजराज के उत्तराधिकारी जयसिंह का वि० सं० ११११२ (= ई० स० १०५५) का एक दानपत्र मिला है जिससे प्रकट होता है कि भोजराज इसके पूर्व ही मर चुके थे।'

यस्य भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतेजोनिधानम् ।
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहराखण्डलोऽभूत् ॥

'अर्थात् उसके भाई लोहरा का स्वामी वीर क्षितिपति भोज के ही समान यशस्वी थे ।'

किन्तु 'भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा' इस पद से भोजराज की कलशराजकालीनता सिद्ध नहीं होती । फिर किस प्रकार बूलर ने विक्रमाङ्कदेवचरित के इस पद्य को उपर्युक्त राजतरङ्गिणी के पद्य का समर्थक माना है ।

अपिच भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का वि० सं० ११११२ (= ई० स० १०५५) का दानपत्र और वि० सं० १११६ (= ई० स० १०५६) का शिलालेख मिल चुके हैं । इससे राजा भोज का वि० सं० १११६ (= ई० स० १०६२) तक जीवित रहना नहीं माना जा सकता । यह अवश्य ही वि० सं० १०९९ (= ई० स० १०४२) और वि० सं० १११२ (= ई० स० १०५५) के बीच कलश के राज्य पर बैठने और बिल्हण के काश्मीर से चलने के पूर्व ही मर चुके थे ।

(७) विन्सैन्ट स्मिथ ने भोज का राज्यारोहणवर्ष ई० स० १०१८ (= वि० सं० १०७५) के लगभग मान कर इनका चालीस वर्ष से अधिक राज्य करना माना है । ऐसी दशा में भोजराज का ई० स० १०५८ (= वि० सं० १११५) के बाद तक जीवित रहना मानना पड़ता है । किन्तु भोजराज के उत्तराधिकारी जयसिंह के ई० स० १०५५ (=वि० सं० १११२) वाले दानपत्र के मिल जाने से यह मत ठीक नहीं जचता ।

भोजराज की वंशावली —

राजा भोज मालवे के परमार वंश में से हैं । मालवे के परमारों का वंशवृक्ष इस प्रकार से है :--

---

१. डाक्टर बूलर द्वारा सम्पादित मालवराजप्रशस्ति में भोजराज की वंशावली मिलती है । See Epigraphia Indica, Vol. I., pp. 226-228.

अस्त्युर्वीध्रः प्रतीच्यां हिमगिरितनयः सिद्धदाम्पत्यसिद्धेः
स्थानं च ज्ञानभाजामभिमतफलदोऽखर्वितः सोऽर्बुदाख्यः ।
विश्वामित्रो वसिष्ठादहरत बलतो यत्र गां तत्प्रभावा-
ज्जज्ञे वीरोऽग्निकुण्डाद्रिपुबलनिधनं यश्चकारैक एव ॥
मारयित्वा परां धेनुमानिन्ये स ततो मुनिः ।
उवाच परमाराख्यः पार्थिवेन्द्रो भविष्यति ॥

परमार
|
उपेन्द्र (कृष्णराज)
|
वैरिसिंह (प्रथम)
|
सीयक (प्रथम)
|
वाक्पतिराज (प्रथम)
|
वैरिसिंह (द्वितीय)
|
श्रीहर्ष सीयक (द्वितीय)

वाक्पतिराज (द्वितीय) (=मुञ्ज, अमोघवर्ष, उत्पलराज)	सिन्धुराज (=सिन्धुल, नवसाहसाङ्क)
	भोज (प्रथम) (त्रिभुवननारायण)
	जयसिंह (प्रथम)
	उदयादित्य

तदन्ववायेऽखिलयज्ञसङ्घतृप्तामरोदाहृतकीर्तिरासीत् ।
उपेन्द्रराजो द्विजवर्गरत्नं शौर्यार्जितोत्तुङ्गनृपत्वमान: ॥
तत्सूनुरासीदरिराजकुम्भिकण्ठीरवो वीर्यवतां वरिष्ठ: ।
श्रीवैरिसिंहश्चतुरर्णवान्तधात्र्यां जयस्तम्भकृतप्रशस्ति: ॥
तस्माद् बभूव वसुधाधिपमौलिमालारत्नप्रभारुचिररञ्जितपादपीठ: ।
श्रीसीयक: करकृपाणजलोर्मिमग्नशत्रुव्रजो विजयिनां धुरि भूमिपाल: ॥
तस्मादवन्तितरुणी नयनारविन्दभास्वानभूत्करकृपाणमरीचिदीप्र: ।
श्रीवाकपति: शतमुखानुकृतिस्तुरङ्गा गङ्गासमुद्रसलिलानि पिबन्ति यस्य
जातस्तस्माद्वैरिसिंहोऽन्यनाम्ना लोको ब्रूते वज्रटस्वामिनं यम् ।
शत्रोर्वर्गं धारयासेर्निहत्य श्रीमद्धारा सूचिता येन राज्ञा ॥
तस्मादभूदरिनरेश्वरसङ्घसेनागर्जद्गजेन्द्ररवसुन्दरतूर्यनाद: ।
श्रीहर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं जग्राह यो युधि नगादसमप्रताप: ॥
पुत्रस्तस्य विभूषिताखिलधराभोगो गुणैकास्पदं
शौर्याक्रान्तसमस्तशत्रुविभवाधिन्याय्यवित्तोदय: ।

भोजराज की वंशावली में भोजराज के दादा श्रीहर्ष, चचा मुञ्ज और पिता सिन्धुल प्रसिद्ध हो चुके हैं।

भोजराज के दादा श्रीहर्ष सीयक (द्वितीय) पराक्रमशाली राजा थे। इन्होंने राष्ट्रकूट नरेश खोट्टिग पर चढ़ाई कर उसे नर्मदा के तट खिलिघट्ट नामक स्थान पर हराया था। इसके अनन्तर वहां से आगे बढ़ वि० सं० १०२९ में इन्होंने उसकी राजधानी मान्यखेट को भी लूट लिया था। यह बात धनपाल की इसी वर्ष में बनाई हुई 'पाइअलच्छीनाममाला' से प्रकट होती है।

भोजराज के चचा का नाम मुञ्ज (वाक्पतिराज द्वितीय) था। इन्होंने छः वार सोलंकी नरेश तैलप द्वितीय को हराया था। किन्तु ये सातवीं वार गोदावरी के पास युद्ध में पकड़े गये थे। वि० सं० १०५०-१०५४ के बीच इन्हें मार डाला गया था[२]। ये राजा भोज के चचा थे। अमितगति ने अपना 'सुभाषितरत्नसन्दोह' वि० सं० १०५० में

वक्तृत्वोज्ज्वलकवित्वतर्ककलनप्रज्ञातशास्त्रागम:
श्रीमद्वाक्पतिराजदेव इति य: सद्भि: सदा कीर्त्यते ॥
कर्णाटलाटकेरलचोलशिरोरत्नरागिपदकमल: ।
यश्च प्रणयिगणार्थितदाता कल्पद्रुमप्रख्य: ॥
युवराजं विजित्याजौ हत्वा तद्वाहिनीपतीन् ।
खड्ग ऊर्ध्वीकृतो येन त्रिपुर्यां विजिगीषुणा ॥
तस्यानुजो निर्जितहूणराज: श्रीसिन्धुराजो विजयार्जितश्री: ।
श्री भोजराजोऽजनि येन रत्नं नरोत्तमाकम्पकृदद्वितीयम् ॥

१. विक्कमकालस्स गए अउणातीसुत्तरे सहस्सम्मि ।
मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ॥

२. मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि के मुञ्जराजप्रबन्ध में लिखा है:—
यश:पुञ्जो मुञ्जो गजपतिरवन्तिक्षितिपति:
सरस्वत्या: सूनु: समजनि पुरा य: कृतिरिति ।
स कर्णाटेशेन स्वसचिवकुबुद्ध्यैव विधृत:
कृत: शूलीप्रोतोऽस्त्यहह विषमा: कर्मगतय: ॥

३. समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणिं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

इन्हीं के समय समाप्त किया था। 'पाइअलच्छीनाममाला' के कर्ता धनपाल, 'नवसाहसाङ्कचरित' के कर्ता पद्मगुप्त, 'दशरूपक' पर 'दशरूपावलोक' टीका के रचयिता धनिक, 'पिंगलछन्द:सूत्र' पर 'मृतसञ्जीवनी' टीका के कर्ता हलायुध और 'सुभाषितरत्नसन्दोह' के कर्ता अमितगति इसी राजा मुञ्ज की सभा के रत्न थे।

सिन्धुराज राजा भोज के पिता थे। यद्यपि मुञ्ज ने अपने जीते ही भोज को युवराज बनाया था, तथापि उनकी मृत्यु के समय भोज के बालक होने के कारण सिन्धुराज ही मालवा के सिंहासन पर बैठे थे। इनकी एक उपाधि 'नवसाहसाङ्क' भी थी। इन्हीं की आज्ञा से पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्कचरित' काव्य में इनका इतिहास लिखा है।

मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि में भी मुञ्ज का वृत्तान्त मिलता है। मेरुतुङ्ग का कहना है कि वैमनस्य के कारण मुञ्ज ने अपने छोटे भाई सिन्धुराज को अन्धा करवा डाला और सिन्धुराज के पुत्र भोज को मरवाने की चेष्टा की। बल्लाल पण्डित ने भोजप्रबन्ध की प्रबन्धावतारणा में मुञ्ज द्वारा भोजहत्याप्रबन्ध का किसी अंश में समर्थन किया है। किन्तु इन कथनों के विरुद्ध भी कुछ कथन मिलते हैं। नवसाहसाङ्कचरित में पद्मगुप्त ने लिखा है कि जिस समय वाक्पतिराज (मुञ्ज) शिवपुर को सिधारे उस समय उन्होंने राज्य का भार अपने छोटे भाई सिन्धुराज को सौंप दिया [२]।

---

१. इतश्च केऽपि मर्दनकारिणो महाकलावन्तो देशान्तरादागता राज्ञो मिलिताः। (राजा) तत्पार्श्वात्स्वाङ्गं मर्दनान् दापयति। ते च स्वकलया हस्तपादाद्यङ्गान्युत्तार्य पुनः सज्जीकुर्वन्ति। एवं द्विस्त्रिः कारितम्। हृष्टो राजा सीन्धलस्याप्येवं कारयति। तस्याङ्गेषूत्तारितेषु निश्चेष्टतां गतस्य नेत्रोद्धारं चकार। सज्जस्य तस्य नेत्रहरणे कः शक्तः? अतोऽनेन प्रकारेण श्रीमुञ्जेन निगृहीतनेत्रः काष्ठपञ्जरनियन्त्रितो भोजं सुतमजीजनत्। सोऽभ्यस्तशास्त्रः षट्त्रिंशद्दण्डायुधान्यधीत्य द्वासप्ततिकलाकूपारपारङ्गमः समस्तलक्षणलक्षितो ववृधे। तज्जन्मनि जातकविदा केनापि नैमित्तिकेन जातकं समर्पितम्।

पञ्चाशत्पञ्च वर्षाणि मासाः सप्त दिनत्रयम्।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥

इति श्लोकार्थमवगम्यास्मिन्सति मत्सूनो राज्यं न भविष्यतीत्याशङ्कयान्त्यजेभ्यो वधाय तं समर्पयामास। P. 29.

२. पुरं कालक्रमात्तेन प्रस्थितेनाम्बिकापतेः।
मौर्वीकिणाङ्कवत्यस्य पृथ्वी दोष्णि निवेशिता॥ नव० चरि० श्लो० ९८

मुञ्ज द्वारा भोज की हत्या वाली कथा भी कल्पित मालूम होती है। तिलक-मञ्जरी के कर्ता धनपाल ने—जो श्रीहर्ष के समय से लेकर भोज के समय तक जीवित थे—लिखा है कि राजा मुञ्ज अपने भतीजे भोज पर प्रीति रखते थे और इसी से उन्होंने उसे अपना युवराज बनाया था।

भोजराज की राजधानी—

परिमलकविकृत नवसाहसाङ्कचरित[1] से मालूम होता है कि भोजराज के चचा श्रीमुञ्ज (वाक्पतिराज) की राजधानी उज्जयिनी नगरी थी। किन्तु भोजराज ने उज्जयिनी को छोड़ कर धारा नगरी को राजधानी बनाया। धारा नगरी पहले भी भोजराज के प्रपितामह वैरिसिंह के समय राजधानी हो चुकी थी[2]। धारा को राजधानी बनाने के कुछ कारण भी थे। भोजराज अच्छी तरह जानते थे कि अपने चचा तथा पिता की राजधानी में रहकर राज्य करना वास्तुशास्त्र के विरुद्ध था[3]। इसलिए उन्होंने वास्तुशास्त्र का परिपालन करते हुए धारा नगरी को राजधानी बनाया। यद्यपि धारा नगरी वैरिसिंह के समय राजधानी रह चुकी थी तो भी अब धारा वैरिसिंह की धारा न थी। वैरिसिंह के अनन्तर उज्जयिनी के राजधानी बन जाने से धारा की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका था। इसलिए धारा को राजधानी के योग्य बनाने के लिए नया रूप देना पड़ा। युक्तिकल्पतरु में इस बात का समर्थन मिलता है। भोजराज ने लिखा

---

१. अस्ति क्षिताबुज्जयिनीति नाम्ना पुरी विहायस्यमरावतीव।
बबन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पो महीपतिर्वाक्पतिराजदेवः॥ १. १७.

२. देखो बूलर द्वारा सम्पादित मालवराजप्रशस्ति। Epi. Indica, Vol. 1.

जातस्तस्माद्वैरिसिंहोऽन्यनाम्ना
लोको ते वज्रटस्वामिनं यम्।
शत्रोर्वर्गं धारयासेर्निहत्य
श्रीमद्धारा सूचिता येन राज्ञा॥

परनिर्मितवास्तुस्थो न तिष्ठति चिरं नृपः।
न सुखाय न धर्माय तत्तस्य भुवि जायते॥
राजान्यवीर्यप्रत्याशी परवास्तुकृतस्थितिः।
सुखाय नो भवेन्नृणां यथा परगृहे ग्रहः॥

है कि ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए राजा को नई राजधानी बनवानी चाहिये। युक्तिकल्पतरु में राजधानी के स्थान, दिशा, काल आदि का निर्णय विस्तारपूर्वक किया है। फलतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भोजराज ने अपने प्रपितामह वैरिसिंह की नगरी को नया रूप देकर राजधानी बनाया होगा।

भोजराज और प्राचीन नीतिशास्त्रकार—

युक्तिकल्पतरु की अवतरणिका में भोजराज ने प्राचीन नीतिशास्त्रकारों में से बृहस्पति और शुक्र का ज़िक्र किया है। पुराणों के अनुसार बृहस्पति देवताओं के गुरु हैं, शुक्राचार्य दैत्यों के। इन दोनों परस्पर-विरुद्ध जातियों के आचार्यों का नीतिविषयक दृष्टिकोण अवश्य ही अन्योन्य-प्रतिकूल होगा। तथापि कुछ सिद्धान्तों पर इनका एकमत होना सम्भव है। युक्तिकल्पतरु में उन्हीं नीतिविषयों का निरूपण है जिनके सम्बन्ध में बृहस्पति और शुक्र का ऐकमत्य है।[2]

युक्तिकल्पतरु के प्रारम्भिक पद्यों में लिखा है कि भोजराज यत्नपूर्वक (प्राचीन) मुनियों के निबन्धों का सार लेकर अपनी तथा लोगों की प्रीति के निमित्त युक्तिकल्पतरु को बनाते हैं।[3]

भोजराज ने युक्तिकल्पतरु में प्राचीन नीतिशास्त्रकारों के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं। उद्धरणों के साथ कहीं कही नीतिशास्त्रकारों के और कहीं कहीं निबन्धों के नाम दे दिये हैं। गरुडपुराण, अग्निपुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, भविष्योत्तरपुराण, पराशरसंहिता, वास्तुकुण्डली, लोहार्णव, लौहप्रदीप आदि ग्रन्थों के पर्याप्त अंश को उद्धृत किया है। इसी तरह गर्ग, भोज, पराशर, वात्स्य, पालकाप्य आदि नीतिशास्त्रकारों के भी अनेक उद्धरण दिये हैं।

---

१. यः स्वनिर्मितवास्तुस्थो निजलग्नादिसंयुतः।
विचारितपुरो राजा सुचिरं सुखमश्नुते॥
राजा स्वबाहुवीर्याढ्यो निजनिर्मितवास्तुभाक्।
स चिरं तनुते सौख्यं स्वगृहस्थो ग्रहो यथा॥

२. नीतिर्बृहस्पतिप्रोक्ता तथैवोशनसी परा।
उभयोरविरुद्धात्र निरूप्या नीतिरुत्तमा॥

३. नानामुनिनिबन्धानां सारमाकृष्य यत्नतः।
तनुते भोजनृपतिर्युक्तिकल्पतरुं मुदे॥

युक्तिकल्पतरु में 'अन्ये,' 'अन्यत्र' का प्रयोग कई बार आया है कुछ जगह 'तद् यथा' 'तथाहि नीतिशास्त्रम्' 'अन्यत्र तु नीतिशास्त्रे' आदि उद्धृतसन्दर्भसूचक वाक्यांश मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में भोजराज की अपनी रचना बहुत कम है ; अधिकांश अन्य ग्रन्थों के प्रकरण उद्धृत किये हैं। आलोचना से प्रतीत होता है कि युक्तिकल्पतरु में भोजराज ने प्राचीन नीतिविषयक ग्रन्थों का पर्याप्त आश्रय लिया है।

युक्तिकल्पतरु में भोज के नाम से कुछ स्थल उद्धृत किये हैं :—'भोजः' 'भोजाभिप्रायः' 'भोजे च''भोजस्तु''भोजोऽपि' 'श्रीभोजमते च' भोजेन तु ह्यलक्षणमन्यथोक्तम्' 'गुणेन बन्धं निजगाद भोजः', आदि। किन्तु यह भोज युक्तिकल्पतरु के निर्माता भोजराज से भिन्न हैं। इनका मत कहीं कहीं भोजराज के मत से प्रतिकूल है।

युक्तिकल्पतरु के अन्तर्गत विषय—

युक्तिकल्पतरु में प्रधान युक्तियां १० हैं—(१) नीतियुक्ति, (२) द्वन्द्वयुक्ति, (३) वास्तुयुक्ति, (४) आसनयुक्ति, (५) छत्रयुक्ति, (६) ध्वजयुक्ति, (७) उपकरणयुक्ति, (८) अलङ्कारयुक्ति, (९) अस्त्रयुक्ति, (१०) यात्रायुक्ति।

इन युक्तियों के अवान्तरिक विषय इस प्रकार हैं :—

(१) नीतियुक्ति—गुरु, पुरोहित, अमात्य, मन्त्री, दूत, लेखक, ज्योतिर्ज्ञ, पुराध्यक्ष, वनाध्यक्ष, कोषवर्धन, राजदायाद, कृषिकर्म, बल, यान, यात्रा, विग्रह, चर, दूत, सन्धि, आसन, द्वैध, आश्रय, दण्ड, मन्त्र।

(२) द्वन्द्वयुक्ति—(१) कृत्रिम, (२) अकृत्रिम।

(३) वास्तुयुक्ति—पुरनिर्माण, काल, वसति, वास्तु, दिङ्निर्णय, मान, कालनिर्णय, वास्तुप्रवेशकाल, द्वारनिर्णय, प्राचीर, वास्तुदण्ड, विनाशगृह, रङ्गगृह, राजगृह।

(४) आसनयुक्ति—आसन, खटिका, पीठ।

(५) छत्रयुक्ति—छत्र।

(६) ध्वजयुक्ति—ध्वज।

(७) उपकरणयुक्ति—चामर, भृङ्गार, चषक, वितान।

(८) अलङ्कारयुक्ति—वज्र, पद्मराग, हीरक, विद्रुम, प्रवाल, गोमेद, मुक्ता, वैदूर्य, इन्द्रनील, मरकत, पुष्पराग, कर्केतन, भीष्म, पुलक, रुधिर, स्फटिक, अयस्कान्त, मिश्रक, शंख।

(९) अस्त्रयुक्ति—खड्ग, धनुष, बाण, यात्रा, नीराजन।

(१०) यात्रायुक्ति—अश्व, अश्वगुणदोष, ऋतुचर्या, गजपरीक्षा, वृषपरीक्षा, महिषपरीक्षा, मृगपरीक्षा, सारमेयपरीक्षा, अजलक्षण, यानलक्षण, नौकाकाष्ठ।

विषयसूची से प्रतीत होता है कि युक्तिकल्पतरु का विषय बहुव्यापक है। तो भी युक्तिकल्पतरु में निर्दिष्ट सभी युक्तियां किसी न किसी अंश में नीतियुक्ति से सम्बन्ध रखती हैं। द्वन्द्वयुक्ति में दुर्ग की विवेचना है। वास्तुयुक्ति में राजधानी की, आसनयुक्ति में आसन की, छत्रयुक्ति में छत्र की, ध्वजयुक्ति में ध्वज की। उपकरणयुक्ति में राज्योपयोगी उपकरणों का निर्देश है। अलङ्कारयुक्ति में वज्र, पद्मराग, हीरक, विद्रुम, प्रवाल, गोमेद आदि कुछ मणियों के लक्षण बताये हैं। इन मणियों का सम्बन्ध राज्य के अङ्ग कोष से है। अस्त्रयुक्ति में खड्ग आदि कुछ अस्त्रों की विवेचना है। राज्य-सञ्चालन में अस्त्रों की उपयोगिता स्वतःसिद्ध है। यात्रायुक्ति में अश्व, गज, वृष, महिष, मृग, सारमेय आदि की परीक्षा के लक्षण बताये हैं। शासनपद्धति में अश्व आदि सत्त्वों का भी कुछ कम महत्त्व नहीं है।

तथापि भोजराज के नीतिविषयक सिद्धान्तों का परिचय युक्तिकल्पतरु के अन्तर्गत नीतियुक्ति से ही विशेषतः मिलता है। इसलिए यहां केवल प्रकरण के अनुसार नीतियुक्ति पर ही विचार करना ठीक रहेगा।

नीतियुक्ति में छः गुण, चार उपाय, सात अङ्ग—इन मार्मिक तत्त्वों का अनुसन्धान है। ग्रन्थक्रम के अनुसार पहले हम छः गुणों का निरूपण करते हैं।

षड्गुणसमीक्षा—

गुणों के वर्णन में भोजराज ने नीतिशास्त्रप्रचलित स्थितिक्रम का परिपालन नहीं किया। प्रायः नीतिशास्त्रों में गुणों की व्यवस्था इस प्रकार है:—(१) सन्धि (२) विग्रह (३) यान (४) आसन (५) आश्रय (६) द्वैधीभाव। किन्तु भोजराज ने गुणों का क्रम इस प्रकार रक्खा है:—(१) यात्रा (२) विग्रह (३) सन्धि (४) आसन (५) द्वैधीभाव (६) आश्रय। उचित था कि भोजराज प्रक्रमभङ्ग का कारण बताते। किन्तु उन्होंने इस पर मौनावलम्बन ही ठीक समझा है। तो भी युक्तिकल्पतरु की विषयसूची से इस प्रक्रमभङ्ग के कारण का हम इस तरह अनुमान लगा सकते हैं:—

नीतियुक्ति में सेना के चार अङ्ग बताये हैं—रथ, अश्व, गज, पदाती। सेना-निरूपण के अनन्तर चार प्रकार के यानों का विवरण है:—चतुष्पद, द्विपद, विपद, बहुपादक। चतुष्पद=गज अश्व आदि। द्विपद=दोला आदि। विपद=नौका आदि। बहुपादक=रथ आदि।

याननिरूपण के अनन्तर आवश्यक था कि यात्रा के विषय में भी कुछ कहा जाय। यात्रा के बाद विग्रह का निरूपण स्वाभाविक ही है।

विगृहीत शत्रु के पराभवार्थ सन्धि, आसन, द्वैध तथा आश्रय इन गुणों में से किसी एक गुण का व्यवहार आवश्यक है। यदि किसी वीर शत्रु ने चढ़ाई की हो और यदि इस शत्रु से युद्ध करने की शक्ति न हो तो कालयापन के लिए सन्धि, आसन, द्वैध, आश्रय—इन चारों में से एक का अवलम्बन जरूरी है। भोज ने सन्धि, आसन, द्वैध, तथा आश्रय के विधान भी बताये हैं। सन्धि उस शत्रु से अभीष्ट है जो मर्यादा का उल्लङ्घन न करे। सन्धि उन्हें करनी चाहिए जो दैव से उपहत हों, जिनके शत्रु अधिक हों अथवा जिनका राष्ट्र दुर्गत हो। दुर्मन्त्र, भिन्नमन्त्र, नीतिनिपुण तथा पूर्वपीडित शत्रु से सन्धि करना व्यर्थ है। इनसे सन्धि करना मृत्यु को बुलाना है।

शत्रु को रोकने का एक उपाय आसन है। आसन के चार भेद हैं—(१) विग्रहासन (२) सन्धायासन (३) सम्भूयासन (४) प्रीत्यासन। विग्रहासन का अभिप्राय यह नहीं कि दुर्बल राजा दुर्ग में बैठकर शत्रु के आक्रमण को रोके। विग्रहासन से तात्पर्य है कि बलहीन राजा एक जगह बैठकर बली शत्रु को किसी अन्य बली राजा से लड़ावे। सन्धायासन में कहा है कि शत्रु को किसी अन्य राजा से लड़ाकर स्वयं शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। जब प्रतिपक्षी उदासीन हो, मध्यम हो, व समान हो, तब सङ्गठित होकर रहने को सम्भूयासन कहते हैं। इन सब आसनों में से बड़ा आसन प्रीत्यासन है। जब प्रजा राजा पर प्रसन्न हो तो उसे प्रीत्यासन कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिस देश के प्रजा-राजा में परस्पर प्रेम हो उस देश पर शत्रु के आक्रमण की सम्भावना कुछ कम ही होती है।

दो बली शत्रुओं को आपस में लड़ाना और दोनों से बाह्य सुहृद्भाव रखना, दोनों के युद्ध में बलवान की सेवा करना—यह द्वैधीभाव है।

आश्रयगुण में लिखा है दुर्बल राजा को चाहिए कि वह बलवान शत्रु का आश्रय लेकर, साथ ही अपनी उत्साहशक्ति को भी बढ़ाकर, पूर्ववत् स्वतन्त्रता प्राप्त करे।

इस आलोचना से प्रतीत होता है कि यात्रा और विग्रह—ये दो गुण विजिगीषु के हैं। सन्धि, आसन, द्वैध, आश्रय—ये चार गुण यातव्य के हैं, अर्थात् आक्रमणीय दुर्बल राजा को सन्धि, आसन, द्वैध, आश्रय—इन चार गुणों में से किसी एक गुण का सेवन करना होता है। इसलिए युक्तिकल्पतरु के कर्ता भोज ने इन छः गुणों को उपयोगक्रम से रक्खा है।

उपायप्रदर्शन—

षड्गुणनिरूपण के अनन्तर उपायों का निर्देश है। उपाय चार प्रकार के हैं—

(१) साम (२) दान (३) दण्ड (४) भेद। साम, दान और भेद के विषय में भोजराज ने कुछ विशेष सूचना नहीं दी, किन्तु दण्ड की उपयोगिता बताते हुए भोजराज ने मात्स्यन्याय का ज़िक्र किया है। भोजराज का कथन है कि अपराध होने पर भी दो पुरुषों को दण्ड नहीं देना चाहिए—एक दूत को और दूसरा शत्रु के कहने से अपने सेवक को।

सप्ताङ्गविवेचन—

युक्तिकल्पतरु में सप्ताङ्ग[1] का निरूपण इतना स्पष्ट नहीं है जितना कि दूसरे नीतिशास्त्रों में। स्वामी के विषय में तो भोजराज ने कुछ लिखा ही नहीं। सम्भवतः स्वयं राजा होने के कारण उन्होंने राजा के गुणदोषों का वर्णन उचित न समझा हो। किन्तु राजा सोमेश्वर ने तो मानसोल्लास में राजगुणों का वर्णन आठ श्लोकों में किया है। भोजराज ने राजा को नीतिनिपुण बनाने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की। उचित था कि वे राजा के गुणदोषों का भी निरूपण करते। राज्यस्थिरता के लिए जैसे अमात्य, राष्ट्र आदि की गुणवत्ता तथा निर्दोषता ज़रूरी है इसी प्रकार सप्ताङ्ग-प्रधान राजा की भी गुणवत्ता तथा निर्दोषता आवश्यक है। इसलिए भोजराज को चाहिये था कि वे राजा के गुणदोषों का विवेचन ज़रूर करते।

भोजराज ने केवल राज्य के पहले अङ्ग स्वामी का ही नहीं किन्तु राज्य के सप्तम अङ्ग मित्र का भी निर्देश नहीं किया। राज्यस्थिरता के लिए राज्य के सप्तम अङ्ग मित्र की इतनी ही उपयोगिता है जितनी कि दूसरे अङ्गों की। उपयोगिता का उदाहरण वर्तमान युद्ध ही है। किन्तु भोजराज ने मित्र के विषय में कुछ लिखा ही नहीं। मालूम होता है कि भोजराज इतने पराक्रमशाली थे कि उन्हें मित्रशक्ति की ज़रूरत ही नहीं थी, अथवा मित्रशक्ति का निरूपण उन्हें दुर्बलता का कारण प्रतीत होता था। कुछ भी हो सप्ताङ्गवर्णन में पूर्वाचार्यों के अनुसार राज्य के सप्तम अङ्ग मित्र का विवेचन आवश्यक ही था।

इस प्रकार युक्तिकल्पतरु में केवल पांच ही अंगों का विवेचन है। वे पांच अंग हैं—अमात्य, राष्ट्र, कोष, दुर्ग और बल।

अमात्य आदि के निरूपण में भोजराज का विलक्षण ही ढंग हैं। सब से पहले भोजराज ने राजकार्य-सहायक गुरु के लक्षण बताये हैं। प्रायः नीतिशास्त्रों में स्वामि-विवेक के अनन्तर अमात्य, पुरोहित, प्राड्विवेक, सभ्य आदि की विवेचना आती है।

---

१. नीतिशास्त्रों में स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, कोष, दुर्ग, सेना, मित्र—राज्य के ये सात अङ्ग कहे हैं।

किन्तु भोजराज ने 'गुरु, पुरोहित, अमात्य, मन्त्री, दूत, लेखक, ज्योतिर्ज्ञ अन्त:-पुराध्यक्ष, बलाध्यक्ष' आदि इस तरह का क्रम रक्खा है। इस क्रम से प्रतीत होता है कि भोजराज के मत में गुरु और पुरोहित का स्थान अमात्य आदियों से उन्नत है।

गुरु के लक्षण में लिखा है 'अपर्वमैथुनपर:' अर्थात् जो अमावास्या आदि निषिद्ध तिथियों में स्त्रीसंसर्ग न करता हो। इसी तरह आगे कहा है 'परदारेषु विमुख:' अर्थात् जिसका मन दूसरे की स्त्री को देख चञ्चल न हो। यहां विचारणीय बात यह है कि धर्मशास्त्र के अनुसार 'अपर्वमैथुनपरत्व' और 'परदारविमुखत्व' मनुष्यमात्र के लिए विहित हैं। फिर केवल गुरु के लक्षण में ही इन दो बातों का विधान क्यों ग्रन्थकर्ता का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता कि केवल गुरु ही अपर्वमैथुनपर और परदारविमुख हो, अमात्य दूत आदि हों वा न हों। सम्भव है कि गुरु का आचार-महत्त्व दिखाने के लिये भोजराज ने 'अपर्वमैथुनपर:' और 'परदारेषु विमुख:' ये दो गुरु के विशेषण रक्खे हों।

प्राय: 'अमात्य' और 'मन्त्री' पर्यायवाचक शब्द माने जाते हैं। किन्तु भोजराज के अनुसार मन्त्री और अमात्य—ये दो पृथक् अधिकारपद हैं। मन्त्री का कर्तव्य है कि वह राजा से परामर्श लेकर वैदेशिक राजाओं से सन्धि और विग्रह की स्थापना करे। अमात्य का कर्तव्य है ज़मीन पर लगान की देख रेख। किन्तु भोजराज ने अमात्य और मन्त्री के जो गुण बताये हैं उनमें कुछ विशेष अन्तर नहीं दीखता। भोजराज लिखते हैं कि अमात्य को शान्त, विनीत, कुशल, सत्कुलीन, शुभान्वित, शास्त्रार्थतत्त्वज्ञ होना चाहिए। इसी के समानार्थ लक्षण मन्त्री, गुरु और पुरोहित के हैं। भोजराज को चाहिये था कि वे इन सब के पृथक् पृथक् कर्तव्य बताते।

अमात्य-लक्षण के साथ ही भोजराज ने गुरु, पुरोहित, मन्त्री, दूत, लेखक, ज्योतिर्ज्ञ, अन्त:पुराध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गजाध्यक्ष, युद्धाध्यक्ष आदि के लक्षण बताये हैं। उचित तो यह था कि अश्वाध्यक्ष, गजाध्यक्ष, युद्धाध्यक्ष—इनको सेनाप्रकरण में दिखाया जाता। किन्तु भोजराज का प्रकरणविन्यास कुछ अपने ही ढङ्ग का है।

अमात्यप्रकरण के अनन्तर कोषप्रकरण है। भोजराज ने कोष की पर्याप्त प्रशंसा की है। किन्तु साथ में यह भी लिख दिया है कि कोष राजा के न तो प्राण हैं और ना ही शरीर। इस से कोष का अत्यधिक महत्त्व खण्डित हो जाता है। धर्म तथा सुख के निमित्त भृत्यों के पालनार्थ, तथा आपत्प्रतीकार के लिये कोष का होना आवश्यक है। धर्म और काम में कोष राजा का परम सहायक है। भोजराज का विचार है—और यह विचार अकेले भोजराज का ही नहीं—कि कोष भिक्षा की तरह शनैः शनैः

बढ़ता है, सुरमा की तरह मन्द मन्द घटता है। अभिप्राय यह है कि जिस तरह घर घर से माँगी हुई भीख एकट्ठी होकर बढ़ती है इसी तरह मन्द मन्द भी अर्जित धन कोष में सञ्चित होकर बढ़ जाता है। जैसे अल्प मात्रा में भी निकालने से सुरमा घट जाता है इसी प्रकार अल्प मात्रा में भी कोष से निकालने से धन घट जाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य जितना भी मिले, अधिक वा न्यून, कोष में डालना चाहिये।

भोजराज अन्याय से धनोपार्जन के अत्यन्त विरुद्ध हैं। भोजराज का विश्वास है कि अन्याय से उपार्जित धन शत्रु के हाथ लग जाता है और स्वयं मनुष्य पाप का भागी बनता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये भोजराज ने सिंह का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार सिंह हाथी के मारने से पाप का भागी होता है किन्तु द्रव्यफल का भागी नहीं होता, क्योंकि हाथी को मार कर वह उसे स्वयं नहीं खाता, इसी प्रकार अन्याय से द्रव्य का उपार्जन करने वाला मनुष्य पाप का भागी होता है किन्तु द्रव्यफल का भागी नहीं होता क्योंकि वह अन्यायोपार्जित द्रव्य शत्रु वा चोर के हाथ लग जाता है। भोजराज ने तीन प्रकार के मनुष्यों की अशुभ गति बतायी है :—(१) तादात्मिक (२) मूलहर (३) कदर्य। तादात्मिक उसे कहते हैं जो भविष्यकाल में मिलने वाले धन की आशा से वर्तमान धन का व्यय कर दे। प्राय: ऐसे मनुष्यों का परिणाम अच्छा नहीं होता। मूलहर वह है जो पितृकुलागत धन को ठीक तरह नहीं बरतता। उसका भी परिणाम अशुभ ही होता है। कदर्य वह है जो भृत्यों तथा अपनी आत्मा को कष्ट देकर धन का सञ्चय करता है। कदर्य के धन को राजा, दायाद अथवा चोर ले जाते हैं।

कोष-निरूपण के अनन्तर राज्य के अङ्ग राष्ट्र का निरूपण आता है। भोजराज का कथन है कि द्रव्य की मुख्य साधनभूमि राष्ट्र है। राष्ट्र-भूमि से द्रव्य की उत्पत्ति होती है। जिस तरह की भूमि हो उस तरह की द्रव्यसम्पत्ति पैदा होती है। इसलिए भूमिगुणवृद्धि की ओर राजा को ध्यान देना चाहिए। भोजराज के कथन का सारांश यह है कि राष्ट्र में खेती अच्छी होने से राजा को प्रजा से पर्याप्त 'कर' मिलता है। इसलिए प्रत्येक गांव में खेती करवाना आवश्यक है। किन्तु यहां पर एक बात का ध्यान रखना होगा। जिस प्रकार शरीर को प्रतिसमय कार्य में लगाने से प्राण क्षीण हो जाते हैं इसी प्रकार प्रतिवर्ष एक ही जगह खेती करवाने से भूमि गुणहीन हो जाती है। गुणहीन भूमि में खेती करवाना ठीक नहीं।

राष्ट्र के विषय में दिग्दर्शन कराकर भोजराज ने सेना के विषय में पर्याप्त सूचना दी है। प्राचीन नीतिग्रन्थों के अनुसार भोजराज ने सेना के चार अङ्ग माने हैं:—रथ,

अश्व, गज और पदाती'। इसके अतिरिक्त मौलभूत, श्रेणीबद्ध और संहत—इस तीन प्रकार की सेना के निर्देश में भी भोजराज ने प्राचीन पद्धति का अनुसरण किया है। साथ ही रथ, गज, अश्व आदि की विशेष उपयोगिता के स्थान बताये हैं। भोजराज का अनुभव है कि सम देश में रथ बल है, विषम में हाथी, जङ्गल में घोड़ा और जल में नौका। पदाती सब जगह बल है। सेना के चारों अङ्गों में से भोजराज पदाती को महत्त्व का स्थान देते हैं।

भोजराज ने पदाति के स्थान पर पत्तिशब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने एक रथ, एक हाथी, पांच पदाती, और तीन घोड़े—इस समुदाय को पत्ति माना है। इस लिये यहां 'पत्तयश्च' के स्थान पर 'पदातयः' पाठ होना चाहिये।

प्रायः नीतिशास्त्रों में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव—इन छः गुणों का सप्ताङ्ग से पृथक् ही निरूपण मिलता है। किन्तु भोजराज को राज्य के अङ्ग बल के साथ ही इन छः गुणों का निरूपण सर्वथा अभिप्रेत है; अर्थात् युक्तिकल्पतरु में बलनिरूपण के साथ ही यान आदि छः गुणों का निरूपण आता है। साथ ही साम, दान, दण्ड, भेद, इन चार उपायों का वर्णन है। इसके अनन्तर मन्त्रगुप्ति पर कुछ पद्य हैं। फिर द्वन्द्वयुक्ति में राज्य के अङ्ग दुर्ग का वर्णन है।

अच्छा तो यह होता कि राज्य के सात अङ्गों में से जितने भी अङ्गों का वर्णन भोजराज को अभीष्ट था उसके अनन्तर ही गुण, उपाय आदि का वर्णन किया जाता। इस प्रकार राज्याङ्गनिरूपण में व्यवधान भी न आता। किन्तु भोजराज, जहां तक सम्भव है, राज्याङ्गों में ही गुण, उपाय आदि को गर्भित करना चाहते हैं।

युद्ध की सफलता के लिये द्वन्द्वयुक्ति का आश्रय नितान्त आवश्यक है। द्वन्द्वयुक्ति से दो प्रकार की अवस्थाओं का तात्पर्य है। दो प्रकार की अवस्थायें हैं कृत्रिम और अकृत्रिम। भोजराज के मत में इन दो प्रकार की अवस्थाओं में युद्ध करने से कार्य सिद्ध हो जाता है। गिरि, नदी आदि दैवघटित अवस्थायें अकृत्रिम हैं। अकृत्रिम अवस्था शत्रु के लिये दुर्लङ्घ्य है। प्राकार परिखा आदि कृत्रिम अवस्थायें

---

१. रथिनः सादिनश्चैव गजारोहाश्च सत्तमाः।
पत्तयश्च महाकाया बलमेतच्चतुर्विधम्॥

२. एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः।
त्रयश्च तुरगाश्चैव पत्तिरित्यभिधीयते॥

हैं। कृत्रिम अवस्थायें शत्रु के लिये लङ्घ्यालङ्घ्य हैं।

आश्चर्य है कि भोजराज ने युक्तिकल्पतरु में दुर्ग शब्द के स्थान पर द्वन्द्व शब्द का प्रयोग किया है।

नीतिशास्त्रों में धनुर्दुर्ग, महीदुग, गिरिदुर्ग आदि नाना प्रकार के दुर्गों का निरूपण है। ये सब दुर्ग भोजराज की द्वन्द्वयुक्ति के अन्तर्गत हैं। इन दुर्गों का विवेचन नीतियुक्ति में ही हो सकता था। जब अमात्य, राष्ट्र, कोष, बल—राज्य के इन चार अङ्गों का विवरण नीतियुक्ति में दिया है तो पांचवें अङ्ग दुर्ग का विवेचन पृथक् द्वन्द्वयुक्ति में क्यों किया। उत्तर यही हो सकता है कि भोजराज के मत में दुर्ग का विशेष महत्त्व है। इसीलिए पृथक् द्वन्द्वयुक्ति में भोजराज को दुर्ग का विवरण करना पड़ा।

भोजराज का कथन है कि सेना केवल से द्वन्द्व का बल अधिक है। थोड़ी सेना वाला भी राजा द्वन्द्व के बल से सफलतापूर्वक शत्रु का सामना कर सकता है। दुर्ग की विशेषता बताते हुए भोजराज कहते हैं कि प्राकार के ऊपर बैठा हुआ अकेला धन्वी सौ धन्वियों के साथ युद्ध कर सकता है, इसी तरह सौ धन्वी हजार धन्वियों के साथ।

पहले लिख चुके हैं कि दुर्ग दो प्रकार के हैं—(१) अकृत्त्रिम और (२) कृत्त्रिम। गिरि, नदी आदि दैवघटित दुर्ग अकृत्त्रिम हैं; प्राकार, परिखा आदि दुर्ग कृत्त्रिम हैं।

अकृत्त्रिम दुर्गों में से भोजराज ने दो दुर्गों का विशेषरूप से निरूपण किया है। वे हैं गिरिदुर्ग और नदीदुर्ग।

गिरिदुर्ग में भोज्य पदार्थ काफी संख्या में मिल सकते हैं। अन्य वस्तुएं भी सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं। गिरिदुर्ग दुरारोह भी है—अर्थात् शत्रु इस पर जल्दी से चढ़ नहीं सकता। दूसरा नदीदुर्ग है। जिस देश के चारों ओर गम्भीर और विस्तीर्ण नदियां हों वह देश शत्रु के लिए दुर्लङ्घ्य है। प्राचीन अरण्य आदि भी अकृत्त्रिम दुर्गों के अन्तर्गत हो जाते हैं।

अकृत्त्रिम दुर्गों का होना वा न होना प्रकृति पर निर्भर है। इसलिए भोजराज ने उनके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा है। किन्तु कृत्रिम दुर्ग मनुष्यशक्त्यधीन हैं। इसलिए भोजराज ने उनका विस्तृत निरूपण आवश्यक समझा है।

भोजराज का विचार है कि जिस देश में उच्च पर्वत तथा गहन नदी न हो राजा को चाहिये कि उस देश में कृत्त्रिम दुर्ग बनवावे। कृत्त्रिम दुर्गों में से जलदुर्ग गिरिदुर्ग, धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग आदि कुछ उत्तम दुर्ग बताये हैं।

कुछ नीतिकार सप्ताङ्ग में से सेना का विशेष महत्त्व देते हैं, कुछ दुर्ग को। क्योंकि सेना के बिना दुर्ग आदि सब व्यर्थ हैं इसलिए सेना का विशेष महत्त्व है। गर्ग मुनि मन्त्र को विशेष गौरव देते हैं। इससे मन्त्र के आधारभूत मन्त्री का वैशिष्ट्य प्रतिपादित होता है। गर्ग मुनि का मत है कि जब शत्रु को जीतने के सब उपाय असफल हो जाते हैं तो केवल मन्त्र ही एक उपाय रह जाता है जिसके द्वारा कार्य-सिद्धि की सम्भावना हो सकती है। मन्त्र के अचरितार्थ होने पर दूसरा कोई सिद्धि का उपाय नहीं रहता।

भोजराज ने यद्यपि किसी अङ्ग का विशेष महत्त्व नहीं दिखाया तो भी उनका झुकाव कुछ दुर्ग की तरफ ही है। दुर्गनिरूपण को उन्होंने अन्याङ्गनिरूपण से पृथक् रक्खा है। बलद्वन्द्व (=सेना) और मन्त्रद्वन्द्व (=मन्त्री) के विशेष महत्त्वों पर अन्यनीतिकारों का अभिप्राय प्रकट करने के अनन्तर उन्होंने प्राचीन नीतिकार भोज को उद्धृत किया है। उद्धृत भोज का मत है कि विस्तीर्ण, विषम और दुर्लङ्घ्य वही दुर्ग उत्तम है जिसके प्रवेशापसरण सुगम हों। भोजराज इस भोज से सहमत हैं। उनका मन्तव्य है कि राज्य के सब अङ्गों में से उत्तम अङ्ग दुर्ग है, किन्तु वही दुर्ग अच्छा है जिससे आपत्तिकाल में राजा सुगमता से निकल भी सके। नहीं तो दुर्ग एक बन्दिशाला है।

———

आचार्यहेमचन्द्रकृत लघ्वर्हन्नीति।

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम० ए०; एम० ओ० एल०; लाहौर।]

आचार्य हेमचन्द्र का जीवनचरित्र—

विक्रम संवत् ११४५ (= ई० स० १०८८) में धुन्धुका नगर के अन्तर्गत मोढ़ जाति के एक कुटुम्ब में आचार्य हेमचन्द्र का जन्म हुआ। इनका जन्मनाम चाङ्गदेव था, माता का नाम पाहिणी और पिता का नाम चाचिग। चाचिग वैदिक-धर्म के अनुयायी थे, किन्तु पाहिणी का जैनधर्म की ओर झुकाव था। जब चाङ्गदेव आठ वर्ष के हुए तो आचार्य देवचन्द्र धुन्धुका में आये। एक दिन जब पाहिणी पुत्र चाङ्गदेव को साथ लिये जैन मन्दिर को जा रही थी तब आचार्य देवचन्द्र की दृष्टि चाङ्गदेव पर पड़ी। बालक को होनहार जानकर देवचन्द्र ने उसकी माता से कहा कि 'बालक को जैन साधु बनने के लिये हमें दे दो।' कुछ विचार के अनन्तर बालक की माता ने इस आदेश को मान लिया। बालक के पिता चाचिग देशान्तर में थे। इसलिए बालक को दीक्षा देने में अड़चन न पड़ी। कुछ समय के बाद जब चाचिग घर को आये तो उन्हें मालूम हुआ कि उनके पीछे देवचन्द्र ने उनके पुत्र चाङ्गदेव को जैन साधु बना लिया है। क्रोध में आकर बालक को लेने के लिये वह देवचन्द्र के पास गये। किन्तु राजा जयसिंह सिद्धराज के मन्त्री के समझाने से उन्होंने आग्रह छोड़ा और बालक को साधु ही रहने दिया।

साधु होने पर चाङ्गदेव का नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। सोमचन्द्र ने वैदिक तथा जैन शास्त्रों का परिश्रम से अध्ययन किया। फलतः उसे आचार्यसङ्घ से 'सूरि' पद मिला और उसका नाम सोमचन्द्र से हेमचन्द्र परिवर्तित हुआ। यह घटना नागोर में विक्रम संवत् ११६२ (= ई० स० ११०५) को हुई।

'सूरि' पद प्राप्त करने के अनन्तर हेमचन्द्र गुजरात की राजधानी अणहिल्लपुर में आये। यहां पर राजा जयसिंह सिद्धराज से इनकी भेंट हुई। इनकी विद्या से प्रभावित होकर सिद्धराज ने इन्हें अपने पास रख लिया। सिद्धराज के पास रहकर हेमचन्द्र ने सिद्धहेमशब्दानुशासन, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह आदि

---

१. रासमाला के अनुसार इस समय हेमचन्द्र की आयु आठ वर्ष की, अन्य ग्रन्थों के अनुसार छः वर्ष की थी।

अनेक ग्रन्थों की रचना की, और सिद्धहेमशब्दानुशासन पर टीका भी लिखी।[1]

राजा जयसिंह सिद्धराज पहले वैदिकधर्म के अनुयायी थे, किन्तु पीछे वे हेमचन्द्र की सङ्गति से जैनधर्म के प्रभाव में आगये। इन्होंने दो जैन मन्दिर बनवाये, अणहिल्लपुर में राजविहार और सिद्धपुर में सिद्धविहार। राजद्वारा जैनधर्म के प्रचार का आरम्भ सिद्धराज के राज्य में हुआ था, किन्तु जैनधर्म का विस्तार सिद्धराज के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल के राज्य में हुआ।

चालुक्यवंशीय जैनराजा कुमारपाल—

आचार्य हेमचन्द्र का कथन है[2] कि राजा कुमारपाल के आग्रह से उन्होंने लघ्वर्हन्नीति की रचना की। यहां पर स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि राजा कुमारपाल कौन थे। इसलिए यहां पर राजा कुमारपाल का संक्षिप्त जीवनचरित्र प्रासङ्गिक है।

ई० स० १०२२ के लगभग भीमदेव अणहिल्लपुर में राज्य करते थे। चउला[3] नाम्नी वेश्या से उनका हरिपालनामक बालक उत्पन्न हुआ। हरिपाल का पुत्र त्रिभुवनपाल और त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल हुए[4]। भविष्यवक्ताओं ने कहा कि राजा

---

१ आचार्यहेमचन्द्रकृत ग्रन्थों की संख्या परिमित नहीं है। इस विषय में चन्द्रप्रभकृत प्रभावकचरित में इस प्रकार लिखा है :—

> व्याकरणं पञ्चाङ्गं प्रमाणशास्त्रं प्रमाणमीमांसाम् ।
> छन्दोलङ्कृतिचूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित ॥
> एकार्थानेकार्था देश्या निर्घण्ट इति च चत्वारः ।
> विहिताश्च नामकोशा भुवि कवितानटयुपाध्यायाः ॥
> त्र्युत्तरषष्टिशलाका नरेशव्रतगृहिव्रतविचारे ।
> अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः ॥
> लक्षणसाहित्यगुणं विदधे च द्व्याश्रयं महाकाव्यम् ।
> चक्रे विंशतिमुच्चैः स वीतरागस्तवानां च ॥
> इति तद्विहितग्रन्थसंख्यैव हि न विद्यते ।
> नामापि न विदन्त्येषां मादृशा मन्दबुद्धयः ॥

(पृ० ३४६, श्लो० ८३२—८३६.)

२. लघ्वर्हन्नीति १. ६.

३. प्रबन्धचिन्तामणि की कुछ आदर्शपुस्तकों में बकुलदेवी नाम है। सम्भव है चउला वेश्या का नाम रानी होने के अनन्तर बकुलदेवी रक्खा गया हो।

४. प्रबन्धचिन्तामणि पृ० ७७; कुमारपालप्रतिबोध के अनुसार कुमारपाल का वंशवृक्ष इस प्रकार है—भीमराज-क्षेमराज-देवप्रसाद-त्रिभुवनपाल-कुमारपाल।

जयसिंह सिद्धराज के अनन्तर कुमारपाल गद्दी पर बैठेंगे । किन्तु सिद्धराज जानते थे कि कुमारपाल के पितामह हरिपाल भीमदेव से चउला वेश्या में पैदा हुए थे । वे हीन-जातित्व के कारण कुमारपाल पर राज्य का उत्तरदायित्व छोड़ना नहीं चाहते थे । इन्हें कुमारपाल से घृणा थी और वे कुमारपाल की हत्या के प्रयत्न में थे । कुमारपाल को इन सब बातों का पता चल गया । वे भय के कारण तपस्वी के वेष में गुप्तरूप से एक मन्दिर में रहने लगे ।

जयसिंह सिद्धराज के पिता कर्णदेव का श्राद्धदिन था । श्राद्ध पर नगर के सब तपस्वी निमन्त्रित थे । तपस्वियों के साथ कुमारपाल भी निमन्त्रण में सम्मिलित हुए । सिद्धराज श्रद्धापूर्वक निमन्त्रितों के चरण धो रहे थे । कुमारपाल के चरणों में चक्र-वर्तित्व के चिन्ह देखकर सिद्धराज की आकृति सहसा बदल गई । राजा के मुखविकार को देखकर कुमारपाल भय के कारण भाग गये । सिद्धराज ने उन्हें पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजा । कुमारपाल पहले तो एक कुम्हार के घर जा छुपे, फिर किसी खेत में । इस तरह उन्हें तीन दिन लगातार भूखा रहना पड़ा । भागते भागते वह खंभात जा निकले । यहां पर उनकी सिद्धराज के अमात्य उदयन से भेंट हुई । कुमारपाल तपस्वी का वेष बना किसी मन्दिर में ठहरे थे । इस समय आचार्य हेमचन्द्र भी खंभात में थे । एक दिन आचार्य हेमचन्द्र के साथ मन्दिर में जाकर अमात्य उदयन ने कुमारपाल के विषय में आचार्य हेमचन्द्र से पूछा । हेमचन्द्र ने कहा कि कुमारपाल चक्रवर्ती राजा बनेगा । जब कुमारपाल इस बात के मानने में शङ्कित-से दिखाई दिये तब हेमचन्द्र ने अपनी भविष्यवाणी को दो प्रतियों पर लिखकर एक प्रती अमात्य उदयन को और दूसरी कुमारपाल को दे दी । भविष्यवाणी इस प्रकार थी:—
'यदि तुम विक्रम संवत् ११९९, कार्तिक वदि २, रविवार, हस्त नक्षत्र में राजा नहीं बनोगे तो आगे से मैं भविष्य की बात कहना छोड़ दूंगा ।'

भविष्यवाणी से प्रोत्साहित होकर उदयन ने कुमारपाल को आश्रय दिया और सिद्धराज से बचने के लिये उन्हें मालवा भेज दिया ।

कुमारपाल के मालवा पहुंचते ही अणहिल्लपाटन में सिद्धराज की मृत्यु होगई । मृत्यु का समाचार मिलते ही कुमारपाल अणहिल्लपाटन को आये और बहिनोई काण्हड-देव के पास ठहरे । राज्य के उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार सिद्धराज ने काण्हडदेव को सौंपा था । और दो व्यक्ति भी राज्य के अधिकारी थे । किन्तु उनके अयोग्य होने के कारण सर्वसम्मति से कुमारपाल को ही राज्य पर बैठाया गया । इस समय कुमारपाल की आयु पचपन वर्ष की थी ।

ई० स० ११४२ में कुमारपाल सिंहासन पर बैठे। पहले दस वर्ष वे राज्यस्थिरता के लिये उद्धत राजाओं के दबाने में लगे रहे। हेमचन्द्रकृत महावीरचरित[1] के अनुसार कुमारपाल ने उत्तर में तुर्किस्तान, पूर्व में गङ्गातट, दक्षिण में विन्ध्याचल, और पश्चिम में समुद्रतट तक विजय प्राप्त किया। इन पर जैनधर्म का प्रभाव ई० स० ११५२ में पड़ा। तब ही से इन्होंने जैनधर्म के प्रचार को राज्य का अङ्ग माना। अनेक जैनमन्दिर बनवाये। जीवहत्या बन्द कर दी। गिरनार और शत्रुञ्जय पर्वतों की यात्रा करने से तीर्थयात्रापरिपाटी को प्रोत्साहित किया।

कुमारपाल की वंशावली—

गुजरात के राज्य से कुमारपाल के वंशपरम्परागत सम्बन्ध का ज्ञान कुमारपाल के वंशवृक्ष से होता है। सोमप्रभकृत कुमारपालप्रतिबोध इस वंशवृक्ष का आधार है :—

---
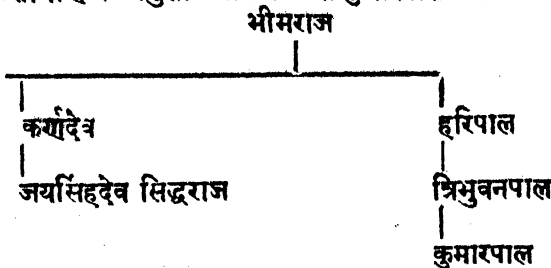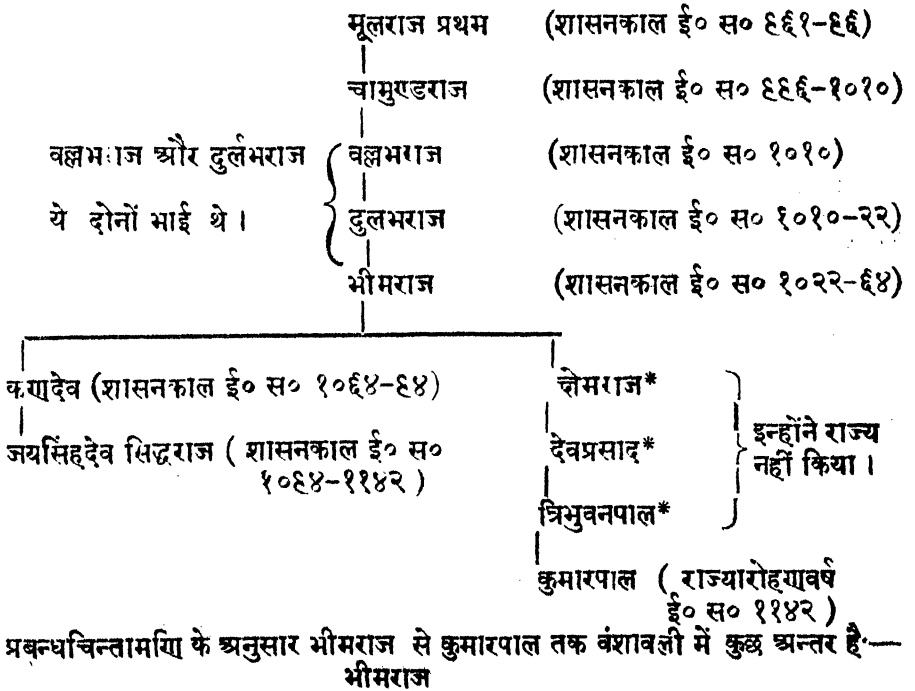
१. स कौबेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिदशापगाम्।
यान्यामाविन्ध्यमावार्धि पश्चिमां साधयिष्यति ४. ५२.

लघ्वर्हन्नीति की रचना—

लघ्वर्हन्नीति के लघुशब्द से ही प्रतीत होता है कि कोई बृहदर्हन्नीतिशास्त्र भी होगा। इस समस्या पर हेमचन्द्र ने स्वयं ही प्रकाश डाला है। लघ्वर्हन्नीति में[1] मङ्गलाचरण के अनन्तर शास्त्र का प्रयोजन बतलाते हुए हेमचन्द्र लिखते हैं:—

कुमारपालक्ष्मापालाग्रहेण पूर्वनिर्मितात्।
अर्हन्नीत्यभिधाच्छास्त्रात् सारमुद्धृत्य किञ्चन ॥ १. ६.
भूपप्रजाहितार्थं हि शीघ्रस्मृतिविधायकम्।
लघ्वर्हन्नीतिसच्छास्त्रं सुखबोधं करोम्यहम् ॥ १. ७.

स्पष्ट है कि राजा कुमारपाल के आग्रह से प्राचीन बृहदर्हन्नीतिशास्त्र से सार को लेकर हेमचन्द्र ने लघ्वर्हन्नीतिशास्त्र की रचना की है।

'पूर्वनिर्मितादर्हन्नीत्यभिधाच्छास्त्रात्' इस वाक्यांश से लघ्वर्हन्नीति के आधारभूत प्राचीन बृहदर्हन्नीतिशास्त्र का बोध स्पष्ट हो जाता है।

'पूर्वनिर्मितात्' इस पद से प्राचीनता ही व्यक्त होती है, कर्तृत्व का निर्णय नहीं होता। 'कुमारपालक्ष्मापालाग्रहेण' इस पद का सम्बन्ध लघ्वर्हन्नीति से है न कि बृहदर्हन्नीति से।

बृहदर्हन्नीतिशास्त्र का परिचय लघ्वर्हन्नीति के अन्तर्गत प्रकरणों के कुछ पद्यों से भी मिलता है:—

इति संक्षेपतः प्रोक्त ऋणादानक्रमो ह्ययम्।
विस्तारो बृहदर्हन्नीतिशास्त्रे वर्णितो भृशम् ॥

ऋणादानप्रकरण पृ० ६६.

एवं देयविधिः प्रोक्तः सभेदो विस्तरेण वै।
महार्हन्नीतिशास्त्राच्च ज्ञेयस्तदभिलाषिभिः ॥

देयविधिप्रकरण पृ० १०६.

इत्येवं वर्णितस्त्वत्र दायभागः समासतः।
यथाश्रुतं विशेषश्च ज्ञेयोऽर्हन्नीतिशास्त्रतः ॥

दायभागप्रकरण पृ० १५६.

इति संक्षेपतः प्रोक्तः सीमावादस्य निर्णयः।
ज्ञेयो विशेषो धीमद्भिर्महार्हन्नीतिशास्त्रतः ॥

सीमावादप्रकरण पृ० १६८.

---

1. पृ० २.

इत्यादि पद्यों से बृहदर्हन्नीतिशास्त्र का होना तो सिद्ध हो जाता है किन्तु इसके कर्तृत्व पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

यद्यपि बृहदर्हन्नीति के कर्तृत्व के विषय में हेमचन्द्र ने हमें कुछ भी परिचय नहीं दिया तो भी इसकी भाषा के विषय में हमें अनभिज्ञ नहीं रक्खा। लघ्वर्हन्नीति में ही कहीं कहीं बृहदर्हन्नीति के पद्य उद्धृत कर दिये हैं :—

"यदुक्तं बृहदर्हन्नीतौ—

रोगाइरेण दिण्णं जं दाणं सुरकधम्मकज्जस्स।
तस्सय मरणेत्ति सुओ जुग्गोच्चियं तं धणं दातुं॥" पृ० १०६.

"यदुक्तं बृहदर्हन्नीतौ—

पइ मरणे तब्भज्जा दव्वस्साहि वा भवणेणूणं।
पुत्तस्स य सब्भावे तहय अहावेवि विसाविइवा॥
जइ सा होइ सुसीला गुणाढावस्स रायकरणिज्जे।
विक्कयदाणादियं कुज्जा नहु को वि पडिवंहो॥" पृ० १५१.

"यदुक्तं बृहदर्हन्नीतौ—

किसिवाणिज्जपसूहिं जं लाहो हवइ तस्स दसमंसं।
दावेइ निवो भिश्चं अणिच्छिए वेज्जणे तस्स॥ पृ० १७४.

"यदुक्तं बृहदर्हन्नीतौ—

हाणी णहु सुवणे अमीए पलदुग्गं भवे रयए।
तंवस्स पंचलोहे दस सीसे अठय इसयगं॥" पृ० १८०.

"यदुक्तं बृहदर्हन्नीतौ—

हियवाइस्सय वयणं जो नहु मणाइ तिदुवितव्वूहे।
सो होइ दंडणिज्जोपढमदमेणं खु णिवं पि॥" पृ० २०७.

उद्धृत पद्यों से प्रतीत होता है कि बृहदर्हन्नीतिशास्त्र की भाषा प्राकृत और छन्द आर्या था।

जैनमत में नीतिशास्त्र की उत्पत्ति—

लघ्वर्हन्नीति[1] में लिखा है कि नीतिशास्त्र के प्रवर्तक आदिराज ऋषभस्वामी हुए हैं। किन्तु ऋषभदेव से पूर्व नीतिशास्त्र का अभाव नहीं था। कलियुग के कारण नीतशास्त्र का केवल लोप हो गया था। लोग बहुत दुखित थे। लोकहित के लिये ऋषभदेव ने नीतिशास्त्र को उज्जीवित किया।

---

१. पृ० ३-४, श्लो० १३-१७.

लघ्वर्हन्नीति से पता चलता है[1] कि कलियुग के पहले जगह जगह कल्पवृक्ष थे। लोग जो वस्तु चाहते थे कल्पवृक्षों से मिल जाती थी। कलियुग के आने पर कल्पवृक्षों की सत्ता क्षीण होगई। तब लोक-हित के लिये ऋषभदेव ने कुछ मर्यादायें स्थापित कीं:—(१) वर्णाश्रमविभाग, (२) संस्कारविधि, (३) कृषिवाणिज्य-शिल्पविधि, (४) व्यवहारविधि, (५) राजनीतिमार्ग, (६) पुरपट्टनविधि, (७) विद्या, (८) क्रिया—लौकिक और पारलौकिक। इस तरह नीतिशास्त्र का प्रचार हुआ।

ऋषभदेव के पुत्र भरत ने चार वेदों की रचना की। किन्तु ये चार वेद कुछ समय के बाद भ्रष्ट होगये, हिंसा आदि दोषों से भर गये। मिथ्यात्वियों ने इन वेदों को अपनाया। इसलिए जैनों ने इनका बहिष्कार कर दिया[2]।

लघ्वर्हन्नीति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषभदेव की व्यवस्थापित मर्यादाओं के अनुसार दैनिक व्यवहार के लिये पूर्वाचार्यों ने राजनीति पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे[3]।

नीतिशास्त्र की उत्पत्ति का यह प्रकार हेमचन्द्रकृत लघ्वर्हन्नीति में ही केवल नहीं किन्तु अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। आदिपुराण के तीसरे पर्व में जिनसेन ने ऋषभदेव को ही नीतिशास्त्र का प्रथम प्रवर्तक माना है। यहां पर सृष्टि-रचना का वर्णन करते हुए जिनसेन ने नीतिशास्त्र की रचना के मूलकारणों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। वह संक्षेपतः इस प्रकार है:—

आदिपुराण[4] में लिखा है कि व्यवहारकाल के दो भेद हैं:—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी। अवसर्पिणीकाल के छः भेद हैं:—(१) सुषमासुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमादुःषमा, (४) दुःषमासुषमा, (५) दुःषमा, (६) दुःषमा-दुःषमा। उत्सर्पिणीकाल के भी छः भेद हैं:—(१) दुःषमादुःषमा, (२) दुःषमा, (३) दुःषमासुषमा, (४) सुषमादुःषमा, (५) सुषमा, (६) सुषमा-सुषमा।

अवसर्पिणी के पहले काल में स्त्रीपुरुषों की दीर्घ आयु, लम्बा कद, और सुवर्ण की तरह उज्ज्वल वर्ण था। इस प्रकार के सुखमय संसार में जीवन की कठिन समस्या उपस्थित ही नहीं होती थी। उस समय कुछ वृक्ष थे जो संसार को प्रकाशित करने के साथ प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुसार वांछित फल देते थे। अवसर्पिणी के दूसरे काल में सुख की मात्रा पहले काल की अपेक्षतः, तीसरे काल में दूसरे काल की अपेक्षतः कम होगई। सूर्य और चन्द्रमा आकाश में दिखाई पड़े। उन्हें देखकर लोग चकित और भीत होगए। उस काल के विद्वान् प्रतिश्रुति को उन्होंने सारी घटना सुनाई।

---

१. पृ० ४, श्लो० १४-१७. २. पृ० ५, श्लो० १८-२२. ३. पृ० ५, श्लो० २१-२२. ४. तृतीय पर्व।

प्रतिश्रुति प्रथम कुलकर थे। उन्होंने लोगों को समझाया कि कल्पवृक्ष का प्रकाश कम होगया था। इस कारण नक्षत्र दीखने लग पड़े थे। किन्तु भय भी बात नहीं थी। लोगों को कुलकर प्रतिश्रुति के कथन पर विश्वास आगया।

पर्याप्त समय के अनन्तर कुछ विशेष घटनायें हुईं। आकाश में नक्षत्र और पृथ्वी पर पर्वत और नदियां दिखायी देने लगीं। अहिंस्र पशुओं का स्वभाव हिंस्र बन गया। लोग व्याकुल होने लगे[1]।

दैववश अब कुलकरों का प्रादुर्भाव हुआ। कुलकरों ने लोगों को समझाना शुरू किया कि वे किस तरह हिंस्र जीवों से आत्मरक्षा करें; हाथी, घोड़ा आदि पशुओं को घरेलू बनावें। कुलकरों ने पर्वतों पर चढ़ने तथा नदी के पार करने के तरीके भी बताए। इस समय कल्पवृक्ष अल्पसंख्या में रह गये थे। पांचवें कुलकर सीमन्तक ने कल्पवृक्षों की मर्यादा नियत कर दी। छठे कुलकर सीमन्धर ने उन पर चिन्ह लगा दिए। ग्यारहवें कुलकर नाभि के समय कल्पवृक्ष सर्वथा ही लुप्त होगए। यह पहला ही समय था कि वर्षा होने लगी। पृथ्वी पर वृक्ष, औषधियां, पुष्प, फल पैदा हुए। कुलकर नाभि ने लोगों को समझाया कि वे किस तरह पृथ्वी के उपज को पकावें और विषैले पौदों से आत्मत्राण करें। इस समय मनुष्य का सारा जीवन बदल चुका था[1]।

अन्तिम कुलकर आदिराज ऋषभदेव ने कर्म को छः भागों में बांटा:—(१) युद्ध, (२) कृषि, (३) साहित्य, (४) शिल्प, (५) वाणिज्य, (६) व्यवसाय। मनुष्यों को तीन वर्णों में विभक्त किया :—(१) क्षत्रिय, (२) वैश्य, (३) शूद्र। शूद्र के दो भेद बनाए :—(१) रजक नापित आदि, और (२) मिश्रित। मिश्रितों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया :—(१) स्पृश्य और (२) अस्पृश्य। ग्राम और नगर की परिपाटी स्थापित की। सारी पृथ्वी को चार प्रधान राजाओं के अधिकार में रक्खा। प्रत्येक प्रधान राजा के नीचे एक हजार छोटे राजा थे। ऋषभदेव ने दण्डशाला और बन्दिशाला के तरीके भी निकाले। अभी तक तो सामान्यतः धिक्कार से ही दण्ड का काम चलता था। किन्तु अब कुछ अधिक दण्ड की जरूरत प्रतीत हुई, क्योंकि संसार में मात्स्यन्याय के प्रचार की सम्भावना का भय बढ़ गया था[1]।

जैन राजनीति में चातुर्वर्ण्य का स्थान—

पहले कह चुके हैं कि अन्तिम कुलकर और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने तीन वर्ण बनाये—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ऋषभदेव के पुत्र भरत ने इन तीनों वर्णों में से कुछ लोगों को चुनकर एक ब्राह्मण वर्ण बनाया। इससे सिद्ध होता है कि जैनशास्त्रों के अनुसार

---

१. आदिपुराण, पर्व १६, श्लो० १३०-१६०.

वर्णव्यवस्था तीर्थङ्करों की कृति है, दैवी कृति नहीं। तो भी आदिपुराण में वर्णित वर्णव्यवस्था का प्रकार ऋग्वेदसंहिता में वर्णित वर्णव्यवस्था के प्रकार से समता रखता है। ऋग्वेदसंहिता के पुरुषसूक्त में लिखा है कि ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। आदिपुराण में लिखा है[1] कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन तीन वर्णों की व्यवस्था ऋषभदेव ने, और ब्राह्मणवर्ण की व्यवस्था ऋषभदेव के पुत्र भरत ने की। ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। आदिपुराण में लिखा है कि ऋषभदेव ने हाथ में तलवार लेकर क्षत्रियवर्ण की, ऊरु से चलने का सङ्केत करते हुए व्यापारवृत्तिवाले वैश्य की, चरणों से नीचवृत्तिवाले शूद्र की उत्पत्ति की। ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मुख से ब्राह्मणों को पैदा किया। जैनशास्त्रों से पता चलता है कि आदिकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चारों वर्ण जैनसिद्धान्तों के मानने वाले थे। कुछ समय के अनन्तर ये चारों वर्ण असत्यमार्ग में पड़ गए। ब्राह्मणवर्ण को पैदा करने वाले सम्राट् भरत को पहले ही से इस बात का पता चल गया था। उन्हें कुछ अशुभ स्वप्न दिखायी पड़े थे। इनके पिता ऋषभदेव ने इन अशुभ स्वप्नों का यह अर्थ निकाला था कि कलियुग में ब्राह्मणवर्ण जैनधर्म को छोड़ अहिंसात्मक धर्म का ग्रहण करेगा। ऋषभदेव की वाणी सच्ची निकली। कलियुग में न केवल ब्राह्मणवर्ण ही, किन्तु क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ण भी जैनधर्म से पराङ्मुख होगये।

आदिपुराण में[2] जैनेतर ब्राह्मणों की निन्दा मिलती है। इन्हें विशेष अधिकार देने का घोर विरोध है। इन्हें अक्षरम्लेच्छ कहा है, क्योंकि इन्हें शास्त्रों का शब्दमात्र ज्ञान है। इन अक्षरम्लेच्छों का मान करना तथा इनसे कर न लेना भारी भूल है। आदिपुराण में जैन ब्राह्मण और अजैन ब्राह्मणों का कविप्रौढोक्तिसिद्ध परस्पर विवाद आता है। यदि कोई अजैन ब्राह्मण जैन ब्राह्मण को कहे कि तुम सच्चे ब्राह्मण नहीं हो तो उसे उत्तर में कहना चाहिये कि मुझे जिनेन्द्रदेव ने ज्ञानगर्भ से पैदा किया है और तुम्हें ब्रह्मा ने अपने मुख से। ब्रह्मा के मुख से पैदा होने के कारण लोग तुम्हें ब्राह्मण कह सकते हैं, किन्तु वास्तव में ब्राह्मणगुण तुझ में नहीं है। मनन और निदिध्यासन के कारण जैन ब्राह्मण ही ब्राह्मण है। इसलिए जैन ब्राह्मणों को जातिब्राह्मादि शब्दों से पुकारना सर्वथा अनुचित है। इस तरह अजैन ब्राह्मणों के महत्त्व का खण्डन करते हुए जिनसेन ने जैन ब्राह्मणों का महत्त्व सिद्ध किया है। दो बातों पर विशेष ध्यान दिया गया।

---

१. आदिपुराण, पर्व १६, श्लो० १४१–२४६.

२. आदिपुराण, पर्व ३६, श्लो० १०८–११३.

है: - एक तो जैन ब्राह्मणों को दान लेने के अधिकार पर, दूसरा जैन ब्राह्मणों से 'कर' लेने के निषेध पर।

आदिपुराण से जैन और अजैन—दो प्रकार की वर्णव्यवस्था का होना सिद्ध होता है; अर्थात् जैन ब्राह्मण, अजैन ब्राह्मण; जैन क्षत्रिय, अजैन क्षत्रिय; जैन वैश्य, अजैन वैश्य; जैन शूद्र, अजैन शूद्र। आदिपुराण में जैनवर्णों का अजैनवर्णों से अधिक महत्त्व दिखाया है। किन्तु आदिपुराण का यह वर्णभेद लघ्वर्हन्नीति में नहीं मिलता। लघ्वर्हन्नीति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों का ज़िक्र कई बार आया है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हेमचन्द्र लघ्वर्हन्नीति में वैदिक वर्णव्यवस्था को स्थान देते हैं। किन्तु जैन तथा अजैन रूप वर्णों का विभाग लघ्वर्हन्नीति में नहीं है। मालूम होता है कि हेमचन्द्र जैन तथा अजैन रूप वर्णभेद को नहीं मानते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों से हेमचन्द्र का अभिप्राय अजैन वर्णों से है। लघ्वर्हन्नीति में ब्राह्मण आदि जैन वर्णों के निर्देश न होने के कारण हम अनुमान लगा सकते हैं कि हेमचन्द्र जैनधर्म में वर्णव्यवस्था को नहीं मानते। उन्होंने वर्णव्यवस्था को जैनेतर धर्मों के लिये ही माना है।

लघ्वर्हन्नीति में जहां कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्देश है वहां अजैन वर्णों से ही हेमचन्द्र का तात्पर्य है। जहां कहीं जैनियों के लिये विशेष व्यवस्था दिखायी है वहां पर केवल जैनशब्द का प्रयोग है; जैन ब्राह्मण, जैन क्षत्रिय, जैन वैश्य, जैन शूद्र आदि शब्दों का व्यवहार नहीं। यदि ब्राह्मणादि वर्णों से जैन ब्राह्मणादि वर्णों का अभिप्राय होता तो फिर जैनों के लिये अलग व्यवस्था देने की जरूरत न होती।

सोमदेवसूरिकृत नीतिवाक्यामृत की आलोचना[1] में सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलकचम्पू[2] का उद्धरण देकर सिद्ध किया गया था कि जैनधर्म में वर्णाश्रमव्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिकसाहित्य को लौकिकधर्म माना गया है। सोमदेवसूरि लौकिकधर्म मानने में जैनों के लिये बाधा नहीं डालते। सोमदेवसूरि का कथन है कि जैन आगमविधि पारलौकिक धर्म है। श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादित विधि लौकिक धर्म है। यदि सम्यक्त्वहानि तथा व्रतदूषण न हो तो लौकिकधर्म को मान लेना चाहिये। हेमचन्द्र सोमदेव की इस व्यवस्था से सहमत प्रतीत होते हैं। उन्होंने वैदिक धर्म के राजनीतिक सिद्धान्त मान लिये हैं और जहां कहीं सम्यक्त्वहानि और व्रतदूषण देखा है केवल वहां पर जैनियों के लिये पृथक् सिद्धान्तों की रचना की है।

---

१. ओरियण्टल कालेज मैगज़ीन, मई १९४०, पृ० १००-११४.

२. यशस्तिलकचम्पू, पृ० ३७२.

हेमचन्द्र ने शासनपद्धति में वैदिक वर्णव्यवस्था को स्थान दिया है। वैदिक सम्प्रदाय के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मण का, वैश्य और शूद्र की अपेक्षा क्षत्रिय का, शूद्र की अपेक्षा वैश्य का उच्च पद है। हेमचन्द्र ने भी वर्ण की उच्चनीचता पर विशेष ध्यान रक्खा है। लघ्वर्हन्नीति ही इस बात का प्रमाण है। दण्ड-विधान[1] में लिखा है कि—(१) स्त्री, ब्राह्मण और तपस्वी यदि महापराध करें तो भी इनका अङ्गच्छेद तथा वध नहीं करना चाहिये, केवल इन्हें देश से निकालना ही पर्याप्त है। (२) अभक्ष्यभक्षण[2] करने पर ब्राह्मण को उत्तम, क्षत्रिय को मध्यम, वैश्य को अधम तथा शूद्र को वैश्य से आधा दण्ड मिलना चाहिये। (३) यदि वैश्य और शूद्र अज्ञान से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के आसन पर बैठ जावें तो उन्हें क्रमशः बीस और पचास बार चाबुक से पिटवाना चाहिये।

वर्णव्यवस्था की स्थिरता के लिये हेमचन्द्र ने वर्णान्तरविवाह का निषेध किया है, क्योंकि हेमचन्द्र जानते हैं कि वर्णनाश धर्मनाश का कारण है। लघ्वर्हन्नीति में इस प्रकार लिखा है :—

सन्ततिर्यत्प्रसङ्गेन जायते वर्णसङ्करा ।
तेन वर्णविनाशः स्यात्तन्नाशे धर्मसंग्रहः ॥

(पृ० २१०, श्लो० ३.)

वैदिक शास्त्रों में प्रत्येक वर्ण के आचार, व्यवहार नियत हैं :—क्षत्रिय के लिये शस्त्रवृत्ति का विधान है। किन्तु यदि स्त्री, वृद्ध, बाल, गुरु आदि की हत्या के लिये उद्यत किसी पुरुष को इस नृशंस कर्म से हटाने के निमित्त कोई ब्राह्मण शस्त्र उठावे तो वह ब्राह्मण दोष का भागी नहीं होता, यदि वह ब्राह्मण आततायी की हिंसा भी कर डाले तो भी उसका धर्म नष्ट नहीं होता[4]। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हेमचन्द्र चातुर्वर्ण्य का शासन श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त विधि से ही कराना चाहते हैं। लघ्व-र्हन्नीति में ब्राह्मणादि वैदिक वर्णों का शासन वैदिक शास्त्रों के अनुसार ही प्रतिपादित है, अन्यथा नहीं।

सामान्यतः अधिकारविशेष के लिये वर्णविशेष की अपेक्षा का लघ्वर्हन्नीति में ज़िक्र नहीं है। केवल दूतलक्षण में लिखा है कि प्रायः दूत ब्राह्मण होना चाहिये [[5]'प्रायेण स्युर्द्विजाश्चराः']। यहां पर 'प्रायः' शब्द से सिद्धान्त की नियमपरता नहीं

---

१. लघ्व० पृ० ४३, श्लो० १०. २ लघ्व० पृ० ४३, श्लो० १५.
३. लघ्व० पृ० २३७, श्लो० ३-४. ४. लघ्व० पृ० २२६, श्लो० ३०-३१.
५. लघ्व० पृ० १६, श्लो० ६८.

रहती। इस से सिद्ध होता है कि यद्यपि अधिकारविभाग में वर्णविशेष का गौरव हेमचन्द्र को अभिप्रेत नहीं है तो भी वे लौकिक व्यवहार के लिये परम्परागत वैदिक वर्णव्यवस्था को मानते हैं।

लघ्वर्हन्नीति के अन्तर्गत विषय—

लघ्वर्हन्नीति जैनशासकों की शासनपद्धति का आदर्शग्रन्थ है। जैन शासन-पद्धति के अनुसन्धान के लिये इसकी आलोचना आवश्यक है। इसलिए पहले इसके विषयों का निर्देश उचित होगा।

हेमचन्द्र ने लघ्वर्हन्नीति का विभाग चार अधिकारों में किया है: (१) भूपालादिगुणवर्णन, (२) युद्धनीतिदण्डनीतिवर्णन, (३) व्यवहारनीतिवर्णन, (४) प्रायश्चित्तविधिवर्णन।

अधिकारों के अनुसार विषयों का वर्णन इस तरह है:— नृपगुणवर्णन से दूतलक्षण तक पहले अधिकार में मन्त्रगुप्ति से अदण्ड्यनिरूपण तक दूसरे अधिकार में। तीसरे अधिकार में व्यवहारनीति का, चौथे अधिकार में प्रायश्चित्तविधि का निरूपण है।

जैन शासनपद्धति पर पहले दो अधिकार ही विशेष प्रकाश डालते हैं। इसलिए यहां पर विशेषत: इन्हीं अधिकारों की आलोचना प्राकरणिक होगी।

लघ्वर्हन्नीति में राजवाद की सत्ता—

लघ्वर्हन्नीति में राजतन्त्र शासन का ही ज़िक्र है। ऋषभदेव पहले राजा हुए हैं। अवसर्पिणीकाल में प्रजा को मात्स्यन्याय से बचाने के लिये राजा की जरूरत पड़ी। इससे पूर्व लोग निरपराध थे। अपराध न होने के कारण दण्डधर राजा की ज़रूरत न थी। अब अपराधों के पैदा हो जाने पर दण्ड की आवश्यकता प्रकट हुई। अपराधियों को दण्ड देने वाले शक्तिशाली राजा का होना अनिवार्य था। फलत: ऋषभदेव को राजा बनाया गया। लघ्वर्हन्नीति में मात्स्यन्याय को रोकने के लिये ही राजवाद का प्रचार मिलता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जैन राजनीतिशास्त्र केवल राजतन्त्र राज्य से ही परिचित है। आचाराङ्गसूत्र में कुछ अन्य शासनपद्धतियों का भी विवरण है—अराजक राज्य, गणराज्य, युवराजराज्य, द्वैराज्य, वैराज्य, विरुद्ध-राज्य। किन्तु लघ्वर्हन्नीति का उद्देश्य कुमारपाल को नीतिनिपुण बनाने का ही था। कुमारपाल-राज्य राजतन्त्र राज्य था। राजतन्त्र राज्य की शासनपद्धति के वर्णन में गणराज्यादि अन्य शासनपद्धतियों निर्देश व्यर्थ ही था।

वैदिक राजनीति में राजाभिषेक की प्रथा अनिवार्य है। श्रुतिस्मृतिकार अभिषेक के बिना राजत्व को नहीं मानते। मुसलमान बादशाहों के राज्य में इस प्रथा को बदलना पड़ा था। क्योंकि मुसलमान बादशाहों का वैदिक रीति से अभिषेक नहीं होता था। तो भी वे बादशाह थे। इसलिए मुसलमानकालीन स्मृतिकारों ने राजत्व के लिए अभिषेक का नियम अनिवार्य नहीं रक्खा है। लघ्वर्हन्नीति में अभिषेक की चर्चा ही नहीं। किन्तु इससे यह अनुमान ग़लत होगा कि जैनराजनीति के अनुसार अभिषेक

१. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अन्तरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा सति लाढे विहाराए सन्थरमाणेहिं जणवएहिं णो विहारवत्तियाए पवज्जेज्ज गमणाए—आचाराङ्गसूत्र, अध्याय १२.

२. राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिपर:, किन्त्वभिषिक्तजनपदपालयितृपुरुषपर:, —कुल्लूकभट्ट, मनुस्मृति अध्या० ७, श्लो० १ की टीका में।

'राज्याभिषिक्तो राजा प्रजापालनादेस्तदीयत्वात्, तत्प्राक् ज्ञानासम्भवाच्चेति' राजनीतिकामधेनु; देखिये चण्डेश्वरकृत राजनीतिरत्नाकर। पृ० २, पं० १६—१७.

अनिवार्य नहीं है। कल्पसूत्र की व्याख्या सुबोधिका[1] में आदिराज ऋषभदेव के अभिषेक का वर्णन है। ऋषभदेव के अभिषेककर्ता देवराज इन्द्र थे। निस्सन्देह देवराज इन्द्रकृत ऋषभदेव का अभिषेक वैदिक रीति से हुआ होगा। इसलिए लघ्वर्हन्नीति में अभिषेक का ज़िक्र न होने पर भी जैनराजनीति में राजाभिषेक की परिपाटी सिद्ध हो जाती है।

शान्तिपर्व महाभारत में अभिषेकप्रतिज्ञा का निरूपण है। राजा से कहा जाता कि 'तुम प्रतिज्ञा करो कि मैं मन, कर्म और वाणी से देश को ब्रह्म मानकर उसकी उन्नति के लिये यत्न करूंगा।' । इसी सम्बन्ध में चण्डेश्वर राजनीतिरत्नाकर[3] में लिखते हैं कि अभिषेक के समय प्रजा विष्णु को साक्षी बनाकर कहे कि 'आज से यह राज्य मेरा नहीं है। यह राजा ही प्रजा की रक्षा करे।' महाभारत तथा राजनीतिरत्नाकर के इन वाक्यों से सिद्ध होता है कि अभिषेक के अनन्तर राज्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा के ऊपर आजाता है। मनुस्मृति[4] में भी जहां राजा को आठ लोकपालों की मात्राओं से बना हुआ माना है वहां साथ ही वेन, नहुष[5] आदि राजाओं की दुर्गति का भी निरूपण है जिससे प्रतीत होता है कि आठ लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होने पर भी राजा यदि प्रजा के साथ सद्व्यवहार न करे तो दण्ड का भागी होता है। इससे हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि प्रजापालन राजा का परम धर्म है। अपनी रक्षा के लिये प्रजा अभिषेक के समय राजा को विशेष अधिकार दे देती है, यदि राजा उन अधिकारों का दुरुपयोग करता है तो प्रजा को अधिकार है कि उसे राज्य से पृथक् करदे। राजा का कर्तव्य है कि वह दण्ड का भय देकर प्रजा को अपराध करने से हटावे। न हटाने से वह उस अपराध का भागी होता है। लघ्वर्हन्नीति में इस उत्तर-दायित्व का निरूपण इस प्रकार किया है :—

चतुर्वर्णजनोद्भूतमपराधं समीक्ष्य चेत्।
भूयो न वारयेद्दण्डतर्जनाताडनादिभिः॥

---

१. पृ० १४८.[1]

२. महा० शान्ति० अध्या० ५६, श्लो० १०६.

"प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥"

३. अद्यारभ्य न मे राज्यं राजायं रक्षतु प्रजाः।
इति सर्वं प्रजा विष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः॥

राजनीतिरत्नाकर, पृ० ८३, पं० १८-१६.

४. मनु० ७. ७.   ५. मनु० ७. ४१—४२.

तदा सर्वापराधानां नृप: स्वामी भवेत्खलु ।
ततो राष्ट्रेऽतिदु:खं स्याद्दीतिदुर्भिक्षमृत्युजम् ॥

(पृ० २१४, श्लो० २१-२२.)

वैदिक राजनीति में प्रजा के पुण्यपाप के छठे अंश का राजा स्वामी है। जैनराजनीति इस बात से सर्वथा सहमत है । लघ्वर्हन्नीति में स्पष्ट लिखा है कि दानादि श्रेष्ठ कार्य करने से प्रजा को जो पुण्य प्राप्त होता है उस पुण्य का छठा अंश राजा को मिलता है । इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि जिस तरह राजा पुण्य के छठे अंश का उसी तरह पाप के छठे अंश का भी भागी होता है । लघ्वर्हन्नीति में इस बात की विवेचना इस प्रकार की है :—

प्रजादानार्चनादीनां षष्ठांशं लभते नृप: ।
पुण्यात्ततो नेतिभयं कोषवृद्धिश्च जायते ॥

(पृ० २२१, श्लो० ५.)

राजाप्रजासम्बन्ध—

अब देखना है कि जैननीति के अनुसार राजा का प्रजा के साथ किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिये । लघ्वर्हन्नीति के सम्भूयोत्थानप्रकरण[1] में लिखा है कि जैसे गाय बछड़े की पालना करती है उसी प्रकार राजा प्रेम से प्रजा की पालना करे । राजा-गाय की परस्पर तुलना राजा की शान्तिप्रियता को प्रकट करती है, नहीं तो राजा की सिंह से समता की जाती । किन्तु उससे राजा का बलपूर्वक प्रजाशासन सूचित होता । हेमचन्द्र राजा-प्रजासम्बन्ध को स्वामिसेवकसम्बन्ध नहीं, किन्तु मातापुत्रसम्बन्ध दिखाना चाहते हैं । तात्पर्य यह है कि राजा को प्रजाशासन स्नेहपूर्वक करना चाहिये न कि बलपूर्वक । बलपूर्वक शासन चिरस्थायी नहीं रहता । इस बात को हेमचन्द्र ने ही नहीं अपितु अन्य जैननीतिकारों ने भी लिखा है । नीतिवाक्यामृत के विद्यावृद्धसमुद्देश में[2] सोमदेवसूरि लिखते हैं—'सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ।' हेमचन्द्र ने राजाप्रजासम्बन्ध को पितापुत्रसम्बन्ध नहीं माना है किन्तु मातापुत्रसम्बन्ध माना है क्योंकि पिता का पुत्र के साथ इतना नि:स्वार्थ सम्बन्ध नहीं होता जितना कि माता का पुत्र के साथ । राजा की गाय के साथ और प्रजा की बछड़े के साथ तुलना से प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के मत में राजा के स्वार्थ

---

१. गौर्वत्समिव भूपोऽपि प्रीत्या स्वा: पालयेत्प्रजा: । (पृ० १०३, श्लो० ११.)

२. नीतिवाक्या० पृ० ४५, सूत्र ३२.

की अपेक्षा प्रजा का स्वार्थ अधिक गौरव रखता है, क्योंकि गाय बछड़े को दूध पिलाती है इसलिए बछड़े के स्वार्थ के लिये गाय की उपयोगिता अधिक है, किन्तु गाय के स्वार्थ के लिये स्नेहमात्र से अतिरिक्त बछड़े की विशेष उपयोगिता नहीं। राजा की स्वार्थदृष्टि से तो राजा की ग्वाले से और प्रजा की गाय के साथ समता बनती है। आदिपुराण में इस समता का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। इस विषय पर हम आदिपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं :—

गोपालको यथा यत्नाद्गाः संरक्षत्यतन्द्रितः ।
क्षमापालः प्रयत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥
तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी स्वगोकुले ।
तमङ्गच्छेदनाद्युग्रदण्डैस्तीव्रमयोजयन् ॥
पालयेदनुरूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन ।
यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत् ॥
तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत्प्रजाः ।
ततो विरक्तप्रकृतिं जह्युरेनममूः प्रजाः ॥
यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले ।
पोषयन्नेव पुष्टः स्याद्गोपोषं प्राज्यगोधनः ॥
तथैव नृपतिर्मौलं तन्त्रमात्मीयमेकतः ।
पोषयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिंश्च मण्डले ॥

(आदिपुराण, पर्व ४२.)

इस प्रकार के साठ (१३६—१९८) पद्यों में गोपाल-दृष्टान्त से राजा-प्रजा का सम्बन्ध दिखाया गया है। लघ्वर्हन्नीति के आदर्श जैनराज्य से आदिपुराण के आदर्श जैनराज्य की इस प्रकार से तुलना अत्यन्त मनोरञ्जक है।

प्रजापालन पर आदिपुराण और लघ्वर्हन्नीति एक साथ चलते हैं। दोनों में प्रजापालन राजा का परम धर्म कहा है। दुष्टों के निग्रह से और शिष्टों के पालन से राजा का सन्मान होता है। द्रव्य के लोभ से प्रजा से अनुचित 'कर' लेना भारी पाप है। राजा को चाहिये कि वह प्रजा का दयादृष्टि से निरीक्षण करे। बाल, रोगी तथा वृद्ध के कटु वचन का भी सहन कर लेना चाहिये। क्षुद्र अपराध के लिये प्रजा को दण्ड देना भूल है। जैन आदर्शराज्य का राजाप्रजासम्बन्ध लघ्वर्हन्नीति में इस प्रकार दिखाया है:—

नृपतेः परमो धर्मः स्वप्रजापालनं सदा ।
स्तैन्यादिभ्यो यतः कीर्तिर्विस्तृता स्याद्दिगन्तरे ॥

लोकानां संसृतौ तुल्योऽभयदानेन नो वृषः ।
तस्माज्जैनैः सदा यत्नोऽभये कार्यः समात्मिना ॥
प्रजास्वास्थ्ये नृपः स्वस्थस्तद्दुःखे दुःखितो नृपः ।
तस्माद् यत्नं प्रजास्वास्थ्येऽहर्निशं कुरुते नृपः ॥

(पृ० २२०, श्लो० २-४.)

शिष्टानां पालनं कुर्वन् दुष्टानां निग्रहं पुनः ।
पूज्यते भुवने सर्वैः सुरासुरनृयोनिभिः ॥
लोभतः करमादत्ते प्रजाभ्यो यो महीधनः ।
क्षुद्रकर्मणि यो दण्डं लाति स नरकं व्रजेत् ॥
चौरान्धूर्तान्निगृह्णन् यो भूपः सन्न्यायरीतितः ।
रोधनेन च बन्धेन स वै स्वर्गमवाप्नुयात् ॥
प्रजोपरि सदा क्षान्ती रक्षणीया महीभुजा ।
बालातुरातिवृद्धानां क्षन्तव्यं कठिनं वचः ॥

(पृ० २२१, श्लो० ६-९.)

लघ्वर्हन्नीति में प्रजापालनव्रत के अङ्गभूत पांच यज्ञ कहे हैं :—(१) दुष्टदण्ड, (२) सुजनपूजा, (३) न्याय से कोष की वृद्धि, (४) अपक्षपात, (५) शत्रु से राष्ट्र की रक्षा। लघ्वर्हन्नीति में लिखा है:—

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा
न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः ।
अपक्षपातो रिपुराष्ट्ररक्षा
पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥

(पृ० ६, श्लो० ४४.)

इस पद्य के आरम्भ में 'यदुक्तम्' लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि लघ्वर्हन्नीति में यह पद्य कहीं से उद्धृत किया गया है। कुछ भी हो हेमचन्द्र के मत में पद्यनिर्दिष्ट पांच यज्ञ राजा के लिये अनिवार्य हैं।

पद्यनिर्दिष्ट यज्ञक्रम के अनुसार तीसरा यज्ञ न्याय से कोष की वृद्धि है। जैन नीतिशास्त्रों में अन्याय से कोषवृद्धि का निषेध है। उदाहरणार्थ—वैदिक राजनीति के अनुसार अनपत्य विधवा का धन राजगामी होता है किन्तु जैनराजनीति[1] में अनपत्य विधवा अपने धन की स्वयं ही अधिकारिणी होती है। जैनराजा को अधिकार नहीं होता कि वह उसका धन छीन ले।

---

१. अनपत्ये मृते पत्यौ सर्वस्य स्वामिनी वधूः। (लघ्व० पृ० १४८, श्लो० ११४.)

जैननीतिशास्त्रों में चौथे यज्ञ अपक्षपात का भी कुछ कम महत्त्व नहीं। व्यवहार-निर्णय में जैनराज्य की पक्षपातशून्यता जगत्प्रसिद्ध है। लघ्वर्हन्नीति में तो सिद्धान्त-मात्र का ही प्रतिपादन है, सिद्धान्तपरिपोषक दृष्टान्त नहीं हैं, किन्तु जैनपुराणों में पर्याप्त कथायें आती हैं जिनसे जैनव्यवहारनिर्णेताओं की न्यायप्रियता का सुविस्तृत ज्ञान होता है। उत्तरपुराण में[1] एक ऐसी कथा आती है:—

भारतवर्ष के मलयदेश की राजधानी रत्नपुर में राजा प्रजापति राज्य करते थे। उनका पुत्र चन्द्रचूल दुर्विनीत और पापी था। जब रत्नपुरनिवासी सेठ कुबेरदत्त की कन्या का उसी नगर के सेठ वैश्रवण के पुत्र श्रीदत्त के साथ विवाह था तब कन्या के अद्भुत सौन्दर्य को सुनकर राजकुमार चन्द्रचूल उसे बलपूर्वक लेने को विवाह की भीड में जा पहुंचा। राजपुत्र के इस अशिष्टाचार से उद्विग्न होकर नगर के मुखिया राजा के पास जाकर पुकार करने लगे। उनकी पुकार सुनकर राजा को पुत्र चन्द्रचूल पर बहुत क्रोध हुआ और उन्होंने अपने एकलौते पुत्र चन्द्रचूल को सूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी। किन्तु राजा का मन्त्री बड़ा विद्वान् और अनुभवी था। उसने राजपुत्र को दण्ड देने का नियोग अपने ऊपर ले लिया और राजकुमार को जङ्गल में ले जाकर, समझाकर, जैनमुनियों से दीक्षा दिलवादी।

इस कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैनराज्य में व्यवहार-निर्णय पक्षपातरहित था। चन्द्रचूलविषयक न्यायनिर्णय पर राजा-मन्त्री का संवाद अत्यन्त ही शिक्षक है:—

पुररक्षकमाहूय दुरात्मानं कुमारकम् ।
'लोकान्तरातिथिं सद्यो विधेही' ति समादिशत् ॥
तदैव सोऽपि राजाज्ञाचोदितस्तुमुलाहवे ।
जीवग्राहं गृहीत्वैनमानयन्निकटं विभोः ॥
तदालोक्य 'किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम् ।
निशातशूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामि'ति ॥
राज्ञोक्ते प्रस्थितो हन्तुं कुमारं पुररक्षकः ।
न्यायानुवर्तिनां युक्तं नहि स्नेहानुवर्तनम् ॥
तदामात्योत्तमः पौरान्पुरस्कृत्य महीपतिम् ।
व्यजिज्ञपदिति व्यक्तमुत्क्षिप्तकरकुड्मलः ॥
'कृत्याकृत्यविवेकश्च न बाल्याद् देव ! विद्यते ।
प्रमादोऽस्माकमेवायं विनेयाः पितृभिः सुताः ॥

---

1. पृ० ३२७-३३३.

न दान्तोऽयं नृभिर्दन्ती शैशवे चेद् वृथोचितम् ।
प्राप्तैश्वर्यो न किं कुर्यादसौ दर्पग्रहाहितः ॥
न बुद्धिमान्न दुर्बुद्धिर्न वधं दण्डमर्हति ।
अहार्यबुद्धिरेषोऽतः शिक्षणीयोऽधुनाप्यलम् ॥
न कोपोऽस्मिंस्तथास्त्येव न्यायमार्गे निनीषया ।
निगृह्यास्येक एवायं राज्यसन्ततिसन्ततौ ॥
अन्यत्सन्धित्सतोऽत्रान्यत्प्रच्युतं तदिति श्रुतिः ।
स तवाद्य समायाति सन्तानोच्छेदकारिणः ॥
एतत्पूत्कारतो ज्येष्ठं तनूजमवधीन्नृपः ।
इत्यवाच्यभयग्रस्ताः पौराश्चैते पुरस्थिताः ॥
तत्क्षमस्वापराधं मे महीश ! प्रार्थितोऽस्यमुम् ।'
एतन्मन्त्रिवचः श्रुत्वा 'विरूपकमुदीरितम् ॥
अविद्भिरिव शास्त्रार्थे भवद्भिः श्रुतपारगैः ।
दुष्टानां निग्रहः शिष्टपालनं भूभुजां मतम् ॥
नीतिशास्त्रेषु तत्स्नेहमोहासक्तिभयादिभिः ।
अस्माभिर्लङ्घिते न्याये भवन्तस्तस्य वर्तकाः ॥
तस्मादयुक्तं युष्माकं मां योजयितुमुत्पथे ।
दुष्टो दक्षिणहस्तोऽपि स्वस्य छेद्यो महीभुजा ॥
कृत्याकृत्यविवेकातिदूरो मूढो महीभुजः ।
स साकूल्यपुरुषस्तेन कृत्यं चात्रापरत्र च ॥
तस्मान्न प्रतिषेध्योऽहम्' इति राज्ञाभिभाषिते ।
पौरास्तदेवं जानाति देव एवेत्ययुर्भयात् ॥

(पर्व ६७, श्लो० ६७-११३.)

लघ्वर्हन्नीति में[१] लिखा है—'दोषानुसारी दण्डश्च', अर्थात् दोष के अनुसार दण्ड देना चाहिए। यहां पर प्रश्न हो सकता है—क्या निर्दिष्ट अपराध पर चन्द्रचूल को सूलीदण्ड की आज्ञा उचित थी ? उत्तर में कह सकते हैं कि अपराधी के राजपुत्र होने के कारण निर्दिष्ट आदर्शदण्ड की आज्ञा उचित ही थी।

न्याय और अन्याय के परामर्श में पक्षपात नहीं करना चाहिए। इस बात का निरूपण लघ्वर्हन्नीति में कई बार किया है। नृपनीतिशिक्षा में लिखा है :—

---

१. पृ० ६, श्लो० ४१.

न्यायान्यायपरामर्शे नीरक्षीरविवेचने ।
न पक्षपातो नोद्वेगस्त्वया कार्यः कदाचन ॥
(पृ० १०, श्लो० ४८-४९.)

हित्वालस्यं सदा कार्यं नीत्या कोषस्य वर्द्धनम् ।
प्रजायाः पालनं नीत्या नीत्या राष्ट्रहितं पुनः ॥
कदापि नहि मोक्तव्यो नीतिमार्गो हितेच्छुभिः ।
स्यान्न्यायवर्जितो भूप इहामुत्र च दुःखभाक् ॥
(पृ० ९, श्लो० ४२-४३.)

मन्त्रिगुणनिरूपण[1] में भी लिखा है :—
सदा विचारयेन्न्यायं क्षीरनीरविवेचनम् ।

मन्त्रिशिक्षा[2] में स्पष्टरूप से कहा है :—
व्यवहारे न कस्यापि पक्षः कार्यस्त्वयानघ !

राजा कुमारपाल ने नीतिसिद्धान्तों के ज्ञानमात्र के लिये ही आचार्य हेमचन्द्र से लघ्वर्हन्नीति को नहीं लिखवाया था। कुमारपाल लघ्वर्हन्नीति के सिद्धान्तों को प्रयोग में भी लाते थे। लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित अपक्षपातता का अनुसरण करते हुए उन्होंने राजनियमों के उल्लङ्घन करने वाले अपने बहनोई काण्हडदेव की आंखें युक्ति से निकलवा दी थीं[3]।

जैन राजा के दैनिक कृत्य—

लघ्वर्हन्नीति में[4] जैनराजा की दिनचर्या का निरूपण इस प्रकार है:—राजा को प्रातःकाल उठना चाहिये। उस समय वाद्यों के शुभाशंसक मधुर नाद से शय्यागृह गूंजित हो। उठते ही राजा पञ्चनमस्कार[5] मन्त्र का जप करे। प्राभातिक कृत्य करने के अनन्तर स्नान करे, जिनमन्दिर में जावे। वहां पर विधिपूर्वक जिनदेव की पूजा करे। गुरु पास में हों तो उनको प्रणाम करे। उनकी देशना सुने। उनसे आज्ञा लेकर महल को

---

१. पृ० १३, श्लो० ६५. २. पृ० १४, श्लो० ६८
३. पृ० ७९. ४. पृ० १४, श्लो० ७१–७५.
५. णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं,
एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

आवे। राजवेष पहन कर अवधानपूर्वक राजसभा को जावे। साथ में मन्त्री हों। सभा में आकर सेनापति आदि उपस्थित कर्माधिकारियों का निरीक्षण करे।

लघ्वर्हन्नीति में राजा की दैनिक चर्या का संक्षिप्त निरूपण है। सोमप्रभकृत कुमारपालप्रतिबोध में कुमारपाल की दिनचर्या अपेक्षतः विस्तृत है। दोनों दिनचर्याओं के अनुसन्धान से जैनराजा की दिनचर्या का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। कुमारपालप्रतिबोध में[1] कुमारपाल की दिनचर्या का वर्णन इस प्रकार है :—

प्रातःकाल उठकर राजा कुमारपाल पहले पञ्चनमस्कारमन्त्र का उच्चारण, फिर तीर्थंकरों और गुरुओं का ध्यान, ध्यान के अनन्तर स्नान, स्नान के अनन्तर गृहमन्दिर में जिनमूर्तियों की पूजा करते थे। यदि समय होता तो वे हाथी पर सवार होकर मन्त्रिमण्डल के साथ कुमारविहार मन्दिर को जाते थे। मन्दिर में अष्टप्रकारी पूजा के अनन्तर हेमचन्द्र के पास जाकर उनकी पूजा करते तथा उनका उपदेश सुनते थे। मध्याह्न के समय महल को लौट आते थे। भिक्षुओं को भोज्य पदार्थ देकर, जैन मन्दिर में मूर्तियों के लिये पक्वान्नादि का उपहार भिजवाकर, स्वयं भोजन करते थे। भोजन के अनन्तर विद्वत्परिषत् में जाकर विद्वानों के साथ धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर विचार करते थे। चौथे पहर में अर्थात् तीन बजे के अनन्तर राजसभा में आकर सिंहासन पर बैठते और राज्यकार्य का निरीक्षण करते थे। यदि कभी मनोविनोदार्थ मल्लयुद्ध, गजयुद्ध आदि क्रीडायें देखने को विनोदशाला में जाना होता तो इसी समय जाते थे।

सूर्य अस्त होने से अठतालीस मिनट पहले ही हेमचन्द्र सायंकाल का भोजन करते थे। भोजन के अनन्तर राजगृह में ही जिनमूर्तियों का पुष्पार्चन करते थे। फिर मूर्तियों की आरती होती, साथ में चारणों का सङ्गीत। कुमारपाल ने रात्रि का समय केवल विश्राम के लिये रक्खा था।

अधिकारनियुक्ति में वर्ण की अपेक्षा गुणों का महत्त्व—

व्यवहारनीति में हेमचन्द्र ने वैदिक वर्णव्यवस्था को माना है। किन्तु युद्धनीति में हेमचन्द्र कुछ स्वतन्त्र हैं। लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित युद्धनीति के अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र युद्धनीति में वर्ण की अपेक्षा गुण को अधिक गौरव देते हैं। लघ्वर्हन्नीति के अनुसार मन्त्री और सेनापति जैसे अधिकारों पर वर्णविशेष का स्वत्व नहीं है। लघ्वर्हन्नीति में केवल मन्त्री और सेनापति के गुणों का निर्देश है, उनकी जाति का निर्देश नहीं। केवल दूतलक्षण में वर्णनिर्देश मिलता है। वहां पर लिखा है

---

१. पृ० ४२३.

—'प्रायेण स्युर्द्विजाश्वरा: ।' किन्तु यहां पर भी पहले दूत के गुणों का निर्देश है,पीछे वर्ण का। गुण मुख्य है वर्ण गौण। 'प्राय' शब्द से वर्ण की गौणता स्पष्ट हो जाती है।

लघ्वर्हन्नीति के सेनापतिलक्षण में लिखा है :—

यवनादिलिपौ दक्षो म्लेच्छभाषाविशारदः।
ततो म्लेच्छप्रभृतिषु सामदानाद्युपायकृत् ॥ (पृ० १५.)

दूतलक्षण[1] में लिखा है:—'सर्वभाषासु दक्षाश्च'। दोनों पद्यों से प्रतीत होता है कि राजा कुमारपाल और मुसलमान बादशाहों में परस्पर राजनीतिक व्यवहार प्रचलित था। मुसलमान बादशाहों के साथ सामदानादि उपायों से रहना पड़ता था। इसीलिए तो यवनलिपि तथा यवनभाषा के ज्ञान की जरूरत थी। मनुस्मृति[2] में तो यवनभाषा सीखने का निषेध है। किन्तु उस समय यवनों के दूर होने के कारण यवनभाषा न सीखने से भी काम चल सकता होगा। किन्तु कुमारपाल के समय तो मुसलमान बादशाहों का दिल्ली तक राज्य फैल गया था। उत्तरभारत मुसलमान बादशाहों के हाथ में था।

राजा कुमारपाल मुसलमान बादशाहों के साथ नीतिव्यवहार की उपयोगिता से परिचित थे। हिन्दु राजाओं की तरह ये केवल सिद्धान्तमात्र के आदर्शवादी नहीं थे। इन्होंने अवश्य सुन रक्खा होगा कि कैसे ई० स० १०२४ में इनके प्रपितामह राजा भीमराज को गज़नी के महमूद ने गुजरात की राजधानी अणहिल्लपाटन से भगा दिया था। भीमराज कट्टर हिन्दु थे। निर्बल होने पर भी मुसलमान बादशाहों से सन्धि करना नहीं जानते थे। किन्तु कुमारपाल को ऐतिहासिक अनुभव हो चुका था। मुसलमान बादशाहों के साथ सामदानादि उपायों से वर्ताव का तरीका इन्हें ठीक आता था। लघ्वर्हन्नीति की शिक्षा के अनुसार कुमारपाल का मन्त्री, सेनापति आदि अधिकारिवर्ग अवश्य ही मुसलमान बादशाहों के साथ व्यवहार में निपुण होगा। इसीलिए तो इन्होंने अधिकारिवर्ग के चुनने में वर्ण की अपेक्षा गुण को अधिक गौरव दिया है।

कुमारपालशासन का यवनशासन से सम्बन्ध—

मुसलमान बादशाह तथा कुमारपाल के परस्पर राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में मुसलमान इतिहासकारों से कुछ भी सूचना नहीं मिलती। इस विषय पर हमें केवल हिन्दु कवियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। उदयप्रभकृत सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी में एक पद्य मिलता है—

---

१. लघ्व० पृ० १६.

२. मनु० 'न पठेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।' मनुस्मृति के कुछ मुद्रित संस्करणों में यह पाठ नहीं मिलता।

अग्रे हम्मीरवीरस्थिरभजिरमहीपादपः पादपद्म-
क्रीडाभृङ्गः कलिङ्गः सदनवदनगो मेदपाटः कपाटः।
अन्ध्रः कर्णाटलाटौ कुरुमरुमुरलावङ्गगौडाङ्गचौडा-
क्रीडास्तम्भः सभायामिति नृपतिकुलैराकुलैरावृतो यः॥

इस पद्य के 'हम्मीर' पद से यहां पर दिल्ली के बादशाह खुसरो मलिक ताजुद्दौला से ही अभिप्राय हो सकता है। मलिक ताजुद्दौला (ई० स० ११६०—८६.) गज़नवी बादशाहों के भारत में अन्तिम प्रतिनिधि थे। हेमचन्द्रकृत प्राकृतद्वयाश्रय में इस तरह लिखा है :—

तइ पेल्लिओ तुरुक्को ढिल्लीनाहो गलत्थिओ तह य।
अड्डक्खिओ अ कासी रिउ-घत्तण छुइ महाएसं॥

सम्भव है कि हेमचन्द्र के 'ढिल्ली-नाहो' (= दिल्लीनाथो) का तात्पर्य उदयप्रभ के हम्मीरवीर से हो।

ऊपर की प्राकृत आर्या में 'तइ पेल्लिओ तुरुक्को' आता है। 'तुरुक्को' की संस्कृत-छाया 'तुरुष्को' होगी। तुरुष्क से तुर्कजाति का अभिप्राय है। हेमचन्द्रकृत महावीरचरित से पता चलता है कि कुमारपाल ने उत्तर में तुर्किस्तान तक विजय प्राप्त किया था। महावीरचरित में स्पष्ट लिखा है :—

स कौबेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिदशापगाम्।
याम्यामाविन्ध्यमावार्धि पश्चिमां साधयिष्यति॥ ४. ५२.

लघ्वर्हन्नीति के द्वितीयाधिकार के आरम्भ में हेमचन्द्र ने मन्त्रगुप्ति के सम्बन्ध में कुछ सूचना दी है। हेमचन्द्र लिखते हैं कि मन्त्रभेद से राजा का काम बिगड़ जाता है। इसलिए मन्त्र के समय सभा से मन्त्रभेदकों को हटा देना चाहिये।

मन्त्रसंवरण के कारण ही राजतन्त्र शासन का गणतन्त्र शासन की अपेक्षा विशेष महत्त्व है। महाभारत के शान्तिपर्व में[1] भीष्म महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं कि गणतन्त्र राज्य में मन्त्रसंवरण नहीं होसकता। नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है कि षट्कर्णो मन्त्र गुप्त नहीं रह सकता। (षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः।) किन्तु हेमचन्द्र ने मन्त्रसंवरण के कारण गणतन्त्र राज्य की अपेक्षा राजतन्त्र राज्य के महत्त्व पर लघ्वर्हन्नीति में कुछ भी नहीं लिखा।

मन्त्रप्रकरण के अनन्तर हेमचन्द्र ने नीति के तीन भेद बतलाये हैं :— युद्ध,

---

१. भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः॥

दण्ड, और व्यवहार। लघ्वर्हन्नीति के दूसरे अधिकार में युद्धनीति और दण्डनीति की ही विवेचना की है।

युद्धनीतिनिरूपण—

युद्धनीति के वर्णन में पहले छः गुणों का निरूपण है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय—ये छः गुण हैं। लघ्वर्हन्नीति में इन गुणों के लक्षण बताये हैं। ये लक्षण कौटलीय अर्थशास्त्र और नीतिवाक्यामृत से समता रखते हैं। इस समता का यहां पर प्रदर्शन ठीक रहेगा।

लघ्वर्हन्नीति।	कौटलीय अर्थशास्त्र।	नीतिवाक्यामृत।
(१) सन्धिर्व्यवस्था।[1]	पणबन्धः सन्धिः।[2]	पणबन्धः सन्धिः।[3]
(२) वैरं विग्रहः।[1]	अपकारो विग्रहः।[2]	अपराधो विग्रहः।[4]
(३) शत्रुसम्मुखे गमनं यानम्।[1]	अभ्युच्चयो यानम्।[2]	अभ्युदयो यानम्।[5]
(४) उपेक्षणमासनम्।[1]	उपेक्षणमासनम्।[2]	उपेक्षणमासनम्।[6]
(५) द्विधा कृत्वा बलं स्वीयं स्थाप्यं तद् द्वैधम्।[1]	सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः।[2]	एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणम्, एकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः।[7]
(६) बलिष्ठस्यान्यभूपस्याश्रयणं संश्रयः।[1]	परार्पणं संश्रयः।[2]	परस्यात्मार्पणं संश्रयः।[8]

इस तुलना से पता चलता है कि लघ्वर्हन्नीति की अपेक्षा कौटलीय अर्थशास्त्र नीतिवाक्यामृत से विशेष समता रखता है। लघ्वर्हन्नीति का द्वैधीभावलक्षण कौटलीय और नीतिवाक्यामृत के द्वैधीभावलक्षण से सर्वथा ही भिन्न है। दो हिस्सों में सेनासमायोजन को, लघ्वर्हन्नीति में, द्वैधीभाव कहा है, अर्थात् सेना के एक भाग को सन्धि के लिये, दूसरे भाग को विग्रह के लिये रखने का नाम द्वैधीभाव है। किन्तु यह अर्थ जैसे नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट है वैसे लघ्वर्हन्नीति में नहीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में विग्रह का लक्षण 'अपकारो विग्रहः' किया है। नीतिवाक्यामृत में 'अपकार' के स्थान 'अपराध' शब्द रक्खा है। 'अपकार' की अपेक्षा 'अपराध' शब्द विग्रहकारण को अधिक स्पष्ट करता है। इसी तरह कौटलीय के 'अभ्युच्चयो यानम्' की अपेक्षा नीतिवाक्यामृत का 'अभ्युदयो यानम्' सुगम है। कौटलीय के 'परार्पणं संश्रयः' को नीतिवाक्यामृत में

१. पृ० २२, श्लो० ६–८. २. कौ०, अधि० ७, पृ० १५५. ३. पृ० ३२३. सू. ४३. ४. पृ० ३२४, सू० ४४. ५. पृ० ३२४, सू० ४५. ६. पृ० ३२४, सू० ४६. ७. पृ० ३२५, सू० ४८. ८. पृ० ३२४, सू० ४७.

'परस्यात्मार्पणं संश्रयः' कर दिया है। किन्तु लघ्वर्हन्नीति और कौटलीय में केवल आसन के लक्षण को छोड़ कर और कहीं शब्दसाम्य नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि लघ्वर्हन्नीति के कर्ता हेमचन्द्र वाक्यरचना में कौटलीय के उपजीवी नहीं हैं।

अब अर्थसाम्य की भी विवेचना देखिए। कौटलीय और नीतिवाक्यामृत में 'पणबन्ध' को 'सन्धि' कहा है। तात्पर्य यह है कि दुर्बल राजा कुछ देकर बली राजा से सन्धि कर लेवे। शुक्राचार्य[1] भी इस बात से सहमत हैं। किन्तु बिना पणदान के भी बली वा दुर्बल राजाओं की परस्पर सन्धि हो जाती है। विग्रह का अभाव ही सन्धि है। इसलिए सन्धिशब्द को अधिक व्यापक बनाने के लिये हेमचन्द्र ने 'पणबन्ध' के स्थान पर 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग किया है। कौटलीय और नीतिवाक्यामृत में क्रमशः 'अपकार' और 'अपराध' को विग्रह कहा है। किन्तु कभी कभी अपराध के होने पर भी विग्रह नहीं होता। हेमचन्द्रकृत विग्रहलक्षण 'वैरं विग्रहः' विग्रह को अधिक स्पष्ट कर देता है। यान का लक्षण कौटलीय में 'अभ्युच्चयो यानम्' और नीतिवाक्यामृत में 'अभ्युदयो यानम्' किया है। इस लक्षण से प्रतीत होता है कि समृद्ध राजा को यान अवश्य करना चाहिये। उन्नत होने का अभिप्राय ही यह है कि दुर्बल राजाओं को दबाया जाय। किन्तु हेमचन्द्र दिग्विजय-सिद्धान्त के पक्षपाती मालूम नहीं देते। इसलिए शत्रु के सम्मुख युद्ध के लिये जाने को ही उन्होंने यान माना है। जरूरी नहीं कि समृद्ध राजा दुर्बल राजाओं को जीते। यहां पर हेमचन्द्र का यथार्थ जैनत्व प्रकट होता है। लघ्वर्हन्नीति में द्वैधीभाव का लक्षण कौटलीय और नीतिवाक्यामृत से सर्वथा भिन्न है। केवल आसन और संश्रय के लक्षण में ही लघ्वर्हन्नीति, कौटलीय और नीतिवाक्यामृत एकमत हैं।

षड्गुणनिरूपण के अनन्तर चार उपायों का निरूपण है। साम, दान, दण्ड, भेद—ये चार उपाय हैं। लघ्वर्हन्नीति में उपायों का स्वरूपनिर्देश है। ये स्वरूप नीतिवाक्यामृतनिर्दिष्ट उपायस्वरूप से समता रखते हैं। इस समता के स्पष्टीकरणार्थ यहां पर दोनों ग्रन्थों के उपायस्वरूपों का उद्धरण ठीक रहेगा।

लघ्वर्हन्नीति (पृ० २६.)	नीतिवाक्यामृत (पृ० ३३२-३३३, सू० ७०-७४.)
साम—	
सत्कारादरप्रीतिसम्भाषणादिभिः	पञ्चविधं साम—गुणसंकीर्तनम्, सम्बन्धो-

---

१. दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत्।
तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः॥

सान्त्वनं साम।

पाख्यानम् ,परोपकारदर्शनम् , आयतिप्रदर्शनम् , आत्मोपनिबन्धनम् ।

दान—

स्वर्णोंभवाजिराजतादिदानेन कार्यसाधनं दानम् ।

बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानम् ।

दण्ड—

धनहरणवधबन्धनादिरूपोऽपकारो दण्डः।

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ।

भेद—

द्रव्यादिलोभदर्शनेन वाक्चातुर्येण वामात्यादीनां परस्परचित्तभेदनोपादानं भेदः ।

योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशङ्काजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ।

नीतिवाक्यामृत[1] के युद्धसमुद्देश में लिखा है—'सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ।' अर्थात् यदि सामोपाय से कार्य सिद्ध हो सके तो युद्धोपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिये। नीतिवाक्यामृत में इस सिद्धान्त का लौकिक दृष्टान्त से समर्थन किया है :— 'गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत।' गुड से काम सिद्ध हो जाने पर विष अर्थात् विषौषधि का सेवन कौन करता है। अभिप्राय यह है कि यदि स्वादु पदार्थ के सेवन से आरोग्य हो जाता है तो कटु पदार्थ का आस्वादन व्यर्थ है । हारीत ने भी लिखा है :—

गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते ।
आरोग्यलक्षणा नाम तद् भक्षयति को विषम् ॥

हेमचन्द्र भी इसी पक्ष के अनुयायी हैं। उनका कथन है कि यदि साम, दान, भेद द्वारा ही शत्रु पर विजय होसके तो युद्ध नहीं करना चाहिये । प्रायः सभी नीतिकारों ने युद्ध को अन्तिम उपाय बताया है। कारण यह है कि युद्ध में विजय सन्दिग्ध है, किन्तु दोनों पक्षों का जनसंहार अनिवार्य है। इसीलिए जैननीति में युद्ध के निवारण पर विशेष ध्यान दिया है। हेमचन्द्र[3] लिखते हैं:—

सन्दिग्धो विजयो युद्धेऽसन्दिग्धः पुरुषक्षयः ।
सत्स्वन्येष्वित्युपायेषु भूपो युद्धं विवर्जयेत् ॥

आगे फिर लिखा है :—

---

१. पृ० ३५१.

२. लघ्व० पृ० २६–२७, श्लो० १६.

३. लघ्व० पृ० २७, श्लो० २०.

दूतद्वारेण यज्ज्ञातं परो योद्धुं समीहते ।
तदा मन्त्रिवरैः सार्द्धं मन्त्रयित्वा भृशं नृपः ॥
तथा कुर्याद् यथा न स्याद्विग्रहो बहुनाशकृत् ।
केनापि नीतिमार्गेण सन्तोष्यः परभूपतिः ॥

(लघ्व० पृ० २७, श्लो० २६-२७.)

वैदिक नीतिमर्यादा को लौकिक धर्म मानकर अङ्गीकार करने के कारण साङ्ग्रामिक जनहिंसा का जैननीतिशास्त्रों ने यदि घोर विरोध नहीं तो पूरा समर्थन भी नहीं किया। जैनसिद्धान्तशास्त्रों से पता चलता है कि बारह चक्रवर्ती राजा हुए हैं। जैनशास्त्रों में हिंसा का निषेध होते हुए भी चक्रवर्तित्व को आदर्श माना है, तो भी जैनशास्त्रों का चक्रवर्तित्व वैदिक शास्त्रों के चक्रवर्तित्व से भिन्न है । जैनशास्त्रों में चक्रवर्ती बनने के लिये कहीं भी अश्वमेध राजसूयादि यज्ञों का ज़िक्र नहीं आता । चक्रवर्ती बनने के लिये अस्त्रशस्त्रद्वारा जनसंहार तो करना पड़ता होगा । किन्तु जैनशास्त्रों में बलोत्कर्षपरीक्षा के जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध आदि कुछ अहिंसात्मक उपाय भी बताये हैं । मुख्य उपाय बाहुयुद्ध है। जैनग्रन्थों[1] में बाहुयुद्ध के कुछ उदाहरण मिलते हैं। विनयविजयकृत कल्पसूत्र की सुबोधिका व्याख्या में एक कथा आती है:—एकबार नेमिमहाराज कौतुक से कृष्णमहाराज की शस्त्रशाला में गये। मित्रों के कहने पर उन्होंने कृष्णमहाराज के चक्र को कुम्हार के चक्र की तरह चलाया, शार्ङ्ग धनुष को मृणाल की तरह दबाया, कौमोदकी गदा को लाठी की तरह उठाया, पांचजन्य शङ्ख को बलपूर्वक बजाया। शंख के गम्भीर नाद को सुनकर कृष्णमहाराज ने समझा कि कोई शत्रु वहां आया है । जल्दी से वे शस्त्रशाला में आपहुंचे। वहां पर उन्होंने नेमिमहाराज को देखा । बलपरीक्षा के लिये दोनों ने बाहुयुद्ध को ही ठीक समझा। बाहुयुद्ध में नेमिमहाराज की जीत हुई[2] ।

भरत और बाहुबलि का बाहुयुद्ध तो प्रसिद्ध ही है। आदिपुराण[3] में लिखा है कि भरत और बाहुबलि ने परस्पर युद्ध के लिये सेना की तय्यारी की । तब प्रधान मन्त्रियों ने सोचा कि क्रूर ग्रहों की तरह इन दोनों का युद्ध अभीष्ट नहीं। क्योंकि इस युद्ध में बहुत जनसंहार का भय है । यह सोच कर मुख्य मन्त्रियों ने अकारण जनसंहार को हटाने के लिये दोनों का जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध ही ठहराया ।

---

१. पृ० १३३.

२. कृष्णप्रसारितं बाहुर्नेमिर्वेत्रलतामिव ।
मृणालदण्डवच्छीघ्रं वालयामास लीलया ॥

३. पर्व ३६, श्लो० ३७-४५.

आश्चर्य है कि जनसंहार के भय से परिचित भी हेमचन्द्र लघ्वर्हन्नीति में जन-हिंसानिवारक बाहुयुद्धादि उपायों का ज़िक्र नहीं करते। मालूम होता है कि कुमारपाल बाहुयुद्ध के पक्षपाती नहीं थे। कारण यह हो सकता है कि राज्य पर बैठने के समय कुमारपाल की आयु पचास वर्ष की थी। यौवनावस्था के व्यतीत हो जाने के कारण कुमारपाल बाहुयुद्ध के लिये समर्थ नहीं होंगे, कुमारपाल की शिक्षा के लिये लघ्वर्हन्नीति की रचना हुई थी। इसलिये लघ्वर्हन्नीति में सम्भवत: कुमारपाल के अनभिप्रेत बाहुयुद्ध का ज़िक्र व्यर्थ था।

सम्भव है कि कुमारपाल के समय बाहुयुद्ध की प्रथा न थी, अथवा किसी कारण-वश वे इस प्रथा को चलाना नहीं चाहते थे; इसलिए लघ्वर्हन्नीति में बाहुयुद्ध का निर्देश नहीं है; किन्तु यहां पर एक विचारणीय प्रश्न है कि हेमचन्द्र ने मन्त्र-युद्ध का निर्देश क्यों नहीं किया? कुमारपाल के राज्य में मन्त्रयुद्ध की घटना हो चुकी थी। चन्द्रप्रभ-कृतप्रभावकचरित[1] में लिखा है कि कुमारपाल को जैनधर्म से प्रभावित देखकर तथा कुमारपाल की अहिंसात्मक प्रवृत्ति को जान कर डाहलदेश के राजा गयाकर्ण कलचूरि ने गुजरात पर आक्रमण करने को प्रस्थान कर दिया। कुमारपाल को दूतद्वारा इस समाचार का पता चला। इस समय कुमारपाल लड़ने को असमर्थ थे। व्याकुल होकर उन्होंने सारी समस्या हेमचन्द्र के सामने रक्खी। हेमचन्द्र ने कुमारपाल को धैर्य देते हुए कहा कि बारहवें पहर में तुम इस चिन्ता से निवृत्त हो जावोगे। ठीक ही बारहवें पहर गयाकर्ण कलचूरी की मृत्यु होगई। मृत्यु का प्रकार अद्भुत था। रात के समय गयाकर्ण हाथी पर सवार होकर आक्रमण के लिये गुजरात को आरहे थे। हाथी पर बैठे हुए ही उन्हें नींद आगई। नींद में उनके गले का सुवर्णजंजीर किसी वटवृक्ष की शाखा में जा लगा और गले के घुटजाने से वे मर गये।

आचार्य हेमचन्द्र के मन्त्र-प्रभाव की अन्य घटनायें भी हैं। मन्त्रशक्तिद्वारा ही वे कुमारपाल को जैनधर्म में लाये थे। कुमारपाल के सामने उन्होंने सोमनाथलिङ्ग से जैनधर्म की प्रशंसा करवायी थी। किन्तु आश्चर्य है कि मन्त्रशक्ति की नीतिक्षेत्र में उपयोगिता का निरूपण लघ्वर्हन्नीति में नहीं मिलता।

जैनेतर नीतिशास्त्रों में युद्धनीति और मन्त्रविद्या का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन मुनिग्रन्थों में स्तम्भन, मारण, उच्चाटन आदि प्रयोग मिलते हैं। इन प्रयोगों का अथर्ववेद से सम्बन्ध है। सम्भव है कि हेमचन्द्र इन आथर्वण प्रयोगों को जानते

---

१. पृ. ३३८.

हों और इन जैनेतर प्रयोगों को प्रकाशित करना न चाहते हों। कुछ भी हो लघ्वर्हन्नीति में कहीं भी तान्त्रिक प्रयोगों पर विचार नहीं।

लघ्वर्हन्नीति में षड्गुणवर्णन के अनन्तर तृतीय गुण यान के समय का निरूपण है। 'यान कब करना चाहिए' इस प्रश्न के उत्तर में हेमचन्द्र लिखते हैं:—

सुमुहूर्ते सुशकुने मार्गादौ माससप्तके।
युद्धं कुर्वीत राजेन्द्रो वीक्ष्य कालबलाबलम्॥

(लघ्व० पृ० २६, श्लो० ३३.)

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र का ज्योतिशास्त्र पर पूर्ण विश्वास है। 'मार्गादौ मासस्प्तके' इस वाक्यांश का तात्पर्य यह है कि मार्गशीर्षादि आठ महीनों में शुभ समय देखकर युद्ध के लिये प्रस्थान करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि श्रावण, भाद्रपद, आश्विन कार्तिक—इन चार महीनों में युद्धयात्रा ठीक नहीं।

यहां पर एक समस्या उपस्थित होती है। रणदीपिका, संग्रामविजयोदय आदि कुछ ग्रन्थों में युद्धनीति का नक्षत्रविद्या के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। किन्तु आर्यनीतिशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ कौटलीय अर्थशास्त्र में नक्षत्रप्रभाव पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। प्रत्युत केवल नक्षत्रप्रभाव के माननेवालों को अर्थहानि का भय दिखाया है। अर्थशास्त्र के क्षयव्ययलाभपरिमर्शप्रकरण में लाभ के विघ्नकारणों पर विचार करते हुए कौटल्य ने तिथि और नक्षत्र के अतिविचार को एक विघ्नकारण माना है।

नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते ।'
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥

(पृ० २१३, अधि० १४२.)

इस तरह कौटल्य ने अर्थशास्त्र में अर्थ को ही अर्थ का नक्षत्र माना है, नक्षत्र-विचार की विशेष उपयोगिता नहीं मानी।

आचार्य हेमचन्द्र नक्षत्रवाद के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि यात्राकाल में सेना के साथ नैमित्तिक भी हो। इससे सूचित होता है कि राजनीति में हेमचन्द्र ज्योतिष को भी स्थान देते हैं।

युद्धनीति के साथ जितना ज्योतिषशास्त्र का सम्बन्ध है उतना ही चिकित्सा-शास्त्र का है। युद्ध में ज्योतिष और चिकित्सा—इन दोनों विद्याओं की समान उपयोगिता है। जिस तरह युद्ध में काल के बलाबल जानने को ज्योतिषशास्त्र की, इसी तरह युद्ध में क्षत योद्धाओं की चिकित्सा के लिये चिकित्साशास्त्र की जरूरत पड़ती है। हेमचन्द्र ने लघ्वर्हन्नीति में चिकित्साशास्त्र के विषय में तो विशेष सूचना नहीं दी,

किन्तु युद्ध के समय सेना के साथ नैमित्तिक और भिषगवर के होने का ज़िक्र किया है।

वैदिक राजनीति के अनुसार जैनराजनीतिसिद्धान्त कूटयुद्ध के विरुद्ध हैं। लघ्वर्हन्नीति में लिखा है :—

नातिरूक्षैर्विषाक्तैर्न नैव कूटायुधैस्तथा।
दृषन्मृदादिभिर्नैव युध्येत नाग्नितापितैः॥
(पृ० ३६, श्लो० ५६.)

कूटयुद्ध का निषेध स्पष्ट है। हेमचन्द्र धर्मयुद्ध के पक्ष में हैं। किन्तु यदि शत्रु कूटनीति से लड़ रहा हो तो समयोचित प्रकार से ही लड़ना ठीक है :—

शत्रावन्यायनिष्ठे तु कर्तव्यं समयोचितम्।
(पृ० ३६, श्लो० ६.)

दण्डनीतिनिरूपण—

लघ्वर्हन्नीति में युद्धनीति की आलोचना के अनन्तर दण्डनीति का निरूपण है। जैनशास्त्रों में दण्डनीति का निरूपण कुछ अपने ही ढंग का है। स्थानाङ्गसूत्र में दण्डनीति के सात प्रकार बताये हैं :—

'सत्तविहा दण्डनीई पण्णत्ता—तं जहा (१) हक्कारे, (२) मक्कारे, (३) धिक्कारे, (४) परिभासे[1], (५) मंडलीबन्धे[2], (६) कारागारे (७) छविच्छेदे।'

स्थानाङ्गसूत्र के अनुसार लघ्वर्हन्नीति में भी सात प्रकार के दण्डों का निरूपण है :—(१) हाकार, (२) माकार, (३) धिक्कार, (४) परिभाषण, (५) मण्डलबन्ध, (६) काराक्षेपण, (७) अङ्गखण्डन। कुछ जैननीतिकारों ने आठवां द्रव्यखण्ड भी माना है।

अपराध के होने पर और अपराद्ध मनुष्य द्वारा अपराधी के अपराध को राजा के प्रति सूचित करने पर इन दण्डों का प्रयोग यथादोष होना चाहिये। किन्तु हेमचन्द्र का कथन है कि यदि अपराध किसी व्यक्ति के प्रति न हो किन्तु राज्य के प्रति हो तो किसी व्यक्ति के द्वारा अभियोग के उपस्थित न करने पर भी राजा को चाहिये कि वह उस अपराधी को यथादोष दण्ड दे।[3]

दण्डनीति के सात भेदों में से पहले तीन—हक्कार, मक्कार, धिक्कार, बहुत प्राचीन हैं। इनके आविष्कर्ता कुलकर हुए हैं। इनकी उत्पत्ति का समय तीर्थंकरों की उत्पत्ति से पहले है। अन्य चार दण्डों का आविष्कार पीछे आदिराज ऋषभदेव के पुत्र भरत-

---

१. परिभाषण का अर्थ है आक्षेपपूर्वक वचन

२. मण्डलबन्ध का तात्पर्य है किसी विशेष स्थान से बाहिर जाने की रुकावट।

३. लघ्व० पृ० ४१, श्लो० ५.

मुनि द्वारा हुआ है। द्रव्यदण्ड, ज्ञातिदण्ड, ताडनदण्ड आदि दण्ड इन सात दण्डों की उत्पत्ति के अनन्तर हुए हैं।

लघ्वर्हन्नीति में हाकार, माकार, धिक्कार—इन तीन दण्डों की वर्णव्यवस्था भी बतायी है—ब्राह्मण के लिये माकार, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये हाकार, और शूद्र के लिये धिक्कार। अन्य दण्ड चारों वर्णों के लिये हैं।[2]

तात्पर्य यह है कि कुलकरों के समय अपराध के कम होने से केवल हाकार, माकार और धिक्कार—इन तीन दण्डों से ही काम चल जाता था, किन्तु कुलकरों के अनन्तर तीर्थंकरों के समय नये दण्डों का आविष्कार हुआ क्योंकि कलियुग के कारण अपराध बढ़ गया था।

दण्डविधान में पशुपक्षि आदि जीवों की हत्या करनेवाले को भी दण्ड देना लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि हेमचन्द्र ने जैनसिद्धान्तों के अनुसार जीवहिंसा का निषेध नीतिशास्त्र में भी माना है। लघ्वर्हन्नीति में लिखा है कि क्षुद्र जीव के मारने वाले को दो सौ द्रम्म दण्ड दिया जाय; मृग, पक्षी के हत्यारे को पचास द्रम्म; बकरा गधे के हिंसक को पांच माष; कुत्ता, सूअर के मारने वाले को दो माष। यहां पर जीव-भेद से दण्डभेद की मर्यादा स्पष्ट है।

क्षुद्रजीवसम्बन्धी दण्ड के विषय में कुमारपाल की शासनव्यवस्था लघ्वर्हन्नीति की व्यवस्था से कुछ भिन्न है। प्रबन्धचिन्तामणि[3] से पता चलता है कि 'कुमारपाल के शासन में सपादलक्षदेश के किसी सेठ की स्त्री ने पतिदेव के केशसंमार्जन करते हुए एक यूका केशों से निकालकर पतिदेव को दे दी'। पीड़ा देने वाली इस यूका को मारते हुए पतिदेव को दौर्भाग्यवश पुलिस ने देख लिया। अणहिल्लपुर में कुमारपाल के सामने उसे पकड़कर लाया गया। राजा की आज्ञा से उसका सर्वस्व छीन कर यूकाहत्या के स्थान पर यूकाविहार बनाया गया।' किन्तु लघ्वर्हन्नीति के कर्ता हेमचन्द्र छोटे अपराध के निमित्त बड़ा दण्ड देने के पक्ष में नहीं।

लघ्वर्हन्नीति से हमें कुछ ज्ञान नहीं होता कि वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा के निमित्त भी यह दण्ड लागू थे वा नहीं, किन्तु हेमचन्द्रविरचित संस्कृतद्व्याश्रयकाव्य[4] से पता चलता है कि कुमारपाल की अहिंसानीति का प्रभाव वैदिककर्मकाण्डियों पर भी पड़ा था। राजद्वारा यज्ञ में पशुहत्या का निषेध न होने पर भी वैदिक ऋषि राजा कुमारपाल के अहिंसावाद से प्रभावित थे। संस्कृतद्व्याश्रय में लिखा है कि कुमारपाल ने

---

१. लघ्व० पृ० ४१-४२, श्लो० ६-७. २. लघ्व० पृ० ४२. ३. पृ० ६१.
४. सर्ग २०, श्लो० १४-३४.

राज्यभर में जीववध का निषेध उद्घोषित कर दिया। फलतः प्रसिद्ध नगरों की तो बात ही क्या, छोटे छोटे ग्रामों में भी लोगों ने हिंसा करना छोड़ दिया। यहां तक दशा आपहुंची कि चण्डिकादेवी को बकरे की भेंट मिलना कठिन होगया। शिकारियों ने शिकार खेलना बन्द कर दिया। दाल्भि, भार्गव आदि मुनियों ने यज्ञ में पशुवध छोड़ दिया। अब मुनिलोग पहनने के लिये मृगछाल भी नहीं पासकते थे। द्व्याश्रय-काव्य के इस प्रकरण से पता चलता है कि लघ्वर्हन्नीति का अहिंसावाद हेमचन्द्र के अन्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट अहिंसावाद की अपेक्षा अपरिपक्वदशा में ही है।

लघ्वर्हन्नीति में दण्डमर्यादा का भी निरूपण है:—स्त्री, ब्राह्मण, तपस्वी यदि कोई भारी अपराध करें तो भी उनका अंगच्छेद वा वध नहीं करना चाहिये। किन्तु उन्हें केवल देश से निकाल देना ही पर्याप्त है। वैश्य यदि मांस व नकली सोने को बेचे तो उसके हाथ शीघ्र ही कटवा देने चाहियें। गाय, हाथी, ऊँठ आदि किसी बड़े पशु के हत्यारे को उससे आधा दण्ड देना चाहिये। क्षुद्र जीव के मारने पर दो सौ द्रम्म दण्ड उचित है। जो मनुष्य राजा की निन्दा, अनिष्टचिन्तन तथा मन्त्रभेद करता है, राजा के कोष को चुराता है, राजा का विरोध करता है, जिह्वा काटकर उसे देश से निकाल देना चाहिये। राजा का आज्ञालेखक यदि अपराध करे तो उसे उत्तम दण्ड देना चाहिये। जो पुरुष भार्या के कलङ्क से अथवा राजदण्ड से डरकर जार को चोर कहता है उसे पांच सौ द्रम्म दण्ड देना चाहिये। जो पुरुष उपजीव्य धन को हरता है उसे इससे आठ गुण अधिक दण्ड देना चाहिये। मृतक के शरीर पर से अवशिष्ट वस्त्र आदि को जो बेचे, वा गुरु को मारे, वा राजा के यान आसन पर बैठे उसे उत्तम दण्ड देना चाहिये। किसी की आंखों के फोड़ने वाले को पांच सौ दण्ड। शूद्र यदि ब्राह्मण के वेष से जीवे तो उसे आठ सौ द्रम्म दण्ड देना उचित है।

वर्णभेद से दण्डभेद:—

लघ्वर्हन्नीति में वर्णभेद से दण्डभेद माना है। अभक्ष्य वस्तु को खानेवाला यदि ब्राह्मण है तो उसे उत्तम दण्ड देना चाहिये, यदि क्षत्रिय है तो उसे मध्यम, यदि वैश्य है तो उसे अन्तिम, यदि शूद्र है तो उसे वैश्य से आधा।

अन्यायविहितदण्डप्राप्त धन का उपयोग—

हेमचन्द्र का कथन है कि यदि राजा अन्याय से दण्ड देता है तो उसे चाहिये कि जितना धन उसे दण्ड से मिला हो उससे तीस गुण अधिक धन धर्म के लिये लगावे। यहां पर एक दो विचारणीय बातें हैं। प्रथम तो यह है—क्या अन्यायदण्ड ज्ञानपूर्वक है अथवा अज्ञानपूर्वक। ज्ञानपूर्वक अन्यायदण्ड का विधान किसी नीति-

ग्रन्थ में नहीं मिलता। हेमचन्द्र स्पष्टरूप से कह चुके हैं कि अपराध, देश, काल, बल आदि के अनुसार दण्ड देना चाहिये। दण्ड देने में उन्होंने अपराध को मुख्य माना है। वे ज्ञानपूर्वक अन्याय-दण्ड देने के पक्ष में नहीं हैं। अब रहा अज्ञानपूर्वक दण्ड का विधान। यहां पर कठिन समस्या खड़ी होती है। जब एक बार राजा व्यवहारनिर्णय कर लेता है तो वह समझता है कि मैंने न्याय से निर्णय किया है, तो फिर उसे किस तरह प्रतीत होसकता है कि यह अन्याय से निर्णय हुआ है। सम्भव है कि हेमचन्द्र के कहने का तात्पर्य यह हो कि राजा ने अज्ञानपूर्वक अन्याय से व्यवहारनिर्णय किया; व्यवहारनिर्णय के अनन्तर अभियुक्त को दण्ड मिल गया; अभियुक्त ने राजनिर्णय के विरुद्ध मन्त्रिपरिषत् से प्रार्थना की; मन्त्रिपरिषत् के अनुसार राजनिर्णय को अन्याय्य ठहराया गया। किन्तु ऐसी दशा में राजनिर्णय की अपेक्षा परिषत्‌निर्णय का गौरव अधिक मानना पड़ेगा जिसका प्रमाण लघ्वर्हन्नीति में नहीं मिलता। और यदि व्यवहारनिर्णय के लिये परिषत् के प्रति प्रार्थना की गई है तो परिषत्‌निर्णय के अनन्तर ही अपराधी को दण्ड मिलना चाहिये। किन्तु यहां राजनिर्णय के अनन्तर ही दण्ड का सङ्केत है। एक और आपत्ति भी खड़ी हो जाती है। हेमचन्द्र कहते हैं कि यदि अन्यायदण्ड से धन प्राप्त किया हो तो उससे तीस गुण अधिक धन धर्म के लिये देना चाहिये। धर्म के लिये तीस गुण अधिक धन देना तो ठीक है—अज्ञानपूर्वक अन्यायनिर्णय के निमित्त, किन्तु जो दण्डनिमित्त धन अभियुक्त से लिया गया हो वह तो उसे लौटा देना चाहिये। अभियुक्त की इच्छा के विपरीत हेमचन्द्र उस धन को भी धर्म के लिये देने को किस तरह तय्यार हो गये हैं? एक और समस्या भी यहां पर उपस्थित होती है—यदि दण्ड शारीरिक हो, आर्थिक न हो और शारीरिक दण्ड का अज्ञानपूर्वक अन्यायनिर्णय हुआ हो तो ऐसी दशा में किस तरह शारीरिक दण्ड से तीस गुण अधिक दण्ड को धर्म के लिये उपयुक्त किया जावे। निस्सन्देह ही हेमचन्द्र का तात्पर्य अन्यायविहित आर्थिक दण्ड से है। किन्तु हेमचन्द्र को चाहिये था कि वे अन्यायपूर्वक शारीरिक दण्ड के निमित्त भी राजा के लिये कुछ प्रायश्चित्त आदि प्रकार बताते।

हेमचन्द्र के इस कथन का—कि राजा अन्यायविहित दण्ड से प्राप्त धन को उससे तीस गुण अधिक धन के साथ धर्म में लगावे—कहीं भूल से यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि न्यायविहित दण्ड को राजा कोष में रख लेवे। न्यायविहित तथा अन्यायविहित—इन दोनों दण्डों से प्राप्त धन के उपयोग में केवल अन्तर इतना ही है कि अन्यायविहित दण्ड से प्राप्त धन तीस गुण अधिक धन के साथ धर्म में लगाना चाहिये

किन्तु न्यायविहित दण्ड से प्राप्त धन केवल उतना ही धर्म में लगाना चाहिये, मात्रा बढ़ाने की जरूरत नहीं। न्यायविहित दण्ड से प्राप्त धन के उपयोग पर लघ्वर्हन्नीति में स्पष्टरूप से कुछ भी नहीं लिखा, किन्तु इस विषय पर अन्य जैनशास्त्रों में कुछ प्रमाण मिलते हैं। नीतिवाक्यामृत के दण्डनीतिसमुद्देश में सोमदेवसूरि ने लिखा है :— 'दण्डद्यूतमृतविस्मृतचौरपारदारिकप्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत।' इससे दण्डादिद्वारा प्राप्त धन को राजकार्य में लगाने का निषेध स्पष्ट है। नीतिवाक्यामृत के टीकाकार हरिबल ने इस सूत्र का विवरण इस प्रकार किया है :—'तानि द्रव्याणि भूभुजा धर्मार्थं विप्रादीनां देयानि, न च कोशे क्षेप्तव्यानि; यतो दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि सर्वाणि।' अर्थात् राजा को चाहिये कि वह इन द्रव्यों को धर्मार्थ ब्राह्मणादियों के प्रति देवे, कोश में न रक्खे।

दण्ड के स्थान—

लघ्वर्हन्नीति में[2] दण्ड के दस स्थान कहे हैं :—(१) उदर, (२) उपस्थ, (३) जिह्वा, (४) हाथ, (५) कान, (६) धन, (७) देह, (८) पाद, (९) नासा, (१०) चक्षु। इनमें नौ तो शारीरिक दण्ड हैं और एक (अर्थात् धन) अशारीरिक दण्ड है। दण्ड देने में एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये। शरीर के जिस अङ्ग से अपराध किया गया हो उसी अङ्ग का निग्रह अभीष्ट है। यह व्यवस्था तो रही शारीरिक दण्ड के विषय में। अब जो पुरुष धनदण्ड देने को असमर्थ हैं उन्हें कैद खाने में रख कर उनसे धनदण्ड के बराबर काम लेना चाहिये। जब वे धनदण्ड के बराबर काम कर चुकें तभी उन्हें कैद से छोड़ना ठीक है।

हेमचन्द्र ने[3] पांच प्रकार के उत्तम दण्डों का वर्णन किया है :—(१) सर्वस्वहरण, (२) वध, (३) पुरनिर्वासन, (४) अङ्गच्छेदन, (५) अङ्कन।

इन पांच प्रकार के उत्तम दण्डों में से अङ्कनदण्ड के विषय में इस प्रकार लिखा है[4]:— निन्दक अथवा पापी के मस्तक पर अंक लगाकर, उसे गधे पर चढ़ाकर घुमाना चाहिये। शराबी के मस्तक पर ध्वज का अंक, गुरुभार्यागामी के मस्तक पर भंग का अंक, चोर के मस्तक पर कुत्ते के पैर का अथवा कुत्ते का अंक लगाना चाहिये। पुरनिर्वासनविषय का विवेचन इस तरह है[5] :—ब्रह्महत्या करने वाले का सर्वस्व छीनकर, उसका सिर मुंडाय, उसे गधे पर चढ़ाकर देश से निकाल देना

१. पृ० १०४, सू० ५. २. पृ० ४५, श्लो० २४.
३ लघ्व० पृ० ४६, श्लो० २६. ४. लघ्व० पृ० ४६, श्लो० २७-२८.
५. लघ्व० पृ० ४६, श्लो० २८-२९.

चाहिये। यहां पर प्रश्न होता है कि ब्रह्महत्या करने वाले को ही यह दण्ड क्यों। उत्तर में कहना पड़ेगा कि हेमचन्द्र वर्णसम्बन्धी पौराणिक विशेषताओं के पक्षपाती हैं।

यहां पर पुरनिर्वासन से देशनिर्वासन का अभिप्राय है। अन्यथा ब्राह्मण के हत्यारे को सिर मुंडाय गधे पर चढ़ाकर नगर से बाहिर निकालना हत्या के बराबर दण्ड नहीं हो सकता।

अदण्ड्यनिरूपण—

हेमचन्द्र ने अदण्ड्य मनुष्यों का भी ज़िक्र किया है। लघ्वर्हन्नीति में लिखा है कि वृद्ध, बहुश्रुत, बाल, ब्राह्मण, गुरुपत्नी, माता, पिता, उपदेशक, तपस्वी, आचार्य, पाठक, गाय—इनमें से किसी एक वा अधिक के हत्यारे को मारने वाला मनुष्य दण्ड के योग्य नहीं होता। इसके अतिरिक्त धनहर्ता, शस्त्र, वह्नि तथा विष के द्वारा मारने को उद्यत, किसी की स्त्री से अशिष्टाचार करने वाले, खेत तथा स्त्री को हरने वाले, पिशुन, छिद्रान्वेषी, मारणार्थ अस्त्र फैंकने को तय्यार तथा गर्भघातक—इनके मारने वाले को दण्ड नहीं देना चाहिये। क्योंकि धनहर्ता आदि ये सब आततायी हैं।

दण्डनीतिप्रकरण में भी इस प्रकार दण्डों का निरूपण नहीं, किन्तु व्यवहार-नीतिप्रकरण में भी कुछ दण्डों का निरूपण है।

प्रस्तुत आलोचना के दण्डनीतिपर्यन्त सीमित होने पर भी व्यवहारनीति-प्रकरण से दण्डनिर्णय का दिग्दर्शन कराना ठीक रहेगा। उदाहरणार्थ धोबी द्वारा वस्त्रों के नष्ट होने पर दण्डनिर्णय देखिए।

हेमचन्द्र[2] लिखते हैं कि यदि कोई धोबी धन लेने के निमित्त दूसरे के उत्तम वस्त्रों को आधिरूप से रखले तो उसे दस रजत दण्ड मिलना चाहिये। यदि धोबी धन के लोभ से, विवाहादि उत्सव पर पहनने के लिये किसी मनुष्य को दूसरे के उत्तम वस्त्र देवे तो उसे एक रजत दण्ड देना चाहिये। यदि धोबी नये वस्त्रों के स्थान पर पुराने वस्त्रों को देवे तो उसे पांच रजत दण्ड देना चाहिये। यदि धोबी प्रमाद से वस्त्रों को पत्थरोंवाले स्थान पर धोने से फाड़ डाले तो उसे यथायोग्य दण्ड मिलना चाहिये। यदि आठ रजत से खरीदा हुआ वस्त्र एक वार ही धोने से फट जावे तो धोबी को सात रजत दण्ड देना चाहिये। दो बार धोने से फटने पर उससे भी आधा। तीन वार धोने से फटने पर उससे भी आधा। अर्धनष्ट वस्त्र के फटने पर उससे भी आधा। जीर्ण वस्त्र के फटने पर धोबी का कुछ दोष नहीं।

१. पृ० ४७, श्लो० ३१-३४।   २, लघ्व० पृ० २३१, श्लो० १७-२३.

कुमारपालराज्य में लघ्वर्हन्नीति का प्रचार

लघ्वर्हन्नीति की प्राकरणिक विवेचना के अनन्तर देखना है कि कुमारपाल के राज्य में लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित सिद्धान्तों का कहां तक प्रचार था। लघ्वर्हन्नीति के आरम्भ में स्पष्ट लिखा है कि राजा कुमारपाल के आग्रह से हेमचन्द्र ने लघ्वर्हन्नीति की रचना की। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि कुमारपाल ने लघ्वर्हन्नीति के सिद्धान्तों का कहां तक प्रतिपालन किया। यद्यपि कुमारपाल की शासनपद्धति पर कोई ग्रन्थ नहीं मिलता तो भी कुमारपालसम्बन्धी ग्रन्थों से तत्कालीन शासनप्रणाली का कुछ ज्ञान हो सकता है। कुमारपालसम्बन्धी ग्रन्थ यह हैं:—हेमचन्द्रकृत प्राकृत तथा संस्कृत द्वयाश्रयकाव्य, सोमप्रभकृत कुमारपालप्रतिबोध, जयसिंहसूरिकृत कुमारपालचरित्र, चरित्रसुन्दरकृत कुमारपालचरित्र, जिनमण्डनकृत कुमारपालप्रबन्ध, मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि, चन्द्रप्रभकृत प्रभावकचरित, यशःपालकृत मोहराजपराजय, रासमाला। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि जैनधर्म से प्रभावित होकर, हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने मांसभक्षण और मद्यपान छोड़ दिया। अभक्ष्य-नियम लेकर हेमचन्द्र ने प्रजाहित के लिये राज्य में पशुहिंसा बन्द कर दी। पशुहिंसा का निषेध सुराष्ट्र, लाट, मालव, आभीर, मेदपाट देश के लिये अलङ्घनीय था। सपादलक्षदेश में यूका मारने के निमित्त सर्वस्वहरण दण्ड का ज़िक्र हम कर चुके हैं। कुमारपाल ने अहिंसा के प्रचारार्थ अपने अमात्यों को काशी भेजा। मांसभक्षण, मद्यपान, द्यूतसेवन, वेश्यागमन आदि व्यसनों को बन्द किया। हिंसानिषेध के कारण नवरात्रों में देवी के प्रति बलिदान की प्रथा हट गई। अनपत्य मृतक के धनत्याग का प्रथम अंकुर कुमारपाल की शासनपद्धति में मिलता है। जिस तरह राजा अशोक ने धर्म और अर्थ के संयोग से न्यायाश्रित तथा अहिंसानिष्ठ बौद्धराज की स्थापना की थी इसी प्रकार कुमारपाल ने भी जैन सिद्धान्तों को अपनी शासनपद्धति में स्थान देकर लघ्वर्हन्नीति के अनुसार वर्णाश्रित, न्यायनिष्ठ जैनराज्य की स्थापना की। कुमारपाल के राज्य में लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित सभी सिद्धान्तों के दृष्टान्त मिलना कठिन है, तो भी कुमारपालसम्बन्धी ग्रन्थों से कुमारपालराजनीतिप्रणाली का दिग्दर्शन होता है। लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित सिद्धान्तों से किसी अंश में इस प्रणाली की तुलना ठीक रहेगी।

(१) मनुस्मृति[1] में लिखा है कि अपुत्र के मरने पर उसका धन राजगामी

---

१. मनु. ६. १८६.

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः॥

होता है। किन्तु यह नियम केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये है, ब्राह्मण के लिये नहीं। स्पष्ट है कि मनु के अनुसार अब्राह्मणी का पति की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं है। उसे केवल जीविकामात्र धन मिलना चाहिये। कालिदास के समय में यही प्रथा थी। शकुन्तला के छठे अङ्क में कथा आती है कि सेठ धनमित्र अनपत्य मर जाते हैं। मनुस्मृति के अनुसार धनमित्र की सम्पत्ति पर राजा का अधिकार है—'राजगामी तस्यार्थसञ्चयः।' राजा दुष्यन्त के मन्त्री की यही राय है। किन्तु दुष्यन्त दीर्घदर्शी हैं। उनका कहना है कि यदि धनमित्र की स्त्रियों में से किसी के गर्भ हो तो सम्पत्ति का स्वामी वही गर्भ होगा। जब उन्हें पता चलता है कि धनमित्र की एक स्त्री के गर्भ है तब वे धनमित्र की सम्पत्ति लेने से इन्कार कर देते हैं:—ननु 'गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। एवममात्यं ब्रूहि।'

तात्पर्य यह है कि स्मृतिग्रन्थों के अनुसार अपुत्र के मरने पर उसका धन राजगामी होता है। किन्तु जैनशास्त्र इस सिद्धान्त को नहीं मानते। लघ्वर्हन्नीति में[1] लिखा है:—'अनपत्ये मृते पत्यौ सर्वस्य स्वामिनी वधूः।' आगे फिर लिखा है:—

भ्रष्टे नष्टे च विक्षिप्ते पत्यौ प्रव्रजिते मृते।
तस्य निश्शेषवित्तस्याधिपा स्याद्वरवर्णिनी॥
कुटुम्बपालने शक्ता ज्येष्ठा या च कुलाङ्गना।
पुत्रस्य सत्त्वेऽसत्त्वे च भर्तृवत्साधिकारिणी॥

(पृ० १२८, श्लो० ५२-५३.)

लघ्वर्हन्नीति में[2] लिखा है कि विधवा स्त्री अपने द्रव्य की रक्षा के लिये किसी पुरुष को नियुक्त कर सकती है। यदि नियुक्त पुरुष कृतघ्न निकले तो राजद्वारा उसे उस पद से हटवा सकती है और उसकी जगह किसी दूसरे विश्वस्त पुरुष को नियुक्त भी करवा सकती है। पुत्र के होने वा न होने पर उसे दान, विक्रय आदि का पूर्ण अधिकार है।

लघ्वर्हन्नीति के अनुसार कुमारपाल भी अपुत्रमृतक के धनग्रहण का निषेध करते हैं। संस्कृतद्व्याश्रय में[3] लिखा है कि एक रात कुमारपाल ने कहीं से रोने का शब्द सुना। नीले वस्त्र पहिनकर वे क्रन्दन के कारण को जानने के लिये महल से बाहिर निकले। कुछ दूर जाकर उन्होंने रोती हुई एक विधवा को देखा। विधवा की सन्तान नहीं थी। इसलिए राजद्वारा सम्पत्ति का छिन जाना ही उसके रोने का कारण था।

---

१. पृ० १४८, श्लो० ११४. २. पृ० १२७, श्लो० ४७-५१.
३. सर्ग २०, श्लो० ३८-८.

उन्होंने उसे सांत्वना दी । मरणाध्यवसाय से उसे हटाकर वे महल को लौट आये। प्रात: उठकर उन्होंने अमात्यों को आज्ञा दी कि वे अनपत्य विधवा का धन लेना छोड़ दें, चाहे इस कारण कोष में दो लाख, वा दो करोड़ भी द्रम्म कम होजावें।

द्वयाश्रयकाव्य की इस बात का समर्थन प्रबन्धचिन्तामणि[1] में भी मिलता है। वहां पर अनपत्य मृतकों का धन न लेने से राजा कुमारपाल की इस तरह प्रशंसा मिलती है:—'अनपत्य मृतकों का धन लेने से राजा पुत्र बन जाता है, किन्तु तुम तो सन्तोषपूर्वक अनपत्य मृतकों का धन लेना छोड़कर ठीक ही उनके पितामह बन गये हो।'

प्रबन्धचिन्तामणि में अनपत्यमृतकधनसम्बन्धी आय की संख्या भी बतायी है। 'द्वासप्ततिलक्षप्रमाणं तदायपट्टकम्', आय की संख्या बहत्तर लाख थी अर्थात्—आय बन्द करने से पूर्व कोष में बहत्तर लाख द्रम्म आचुके थे। इस आय पर राजा ने स्वत्व छोड़ दिया। इस औदार्य के कारण विद्वानों ने कुमारपाल की प्रशंसा की है:—

न यन्मुक्तं पूर्वै रघुनहुषनाभागभरत-
प्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगकृतोत्पत्तिभिरपि।
विमुञ्चन् कारुण्यात्तदपि रुदतीवित्तमधुना
कुमारक्ष्मापाल! त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥

(प्रबन्ध० पृ० ८६.)

अर्थात्-'रघु, नहुष, नाभाग, भरत आदि सत्ययुग के प्राचीन राजाओं ने भी जिस अनपत्य विधवा के धन को नही छोड़ा उस धन को कारुण्यवश छोड़ते हुए कुमारपाल! तुम बड़ों के भी अग्रेसर हो।'

(२) जैनधर्म में अहिंसावाद का उच्च स्थान है। अहिंसावाद के कारण ही जैन-धर्म का वैदिक धर्म से महत्त्व माना गया है। आचाराङ्गसूत्र[2] में अहिंसात्मक नीतिधर्म-का वर्णन है। आदिपुराण[3] में अहिंसाधर्म न मानने वालों की निन्दा की है। जैन-नीतिग्रन्थ नीतिवाक्यामृत[4] से पता चलता है कि भूतद्रोहियों की कोई क्रिया भी

---

१. पृ० ८६. २. 'सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे धुवे नीए सासए समेच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए'।

३. अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः।
चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी बत॥ पर्व ४१, श्लो० ५२.

४. न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि। नीतिवाक्या० पृ० ६, सू० ५.

परिणाम में शुभ नहीं होती । जनसंहार के भय से जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध आदि द्वारा बलोत्कर्षनिर्णय के दृष्टान्त भी जैनशास्त्रों में मिलते हैं। लघ्वर्हन्नीति[1] में भी क्षुद्र जीव, मृग, पक्षी, बकरा, गधा, कुत्ता, सूअर आदि की हत्या के निमित्त दण्ड-विधान है।

कुमारपाल भी जैनशास्त्रप्रतिपादित अहिंसावाद को नीतिशास्त्र में उच्च स्थान देते हैं। इस बात की प्रतिपत्ति यूकाविहार की कथा से ही होजाती है। तो भी कुमारपाल के अहिंसा-प्रतिबोध का पूर्ण परिचय हमें द्वयाश्रयमहाकाव्य से मिलता है। द्वयाश्रय महाकाव्य[2] में लिखा है कि राजा कुमारपाल ने एक दिन कुछ दीन बकरों को खींच कर ले जाते हुए किसी ग्राम्य नर को देखा। इस पुरुष से राजा ने पूछा कि तुम इन बकरों को कहां ले जा रहे हो। पुरुष ने उत्तर दिया— राजन् मैं अतिदरिद्र हूं, बेचने के लिये इन बकरों को कसाई की दुकान पर ले जा रहा हूं। जिस प्रकार खराब हल वाला किसान अच्छे हलवाले किसान से हल लेने की इच्छा रखता है, अथवा जिस प्रकार अनपत्य पुरुष सापत्य पुरुष से अपत्य खरीदना चाहता है, इसी प्रकार निन्द्य लोग कसाई से इन बकरों के मांस को खरीदना चाहते हैं।' दुरात्मा की इस बात से राजा पर गहरी चोट पड़ी। वे सोचने लगे—'धिक्कार है इन तुच्छ लोगों को जो अपनी जीविका के लिये जीव-हिंसा करते हैं। सोमवल्ली तथा तृण से निर्वाह करने वाले इन निरपराध पशुओं को जीविका के लिये मारने की अपेक्षा तो नौकरी से निर्वाह करना ही भला है। व्याध जो जंगल में पशुओं को मारते हैं, यह परोक्षवध भी राजा के अपयश का कारण है, प्रत्यक्षवध की तो बात ही क्या ? जैसे वायु दुर्गन्ध के संयोग से दुर्गन्धित, सुगन्ध के संयोग से सुगन्धित हो जाती है इसी तरह जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा भी हो जाती है। अनर्थरूपी पशुवध का निषेध न करने से मुझ में न्याय का गन्ध भी नहीं। पशुवध का निषेध न करता हुए मैं स्वार्थ के लिये कर ले रहा हूं, न कि भूमिरक्षा के लिये। खेद है कि मेरे राजा होने पर भी लोग राक्षसों की तरह पशुओं को मार रहे हैं।' इस तरह विचार के अनन्तर कुमारपाल ने राज्य में जीववध का निषेध उद्घोषित करा दिया। फलतः प्रसिद्ध नगरों की तो बात ही क्या, छोटे छोटे ग्रामों में भी लोगों ने जीववध करना छोड़ दिया। यहां तक दशा आ पहुंची कि देवी चण्डिका पर बकरे की भेंट चढ़ाना भी कठिन होगया। शिकारियों ने शिकार खेलना बन्द कर दिया। दाक्षि, भार्गव आदि मुनियों ने यज्ञ में पशुवध छोड़ दिया। अब मुनियों को पहनने के लिये मृगछाल भी न मिलने लगी। कुमारपाल की आज्ञा के सामने नक्षत्रों का

---

१. पृ० ४३, श्लो० १३-१४. २ सर्ग २०, श्लो० ५-३७.

प्रभाव भी मन्द पड़ गया। ज्योतिषशास्त्र से पता चलता है कि पूर्वभद्रपदा में उत्पन्न सत्त्व क्रूर होते हैं। कुमारपाल के राज्य में इस नियम का प्रभाव न रहा।

कुमारपाल की शासनपद्धति का मुख्य कर्तव्य जनसाधारण का हित था। इसलिए हिंसानिषेध से जिन जिन व्यापारियों को हानि हुई उन्हें तीन वर्ष के लिये धान्य दे दिया गया, ताकि उन्हें भिक्षा मांगने को विवश न होना पड़े।

(३) लघ्वर्हन्नीति में राजा के पांच यज्ञ कहे हैं। चौथा यज्ञ अपक्षपात है। पहले कह चुके हैं कि जैनराज्य का विशेष महत्त्व न्यायप्रियता तथा पक्षपात-शून्यता है। न्यायप्रियता तभी सिद्ध होती है जब स्वार्थहानि होने पर भी न्याय का आश्रय लिया जाय। आदिपुराण की पूर्वोक्त चन्द्रचूलकथा 'न्यायवश से स्वार्थहानि' का परम निदर्शन है। अपराधी पुत्र चन्द्रचूल को क्षमा करने के लिये सारी प्रजा राजा से पुकार करती है। किन्तु राजा प्रजापति स्वार्थ की—अर्थात् एकलौते पुत्र के जीवन की-परवाह नहीं करते। इसी तरह का एक दृष्टान्त भारत के मुसलिमकाल में हमें मिलता है। बादशाह जहांगीर की न्यायपरता प्रसिद्ध है। इन्होंने पट्टरानी नूरजहां को अपराध के कारण फांसी की आज्ञा दी थी। इन्होंने ही दीन-दु:खियों की पुकार सुनने को राज-महल के आगे एक घण्टा लटका रक्खा था। जो दु:खित जन इस घण्टा को बजाता, बादशाह उसी समय उसकी पुकार सुनता और न्यायोचित व्यवहार करता था. किन्तु इस प्रथा के आविष्कर्ता बादशाह जहांगीर ही नहीं थे। न्यायघण्टा की प्रथा कुमारपाल के भी यहां प्रचलित थी। प्रबन्धचिन्तामणि में लिखा है :—

कर्णाटे गूर्जरे लाटे सौराष्ट्रे कच्छसैन्धवे।
उच्चायां चैव भंभेर्यां मारवे मालवे तथा॥
कौङ्कणे तु तथा राष्ट्रे कीरे जांगलके पुन:।
सपादलक्षे मेवाडे ढील्यां जालन्धरेऽपि च॥
जन्तूनामभयं सप्तव्यसनानां निषेधनम्।
वादनं न्यायघण्टाया रुदतीधनवर्जनम्॥ (पृ० ६५.)

निर्दिष्ट प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनपत्यमृतकधनापहरणपरिहार, अहिंसाप्रचार, न्यायप्रियता आदि लघ्वर्हन्नीतिप्रतिपादित सिद्धान्त कुमारपाल के राज्य में प्रचलित थे।

---

१. लघ्व० पृ० ६, श्लो० ४४.

ਸਾਹਿੱਤ ਦੇ ਅਨਛਪੇ ਪਤਰੇ

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਕੋਸ਼--ਇਹ ਡਾਢੀ ਡੂੰਘੀ, ਖੋਜ ਤੇ ਵਿਚਾਰ ਭਰੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਦੀ ਡਿਕਸ਼ਨਰੀ ਹੈ। ਇਸ ਮਹਾਨ ਕੰਮ ਦੇ ਪ੍ਰਾਰੰਭਕ ਲੇਖਕ ਸ੍ਰੀਮਾਨ ਸੁਰਗਵਾਸੀ ਗਿਆਨੀ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਜੀ ਹਨ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਆਪਣੇ ਪਰਮ ਮਿਤ੍ਰ ਸ੍ਰ: ਨਰਿੰਜਨ ਸਿੰਘ ਜੀ ਕੌਲਸਰ, ਸ੍ਰੀ ਅੰਮ੍ਰਿਤਸਰ ਵਾਲਿਆਂ ਨਾਲ ਮਿਲ ਕੇ ਇਹ ਕੰਮ ਹੱਥ ਵਿੱਚ ਲਿਆ। ਅਜੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਕੋਸ਼ ਦੀ ਉਸਾਰੀ ਦਾ ਕੰਮ ਜਾਰੀ ਹੀ ਸੀ ਕਿ ਗਿਆਨੀ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਹੁਰਾਂ ਨੂੰ ਸੱਚੀ ਦਰਗਾਹੋਂ ਸੱਦਾ ਆ ਗਿਆ ਅਰ ਉਹ ਪਰਮ ਤੱਤ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਨਾਲ ੧੧ ਜਨਵਰੀ, ੧੯੨੪ ਨੂੰ ਤੱਦ ਰੂਪ ਜਾ ਹੋਏ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸਰੀਰਕ ਚੋਲਾ ਛੱਡ ਜਾਨ ਮਗਰੋਂ ਆਪ ਦੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਪਿਤਾ ਸੁਰਗਵਾਸੀ ਸਰਦਾਰ ਬੇਅੰਤ ਸਿੰਘ ਹੁਰਾਂ ਉਸਾਰੀ ਵਿੱਚ ਕੁਝ ਹੋਰ ਰਦੇ ਲਾਏ ਪਰੰਤੂ ਤਾਂ ਭੀ ਇਹ ਮਹਾਨ ਕੰਮ ਮੁਕੰਮਲ ਨਾ ਹੋ ਸੱਕਿਆ। ਸ੍ਰੀਮਾਨ ਸ: ਬੇਅੰਤ ਸਿੰਘ ਜੀ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਕੋਸ਼ ਦੀ ਲਿਖਤ ਦਾ ਕੰਮ ਆਪਣੇ ਹੱਥ ਵਿੱਚ ਲੈਣ ਦਾ ਅਤਿ ਸਮੀਪੀ ਕਾਰਨ ਲਿਖਤੀ ਨੁਸਖਿਆਂ ਵਿੱਚ ਇਕਰ ਉਲੀਕਦੇ ਹਣ। " ਅਜ ੧੧, ਜਨਵਰੀ, ੧੯੨੪ ਪਰਮ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਗਿਆਨੀ ਨੇ ਗੁਰਪੁਰੀ ਨੂੰ ਚਲਾਨਾ ਕੀਤਾ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਨਿਮਤ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਦਾ ਪਾਠ ਆਰੰਭ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਅਤੇ ਓਹਨਾਂ ਦੀ ਅਭਿਲਾਖਾ ਅਨੁਸਾਰ ਕੋਸ਼ (ਜੋ ਓਹਨਾਂ ਸ਼ੁਰੂ ਕੀਤੀ ਹੋਈ ਸੀ) ਜਾਰੀ ਰੱਖੀ ਗਈ। ਸ੍ਰੀ ਅਕਾਲ ਪੁਰਖ ਪਾਸ ਪ੍ਰਾਰਥਨਾ ਹੈ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਆਤਮਾ ਨੂੰ ਸੁੱਖ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰੇ। ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਦਾ ਗੁਰੂ ਘਰ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰੇਮ ਤੇ ਉਤਸਾਹ ਇਤਨਾ ਸੀ ਕਿ ਅੰਤ ਸਮੇਂ ਤੀਕਰ ਆਪਣੇ ਨਿਤਨੇਮ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਪਕ੍ਰ ਰਹੇ ਅਤੇ ਕਦੇ ਭੀ ਮੂੰਹੋਂ ਹਾਇ ਦਾ ਸ਼ਬਦ ਨਹੀਂ ਨਿਕਲਿਆ। ਜੋ ਭੀ ਕੰਮ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਨੇ ਕੀਤਾ ਸੋ ਬੜੇ ਹੀ ਪ੍ਰੇਮ ਨਾਲ ਪੂਰਾ ਨਿਬਾਹਿਆ, ਮਰਣ ਸਮੇਂ ਤਕ ਉਨ੍ਹਾਂ

ਨੂੰ ਕੋਈ ਭੀ ਪੀੜਾ ਨਹੀਂ ਹੋਈ ਅਤੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਚਰਣਾ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਮਨ ਸੀਤਾ ਰਿਹਾ। ਪਿਆਰੇ ਦੇ ਵਿਛੋੜੇ ਦਾ ਦੁੱਖ ਭਾਵੇਂ ਅਸਹਿ ਤੇ ਅਕਹਿ ਹੈ ਪਰੰਤੂ ਭਾਣਾ ਅਮਿਟ ਸਮਝਕੇ ਸ੍ਰੀ ਅਕਾਲ ਪੁਰਖ ਪਾਸ ਪ੍ਰਾਰਥਨਾ ਹੈ ਕਿ ਓਹ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਦੀ ਆਤਮਾ ਨੂੰ ਸੁੱਖ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰੇ ਅਤੇ ਸਾਨੂੰ ਸੱਭ ਸੰਬੰਧੀਆਂ ਨੂੰ ਸ਼ਾਂਤਿ ਤੇ ਧੀਰਜ ਬਖਸ਼ੇ। ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਨੇ ਛੋਟੀ ਬਾਲਕ ਅਵਸਥਾ ਵਿੱਚ ਹੀ ਓਹ ਕੰਮ ਕਰਕੇ ਦਿਖਲਾਏ ਹਨ ਕਿ ਜੋ ਕਿਸੇ ਵਡੇ ਪੁਰਸ਼ ਕੋਲੋਂ ਭੀ ਹੋਣੇ ਅਸੰਭਵ ਹਨ। ਜੇਕਰ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਆਯੂ ਦੀਰਘ ਕਰਦਾ ਤਾਂ ਆਸ਼ਾ ਸੀ ਕਿ ਕਈ ਪੰਥਕ ਕੰਮ ਸੌਰ ਜਾਂਦੇ ਅਤੇ ਮੇਰੀ ਪਿਛਲੀ ਅਵਸਥਾ ਵਿੱਚ ਜੋ ਸੱਟ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਵਿਛੋੜੇ ਦੀ ਲੱਗੀ ਹੈ ਉਸ ਤੋਂ ਬਚ ਜਾਂਦਾ। ਪਿਆਰੇ ਨੇ ਕਈਆਂ ਗੁਰਮਤ ਪੁਸਤਕਾਂ ਦੇ ਟੀਕੇ ਕੀਤੇ ਅਤੇ ਕਈਆਂ ਪੁਰਸ਼ਾਂ ਨੂੰ ਜੋ ਉਸ ਕੋਲੋਂ ਆਯੂ ਵਿੱਚ ਭੀ ਸਿਆਣੇ ਸਨ ਪੜ੍ਹਾਇਆ ਤੇ ਸ਼ੁਭ ਉਪਦੇਸ਼ ਦਿੱਤੇ ਜੋ ਜਲਦੀ ਭੁਲ ਜਾਵਨ ਵਾਲੀ ਗਲ ਨਹੀਂ ਹਨ। ਹੇ ਸਤਿਗੁਰੂ ! ਕ੍ਰਿਪਾ ਕਰੋ ਤੇ ਮੇਰੇ ਮਨ ਨੂੰ ਜੋ ਕਸ਼ਟ ਪਿਆਰੇ ਦੇ ਬੇਵਕਤ ਵਿਛੋੜੇ ਦਾ ਹੋਇਆ ਹੈ ਸ਼ਾਂਤੀ ਬਖਸ਼ੋ ਅਤੇ ਅਜੇਹਾ ਬਲ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰੋ ਕਿ ਆਪ ਦੇ ਭਾਣੇ ਨੂੰ ਮਿੱਠਾ ਕਰਕੇ ਮੰਨਾ ਅਤੇ ਆਪਣੀ ਆਯੂ ਦੇ ਬਾਕੀ ਦਿਨ ਇਸ ਅਸਾਰ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਰਹਿਕੇ ਆਪ ਦਿਆਂ ਚਰਨਾਂ ਵਲ ਲੱਗਾਂ ਤਾਂ ਤੇ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਵਿਛੋੜੇ ਨੂੰ ਦੁਖਦਾਇਕ ਨਾ ਸਮਝਾਂ। ਹੇ ਪਿਤਾ ! ਮੈਨੂੰ ਨਿਰਬਲ ਨੂੰ ਬਲ ਬਖਸ਼ੋ ਤੇ ਨਿਰਾਸਰੇ ਨੂੰ ਆਸਰਾ ਦੇਵੋ। ਹੇ ਨਿਓਟਿਆਂ ਦੀ ਓਟ! ਇਸ ਅਸਹਿ ਤੇ ਅਕਹਿ ਪੀੜਾ ਵਿੱਚ ਤੇਰੇ ਬਿਨਾਂ ਹੁਣ ਕੋਈ ਸਹਾਇਕ ਨਹੀਂ। ਤੂੰ ਬਲ ਬਖਸ਼, ਤਾਕਤ ਦੇ, ਕਿ ਮੈਂ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਰਚਿਤ ਪੁਸਤਕਾਂ ਨੂੰ ਸੰਪੂਰਨ ਕਰਾਂ ਤਾ ਕਿ ਹੋਰਨਾਂ ਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਤੋਂ ਲਾਭ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੋਵੇ। ਤੇ ਹੇ ਪਿਤਾ! ਮੈਨੂੰ ਇਸ ਸ਼ੋਕ ਸਾਗਰ ਤੋਂ ਬਾਂਹ ਪਕੜ ਕੇ ਕੱਢੋ,

ਮੈਂਨੂੰ ਆਪਦੇ ਬਿਨਾਂ ਕੋਈ ਸਹਾਰਾ ਨਹੀਂ । ਬਲ ਬਖਸ਼ੋ, ਬੁਧਿ ਬਖਸ਼ੋ, ਧੀਰਜ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰੋ, ਤੁਝ ਬਿਨਾਂ ਕੋਈ ਇਸ ਦੁੱਖ ਨੂੰ ਦੂਰ ਨਹੀਂ ਕਰ ਸਕਦਾ। ਹੇ ਪਿਤਾ ਔਕੜ ਵੇਲੇ ਆਪ ਹੀ ਸਹਾਇਤਾ ਕਰੋ ਤਾਕਿ ਮੈਂ ਆਪਣੇ ਪਿਆਰੇ ਬਲਵੰਤ ਸਿੰਘ ਦੇ ਵਿਛੋੜੇ ਨੂੰ ਆਪ ਦਾ ਭਾਣਾ ਮਿੱਠਾ ਮੰਨ ਕੇ ਧੀਰਜ ਤੇ ਸ਼ਾਂਤੀ ਨਾਲ ਸਹਿ ਸੱਕਾਂ। ਹੇ ਸਤਿਗੁਰੋ ! ਕ੍ਰਿਪਾ ਕਰੋ, ਦਯਾ ਕਰੋ, ਦਯਾ ਕਰੋ ਮੇਰੇ ਔਗੁਣਾਂ ਵਲ ਧਿਆਨ ਨਾ ਦੇ ਕੇ ਮੈਂਨੂੰ ਇਸ ਦੁੱਖ ਦੇ ਝੱਲਣ ਲਈ ਬਲ ਪ੍ਰਦਾਨ ਕਰੋ।

(ਦਸਖਤ) ਬੇਅੰਤ ਸਿੰਘ ੧੯-੧-੨੪,

ਵਿਸਾਖੀ

ਵਿਸਾਖੀ ਵਿਸਾਖ ਦੀ ਸੰਗ੍ਰਾਂਦ ਨੂੰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਵਿਸਾਖ ਦੇ ਅਰਥ ਹਿੰਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ (ਬੀਆ) ਭਾਵ ਦੂਜਾ ਅਤੇ ਸਾਖ ਦੇ ਅਰਥ ਖੇਤੀ ਜਾਂ ਟਹਿਣੀ ਦੇ ਹਨ, ਭਾਵ ਜਿਸ ਮਹੀਨੇ ਵਿਚ ਖੇਤੀ ਦੀ ਦੂਜੀ ਦਸ਼ਾ ਹੋਂਦੀ ਹੈ ਯਾ ਬ੍ਰਿੱਛਾਂ ਦੀਆਂ ਟਹਿਣੀਆਂ ਨਵੀਂ ਬਹਾਰ ਦੀਆਂ ਕੂੰਬਲਾਂ ਕਢਦੀਆਂ ਹਨ ਉਸਨੂੰ ਵਿਸਾਖ ਸੱਦਦੇ ਹਨ।

ਅਜ ਦੇ ਦਿਨ ਹੀ ਸ੍ਰੀ ਦਸਮੇਸ਼ ਜੀ ਨੇ ਉਸ ਪੌਦੇ ਜਾਂ ਫ਼ਸਲ ਦਾ ਸਿੱਟਾ ਕਢਿੱਆ ਸੀ ਜਿਸ ਨੂੰ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਬੀਜਿਆ ਸੀ, ਤੇ ਉਸਦੇ ਸਿੰਚਣ ਲਈ, ਭਾਵ ਤਾਕਤਵਰ ਹੋਣ ਲਈ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਰਖਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਲੋੜ ਪਈ ਤਾਂ ਵਾਰੀ ਵਾਰੀ ਅਨੁਸਾਰ ਅਜ ਦਿਨ ਤਕ ਨੌਂ ਗੁਰੂਆਂ ਨੇ ਰਾਖੀ ਕੀਤੀ, ਜਿਵੇਂ ਗੁਰੂ ਅਮਰ ਦਾਸ ਜੀ ਨੇ ਬਾ ਦਿੱਤੀ ਤੇ ਗੁਰੂ ਰਾਮਦਾਸ ਜੀ ਨੇ ਸਹਾਰਾ ਦਿੱਤਾ, ਤੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਅਰਜਨ ਦੇਵ ਜੀ ਨੇ ਸ਼ਹੀਦੀ ਖ਼ੂਨ ਪਾਕੇ ਸਿੰਜਿਆਂ, ਤੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁ_ ਹਰਿ ਗੋਬਿੰਦ ਜੀ ਨੇ ਦੈਤਾਂ ਸੂਰਾਂ ਤੋਂ ਰੱਖਿਆ ਕੀਤੀ, ਗੁਰੂ ਹਰ ਰਾਏ ਜੀ ਨੇ ਥਾਪੀ ਦਿੱਤੀ ਤੇ ਨਾਵੇਂ ਪਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਟਿੱਡੀ ਦਲ ਤੋਂ ਬਚਾਇਆ ਸੀ। ਦਸਮ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਜੀ ਨੇ ਅਜ ਉਹੀ ਸਿਟਾ ਕੱਢਣ ਵਾਲਾ ਦਿਨ ੨੪੧ ਸਾਲ

ਪਹਿਲਾਂ ਅਨੰਦਾਂ ਦੀ ਪੁਰੀ ਵਿੱਚ ਸਤਲੁਜ ਨਦੀ ਦੇ ਕੰਢੇ ਨਵੀਂ ਕਿਸਮ ਦਾ ਦੀਵਾਨ ਸਜਾਇਆ। ਸੋਹਣੇ ਸਾਹਿਬਾਨ ਦੇ ਲੱਖਾਂ ਸਿੱਖ ਸੇਵਕ ਕਲਗੀਧਰ ਦੇ ਅਲੌਕਕ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰ ਰਹੇ ਹਨ ਤੇ ਪ੍ਰੇਮ ਰੰਗਣ ਵਿੱਚ ਰੱਤ ਹੋਏ ਹੰਸ ਮਾਨਸਰੋਵਰ ਵਿੱਚ ਟੁਭੀਆਂ ਲਗਾ ਰਹੇ ਹਨ, ਤੇ ਸ੍ਰੀ ਆਸਾ ਜੀ ਦੀ ਵਾਰ, ੮੪ ਦੇ ਗੇੜ ਕਟਣ ਵਾਲੇ ਰਸ ਭਿਨੇ ਕੀਰਤਨ ਦੇ ਭੋਗ (ਚੂੰਕਿ ਇਸ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨ ਵਿੱਚ ੬੦ ਸ਼ਲੋਕ ੨੪ ਪੌੜੀਆਂ ਤੇ ਕੁਲ ੮੪ ਛੰਦ ਹਨ, ਜਿਸ ਕਰਕ ਇਸ ਦਾ ਕੀਰਤਨ ੮੪ ਕਟਣ ਦੀ ਸਮਰਥਾ ਰਖਦਾ ਹੈ) ਪਿੱਛੋਂ ਹਜ਼ੂਰ ਵੀਰ ਰਸ ਦਾ ਰੂਪ ਬਣਕੇ ਤੇ ਤਲਵਾਰ ਮਿਆਨ ਵਿੱਚੋਂ ਧੂਹ ਕੇ ਚੁੱਪ ਚਾਣਤਾ ਦਾ ਤਲਿਸਮ ਤੋੜਦੇ ਸ੍ਰੀ ਮੁਖ ਦਵਾਰਾ ਫ਼ੁਰਮਾਇਆ ਕਿ " ਅਜ ਮੈਂ ਮਨੁੱਖਤਾ ਦੀ, ਦੇਸ ਤੇ ਧਰਮ ਦੀ ਰਖਿਆ ਕਰਨ ਲਈ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੀ ਰਜਾ ਵਿੱਚ ਬਲੀਦਾਨ ਦੇਣ ਲਈ ਖੜਾ ਹੋਇਆ ਹਾਂ, ਮੈਨੂੰ ਅਜ ਸੀਸ ਚਾਹੀਦੇ ਹਨ, ਉੱਠੇ ਕੋਈ ਗੁਰੂ ਦਾ ਪਿਆਰਾ ਤੇ ਪ੍ਰੇਮੀ, ਤਲਵਾਰ ਦੀ ਧਾਰ ਤੇ ਖੇਡ ਕੇ ਸਜੀਵਤਾ ਦਾ ਦਾਨ ਲੈ ਲਵੇ" ਇਹ ਬਚਨ ਆਦਿ ਕਹੇ। ਵਾਹ ! ਕਲਗੀਧਰ ਪਾਦਸ਼ਾਹ ਅਜ ਸਿੱਖਾਂ ਦਾ ਸੀਸ ਂਗ ਰਿਹਾ ਹੈ। ਇਸ ਮਾਹੀ ਦੀ ਸਦ ਸੁਣਕੇ ਇਕ ਪ੍ਰੇਮੀ ਅਪਣੇ ਮਨ ਨੂੰ ਕਹਿਣ ਲੱਗਾ, ਹੇ ਮਨ ! ਇਸ ਦੁਨੀਆਂ ਵਿੱਚ ਸਦਾ ਕਿਸੇ ਜੀਉਣ ਨਹੀਂ ਚਾਰ ਦਿਨ ਅਗੇ ਚਾਰ ਦਿਨ ਪਿੱਛੋਂ ਚਲਣਾ ਹੀ ਹੈ, ਜੇਕਰ ਇਸ ਸਿਰ ਦੇ ਦਿੱਤਿਆਂ ਦੋ ਜਹਾਨ ਦੇ ਵਾਲੀ ਦੀ ਚਾਹ ਪੂਰੀ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ ਜਿਸਦੀ ਬਾਬਤ ਆਪ ਕਹਿ ਰਹੇ ਹਨ। ਕਿ " ਮੈਨੂੰ ਅਜ ਸਿਰ ਚਾਹੀਦੇ ਹਨ" ਤਾਂ ਇਸਤੋਂ ਚੰਗਾ ਸਮਾ ਹੋਰ ਕਦ ਆਉਣਾ ਹੈ ? ਇਹ ਸੋਚ ਕੇ ਹਥ ਜੋੜਕੇ ਆਖਿਆ ?

ਸਿਰ ਬਿਖਦੀ ਹੈ ਤੂੰਬੜੀ ਤੂੰ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਖਾਣ,
ਜੇ ਰੀਝੇਂ ਸਿਰ ਲਿਤਿਆਂ ਲੈ ਮੇਰੇ ਸੁਲਤਾਨ।

ਜੇਕਰ ਤੂੰ ਇਹ ਸੀਸ ਲੈਕੇ ਤ੍ਰਠ ਪਵੇਂ ਤਾਂ ਇਸਤੋਂ ਸਸਤਾ ਸੌਦਾ

ਹੋਰ ਕੀ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਹਜ਼ੂਰ ਨੇ ਉਸਨੂੰ ਬਾਹੋਂ ਫੜਿਆ ਤੇ ਕਨਾਤ ਵਿੱਚ ਲੈਜਾਕੇ ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਕੀ ਨਿਰਾਲਾ ਕੌਤਕ ਕੀਤਾ। ਜਦ ਆਪ ਬਾਹਰ ਨਿਕਲੇ ਤਾਂ ਤੇਗ ਖ਼ੂਨ ਨਾਲ ਨਹਾਤੀ ਹੋਈ ਸੀ ਤੇ ਉਸਤੋਂ ਖ਼ੂਨ ਦੇ ਟਪਕੇ ਗਿਰ ਰਹੇ ਸਨ। ਸਨਾਟਾ ਛਾ ਗਿਆ ਇਹ ਕੌਤਕ ਵੇਖਕੇ। ਕੀ ਸਤਗੁਰੂ ਜੀ ਆਪਣੇ ਸਿੱਦਕੀ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਕਤਲ ਕਰ ਆਏ ਹਨ ? ਹਰ ਇਕ ਦ ਦਿਲ ਵਿੱਚ ਘੜੀ ਘੜੀ ਇਓਂ ਸ਼ੰਕਾ ਪੈਦਾ ਹੋ ਰਿਹਾ ਸੀ। ਸੱਚੇ ਪਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਫ਼ੇਰ ਇਓਂ ਲਲਕਾਰਿਆ ਕਿ ਮੇਰਾ ਅਜਹਿਆ ਕੰਮ ਪੈ ਗਿਆ ਹੈ ਕਿ ਸਿਰ ਦਿੱਤੇ ਬਿਨਾਂ ਹੋ ਨਹੀਂ ਸਕਦਾ ਤੇ ਧਰਮ ਲਈ ਕੁਰਬਾਨੀ ਦੇ ਦੀਵੇ ਉੱਤੇ ਕੁਰਬਾਣ ਹੋਣ ਲਈ ਕੋਈ ਸਿਖ ਨਿਤਰੇ। ਇਸ ਹੁਕਮ ਤੇ ਫੁਲ ਚੜ੍ਹਾਣ ਲਈ ਇਕ ਹੋਰ ਗੁਰ ਪ੍ਰੀਤਮ ਦਾ ਆਸ਼ਕ ਖੜਾ ਹੋਗਿਆ ਤੇ ਹਜ਼ੂਰ ਉਸ ਨੂੰ ਵੀ ਕਨਾਤ ਵਿੱਚ ਲੈ ਗਏ। ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਪੰਜਾਂ ਦੀ ਗਿਣਤੀ ਪੂਰੀ ਕੀਤੀ ਗਈ। ਉਸ ਵੇਲੇ ਜਦ ਦੀਵਾਨ ਵਿੱਚ ਕੁਰਲਾਹਟ ਮੱਚੀ ਹੋਈ ਸੀ, ਕਿਓਂਕਿ ਚੋਜੀ ਪਿਤਾ ਦਿਆਂ ਚੋਜਾਂ ਨੂੰ ਸਮਝਣਾ ਔਖਾ ਸੀ। ਕੜ੍ਹਾਹ ਪ੍ਰਸ਼ਾਦ ਦੇ ਛਕਣ ਵਾਲੇ ਤੇ ਪੁਰਬਾਂ ਦੀਵਾਨਾਂ ਤੇ ਆਕੇ ਸਵਾਂਗ ਧਾਰੀਆਂ ਵਾਂਗ ਚੰਦ-ਮਿੰਟੀ ਸੇਵਾ ਕਰਨ ਵਾਲੇ ਖਿਸਕ ਤੁਰੇ ਤੇ ਸਿਦਕੀ ਸਿੱਖ ਸਮਾਧੀਆਂ ਲਾਈ ਬੈਠੇ ਹੋਏ ਸਨ ॥

ਹੁਣ ਸਿੱਖ "ਸਿਰ ਧਰ ਤਲੀ ਗਲੀ ਮੇਰੀ ਆਓ" ਦੀਆਂ ਘਨਘੋਰਾਂ ਲਾਉਂਦੇ ਕਲਗੀਆਂ ਵਾਲੇ ਨੂੰ ਘੇਰੇ ਵਿੱਚ ਲਈ ਕਨਾਤੋਂ ਬਾਹਰ ਨਿਕਲੇ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਪੰਜਾਂ ਦਿਆਂ ਚੇਹਰਿਆਂ ਤੇ ਨਿਰਾਲੀ ਕਿਸਮ ਦਾ ਜਲਾਲ ਸੀ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਸੀਸ ਭੇਟ ਕਰਨ ਵਾਲਿਆਂ ਨੇ ਮਰਨਾਂ ਨਹੀਂ ਸੀ ਸਗੋਂ ਅਮਰ ਹੋ ਜਾਣਾ ਸੀ ॥

ਸਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਨੇ ਕਮਰਕੱਸਾ ਕੀਤਾ ਤੇ ਸਰਬ ਲੋਹ ਦੇ ਬਾਟੇ ਵਿੱਚ ਸਤਲੁਜ ਦਾ ਨਿਰਮਲ ਜਲ ਪਾ ਕੇ ਮੁੱਖ ਦੁਆਰਾ ਜਪੁਜੀ-ਜਾਪ ਸਾਹਿਬ, ਸੁਧਾ ਸਵਯੇ, ਚੌਪਈ ਤੇ ਅਨੰਦ ਸਾਹਿਬ ਦਾ ਪਾਠ ਕਰਕੇ ਓਹ ਅਮ੍ਰਿਤ ਤਿਆਰ ਕੀਤਾ ਜਿਸ ਦੀ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਲਈ ਦੇਵਤੇ ਵੀ ਤਰਸਦੇ ਰਹੇ ਹਨ।

ਸ੍ਰੀ ਮਾਤਾ ਜੀਤੋ ਜੀ ਨੇ ਤਿਆਰ ਅਮ੍ਰਿਤ ਵਿੱਚ ਪਤਾਸੇ ਪਾਏ । ਤੇ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਨੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਸੀਸ ਭੇਟ ਕਰਨ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਦਾਤ ਬਖਸ਼ੀ। ਜਦ ਉਹ ਪਾਹੁਲ ਛੱਕਕੇ ਤਿਆਰ ਬਰ ਤਿਆਰ ਵੀਰ, ਕਾਲ ਫ਼ਾਸ ਤੋਂ ਮੁਕਤ ਹੋ ਗਏ, ਤਾਂ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਨੇ ਸਿੰਘਾਸਨ ਤੋਂ ਹੇਠਾਂ ਉਤਰ ਕੇ ਆਪ ਪੂਰੀ ਆਜਜ਼ੀ ਨਾਲ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਮੰਗ ਕੀਤੀ। ਕਿ ਇਹ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੀ ਦਾਤ ਮੈਨੂੰ ਵੀ ਬਖਸ਼ੀ ਜਾਵੇ। ਪਿਆਰਿਆਂ ਨੇ ਹੁਕਮ ਦੀ ਤਾਮੀਲ ਕੀਤੀ। ਹਜ਼ੂਰ ਨੇ ਪਹਿਲਾਂ ਅਮ੍ਰਿਤ ਦੇ ਪੰਜ ਚੁਲੇ ਪੀਤੇ ਤੇ ਫੇਰ ਪੰਜ ਨੇਤਰਾਂ ਵਿੱਚ, ਤੇ ਪੰਜ ਕੇਸਾਂ ਵਿਚ ਪਵਾਏ।

ਵਾਹ ਪ੍ਰਗਟਿਓ ਮਰਦ ਅੱਗਮੜਾ ਵਰਯਾਮ ਅਕੇਲਾ
ਵਾਹੁ ਵਾਹੁ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਆਪੇ ਗੁਰ ਚੇਲਾ
ਤੀਸਰਾ ਪੰਥ ਚਲਾਇਨ ਵਡ ਸੂਰ ਗਹੇਲਾ,
ਵਾਹੁ ਵਾਹੁ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ ਆਪੇ ਗੁਰ ਚੇਲਾ ॥

ਪਹਿਲੇ ਰਸਮ ਰਿਵਾਜ, ਪਹਿਲੀ ਮਰਜਾਦਾ ਤੇ ਪਹਿਲੇ ਲਿਬਾਸ ਤਬਦੀਲ ਕਰ ਦਿੱਤੇ। ਤਲਵਾਰ ਗਾਤਰੇ ਵਿੱਚ ਪਾਈ ਗਈ। ਹਾਂ ਸਿੱਖ ਜੇ ਪਹਿਲਾਂ ਸੰਤ ਸੀ ਤਾਂ ਹੁਣ ਸਿਪਾਹੀ ਵੀ ਬਣਾਇਆ ਗਿਆ, ਤੇ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਵਿੱਚੋਂ ਕਾਲ ਦਾ ਭੈ ਕੱਢਕੇ ਦੇਸ ਨੂੰ ਜਰਵਾਣਿਆਂ ਦੇ ਹਮਲੇ ਤੋਂ ਸੁਰੱਖਿਅਤ ਕਰਦਿਆਂ ਹੋਇਆਂ ਤੇ ਦੇਸ ਕੇ ਕੁਰਬਾਣ ਹੋਣ ਲਈ ਤਿਆਰ ਕਰ ਦਿੱਤਾ। ਦਸਮੇਸ ਪਿਤਾ ਦੇ ਇਸ ਅਲੌਕਕ ਤੇ ਅਸਚਰਜ ਖੇਲ ਨੂੰ ਵੇਖਕੇ ਭਾਵੇਂ ਇਸਦੀ ਸਖ਼ਤ ਵਿਰੋਧਤਾ ਸੀ, ਪਰ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਅਮ੍ਰਿਤ ਪਾਨ ਕੀਤਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਕਾਇਆ ਪਲਟ ਚੁੱਕੀ ਸੀ। ਤੇ ਉਹ ਹੁਣ ਉੱਚੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਆ ਚੁੱਕੇ ਸਨ। ਭਾਃ ਉਦੇ ਸਿੰਘ, ਭਾ: ਬਚਿੱਤਰ ਸਿੰਘ ਬਾਬਾ ਬੰਦਾ ਸਿੰਘ, ਤੇ ਭਾਃ ਤਾਰੂ ਸਿੰਘ, ਭਾ: ਮਨੀ ਸਿੰਘ, ਭਾ: ਦੀਪਸਿੰਘ, ਭਾਃ ਸੁੱਖਾਸਿੰਘ, ਮਹਾਰਾਜਾ ਰੰਣਜੀਤਸਿੰਘ, ਸਃ ਹਰੀਸਿੰਘ, ਬਾਬਾ ਫੂਲਾ ਸਿੰਘ, ਤੇ ਹੋਰ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਜਪੀ ਤਪੀ, ਹਠੀ, ਸਿਦਕੀ ਪਿਛਲਿਆਂ ਸਾਰੀਆਂ ੧੭੫੬ ਬਿਕ੍ਰਮੀ ਦੀ ਜੁਗ ਗਰਦੀ ਵਿਸਾਖੀ ਵਾਲੇ ਕੌਤਕ ਦਾ ਫ਼ਲ ਸਨ। ਇਸ ਨਿਰਾਲੇ ਕੌਤਕ ਨੇ ਭਾਰਤ ਦਾ ਇਤਹਾਸ ਬਦਲ ਦਿੱਤਾ ਤੇ ਸਾਹਿਬ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿਦ ਸਿੰਘ, ਉਹ ਮਹਾਨ ਕਰਾਮਾਤ ਵਿਖਾਈ ਜਿਸ ਦੀ ਮਿਸਾਲ ਇਕ ਵੀ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ। ਅਜ ਉਹੀ

ਵਿਸਾਖੀ ਦਾ ਪਵਿਤਰ ਦਿਹਾੜਾ ਹੈ ਜੇਹੜਾ ਖਾਲਸਾ ਪੰਥ ਦੀ ਵਰ੍ਹੇ ਗੰਢ ਹੈ। ਇਸ ਲਈ ਥਾਂ ਥਾਂ ਅਮ੍ਰਿਤ ਪ੍ਰਚਾਰ ਹੋਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਤੇ ਜੇਹੜੇ ਇਸ ਦਾਤ ਤੋਂ ਵਾਂਜੇ ਹਨ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਅਮ੍ਰਿਤ ਛਕਾ ਕੇ ਪੰਥ ਵਿੱਚ ਸ਼ਾਮਲ ਕਰਨਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ॥

'ਹਰਚਰਨ ਸਿੰਘ, ਪਿੰਡ ਢੇਰੀ, ਜ਼ਿਲਾ ਕੈਮਲਪੁਰ,

ਵਾਰ ਮੀਰ ਦਾਦ ਚੁਹਾਨ

ਸਾਡੇ ਦੇਸ ਵਿੱਚ ਕੁਝ ਰਵਾਜ ਹੀ ਅਜਿਹਾ ਚਲਿਆ ਆ ਰਿਹਾ ਹੈ ਕਿ ਲੋਕੀ ਦਾਤਾਂ ਵਲ ਦਤਾਰਾਂ ਨਾਲੋਂ ਵਧੀਕ ਝੁਕੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ। ਪੰਜਾਬੀ ਸਹਿੱਤ ਵਿੱਚ ਬੇਸ਼ੁਮਾਰ ਅਜਿਹੀਆਂ ਮਾਸਾਲਾਂ ਸਹਿਜੇ ਲਭ ਪੈਂਦੀਆਂ ਹਨ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਤੋਂ ਇਹ ਸਪਸ਼ਟ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਕਈਆਂ ਨੇ ਸਹਿੱਤ ਦੇ ਵਾਧੇ ਲਈ ਯਤਨ ਕੀਤੇ ਅਰ ਵਡਮੁਲੀਆਂ ਸਹਿਤਕ ਗੁਣਾ ਵਾਲੀਆਂ ਵਸਤੂਆਂ ਸੰਸਾਰ ਨੂੰ ਬਖਸ਼ ਕੇ ਆਪ ਗੁਮਨਾਮੀ ਦੇ ਡੂੰਘੇ ਸਮੁੰਦਰ ਦੀ ਤੇਹ ਵਿੱਚ ਸਦਾ ਦੀ ਨੀਂਦਰੇ ਜਾ ਸੁੱਤੇ, ਇਸ ਵਿੱਚ ਉਨ੍ਹਾਂ ਵਿਚਾਰਿਆਂ ਦਾ ਇਤਨਾ ਦੋਸ਼ ਨਹੀਂ ਕਹਿਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਜਿਤਨਾ ਕਿ ਸਾਡਾ ਆਪਣਾ ਹੈ। ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਬਾਬਤ ਠੀਕ "ਦਾਤ ਪਿਆਰੀ ਵਿਸਰਿਆ ਦਾਤਰੁ" ਸ਼ਬਦ ਹੁਕਮਿਆ ਤੇ ਸੋਲਾਂ ਆਨੇ ਪਰਖ ਦੀ ਕਸਵਟੀ ਤੋਂ ਪੂਰਾ ਉਤਰਿਆ। ਇਹ ਵਾਰ ਮੀਰ ਦਾਦ ਚੁਹਾਨ ਗਿਆਨੀ ਤ੍ਰਿਲੋਕ ਸਿੰਘ ਜੀ ਇਛਰਾ ਨਿਵਾਸੀ ਨੇ ਜ਼ਿਲਾ ਅੰਮ੍ਰਿਤਸਰ ਦੇ ਇਕ ਗਵੀਏ ਜੇਠੂ ਘੁਮਿਆਰ ਕੋਲੋਂ ੧੩ ਜੁਲਾਈ ਸੰਨ ੧੯੩੯ ਨੂੰ ਸੁਣੀ। ਵਾਰ ਅਜੇ ਅਧੂਰੀ ਜਾਪਦੀ ਹੈ ਜਿਕਰ ਗਿਆਨੀ ਤਿਲੋਕ ਸਿੰਘ ਜੀ ਲਿਖਦੇ ਹਨ, "ਅਗਲਾ ਹਿੱਸਾ ਵਾਰ ਦਾ ਅਜੇ ਨਹੀਂ ਲਭਾ, ਲਭ ਜਾਵੇਗਾ।" ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ੀ ਦਾ ਸਾਹਿਤ ਬਹੁਤ ਕਰਕੇ ਬੰਦਿਆਂ ਦਿਆਂ ਸਰੀਰਾਂ ਦਾ ਜਾਂ ਚਮ ਸਾਹਿਤ ਹੈ, ਪਰੰਤੂ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਦਾ ਪਿਆਰ ਸਰੀਰਾਂ ਤੋਂ ਉਚਿਆਂ ਲੰਘ ਆਤਮਤਾ ਵਿੱਚ ਕਾਇਮ ਹੋ ਆਪਾ ਭੁਲ

ਦੂਈ ਤਿਆਗ ਚੁਗਿਰਦੇ ਨਾਲ ਇਕ ਸਾਰਤਾ ਪ੍ਰਾਪਤੀ ਦੇ ਯਤਨ ਵਿੱਚ ਗੁਮ ਹੋਣਾ ਰਿਹਾ ਹੈ । ਸਾਡੇ ਬੰਦੇ ਰੂਹਾਂ ਦੇ ਮੇਲ ਤੇ ਕਾਈਮੀ ਮਗਰ ਲੱਗੇ ਅਰ ਠੀਕ ਇਸੇ ਲਈ ਸਾਡੇ ਹੋ ਗੁਜ਼ਰੇ ਹੁਣ ਤੀਕ ਸਾਡੇ ਨਾਲ ਨਾਲ ਰਹਿੰਦੇ, ਤੁਰਦੇ ਫਿਰਦੇ ਤੇ ਜਿਉਂਦੇ ਜਾਗਦੇ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੁੰਦੇ ਹਨ । ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਜਾਮਾ ਬਦਲਿਆ ਪਰ ਰੂਹਾਂ ਵਿੱਚ ਨਵਪਣ ਨ ਆਇਆ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਰੂਹਾਂ ਸਾਡੀਆਂ ਛਾਤੀਆਂ ਵਿੱਚ ਆ ਕੂਦੀਆਂ ਤੇ ਉਹ ਅਸੀਂ ਇੱਕੋ ਆ ਹੋਏ । ਇਹ ਭੀ ਇਕ ਕਾਰਨ ਸ਼ਾਇਦ ਆ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇ ਸਾਡੇ ਸਾਹਿੱਤ ਵਿੱਚੋਂ ਸਾਹਿਤ-ਲੇਖਕਾਂ ਦੀਆਂ ਜ਼ੀਵਨੀਆਂ ਦੀ ਅਨਹੋਂਦ ਦਾ । ਇੱਥੇ ਵਧੀਕ ਬੇਹਸਣ ਦੀ ਲੋੜ ਨਹੀਂ ਭਾਸਦੀ ਕੇਵਲ ਇਤਨਾ ਹੀ ਲਿਖ ਦੇਣਾ ਕਾਫੀ ਹੋਵੇਗਾ ਕਿ ਹੁਣ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਨੂੰ ਸਮੇਂ ਦੀ ਤੇਜ਼ ਚਲ ਰਹੀ ਚਾਲ ਨਾਲ ਕਦਮ ਮੇਲਣ ਲਈ ਪਾਸਾ ਬਦਲਣਾ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ । (ਬ. ਸ.)

ਪੁਰਾਤਨ ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿੱਤ।

ਵਾਰ ਮੀਰ ਦਾਦ ਚੁਹਾਨ

'ਮੀਰਦਾਦ ਚੁਹਾਨ ਦੇ ਸਤ ਅੰਦਰ, ਮੋਈਆਂ ਰਾਣੀਆਂ ਮਾਰ ਕਟਾਰੀਆਂ ਨੀ'

(੧) (ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ)

ਸੁਣੀਆਂ ਗਲਾਂ ਮੀਰ ਦਾਦ, ਬਹਿ ਕੰਧਾਂ ਦੇ ਉਹਲੇ !
ਕਾਨੂੰ ਭੱਠ ਬਨਾਵਣੇਂ, ਜੇ ਭੁਤਕੱਣ ਛੋਲੇ !
ਕਾਨੂੰ ਗੜ੍ਹ ਉਸਾਰਨੇ, ਜੇ ਜਿੱਤਣ ਗੋਲੇ !
ਕਾਨੂੰ ਰਾਕੀ ਪਾਲਣੇ, ਸੁੰਬੋਂ ਧਰਤ ਨਾ ਡੋਲੇ !
ਕਾਨੂੰ ਖੰਡਾ ਮਾਂਜਣਾ, ਜੇ ਮੂੰਹੋਂ ਨਾ ਬੋਲੇ ! ੫
ਕਾਨੂੰ ਨਾਰ ਵਿਆਹਵਣੀ, ਜੇ ਅੱਗੋਂ ਬੋਲੇ !
ਕਾਨੂੰ ਪੁੱਤਰ ਪਾਲਣੇ, ਜੇ ਮੈਦਾਨੋਂ ਡੋਲੇ !
ਬਾਝ ਭਰਾਵਾਂ ਸੱਕਿਆਂ, ਗਲ ਪੈਂਦੀ ਪੋਲੇ !
ਆਵਾਂ ਪੁੱਤ ਵਿਆਹ ਕੇ, ਕਰ ਫੌਜਾਂ ਦੇ ਟੋਲੇ !
ਬਾਝੋਂ ਮੀਆਂ ਮੀਰ ਦਾਦ, ਕੌਣ ਖੰਡੇ ਨੂੰ ਤੋਲੇ ! ੧੦

ਪੁੱਤਰ ਕੱਠੇ ਕਰ ਲੈ, ਮੀਰ ਦਾਦ ਨੇ ਸਾਰੇ !
'ਢਾਈ ਖੰਨੇ ਜੱਗ ਦੇ, ਤਿੰਨ ਕਰ ਦਿਓ ਸਾਰੇ !
'ਪੈਹਿਨ ਹੱਥਿਆਰਾਂ ਤੁਰ ਪਓ, ਬਤਸ਼ਾਹੀ ਦਰਬਾਰੇ !
'ਘਾਣ ਚਲਾ ਦਿਓ ਲਹੂ ਦੇ, ਵਗਣ ਪਰਨਾਲੇ !
ਬਾਰਾਂ ਸਾਲ ਦੀ ਨੌਕਰੀ, ਸਲ ਡਾਢਾ ਮਾਰੇ ! ੧੫
ਆਓ ਖਜ਼ਾਨੇ ਲੁੱਟ ਕੇ, ਧੁੰਮਾਂ ਪੈ ਜਾਣ ਸਾਰੇ !
ਪੁੱਤਰ ਬੋਲੇ ਮੀਰ ਦਾਦ ਦੇ, ਦੇਕੇ ਲੱਲਕਾਰੇ !
'ਆਕੀ ਨਾ ਹੋਇਓਂ ਬਾਬਲਾ ਨਾ ਦੁਸ਼ਮਨ ਮਾਰੇ !
'ਆਕੀ ਹੋ ਗਏ ਸੂਰਮੇਂ, ਬਾਤਸ਼ਾਹੀ ਦਰਬਾਰੇ !
'ਆਕੀ ਜੈਮਲ ਫਤਹ ਚੰਦ, ਗੜ੍ਹ ਦਿਲੀ ਵਾਲੇ । ੨੦
'ਆਕੀ ਰਾਜਾ ਵੀਰ ਜੋਧ, ਪੈਰੋਂ ਦੇ ਵਾਰੇ ।

ਆਕੀ ਰਾਜਾ ਅਮਰ ਸਿੰਘ, ਸ਼ਾਹਜਹਾਂ ਦਰਬਾਰੇ ।
ਆਕੀ ਪੁੱਤ ਫਰੀਦ ਦਾ, ਦੁਲਾ ਸੰਦਲ ਬਾਰੇ।
ਆਕੀ ਸੀ ਰਾਜਾ ਮੋਹਰ ਸਿੰਘ, ਵਿੱਚ ਰੁੱਖਾਂ ਵਾਲੇ।
ਸੁਣ ਕੇ ਗੱਲਾਂ ਆ ਗਿਓਂ, ਵੜਿਓਂ ਅੰਦਰ ਵਾਰੇ। ੨੫
ਤੇਗ਼ ਚਲਾਉਂਦੇ ਕਤਲ ਦੀ, ਬਾਤਸ਼ਾਹੀ ਦਰਬਾਰੇ।
ਹੁੰਦੇ ਹੱਕ ਹਲਾਲ ਦੇ, ਅਸੀਂ ਪਹੁੰਚਦੇ ਸਾਰੇ ॥

ਧਾ ਚਲੇ ਕਰਨਾਲ ਨੂੰ, ਵਜਣ ਸ਼ਬਿਆਨੇ ।
ਅਗੋਂ ਮਿਲਿਆ ਸ਼ਾਹਸ਼ਰਫ ਦੀਨ, ਧਰ ਦੇ ਨਜ਼ਰਾਨੇ ।
ਦੌਲਤ ਦੇ ਦੇ ਦੋਸਤਾਂ, ਕਰੀਏ ਗੁਜ਼ਰਾਨੇ। ੩੦
ਸੱਤਰ ਦੋ ਬਹਤਰ ਨੇ, ਬਹਿ ਜਾਨ ਦੀਵਾਨੇ ।
ਨਹੀਂ ਕਿਸੇ ਪਹਿਛਾਨਣੇ, ਹੈਗੇ ਕੌਣ ਫਲਾਨੇ।
ਔਣਗੇ ਉੱਥੋਂ ਲੁੱਟਨੇ, ਅਕਬਰੀ ਖਜ਼ਾਨੇ ।

—:o:—

ਸੂਰਮੇਂ ਪੈਰੀ ਪਾਕੇ, ਦਿੰਦੇ ਜੰਗ ਰਚਾਲੀ !
ਤੇਗਾਂ ਮਾਰਨ ਨਾਲ ਜ਼ੋਰਦੇ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਅੱਲਾ ਵਾਲੀ !–੩੫
ਮੁਗਲ ਪਠਾਨ ਸਭ ਭਜ ਗਏ, ਡੇਰੇ ਕਰ ਗਏ ਖਾਲੀ !
ਸੂਰਮੇਂ ਪਏ ਖਜਾਨੇ ਨੂੰ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੌਲਤ ਪਾਲੀ !
ਸੱਤੇ ਘੋੜੇ ਲੱਦਕੇ, ਘੋੜੇ ਪਾ ਲੈ ਚਾਲੀ !

(ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ ਦੀ ਡਾਲੀ ਲੁਟਣੀ) *

ਫੌਜ ਚੜ੍ਹੀ ਮੀਰਦਾਦ ਦੀ, ਜੋ ਤੇਰਾਂ ਤਾਲੀ ! –੪੦
ਬਾਹਰ ਉੱਤਰਿਆ ਬਖਤਾਉਰਖਾਂ, ਲੈ ਮੇਵੇ ਡਾਲੀ !–੪੦
ਸੇ ਨੇ ਗੜ੍ਹ ਕਸ਼ਮੀਰ ਦੇ, ਮੁਸ਼ਕਣ ਕਾਬਲ ਵਾਲੀ।
ਸੋਨਪਤ ਤੇ ਬਾਸਬਤੀ, ਸਭ ਖਾਵਣ ਵਾਲੀ।
ਔਨਗ ਉੱਥੋਂ ਲੁਟਕੇ, ਮੇਵੇ ਕੀ ਡਾਲੀ।
ਬਾਰਾਂ ਕੂਹਾਂ ਵਿੱਚ ਤੰਬੂ ਨੇ, ਦੀਵੇ ਬਲਣ ਦੀਵਾਲੀ।
ਸੂਰਮੇਂ ਪੈਂਦੇ ਧਾ ਕੇ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਖੋ ਚੰਡਾਲੀ। –੪੫
ਕੁਝ ਮਾਰੇ ਕੁਝ ਭਜ ਗਏ, ਡੇਰੇ ਹੋ ਗਏ ਖਾਲੀ।
ਉੱਥੋਂ ਆਉਂਦੇ ਲੁੱਟ ਕੇ, ਮੇਵੇ ਕੀ ਡਾਲੀ।

ਵੇਖੋ ਮੀਆਂ ਮੀਰਦਾਦ, ਵਿਆਹ ਰਚਾਇਆ।
ਘੱਤ ਕੇ ਗੰਡੀ ਫੇਰੀਆਂ, ਘਰ ਮੇਲ ਸਦਾਇਆ।
ਕੁਝ ਆ ਗਿਆ ਲਹਿੰਦਿਓਂ, ਕੁਝ ਚੜ੍ਹਦਾ ਆਇਆ–੫੦
ਕੁਝ ਆ ਗਿਆ ਦਖਨੋਂ, ਨਾਲ ਪੂਰਬ ਧਾਇਆ।
ਖੱਸੀ ਤੇ ਦੁੰਬੇ ਬਕਰੇ, ਉਸ ਜ਼ਿਬਾਹ ਕਰਾਇਆ।

---

* ਬਖਤਾਵਰ ਖਾਂ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਅਕਬਰ ਦੇ ਹਰ ਤਿੰਨਾਂ ਸਾਲਾਂ ਪਿੱਛੋਂ ਡਾਲੀ ਲੈਕੇ ਆਉਂਦਾ ਹੁੰਦਾ ਸੀ।

ਧੋਕੇ ਦੇਗਾਂ ਚਾੜ੍ਹੀਆਂ, ਉਨ ਪਲਾ ਪਕਾਇਆ।
ਜੰਞ ਚੜ੍ਹੀ ਚੁਹਾਨ ਦੀ, ਨਾਲ ਰਾਣੀਆਂ ਆਈਆਂ।
ਬਾਹਰ ਆਕੇ ਮੁੰਡ ਨੂੰ ਪਾਉਂਦੀਆਂ ਸੁਰਮ ਸਲਾਈਆਂ। —੮੫
ਲਾਗ ਗੁਣਾਂ ਲੈ ਲਾਗੀਆਂ, ਕੁਝ ਨਫਰਾਂ ਨਾਈਆਂ।
ਡੂਮਾਂ ਸੋਹਲੇ ਗਾ ਲੇ, ਸਰਿਗਾ ਨਾਈਆਂ।
ਪੰਜ ਪੰਜ ਮੋਹਰਾਂ ਮੀਰਦਾਦ, ਮੰਗਤਿਆਂ ਦੀਵਾਈਆਂ।
ਜੰਮ ਜੰਮ ਜੀਵੇ ਮੀਰਦਾਦ, ਜਿਨ ਭੁੱਖਾਂ ਲਾਹੀਆਂ।

ਜੰਞ ਚੜ੍ਹੀ ਚੁਹਾਨ ਦੀ, ਨਾਲ ਸ਼ਰੀਕ ਆਏ। —੯੦
ਮਹਿਮਦ ਤਖੀਏ ਬੈਠਾ ਸੀ, ਜਾ ਬੋਲੀ ਲਾਏ।
ਤੇਰਾ ਭਾਈ ਜੰਞੇ ਚਲਿਆ, ਤੈਨੂੰ ਨਾ ਕੂਵਾਏ।
ਭਤੀਜਾ ਜੰਜੇ ਚੜ੍ਹ ਗਿਆ, ਤੈਨੂੰ ਖਵਰ ਨਾ ਕਾਏ।
ਹੁਣ ਪਿਆ ਵਾਜਾਂ ਮਾਰਦਾ, ਅਸੀਂ ਲੈਣ ਹਾਂ ਆਏ।

ਮਹਿਮਦ ਚੰਦ ਚਾ ਉਠ ਕੇ; ਕੋਲ ਭਰਾ ਦੇ ਆਇਆ।—੯੫
ਸੁਣ ਖਾਂ ਵੀਰਾ ਮੇਰਿਆ, ਤੂੰ ਵਿਆਹ ਰਚਾਇਆ।
ਤੂੰ ਪਤਾ ਨਾ ਘਲਕੇ, ਮੈਨੂੰ ਮੰਗਵਾਇਆ।
ਬੁਰੀ ਬਲਾ ਸ਼ਰੀਕ ਨੇ, ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਤਾਨ੍ਹਾਂ ਲਾਇਆ।
ਮੈਨੂੰ ਜੰਜੇ ਲੈ ਚਲ, ਮੈਂ ਟੁਰਕੇ ਆਇਆ।

ਬੋਲਿਆ ਮੀਆਂ ਮੀਰਦਾਦ, ਕੀ ਆਖ ਸੁਣਾਵੇ।—੭੦
ਤੂੰ ਹੈਂ ਭੰਗ ਨੂੰ ਘੋਟਣਾ, ਉਲੂ ਅਖਵਾਵੇਂ।
ਤੈਨੂੰ ਜੰਞੇ ਲੈ ਚਲਾਂ, ਮੈਨੂੰ ਹੀਨਤ ਆਵੇ।
ਜਾਹ ਖਾਂ ਏਥੋਂ ਚਲਿਆ (ਜਾਹ) ਤੈਨੂੰ ਕੌਣ ਕਵਾਵੇ।
ਕਿਨ ਤੈਨੂੰ ਹੈ ਸੱਦਿਆ, ਤੈਨੂੰ ਕੌਣ ਬੁਲਾਵੇ ?

ਮਹਿਮਦ ਅੱਗੋਂ ਬੋਲਦਾ, ਸੁਣ ਵੀਰ ਚੁਹਾਣਾ। –੭੫
ਐਡਾ ਉੱਚਾ ਨਾ ਆ ਖਾਂ, ਕੋਈ ਵਰਤੂ ਗਾ ਭਾਣਾ।
ਤੇਰੇ ਪੰਜੇ ਪੁੱਤਰ ਮਰ ਜਾਣਗੇ, ਹੋ ਜਾਇ ਜੁਲਵਾਨਾ।
ਟੁਕੜੇ ਖਾਵੇਂ ਮੰਗ ਕੇ, ਬਹਿ ਜਾਏਂ ਨਿਮਾਣਾ।
ਮੇਰੇ ਵਰਗਾ ਹੋ ਜਾਏਂ, ਤਨ ਲਗੇ ਤੇ ਜਾਣਾ।
ਭਾਈ ਕਿਸੇ ਨਹੀਂ ਛੱਡ ਲੈ, ਗਲ ਗਿਣੀ ਦਨਾਵਾਂ। –੮੦
ਲੈ ਚਲ ਮੋਹਕੇ ਸ਼ਹਿਰ ਨੂੰ, ਮੈਂ ਜੰਵੇ ਜਾਣਾਂ।

ਬੋਲਿਆ ਮੀਆਂ ਮੀਰਦਾਦ, ਕੀ ਆਖ ਸੁਣਾਇਆ।
ਘਰੋਂ ਹੈ ਤੈਨੂੰ ਕੱਢਿਆ, ਕੁਤਿਆਂ ਵਾਂਗ ਹਟਾਇਆ।
ਕਲ ਪੁੱਤਰ ਦਾ ਵਿਆਹ ਸੀ, ਮੈਂ ਆਪ ਰਚਾਇਆ।
ਕਿਹੜਾ ਭਾਈ ਬਣਕੇ, ਤੂੰ ਨਿਉਂਦਰਾ ਪਾਇਆ। –੮੫
ਜਾਹ ਓਏ ਐਥੋਂ ਦੌੜ ਜਾ, ਤੈਨੂੰ ਕਿਸ ਬੁਲਾਇਆ।
ਧੱਕੇ ਮਾਰਕੇ ਮਹਿਮਦ ਨੂੰ, ਚਾ ਪਿਛਾਂਹ ਹਟਾਇਆ।

ਮਹਿਮਦ ਗੁੱਸੇ ਨਾਲ ਬੋਲਿਆ, 'ਤੈਨੂੰ ਆਖ ਸੁਣਾਵਾਂ।
ਤੇਰੇ ਮਗਰੋਂ ਚੁਹਾਣਾ, ਦਿੱਲੀ ਖ਼ਬਰ ਪਹੁੰਚਾਵਾਂ।
ਮੁਗ਼ਲਾਂ ਦੀ ਮੈਂ ਫੌਜ ਨੂੰ, ਦਿੱਲੀਓਂ ਚਾੜ੍ਹ ਲਿਆਵਾਂ। –੯੦
ਤੇਰੀ "ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ" ਤੋਂ, ਮੈਂ ਭੰਗ ਘੁਟਾਵਾਂ।
ਮੈਂ ਤੇਰਾ ਸ਼ਰੀਕ ਆਂ, ਰੰਬਿਓ * ਅੱਧ ਵੰਡਾਵਾਂ।

ਜੰਞ ਢੁੱਕੀ ਚੁਹਾਂਨ ਦੀ, ਰੰਗ ਖ਼ੂਬ ਬੰਨਾਏ।
ਅੱਗੋਂ ਮਿਲ ਪਏ ਕੁੜੀ ਦੇ, ਚਾਚੇ ਤੇ ਤਾਏ।
ਦੇਂਦੇ ਸਫਾ ਨੂੰ ਸੁਟਕੇ, ਗਲੀਚੇ ਵਛਾਏ।
ਲਾਗੀ ਛੇਤੀ ਸਦਕੇ, ਪਾਣੀ ਪਲਵਾਏ।

* ਮੀਰਦਾਦ ਦੇ ਪਿੰਡ ਦਾ ਨਾਮ।

ਚਲਦੀਆਂ ਅਸਤ ਨੇ ਬਾਜੀਆਂ, ਵਾਜੇ ਵਜਵਾਏ।
ਗੱਠ ਕੇ ਸਭੇ ਬਹਿਗਏ, ਜੋ ਸੂਰਮੇਂ ਆਏ।

ਚੁਹਾਨ ਦੀ ਜੰਜ ਏਥੇ ਰਾਠਾਂ ਦੇ ਘਰੀ ਪਈ ਵਰਜਵੀਆਂ ਰੋਟੀਆਂ ਖਾਂਦੀ ਰਹਿੰਦੀ ਏ, ਤੇ ਉਧਰ ਬਖਤਾਵਰ ਖਾਂ ਦਿੱਲੀ ਜਾ ਕੇ ਪਿੱਟਦਾ ਹੈ ਕਿ ਮੈਨੂੰ ਲੁਟ ਲਿਆ। ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਹੁਕਮ ਨਾਲ ਦਿੱਲੀ ਦੀ ਫ਼ੌਜ ਰੰਬੇ ਗੜ੍ਹ ਤੇ ਚੜ੍ਹਾਈ ਕਰਕੇ ਆ ਜਾਂਦੀ ਹੈ:—

(੨)

ਪਿਟਿਆ ਸੀ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ, ਕਹੇ ਦੇ ਦੁਹਾਈਆਂ।
ਨੂੰ ਸੁਣ ਅਕਬਰ ਪਾਤਸ਼ਾਹ, ਦੇਸ਼ਾਂ ਦਿਆ ਸਾਈਆਂ। ੧੦੦
ਰਾਹੀਂ ਤੁਰਨ ਕੁਵਾਰੀਆਂ, ਕਿਸੇ ਨਹੀਂ ਅੱਟਕਾਈਆਂ।
ਨੰਗੀ ਹੱਥੀਂ ਦੌਲਤਾਂ, ਤੂੰ ਆਪ ਤੁਠਾਈਆਂ।
ਬੂਹੇ ਤੇ ਬੈਠਾ ਮੀਰਦਾਦ, ਜਿਨ ਧੁੰਮਾਂ ਪਾਈਆਂ।
ਚੁਣ ਚੁਣ ਮਾਰੇ ਸੂਰਮੇਂ, ਦੇ ਗਏ ਦੁਹਾਈਆਂ।
ਲੁਟੀਆਂ ਮੇਰੀਆਂ ਡਾਲੀਆਂ, ਤੇਰੇ ਕੰਮ ਨਾ ਆਈਆਂ ॥੧੦੫॥

ਬੋਲਿਆ ਅਕਬਰ ਬਾਤਸ਼ਾਹ, ਗੁਸੇ ਨਾਲ ਸੁਣਾਇਆ।
ਕੋਈ ਤਾਂ ਉੱਠੇ ਸੂਰਮਾਂ, ਚਿਰ ਕਿਉਂ ਜੇ ਲਾਇਆ।
ਨੰਗੀ ਤੇਗ ਤੇ ਬੀੜਾ ਪਾਨ ਦਾ, ਮੈਦਾਨ ਸੁਟਾਇਆ।
ਬੰਨ੍ਹ ਲਿਆਵੇ ਮੀਰਦਾਦ, ਜੀਹਦਾ ਬਹੁਤਾ ਛਾਇਆ।
ਧੌਸਾਂ ਵਜੇ ਨਾਲ ਜੋਰ ਦੇ, ਅਜੇ ਉੱਠ ਨਾ ਕੋਈ ਆਇਆ ॥੧੧੦॥
ਉਠਿਆ ਮੀਆਂ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ, ਮੈਦਾਨੇ ਆਇਆ।
ਤੇਗ ਮਿਆਨੇ ਕਰ ਲਈ, ਬੀੜਾ ਮੁੱਖ ਵਿੱਚ ਪਾਇਆ।
ਅਗੇ ਹੋ ਬਾਤਸ਼ਾਹ ਦੇ, ਸਲਾਮ ਬਹਾਇਆ।

ਚੜ੍ਹ ਪਿਆ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ, ਧੌਂਸਾ ਵਜ ਵਜਾਇਆ।
ਇੱਕ ਸੌ ਪੰਜੀ ਸੂਰਮਾਂ, ਉਨ ਰਾਹੇ ਪਾਇਆ ॥ ੧੧੫ ॥
ਮੰਜ਼ਲ ਕਰਕੇ ਆ ਗਿਆ, ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਤੇ ਆਇਆ।
ਬਹਿ ਗਿਆ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ, ਆਣ ਘੇਰਾ ਪਾਇਆ।

(ਬੈਠੀ ਫ਼ੌਜ ਨੂੰ ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ (ਮੀਰਦਾਦ ਦੀ ਵਹੁਟੀ) ਨੇ ਦੇਖਣਾ)

ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਉੱਠੀਆ, ਕੋਈ ਚੜ੍ਹਦੇ ਤਾਰੇ।
ਹੱਥ ਲੋਟਾ ਗੁਲਾਮ ਦੇ, ਆ ਈ ਬਾਹਰੇ ਵਾਰੇ।
"ਵੇਖ ਖਾਂ ਨੀ ਗੋਲੀਏ, ਬੈਠਾ ਕੌਣ ਪਛਵਾੜੇ ?" ੧੨੦
ਗੋਲੀ ਮੁੱਖੋ ਬੋਲਦੀ, ਬੈਠੇ ਇਜੜ ਭਾਰੇ।
ਸਿਸਤਾਂ ਬੰਨ੍ਹਕੇ ਵੇਖਦੀ, ਗਲ ਹੋਰ ਵਿਚਾਰੇ।
ਗੋਲੀ ਲਰਜ਼ਾ ਖਾ ਲਿਆ, ਡਿਗ ਪਈ ਪਛਵਾੜੇ।
ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਭੱਜਕੇ, ਆ ਗਈ ਅੰਦਰਵਾਰੇ।

ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਬੋਲਦੀ, ਬਹਿ ਨੌਹਾਂ ਦੇ ਤਾਂਈ ॥ ੧੨੫
ਜਿਹੜੀ ਤੁਸਾਂ ਕੰਮ ਆਵਣੀ, ਦੱਸੋ ਹਿੰਮਤ ਤਾਈਂ।
ਚੜ੍ਹਕੇ ਮੁਗ਼ਲ ਨੇ ਆ ਗਏ, ਮੁਗ਼ਲ ਬੁਰੀ ਬਲਾਂਈਂ।
ਜੀਹਦਾ ਸਾਨੂੰ ਮਾਣ ਸੀ, ਘਰ ਪੀਆ ਨਾਹੀਂ।
ਬਦੀਆਂ ਦਿਲੀ ਜਾ ਉਠੀਆਂ, ਧਰਮ ਜੀਣਾਂ ਨਾਹੀਂ।
ਖਾ ਕਟਾਰਾਂ ਮਰ ਜਾਉ, ਮੁਗਲਾਂ ਹੱਥ ਆਉਣਾ ਨਾਹੀਂ। ੧੩੦

ਮੁਖੋਂ ਬੋਲਣ ਰਾਣੀਆਂ, ਰਾਠਾਂ ਦੀਆਂ ਜਾਈਆਂ।
ਕੱਢ ਬੰਦੂਕਾਂ ਦੇਹ ਖਾਂ, ਅਸੀਂ ਕਰੀਏ ਲੜਾਈਆਂ।
ਮਾਰੀ ਦੇ ਮੁਗ਼ਲ ਭੱਜਣਗੇ, ਜਿਹੜੀਆਂ ਫੌਜਾਂ ਆਈਆਂ।
ਐਵੇਂ ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ ਮਰਦੀਆਂ, ਅਸੀਂ ਰਾਠਾਂ ਦੀਆਂ ਜ਼ਾਈਆਂ।

ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਬੋਲਦੀ, ਗਲ ਸੁਣੋ ਹਮਾਰੀ। ੧੩੫
ਮਰਦਾਂ ਨਾਲ ਮੁਕਾਬਲੇ, ਨਹੀਂ ਕਰਦੀਆਂ ਨਾਰੀ।
ਇੱਕੋ ਜਿਹੀਆਂ ਸੁਹਣੀਆਂ, ਤੁਸੀ ਸ਼ੇਲ ਮੁਟਿਆਰੀ।
ਹੱਥ ਮੁਗਲਾਂ ਨਹੀਂ ਆਵਣਾ, ਮਰ ਜਾਉ ਖਾ ਕਟਾਰੀ।

ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਉਠੀਆ, ਬੂਹੇ ਕੁੰਜੀਆਂ ਲਾਈਆਂ।
ਕੱਢ ਬੰਦੂਕਾਂ ਦਿੱਤੀਆਂ, ਹੱਥੋਂ ਹੱਥ ਫੜਾਈਆਂ। ੧੪੦
ਦਾਰੂ ਛਿੱਕਾ ਵੰਡਦੀਆਂ, ਰਾਠਾਂ ਦੀਆਂ ਜਾਈਆਂ।
ਫੜ ਬੰਦੂਕਾਂ ਤੁਰ ਪਈਆਂ, ਹੁਣ ਓਟਾਂ ਨੂੰ ਆਈਆਂ।

ਫੜ ਬੰਦੂਕਾਂ ਤੁਰ ਪਈਆਂ, ਬਹਿ ਓਟੀ ਗਈਆਂ।
ਪਹਿਲਾ ਫੇਰ ਨੇ ਕਰ ਲਿਆ, ਭੱਖ ਬੰਦੂਕਾਂ ਗਈਆਂ।
ਦੂਜਾ ਫੇਰ ਨੇ ਕਰ ਲਿਆ, ਭੰਨ ਬਿਸਤਰ ਗਈਆਂ। ੧੪੫
ਮਾਰੀ ਦੇ ਮੁਗ਼ਲ ਨੇ ਭਜਦੇ, ਪੇਸ਼ ਕੋਈ ਨਾ ਗਈਆ।
ਉੱਥੇ ਕੋਈ ਨਾ ਰਹਿ ਗਿਆ, ਫੌਜਾਂ ਡੇਰੀਂ ਗਈਆਂ।

ਦੂਸਰੇ ਦਿਨ ਹੈ ਆਣਕੇ, ਲਸ਼ਕਰ ਫੇਰ ਝੜਾਵੇ।
ਉੱਤੇ ਕਿਲੇ ਦੇ ਆਣਕੇ, ਹੁਣ ਘੇਰਾ ਪਾਵੇ।
ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਬੋਲਦੀ, ਨੋਹਾਂ ਨੂੰ ਆਖ ਸੁਣਾਵੇ। ੧੫੦
ਮੁਗਲ ਚੜ੍ਹਕੇ ਆ ਗਏ, ਹੁਣ ਕੀ ਬਣ ਆਵੇ।

ਛੇੜੀ ਤੁਰੀਆਂ ਰਾਣੀਆਂ, ਵਿੱਚ ਓਟੀ ਆਈਆਂ।
ਛਾੜ ਛਾੜ ਮਾਰਨ ਗੋਲੀਆਂ, ਰਾਠਾਂ ਦੀਆਂ ਜਾਈਆਂ।
ਗੋਲੀ ਬਰਸੇ ਮੀਂਹ ਵਾਂਙ, ਕੋਈ ਅੰਤ ਨਾ ਆਈਆਂ।
ਮੁਗ਼ਲ ਭੱਜ ਪਿਛਾਂਹ ਨੂੰ, ਫੌਜਾਂ ਡੇਰੀ ਆਈਆਂ। ੧੫੫
(ਦੋ ਦਿਨ ਰਾਣੀਆਂ ਅਗੋਂ ਲੜਦੀਆਂ ਰਹੀਆਂ, ਮੁਗਲਾਂ ਨ ਸਮਝਿਆ ਖਵਰੇ ਅੰਦਰ ਕਿਨੀ ਕੁ ਫੌਜ ਹੈ, ਡਰ ਗਏ। ਪਰ ਤੀਸਰੇ

ਦਿਨ ਬਦਕਿਸਮਤੀ ਨੂੰ ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਇਕ ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਨੂੰ ਭੇਜ ਬੈਠੀ ਕਿ ਮੁਗਲਾਂ ਦੀ ਫੌਜ ਨੂੰ ਕਹੋ ਚਲੇ ਜਾਣ, ਅੰਦਰ ਫੌਜ ਬੜੀ ਹੈ, ਮਾਰੇ ਜਾਵੋਗੇ। ਉਹਦਾ ਵਿਚਾਰ ਸੀ ਕਿ ਉਹ ਡਰਦੇ ਪਿੱਛੇ ਹੱਟ ਜਾਣਗੇ ਜਾਂ ਹੋਰ ਫੌਜ ਮੰਗਵਾਉਣ ਗੇ ਤਾਂ ਉਨੇ ਚਿਰ ਨੂੰ ਮੀਰਦਾਦ ਪੁੱਤਰਾਂ ਸਮੇਤ ਪਹੁੰਚ ਪਵੇਗਾ। ਪਰ ਹੋਣੀ ਨੇ ਦੰਦੀਆਂ ਕਰੀਚੀਆਂ, ਬ੍ਰਾਹਮਣ ਨੇ ਇੱਕ ਮਾਰ ਨਾ ਝੱਲੀ, ਸਾਰਾ ਭੇਤ ਦਸ ਦਿੱਤਾ। ਕਵੀ ਬੋਲਦਾ ਏ:-

ਬ੍ਰਹਮਣ ਮਿਲਨੇ ਚਲਿਆ, ਚੁਹਾਣਾ ਵਾਲਾ।
ਮੱਥੇ ਤਿਲਕ ਲਗਾਉਂਦਾ, ਗਲ ਜੰਞੂ ਮਾਲਾ।
ਸੱਜੇ ਹੱਥ ਸੀ ਸਿਮਰਣੀ, ਜਸ ਪੜੇ ਜਮਾਲਾ।
ਇੱਕਸ ਮਾਰੇ ਦਸਿਆ, ਸਭ ਦੌਲਤ ਮਾਲਾ।
ਅੰਦਰ ਲੜਦੀਆਂ ਰਾਣੀਆਂ, ਕੋਈ ਨਹੀਂ ਟਕਾਣਾ। ੧੬੦

(ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ ਭੇਤ ਸੁਣਕੇ ਮੁੜ ਚੜ੍ਹਿਆ)

ਬੋਲਦੇ ਚਲੋ ਫਾਰਸੀ, ਗਲ ਕਰਿਓ ਨਾ ਖੋਟੀ।
ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਤੇ ਜਾਕੇ, ਹੁਣ ਪਾ ਦਿਓ ਲੋਟੀ।
ਬੰਨ੍ਹ ਲਿਆਵੋ ਰਾਣੀਆਂ, ਨਿੱਕੀ ਤੇ ਮੋਟੀ।
ਵਿੱਚ ਡੇਰਿਆਂ ਦੇ ਪਰਖ ਲੋ, ਕਿਹੜੀ ਖਰੀ ਤੇ ਖੋਟੀ।

ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ ਸੀ ਚੜ੍ਹ ਪਿਆ, ਧੌਸਾਂ ਵਜਵਾਇਆ-੧੬੫
ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਤੇ ਆਣਕੇ ਉਨ ਘੇਰਾ ਪਾਇਆ।
ਹੁਕਮ ਦਿੱਤਾ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ ਸੂਰਮਿਆਂ ਨੂੰ ਮਹਿਲੀ ਚੜ੍ਹਾਇਆ।

ਮੁਗਲਾਂ ਦੇ ਬੱਚੇ ਚੜ ਗਏ, ਮਹਿਲੀਂ ਫੌਜਾਂ ਆਈਆਂ।
ਹੱਥੋ ਹੱਥੀਂ ਫੜ ਲਈਆਂ, ਰਾਠਾਂ ਦੀਆਂ ਜਾਈਆਂ।
ਮਹਿਲਾਂ ਤੋਂ ਜਦੋਂ ਉਤਾਰੀਆਂ, ਕੂੰਜਾਂ ਵਾਂਙ ਕੁਰਲਾਈਆਂ ੧੭੦
ਬੰਨ੍ਹ ਬੰਨ੍ਹ ਸੁਟਦੇ ਵਿੱਚ ਹੌਦਿਆਂ, ਕਰਦੀਆਂ ਸਾਈਆਂ ਸਾਈਆਂ

ਤਾਵਨ ਹਾਰੀ ਉਠਕੇ, ਵਿੱਚ ਤਖੀਏ ਆਈ।
ਮਹਿਮਦੀ ਚੰਦ ਕੋਲ ਬੈਠ ਕੇ, ਸਾਰੀ ਗਲ ਸੁਣਾਈ।
ਤੂੰ ਸੁਣ ਦਿਉਰਾ ਮੇਰਿਆ, ਫ਼ੌਜ ਚੜ੍ਹ ਕੇ ਆਈ।
ਬਦੀਆਂ ਦਿੱਲੀ ਨੂੰ ਜਾਗੀਆਂ, ਹੀਣਤ ਕਿਨ੍ਹੂੰ ਆਈ। ੧੭੫

ਮਹਮਦ ਚੰਦ ਅਗੋਂ ਬੋਲਦਾ, ਜਿਨ ਆਖ ਸੁਣਾਇਆ।
ਘਰੋਂ ਸੀ ਮੈਨੂੰ ਕੱਢਿਆ, ਵਿੱਚ ਤਖੀਏ ਆਇਆ।
ਕਲ ਪੁਤਰ ਦਾ ਵਿਆਹ ਸੀ, ਤੂੰ ਆਪ ਰਚਾਇਆ।
ਧੱਕੇ ਮਾਰ ਕੇ ਮੈਨੂੰ ਛੱਡ ਗਿਆ, ਨਹੀਂਕੋਈਮੇਰਾਮਾਂਪਿਓਜਾਇਆ
ਜਾ ਏਥੋਂ ਤੂੰ ਚਲੀ ਜਾਹ, ਤੈਨੂੰ ਆਖ ਸੁਣਾਇਆ। ੧੮੦

ਤਾਵਨ ਹਾਰੀ ਬੋਲਦੀ, ਜਿਨ ਆਖ ਸੁਣਾਈ।
ਤੂੰ ਮੇਰਾ ਦਿਉਰ ਹੈਂ, ਮੈਂ ਤੇਰੀ ਭਰਜਾਈ।
ਵਿੱਥ ਨਾ ਜਾਣ ਤੂੰ ਮਹਿਮਦਾ, ਤੇਰਾ ਸੱਕਾ ਭਾਈ।
ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਨੂੰ ਰੱਖ ਲੈ, ਤੇਰੇ ਕੋਲ (ਮੈਂ ਤੁਰਕੇ) ਆਈ।
ਹੱਸ ਹੱਸ ਗੱਲਾਂ ਕਰਦੀ, ਭਰੇ ਮੁੱਠੀਆਂ ਸਾਈ। ੧੮੫

ਮਹਿਮਦ ਚੰਦ ਫਿਰ ਬੋਲਿਆ, ਇਹ ਆਖ ਸੁਣਾਵੇ।
ਭੰਗ ਘੋਟ ਕੇ ਦੇਹ ਖਾਂ, ਅੰਬਲ ਉੱਘ ਕੇ ਆਵੇ।
ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਨੇ ਥੈਲਾ ਫੜ ਲਿਆ, ਭੰਗ ਕੂੰਡੇ ਪਾਵੇ।
ਹੱਥ ਵਿੱਚ ਡੰਡਾ ਫੜ ਲਿਆ, ਬੈਠੀ ਰਗੜੇ ਲਾਵੇ।
ਭੰਗ ਛਾਣਕੇ ਦੌਰਾ, ਮਹਿਮਦ ਚੰਦ ਨੂੰ ਆਪ ਪਿਆਵੇ। ੧੯੦

ਨਫ਼ਰ ਨੂੰ ਵਾਜਾਂ ਮਾਰੀਆਂ, ਘੋੜਾ ਕਸਵਾਵੇ।
ਪੰਜੇ ਹਥਿਆਰ ਲਿਆਕੇ, ਮਹਿਮਦ ਨੂੰ ਆਪ ਪਹਿਨਾਵੇ।
ਚੜ੍ਹਿਆ ਉਪਰ ਘੋੜੇ ਦੇ, ਹੁਣ ਜੰਗ ਨੂੰ ਜਾਵੇ।
ਵਿੱਚ ਲਸ਼ਕਰਾਂ ਜਾ ਕੇ, ਵਾਹ ਵਾ ਜੰਗ ਰਚਾਵੇ।
ਕੁਝ ਮਾਰੇ ਕੁਝ ਫੱਟੇ, ਲਸ਼ਕਰ ਪਿਛਾਂਹ ਨੂੰ ਜਾਵੇ।
ਮਹਿਮਦ ਉਥੋਂ ਭੱਜ ਕੇ, ਵਿੱਚ ਤਖੀਏ ਦੇ ਆਵੇ। ੧੯੫

ਪੰਜਵਾਂ ਦਿਨ ਜਾਂ ਚੜ੍ਹਪਿਆ, ਚੜ੍ਹ ਬਖਤਾਉਰ ਖਾਂ ਆਇਆ।
ਤਾਵਣ ਹਾਰੀ ਭੱਜ ਕੇ, ਮਹਿਮਦ ਨੂੰ ਜਾ ਸੁਣਾਇਆ।
ਸੁਣ ਲੈ ਦਿਊਰਾ ਮੇਰਿ ਅ, ਚੜ੍ਹ ਲਸ਼ਕਰ ਆਇਆ।
ਰਖ ਲੈ ਖਾਂ ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਨੂੰ, ਤੈਨੂੰ ਵਾਸਤਾ ਪਾਇਆ। ੨੦੦
ਭਾਈ ਤੇਰਾ ਘਰ ਨਹੀਂ ਗਾ, ਜੀਹਦਾ ਬਹੁਤਾ ਛਾਇਆ।
ਮਹਿਮਦ ਚੰਦ ਚਾ ਬੋਲਿਆ, ਘੋੜਾ ਮੰਗਵਾਇਆ।
ਪੰਜੇ ਹਥਿਆਰਿਆਂ ਪਹਿਨ ਕੇ ਆਸਣ ਘੋੜੇ ਦੇ ਆਇਆ।
ਜਾ ਵੜਿਆ ਵਿੱਚ ਲਸ਼ਕਰਾਂ, ਉਨ੍ਹੇਂ ਘੇਰਾ ਪਾਇਆ।—੨੦੫
ਮਹਿਮਦ ਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਫੜ ਲਿਆ, ਵਿੱਚ ਡੇਰੇ ਆਇਆ।

(ਇਹ ਟੋਟਾ ਕਿਸੇ ਪਿੱਛੇ ਥਾਂ ਦਾ ਹੈ, ਮਗਰੋਂ ਸੁਣਨ ਕਰਕੇ ਏਥੇ ਦਿੱਤਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ॥

ਦਾਰੂ ਦੀਆਂ ਦੋ ਮਸ਼ਕਾਂ, ਮਿਰਜੇ ਮੰਗਵਾਈਆਂ।
ਦਲੀਂ ਬਹਾਦਰ ਕੱਢਕੇ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਚੱਕਵਾਈਆਂ।
ਛੁਟੀ ਪੁਰੇ ਦੀ ਵਾ ਆ; ਚੜ੍ਹੀਆਂ ਮਸਤਾਈਆਂ।
ਦੋ ਸਰੰਦੀਆਂ ਮੂੰਹ ਤੇ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਪਾਈਆਂ। ੨੧੦
ਗੜ੍ਹ ਰੰਬੇ ਦੇ ਦਰਵਾਜੇ ਵਜ ਗਏ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਟੱਕਰਾਂ ਲਾਈਆਂ।
ਬੂਹੇ ਡਿਗੇ ਸਣ ਸਰਦਲਾਂ, ਸਫੀਲਾਂ ਬਾਹੀਆਂ।
ਅਗੋ ਦੌਂਦ ਸ਼ਾਹ ਨਾ ਹਿਲਦਾ, ਬਹੁਤ ਸਾਂਗਾ ਲਾਈਆਂ।
ਲੱਜਾ ਇਕੋ ਜੇਸੀਆਂ, ਪੁਤਰਾਂ ਤੇ ਜੁਵਾਈਆਂ। ੨੧੫

—:o:—

ਪਿੰਡ ਬੇਪਾਰਾਏ ਜ਼ਿਲਾ ਅੰਮ੍ਰਿਤਸਰ ਦੇ ਗਵੀਏ ਜੇਠੂ ਘੁਮਿਆਰ ਕੋਲੋਂ ਇਹ ਵਾਰ ਸੁਣੀ, ਅਗਲਾ ਹਿੱਸਾ ਵਾਰ ਦਾ ਅਜੇ ਨਹੀਂ ਲਭਾ, ਲਾਭ ਜਾਵੇਗਾ ॥

ਤ੍ਰਿਲੋਕ ਸਿੰਘ ਗਿਆਨੀ, ਇਛਰਾ, ਲਾਹੌਰ।

ਵੱਡਾ ਪੰਜਾਬੀ ਪਿੰਗਲ ਰਚਿਤ ਭਾਈ ਰਾਮ ਸਿੰਘ

(੧) ਪੁਸਤਕ ਹਿੰਦੀ ਕਿਤਾਬਾਂ ਦੀ ਨਕਲ ਹੈ, ਇਕ ਨਾਕਾਮਯਾਬ ਅਨੁਵਾਦ। ਹੇਠ ਲਿਖੇ ਹਿੰਦੀ ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਰੂਪ ਇਸ ਦੀ ਗਵਾਹੀ ਦੇਂਦੇ ਹਨ

"किसी वाक्य के वर्णन करने का चमत्कारिक ढंग अलंकार कहलाता हैं। दूसरे शबदों में यों कहिये कि जिस सामग्री से किसी वाक्य में रोचकता वा चमत्कार आ जाय वह सामग्री अलंकार कहलाती है ॥

जैसे गहने पहनने से किसी व्यक्ति का शरीर कुछ अधिक रोचक देख पड़ता है। वैसे ही अलंकार से वाक्य की रोचकता बढ़ जाती हैं। अलंकार काव्य का एक आवश्यक अंग है। ऐसा तो नही कहा जा सकता है कि ...." (पृष्ठ १ अलंकार मन्जूषा लेखक भगवाग दीन)

"ਕਿਸੇ ਵਾਕ ਦੇ ਵਰਨਨ ਕਰਨ ਦੇ ਚਮਿਤਕਾਰਿਕ ਢੰਗ ਨੂੰ ਅਲੰਕਾਰ ਕਿਹਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਦੂਜੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿਚ ਇਉਂ ਆਖੋ ਕਿ ਜਿਸ ਸਾਮਗਰੀ ਕਰਕੇ ਕਿਸੇ ਵਾਕ ਵਿਚ ਰੋਚਕਤਾ ਜਾਂ ਚਮਤਕਾਰ ਆ ਜਾਵੇ ਉਹ ਸਾਮਗਰੀ ਅਲੰਕਾਰ ਕਹੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ ਜਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਗਹਿਣੇ ਪਾਣ ਨਾਲ ਕਿਸੇ ਇਸਤ੍ਰੀ ਦਾ ਸਰੀਰ ਕੁਝ ਜ਼ਿਆਦਾ ਸੁੰਦਰ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੋਣ ਲਗ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਸੇ ਤਰਾਂ ਅਲੰਕਾਰ ਦੀ ਰਾਹੀਂ ਵਾਕ ਦੀ ਰੋਚਕਤਾ ਜਾਂ ਖ਼ੂਬਸੂਰਤੀ ਵੱਧ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਅਲੰਕਾਰ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਬਹੁਤ ਜ਼ਰੂਰੀ ਅੰਗ ਹੈ। ਇਹ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ ਕਹਿ ਸਕਦੇ ਕਿ ... ... "

(ਸਫਾ ੩੯੬ ਵੱਡਾ ਪੰਜਾਬੀ ਪਿੰਗਲ ਰਚਿਤ ਭਾਈ ਰਾਮ ਸਿੰਘ)

ਇਹੋ ਜਹੀਆਂ ਹੋਰ ਮਿਸਾਲਾਂ ਇਸ ਕਿਤਾਬ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਮਿਲ ਸਕਦੀਆਂ ਹਨ ॥

(੨) ਹਿੰਦ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਹੂਬਹੂ ਉਤਾਰਾ ਯਾਂ ਬੜਾ ਹੀ ਕਮਜ਼ੋਰ ਅਨੁਵਾਦ ਕੀਤਾ ਗਿਆ ਹੈ ਜੋ ਪੰਜਾਬੀ ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਬੜਾ ਓਪਰਾ ਓਪਰਾ ਭਾਸਦਾ ਹੈ ਜਿਵੇਂ:—

ਮਿੱਠੀ ਬੋਲੀ ਬੋਲ ਕੇ ਕੈਦ ਭਏ ਸੁਕ ਮੈਨ (ਸਫਾ ੪੭੦ ਵੱਡਾ ਪੰਜਾਬੀ ਪਿੰਗਲ)

(ਹਿੰਦੀ ਰੂਪ) कैद होत सुक-सारिका माधुरी बानि बानी उचारि
(अलंकार कौमदी पृष्ठ २७४)

(੨) ਮੁਕਤ ਮਾਲ ਹਰਿ ਦੇ ਗਲੇ ਚਮਕੇ ਮਣੀ ਸਮਾਨ ।
ਫਿਰ ਪਾਵੇ ਨਿਜ ਰੂਪ ਨੂੰ ਰਾਧੇ ਮੁੱਖ ਮਹਾਨ ॥
(ਵੱਡਾ ਪੰਜਾਬੀ ਪਿੰਗਲ ੪੭੧)

(ਹਿੰਦੀ ਰੂਪ) मुकुतहार हरि के हिये मरकत मनिमय होत ।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत ॥
(अलंकार कौमुदी पृष्ठ २७६)

(੩) ਰਾਮ ਹਿਰਦੇ ਜਾਂਕੇ ਵਸੇ, ਬਿਪਤ ਸੁ ਮੰਗਲ ਤਾਂਹ
ਰਾਮ ਹਿਰਦੇ ਜਾਂਕੇ ਨਹੀ, ਬਿਪਤ ਸੁ ਮੰਗਲ ਤਾਂਹ
(ਵੱਡਾ ਪੰਜਾਬੀ ਪਿੰਗਲ ੪੦੨)

(ਹਿੰਦੀ ਰੂਪ) राम हृदय जाके बसे, विपति सुमंगल ताँहि
राम हृदय जाके नही, विपति सुमंगल ताहि
(अलंकार मञ्जूषा पृष्ठ ९)

ਇਸ ਪੁਸਤਕ ਵਿਚ ਇਹੋ ਜਹੀਆਂ ਬਹੁਤ ਸਾਰੀਆਂ ਹੋਰ ਮਿਸਾਲਾਂ ਮਿਲ ਸਕਦੀਆਂ ਹਨ ।

(੩) ਪੁਸਤਕ ਵਿਚ ਹਰ ਥਾਂ ਹਿੰਦੀ ਅੱਖਰਾਂ ਦੀ ਬੇ ਲੋੜੀ ਵਰਤੋਂ ਕੀਤੀ ਗਈ ਹੈ । ਜਦ ਉਨ੍ਹਾਂ ਅਰਥਾਂ ਵਾਲੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸ਼ਬਦ ਮਿਲ ਸਕਦੇ ਹੋਣ ਪਰ ਫੇਰ ਵੀ ਹਿੰਦੀ ਸ਼ਬਦ ਹੀ ਵਰਤੇ ਹੋਣ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਬੇ ਲੋੜੇ ਤੋਂ ਘਟ ਕੀ ਆਖਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ ਜਿਵੇਂ :—

ਗਦਯ, ਪਦਯ, ਯਤਿ, ਚਮਤਕਾਰਕ, ਸਾਮਗਰੀ, ਅਨਵਯ, ਅਭਾਵ, ਵਾਸਤਵ, ਗੌਣ ਵਸਤ, ... ਅਤੇ ਕਈ ਹੋਰ ਅਜਿਹੇ ਸ਼ਬਦ ।

(੪) ਅਲੰਕਾਰ ਦੇ ਕਈ ਲੱਛਨ ਅਤਿ ਅਸਪਸ਼ਟ ਹਨ ਜਿਵੇਂ ਰਸਨੋਂਪਮਾ ਦਾ ਲੱਛਨ :—

"ਉਪਮੇਯ ਨੂੰ ਉਪਮਾਨ ਅਤੇ ਉਪਮਾਨ ਨੂੰ ਉਪਮੇਯ ਕਰਕੇ ਯਥਾ-ਕਰਮ ਪ੍ਰਗਟ ਰਸਨੋਂਪਮਾ ਅਲੰਕਾਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।"

ਰਸਨੋ ਉਪਮਾ ਅਲੰਕਾਰ ਵਿਚ ਉਪਮਾਨ ਕਦੇ ਵੀ ਉਪਮੇ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ ਸਦਾ ਉਪਮੇਯ ਹੀ ਉਪਮਾਨ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਤੱਕੋ ਅਲੰਕਾਰ ਕੌਮਦੀ ਵਿਚ ਦਿੱਤਾ ਉਦਾਹਰਣ

.... जिस में क्रमशा क्रमशा कहा हुआ उपमेय उपबान होता जाता है; रसनोपमा कहते है।

(अलंकार मञ्जूषा पृष्ठ ४७)

(੫) ਉਦਾਹਰਣਾਂ ਵਿਚ ਵੀ ਕਈ ਥਾਂ ਗੜਬੜੀ ਹੈ ਜਿਵੇਂ ਸਫਾ ੪੬੩ ਤੇ ਪ੍ਰੌਢੋਕ੍ਤਿ ਅਲੰਕਾਰ ਦਾ ਉਦਾਹਰਣ

" (ੳ) ਕਾਲੇ ਪੱਥਰ ਵਾਂਗ ਹਨ ਪਾਪੀ ਚਿਤ ਕਠੋਰ।"

ਇੱਥੇ ਕਾਲਾ ਰੰਗ ਪੱਥਰਾਂ ਦੀ ਕਠੋਰਤਾ ਦਾ ਹੇਤੁ ਮੰਨਿਆ ਗਿਆ ਹੈ।

ਕਿਸੇ ਸਖ਼ਤ ਚੀਜ ਨੂੰ ਹੀ ਕਠੋਰਤਾ ਦਾ ਕਾਰਣ ਮੰਨਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਕਾਲੇਪਨ ਨੂੰ ਕਠੋਰਤਾ ਦਾ ਕਾਰਣ ਮੰਨਣਾ 'ਚਮਤਕਾਰਕ' ਨਹੀਂ ਅਤੇ ਆਪ ਇਹ ਮੰਨਦੇ ਹਨ ਕਿ 'ਚਮਤਕਾਰ' ਹੀ ਅਸਲ ਵਿਚ ਅਲੰਕਾਰ ਹੈ। ਆਪ ਦਾ ਅਗਲਾ ਉਦਾਹਰਣ ' ਖੀਰ ਸਮੁੰਦਰ ਹੰਸ ਸਮ' ਏਸ ਇਤਰਾਜ਼ ਦੀ ਦਰੁਸਤੀ ਦੀ ਤਾਈਦ ਕਰਦਾ ਹੈ।

(੬) ਹਿੰਦੀ ਵਿਚ ਵਰਤੀਂਦੇ ਸੰਧੀ ਨੇਮਾਂ ਦੀ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਵਰਤੋਂ ਕਿਸੇ ਤਰਾਂ ਵੀ ਠੀਕ ਨਹੀਂ।

ਅਰਥਾਲੰਕਾਰ, ਸ਼ਬਦਾਲੰਕਾਰ, ਮਾਲੋਂਪਮਾ ਲੰਕਾਰ, ਰਸਨੋਂਪਮਾਲੰਕਾਰ ਨੂੰ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿਚ ਅਰਥ ਅਲੰਕਾਰ, ਸ਼ਬਦ ਅਲੰਕਾਰ, ਮਾਲ ਉਪਮਾ ਅਲੰਕਾਰ, ਤੇ ਰਸਨ ਉਪਮਾ ਅਲੰਕਾਰ ਕਰਕੇ ਲਿਖਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ।

(੭) ਉਭਯਾਲੰਕਾਰ ਨੂੰ ਉਦਭਾਲੰਕਾਰ ਬਣਾ ਦੇਣਾ ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਕਿੱਥੋਂ ਤਕ ਠੀਕ ਹੈ।

(੮) ਕਿਤੇ ਆਪ ਨੇ 'ਬ' ਨੂੰ 'ਸ਼' ਅਤੇ ਕਿਤੇ 'ਖ' ਲਿਖਿਆ ਹੈ।

ਸ਼ਲੇਬ ਨੂੰ ਸਲੇਸ਼ ਪਰ ਸੰਦ੍ਰਿਸ਼ਿ ਨੂੰ ਸੰਸ੍ਰਿਖਿ।

(੯) ਲੇਸ਼ ਅਤੇ ਵਿਆਜ ਨਿੰਦਾ ਦਾ ਇੱਕੋ ਸਾਂਝਾ ਉਦਾਹਰਣ 'ਰਾਜ ਦੰਡ ਦਾ ਭਉ ਨਹੀਂ' ਦੇ ਕੇ ਲੇਸ਼ ਅਤੇ ਵਿਆਜ ਨਿੰਦਾ ਵਿੱਚ ਫਰਕ ਸਮਝਾਉਣ ਦੀ ਖੇਚਲ ਨਹੀਂ ਕੀਤੀ ਗਈ।

ਸੱਯਦ ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ

ਸੱਯਦ ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਨੇ ਸਿੱਖਾਂ ਅਰ ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ਾਂ ਦੀ ਲੜਾਈ ਦਾ ਹਾਲ ਬੈਤਾਂ ਵਿੱਚ ਸੰਨ ੧੮੪੬ ਦੇ ਲਗ ਭਗ ਲਿੱਖਿਆ। ਇਹ ਇਕ ਮੁੱਅਰਖ ਕਵੀ ਹਨ। ਸਿੱਖਾਂ ਦੇ ਰਾਜ ਦਾ ਅੰਤ ਅਰ ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ਾਂ ਦਾ ਆਉਣਾ ਇਨ੍ਹਾਂ ਆਪਣੀਆਂ ਅੱਖੀਆਂ ਸਾਹਮਣੇ ਡਿੱਠਾ ਸੀ। ਆਪ ਵਟਾਲੇ ਦੇ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਸਨ, ਲਿਖਦੇ ਸਨ:—

ਇਕ ਰੋਜ਼ ਵਟਾਲੇ ਦੇ ਵਿੱਚ ਬੈਠੇ ਚਲੀ ਆਨ ਫਰੰਗੀ ਦੀ ਬਾਤ ਆਈ। ਸਾਨੂੰ ਆਖਿਆ ਦੋਸਤਾਂ ਸਭ ਯਾਰਾਂ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਸਾਡੀ ਮੁਲਾਕਾਤ ਸਾਈ। ਰਾਜ਼ੀ ਬਹੁਤ ਰਹਿੰਦੇ ਮੁਸਲਮਾਨ ਹਿੰਦੂ ਸਿਰੀ ਦੋਹਾਂ ਦੇ ਹੋਰ ਅਫ਼ਾਤ ਆਈ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਜੀ ਅੱਗੇ ਨਹੀਂ ਸੀ ਤੀਸਰੀ ਜ਼ਾਤ ਆਈ॥

ਸਾਡੇ ਪਾਸ ਇਕ ਢੇਰ ਪੁਰਾਨੀ ਲਿਖਤ ਫਾਰਸੀ ਅੱਖਰਾਂ ਵਿੱਚ ਪੁੱਜੀ ਹੈ ਜਹੜੀ ਇਤਨੀ ਹੀ ਪੁਰਾਨੀ ਜਾਪਦੀ ਹੈ ਜਿਤਨੇ ਕਿ ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਹੁਰੀ। ਇਹ ਲਿਖਤੀ ਨੁਸਖੇ ਪੁਰ ਮਾਲਕੀ ਜਨਾਉ ਕਿਸੇ ਨਿਕਲਸਨ Nicholson ਦਾ ਨਾਮ ਲਿਖਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ ਜੋ ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ੀ ਅਖਰਾਂ ਵਿਖੇ ਹੈ। ਹੁਣ ਤੀਕਰ ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਦੀ ਲਿਖਤ "ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ਾਂ ਅਤੇ ਸਿੱਖਾਂ ਦੀ ਲੜਾਈ ਦਾ ਹਾਲ" ਕਿਸੇ ਨੇ ਖੋਜ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਲਿਖਿਆ

ਜਾਪਦਾ। ਅਸੀਂ ਇਸ ਨੂੰ ਇਨ ਬਿਨ ਪਾਠਕਾਂ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਫ਼ਾਰਸੀ ਅਖਰਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਗੁਰਮੁਖੀ ਅਖਰਾਂ ਵਿੱਚ ਪੇਸ਼ ਕਰਦੇ ਹਾਂ। ਇਹ ਕਿੱਸਾ ਇਕ ਇਤਹਾਸਕ ਘਟਨਾ ਦਾ ਵਰਣਨ ਹੋਵਣ ਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਸਾਹਿੱਤ ਵਿੱਚ ਢੇਰ ਜ਼ਰੂਰੀ ਅਰ ਸਾਂਭਣ ਗੋਚਰੀ ਚੀਜ਼ ਜਾਪਦੀ ਹੈ।

(੧) ਅਵਲ ਆਖੀਏ ਸਿਫਤ ਖ਼ੁਦਾ ਦੀ ਜੀ ਜੇਹੜਾ ਕੁਦਰਤ ਦੇ ਖੇਲ ਰਚਾਂਵਦਾ ਈ। ਚੌਦਾਂ ਤਬਕਾਂ ਦੀ ਨਕਸ਼ ਨਗਾਰ ਕਰਕੇ ਰੰਗ ਰੰਗ ਦੇ ਬਾਗ ਲਗਾਵੰਦਾਈ। ਸਭੇ ਪਿਛਲੀਆਂ ਸਫਾਂ ਲਪੇਟ ਲੈਂਦਾ ਅੱਗੇ ਹੋਰ ਦੀਆਂ ਹੋਰ ਜਮਾਂਵਦਾਈ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਓਸ ਤੋਂ ਸਦਾ ਡਰੀਏ ਬਾਦਸ਼ਾਹਾਂ ਤੋਂ ਭਿੱਖ ਮੰਗਾਵੰਦਾਈ।

(੨) ਇਕ ਰੋਜ਼ ਵਟਾਲੇ ਦੇ ਵਿੱਚ ਬੈਠੇ ਚੱਲੀ ਆਨ ਫਰੰਗੀ ਦੀ ਬਾਤ ਆਈ। ਸਾਨੂੰ ਆਖਿਆ ਦੋਸਤਾਂ ਸੱਭ ਯਾਰਾਂ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਸਾਡੀ ਮੁਲਾਕਾਤ ਸਾਈ; ਰਾਜੀ ਬਹੁਤ ਰਹਿੰਦੇ ਮੁਸਲਮਾਨ ਹਿੰਦੂ ਸਿਰੀਂ ਦੋਹਾਂ ਦੇ ਹੋਰ ਅਫ਼ਾਤ ਆਈ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦ ਵਿੱਚ ਪੰਜਾਬ ਦੇ ਜੀ ਅੱਗੇ ਨਹੀਂ ਸੀ ਤੀਸਰੀ ਜ਼ਾਤ ਆਈ।

(੩) ਇਹ ਜਗ ਸਰਾਂ ਮੁਸਾਫਰਾਂ ਦੀ ਕਈ ਜ਼ੋਰ ਵਾਲੇ ਏਥੇ ਆ ਗਏ। ਸ਼ਦਾਦ, ਨਮਰੂਦ, ਫਰਔਨ ਜਹੇ ਦਾਹਵਾ ਬੰਨ ਖੁਦਾ ਕਹਾ ਗਏ। ਅਕਬਰ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਜਹੇ ਵਿੱਚ ਦਿੱਲੀ ਦੇ ਜੀ ਫੇਰੀ ਵਾਂਗ ਵਣ-ਜਾਰਿਆਂ ਪਾ ਗਏ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਰਹੇਗਾ ਰੱਬ ਸੱਚਾ ਵਾਜੇ ਝੂਠ ਦੇ ਕਈ ਵਜਾ ਗਏ।

(੪) ਏਥੇ ਆਇਆਂ ਨੂੰ ਪਕੜ ਕੇ ਮੋਹ ਲੈਂਦੀ ਦੁਨੀਆਂ ਵਸ਼ਵਾ ਦਾ ਰੱਖ ਕੇ ਭੇਸ ਮੀਆਂ। ਸਦਾ ਨਹੀਂ ਜਵਾਨੀ ਤੇ ਹੁਸਨ ਨਾਲੇ ਸਦਾ ਨਹੀਂ ਏ ਬਾਲ ਵਰੇਸ ਮੀਆਂ।

ਸਦਾ ਨਹੀਂ ਜੇ ਦੌਲਤਾਂ ਨਾਲ ਘੋੜੇ ਸਦਾ ਨੀਂ ਜੇ ਰਾਜ ਤੇ ਦੇਸ ਮੀਆਂ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਸਦਾ ਨਾ ਰੂਪ ਰਹਿਣਾ ਹੁੰਦੇ ਨਰੀਂ ਜੇ ਕਾਲੜੇ ਕੇਸ ਮੀਆਂ।

(੫) ਮਹਾਂ ਬਲੀ ਰਣਜੀਤ ਸਿੰਘ ਹੋਯਾ ਪੈਦਾ ਨਾਲ ਜ਼ੋਰ ਦੇ ਮੁਲਕ ਨਿਵਾ ਗਿਆ। ਮੁਲਤਾਣ ਪਸ਼ੌਰ ਕਸ਼ਮੀਰ ਚੰਬਾ ਜਮੂੰ ਕਾਂਗੜਾ ਕੋਟ ਛੁਡਾ ਗਿਆ । ਲਦਾਖ ਤਿਬਤਾਨ ਤੇ ਚੀਨ ਤੋੜੀ ਸਿੱਕਾ ਆਪਣੇ ਨਾਮ ਚਲਾ ਗਿਆ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਜਾਨ ਪੰਜਾਹ ਵਰਿਆਂ ਅੱਛਾ ਰਜ ਕੇ ਰਾਜ ਕਮਾ ਗਿਆ।

(੬) ਜਦੋਂ ਮੋਈ ਸਰਕਾਰ ਤਾਂ ਹੋਈ ਕੌਂਸਲ ਚੇਤ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਛਡਿਆ ਮਾਰ ਮੀਆਂ। ਖੜਕ ਸਿੰਘ ਦਾ ਓਹ ਮਸਾਹਿਬ ਪਿਆਰਾ ਮੋਯਾ ਮੁੱਢ ਕਦੀਮ ਦਾ ਯਾਰ ਮੀਆਂ।

ਰਾਜ਼ੀ ਓਸਦੇ ਨਾਲ ਸਲਾਹ ਕਰਕੇ ਸਿਰ ਵਡਿਆ ਨਾਲ ਤਲਵਾਰ ਮੀਆਂ। ਸ਼ਾਹ ਮੁਹੰਮਦਾ ਅਸਾਂ ਭੀ ਨਾਲ ਮਰਨਾ ਸਾਡਾ ਏਹੋ ਸੀ ਕੌਲ ਕਰਾਰ ਮੀਆਂ ॥ ੬ ॥

(ਚਲਦਾ)

(ਬ. ਸ.)

* ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन *

भाग १७ संख्या ४ | अगस्त १९४१ | क्रमसंख्या ६८

प्रधान सम्पादक—

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल. (आक्सफोर्ड),

आफिसर अकेडेमी (फ्रांस).

सूचना—

सम्पादक लेखकों के लेख का उत्तरदाता नहीं होगा।

प्रकाशक—मि० सदीक अहमदखां।

श्रीकृष्ण दीक्षित प्रिंटर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड, लाहौर में मि० सदीक अहमद खां पब्लिशर ओरियण्टल कालेज लाहौर के लिये छापा।

॥ ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन ॥

विज्ञप्ति

उद्देश्य—इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य यह है कि प्राच्यविद्या-सम्बन्धी परिशीलन वा तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जाय और विशेषतः उन विद्यार्थियों में अनुसन्धान का शौक पैदा किया जाय जो संस्कृत, हिन्दी और पञ्जाबी के अध्ययन में संलग्न हैं।

किस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करना अभीष्ट है—

यत्न किया जायेगा कि इस पत्रिका में ऐसे लेख प्रकाशित हों जो लेखक के अपने अनुसन्धान के फल हों। अन्य भाषाओं से उपयोगी लेखों का अनुवाद स्वीकार किया जायगा और संक्षिप्त तथा उपयोगी प्राचीन हस्तलेख भी क्रमशः प्रकाशित किए जायंगे। ऐसे लेख जो विशेषतः इसी पत्रिका के लिए न लिखे गए हों, प्रकाशित न होंगे।

प्रकाशन का समय—

यह पत्रिका अभी साल में चार बार अर्थात् कालेज की पढ़ाई के साल के अनुसार नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्त में प्रकाशित होगी।

मूल्य—

इसका वार्षिक चन्दा ३) रुपये होगा; विद्यार्थियों से केवल १॥) लिया जायगा।

पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना—

पत्रिका के खरीदने के विषय में पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना आदि प्रिंसिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर के नाम से होना चाहिये। लेखसम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक के नाम होने चाहिएं।

प्राप्तिस्थान—

यह पत्रिका ओरियण्टल कालेज लाहौर के दफ्तर से खरीदी जा सकती है।

पञ्जाबी विभाग के सम्पादक सरदार बलदेवसिंह बी. ए. हैं। वही इस भाग के उत्तरदायी हैं।

विषयसूची

पृष्ठ

मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, लाहौर]

मित्रमिश्र के आश्रयदाता राजा वीरसिंह का परिचय—

राजनीतिप्रकाश के आरम्भ तथा समाप्ति में मित्रमिश्र ने लिखा है कि राजा वीरसिंह की आज्ञा से उन्होंने राजनीतिप्रकाश की रचना की[1]। स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ये राजा वीरसिंह कौन थे। इसलिए यहां पर पहले राजा वीरसिंह के काल आदि का परिचय देना आवश्यक है।

राजनीतिप्रकाश के समाप्तिवाक्य में मित्रमिश्र ने वीरसिंह का वंशपरिचय इस प्रकार दिया है:—

'इति श्रीमत्सकलसामन्तचक्रचूडामणिमरीचिमञ्जरीनीराजितचरणकमलश्रीमन्महाराजाधिराजप्रतापरुद्रतनूज— श्रीमन्मधुकरसाहसूनु-श्रीमन्महाराजाधिराजचतुरुदधिवलयवसुन्धराहृदयपुण्डरीकविकासदिनकरश्रीवीरसिंहदेवोद्योजित...... ...श्रीमन्मित्रमिश्रकृते वीरमित्रोदयाभिधनिबन्धे राजनीतिप्रकाशः पूर्तिमगात्।' (पृ० ४६३).

इस समाप्तिवाक्य से राजा वीरसिंह का वंशपरिचय स्पष्ट होता है। राजा वीरसिंह के पिता का नाम मधुकरसाह और पितामह का नाम प्रतापरुद्र था। राजनीतिप्रकाश के आरम्भ में मित्रमिश्र ने वीरसिंहवंश का विस्तृत परिचय दिया है। इस परिचय के अनुसार राजा वीरसिंह की वंशावली इस प्रकार है:—

---

१. आज्ञप्तो वीरसिंहक्षितिपतितिलकेनादरान्मित्रमिश्रः
सल्लयावान् ख्यातकीर्तिर्विविधबुधजनग्रामसन्तोषकारी।
प्राचां वाचां प्रपञ्चैः परिकलितमहाराजधर्मादवान्तः-
सारं निष्कृष्य बुद्ध्या रचयति रुचिरं राजनीतिप्रकाशम्॥ (पृ० ८).
प्रत्याशं परिवर्द्धतेऽर्थिजनतादैन्यान्धकारापहे
श्रीमद्वीरमृगेन्द्रदानजलधिर्यद्वक्त्रचन्द्रोदये।
राजादेशितमित्रमिश्रविदुषस्तस्योक्तिभिर्निर्मिते
ग्रन्थेऽस्मिन खलु राजनीतिविषयः पूर्तिं प्रकाशोऽगमत्॥
(पृ० ४६३)

भानुभट्टकृत रसमञ्जरी पर अनन्तशर्मा की व्यङ्गयार्थकौमुदी व्याख्या मिलती है। व्याख्या के आरम्भ में अनन्तशर्मा ने राजा वीरसिंह की वंशावली का निरूपण इस प्रकार किया है :—

प्रतापरुद्र
|
मधुकरसाह
|
वीरसिंह
|
चन्द्रभानु.

राजनीतिप्रकाश और व्यङ्गयार्थकौमुदी में वीरसिंहवंश को काशिराजवंश कहा है। काशिराजवंशावली, ओरच्छा गज़टीयर सन १९०७ के अनुसार, इस तरह है:—

(१) हेमकर्ण
|
(२) वीरभद्र [ई० स० १०७१–८७]
|
(३) कर्णपाल [ई० स० १०८७–१११२]
|
(४) कुमारसाह [ई० स० १११२-३०] (५) सनकदेव [ई० स० ११३०-५२] (६) नानकदेव [ई० स० ११५२-६९] प्रथम वीरसिंह
|
(७) महणपति [ई० स० ११६९–९७] (८) अभयभूपति [ई० स० ११९७-१२१५
|
(९) अर्जुनपाल [ई० स० १२१५–३१]
|

(१०) सोहनपाल [ई० स० १२३१-५६]

- (११) सहजेन्द्र [१२५६-८३]
- रामसिंह
  - (१२) नानकदेव द्वितीय [ई० स० १२८३-१३०७]
    - (१३) पृथ्वीराज [ई० स० १३०७-३६]
      - (१४) रामसिंह [ई० स० १३३६-७५]
        - (१५) रायचन्द [ई० स० १३७५-६४]
        - (१६) मेदिनीमल्ल [ई० स० १६६४-१४३७]
          - (१७) अर्जुनदेव [ई० स० १४३७-६८]
            - (१८) मलखानसिंह [ई० स० १४६८-१५०१]
              - (१) रुद्रप्रताप [ई० स० १५०१-३१]
                - (२) भारतीचन्द [ई० स० १५३१-५४]
                - (३) मधुकरसाह [ई० स० १५५४-६२]
                  - (४) रामसाह [ई० स० १५६२-१६०५]
                    - संग्रामसाह
                      - भरतसाह
                  - इन्द्रजित्
                  - (५) वीरसिंहदेव [ई०स० १६०५-२७]
                    - (६) जुझारसिंह [ई० स० १६२७-३४]
                    - दिवान हरदौल
                    - पहारसिंह
                    - चन्द्रभान
                    - माधोसिंह
                    - भगवानराय
                  - प्रतापराय
                  - रत्नसिंह
                  - तीन और
                - सात और

इस वंश का विस्तृत परिचय केशवदासकृत[1] वीरसिंहदेवचरित में इस तरह

---

१. कवि केशवदास सूरदास और तुलसीदास के समकालिक हुए हैं। इन्होंने कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका और वीरसिंहदेवचरित ये ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने वीरसिंहदेवचरित का निर्माण वि० सं० १६६४ (=ई० स० १६०७) में, अर्थात् अकबर की मृत्यु के दो वर्ष बाद किया।

मिलता है:[1]—

राजर्षि रामचन्द्र की मृत्यु के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र कुश ने विन्ध्याचल में कुशावती राजधानी की स्थापना की। राजा कुश के वंश में से एक राजपुत्र, जिनका नाम वीरभद्र[2] था, काशी को चले आये। वहां पर लोगों ने इन्हें राजा मान लिया। वीरभद्र के उत्तराधिकारी वीरकर्ण और अर्जुनपाल थे। पिता से रुष्ट होकर अर्जुनपाल ने काशी को छोड़ दिया और मोहिनी में आकर अपना राज्य स्थापित किया। अर्जुनपाल का उत्तराधिकारी सोहनपाल था। सोहनपाल के पुत्र का नाम नानकदेव था। नानकदेव का उत्तराधिकारी पृथ्वीराज था। पृथ्वीराज के तीन पुत्र थे—मेदिनीमल रायसेन, पूरणमल[3]। मेदिनीमल का पुत्र अर्जुनदेव गुणी राजा था और अर्जुनदेव का पुत्र मलखानसिंह वीर योद्धा था। मलखानसिंह के पुत्र प्रतापरुद्र ने ओरछा[4] नगर की स्थापना की। कृष्णमिश्र[5] प्रतापरुद्र के कुलपुरोहित थे।

प्रतापरुद्र वा रुद्रप्रताप का उत्तराधिकारी पुत्र भारतीचन्द[6] था। भारतीचन्द अपने समय के प्रसिद्ध राजा थे। इन्होंने अपने अद्भुत पराक्रम द्वारा शेरशाह तथा उसके पुत्र सलीम की बुन्देलखण्ड पर विजयप्राप्ति की आशाओं पर कुठाराघात किया था। भारतीचन्द के पुत्र नहीं था, इसलिए भारतीचन्द के बाद उसके भाई मधुकरसाह सिंहासन पर बैठे। मधुकरसाह शूरवीर योद्धा थे। इन्होंने सम्राट् अकबर के पुत्र युवराज मुराद को काफ़ी तंग किया था। मधुकरसाह के आठ पुत्र थे:—(१) रामसाह, (२) होरिल, (३) नरसिंह, (४) रत्नसेन, (५) इन्द्रजित्, (६) रायप्रताप, (७) वीरसिंहदेव, (८) हरसिंहदेव। मधुकरसाह के पुत्रों में से रामशाह ज्येष्ठ पुत्र था। रत्नसेन शूरवीर योद्धा था। इसके सिर पर अकबर ने अपने हाथ से पगड़ी बांधी थी। इसने अकबर के लिये गौड़देश को जीता था और युद्ध में प्राण दिये थे। मधुकरसाह के अनन्तर मधुकरसाह के पुत्र रामसाह राज्य के अधिकारी बने थे। अकबर के दरबार में रामसाह को प्रशस्त आसन मिला था।

1. See also Bir Singh Deo by L. Sita Ram: The Calcutta Review, May, 1924.

२. ओरछा गज़टीयर में वीरभद्र के स्थान पर हेमकर्ण नाम दिया है।

३. ओरछा गज़टीयर में लिखा है कि पृथ्वीराज के दो ही पुत्र थे।

४. ओरछा बुन्देलखण्ड की राजधानी थी।

५. कृष्णमिश्र वीरसिंहदेवचरित के कर्ता केशवदास के प्रपितामह थे।

६. वीरमित्रोदय के अनुसार रुद्रप्रताप का उत्तराधिकारी मधुकरसाह था।

मधुकरसाह ने प्रियपुत्र वीरसिंह को बरौं की जागीर दी थी । वीरसिंह उत्साह-शाली युवराज थे। मधुकरसाह की मृत्यु के अनन्तर वीरसिंह की राज्यतृष्णा जाग उठी। किन्तु वीरसिंह राजधर्म को समझते थे। इन्होंने राजधर्म के अनुसार पितृराज्य के उत्तराधिकारी ज्येष्ठभ्राता रामसाह के शासन का विरोध करना उचित न समझा। किन्तु जब मुग़लराज्य के बादशाह अकबर को इस बात का पता चला तो उसने गुस्से में आकर वीरसिंह को दबाने के लिये राजा आसकर्ण को भेजा। आसकर्ण की सहायता के लिये वीरसिंह के ज्येष्ठ भ्राता बुन्देलनरेश रामसाह साथ थे। मुग़ल सम्राट् की सेना सजधज कर वीरसिंह को दबाने चली। उधर वीरसिंह की सहायता के लिये उसके भाई इन्द्रजित और रायप्रताप आमिले। दोनों सेनाओं का परस्पर घोर युद्ध हुआ। अन्त में सम्राट् की सेना हार गई। इस समय दक्षिणीय मुग़लराज्य के नेता अबदुररहीम दक्षिण से आगरा पधारे थे। वीरसिंह को पकड़ने के लिये अकबर ने अबदुररहीम को भेजा। अबदुर्रहीम की भी आसकर्ण और रामसाह की सी दशा हुई। जब अबदुर्रहीम ने देखा कि वीरसिंह पकड़ा नहीं जा सकता तब उसने युक्ति से काम लेना चाहा। उसने वीरसिंह को सन्देश भेजा कि यदि वह मुग़ल सम्राट् से विरोध करना छोड़ दे और उसके साथ दक्षिण चले तो वह मुग़ल सम्राट् से उसे जागीर दिलावेगा। वीरसिंह नीतिनिपुण थे। उन्होंने अबदुर्रहीम की बात मान ली। अपने भाई संग्रामसाह और कुछ सेना को लेकर वह उसके साथ दक्षिण को चले। मार्ग में अबदुर्रहीम ने कहा कि वह उन्हें दक्षिण देश में जागीर दिलवाने को मुग़ल सम्राट् से प्रार्थना करेगा। इस पर वीरसिंह ने उसे स्पष्ट कह दिया कि वे दक्षिण में जागीर लेने को किसी दशा में भी तय्यार नहीं, बुन्देलखण्ड में ही उन्हें जागीर मिलनी चाहिये। अबदुररहीम की बातों पर उन्हें अब सन्देह होने लगा। एक दिन वे शिकार के बहाने अपने भाई संग्राम और सेना के साथ बुन्देलखण्ड को भाग आये। भाई संग्राम पर भी इन्हें विश्वास न रहा। संग्राम अबदुर्रहीम के पक्ष की बात करता था। इसलिए वीरसिंह ने अब अपने भाई राय भूपाल, राय इन्द्रजित्, राय प्रताप की सहायता से मुग़लसम्राट् अकबर से युद्ध करने का ही निश्चय किया।

इस समय वीरसिंह के ज्येष्ठ भ्राता बुन्देलनरेश रामसाह ने शालग्राम की मूर्ति पर हाथ रखकर वीरसिंह से कहा—'भाई साहिब! यद्यपि मैंने सम्राट् अकबर की प्रभुता को मान लिया है और मैं सम्राट् के आश्रित हूं तो भी मैं तुम्हारी सहायता करूंगा। अब दोनों भाई प्रेम से रहने लगे। इस घटना के साथ ही सम्राट् अकबर के प्रियपुत्र युवराज मुराद की मृत्यु होगई। मुराद की मृत्यु के अनन्तर अकबर ने

विद्रोहियों को दबाने के लिये दक्षिण देश को प्रस्थान किया। अकबर पहले धोनपुर में ठहरे। यहां रामसाह ने अकबर से कहा कि 'अगर सम्राट् , वीरसिंह की जागीर मुझे देदें तो मैं वीरसिंह और इन्द्रजित इन दोनों भाइयों को मार डालूंगा और सम्राट् बुन्देलखण्ड की चिन्ता से निवृत्त हो जावेंगे। अकबर ने रामसाह की शर्त मान ली और बरौं पर घेरा डालने में रामसाह की सहायता के लिये राजसिंह को साथ भेजा। वीरसिंह अपनी रक्षा का सारा प्रबन्ध कर चुके थे। उन्हें शङ्का थी कि कहीं सम्राट् अकबर दक्षिण में विद्रोहियों को दबाने के पहले उन पर ही आक्रमण न कर दें। जब राजसिंह और रामसाह को पता चला कि वीरसिंह ने अपनी रक्षा के लिये पर्याप्त प्रबन्ध कर लिया है तब उन्होंने उसे युक्तिद्वारा वश करने को सोचा। वीरसिंह को एक सन्देश भेजा गया कि 'यदि तुम दो दिन के लिये बरौं छोड़कर कहीं चले जावो तो हम लड़ाई बन्द कर देंगे और दो दिन के बाद बरौं में तुम वापिस भी आ सकते हो। हमने केवल सम्राट् को दिखाना है कि हमने वीरसिंह को भगाकर बरौं ले लिया है। जब सम्राट् दो दिन तक दक्षिण को चले जावेंगे तो तुम बरौं में वापिस आ जाना।' पहले तो वीरसिंह ने बरौं छोड़ने से इन्कार कर दिया। तब राजसिंह ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वीरसिंह के साथ उसकी वैयक्तिक शत्रुता नहीं थी। यथार्थ बात यह थी कि वे बरौं जीतने का सम्राट् को विश्वास दिला चुके थे। वीरसिंहदेव इस बात को समझ गये। ईश्वर का भरोसा रख कर उन्होंने बरौं को छोड़ दिया। जब राजसिंह के कहने पर वीरसिंह बरौं से चले गये और सम्राट् की सेना बरौं में प्रवेश कर चुकी तब रामसाह ने राजसिंह को कहा कि सम्राट् बरौं तो उन्हें देने को कह चुके थे। रामसाह ने वीरसिंह की जागीर पर अधिकार जमा लिया। जब कुछ दिनों के अनन्तर वीरसिंह बरौं को लौटे और अपने अनुयायियों के साथ अपने घर सो रहे थे तब रामसाह के सैनिकों ने उनपर सहसा प्रहार करना शुरू कर दिया, किन्तु वीरसिंह और उनके साथी साहसपूर्ण शूरवीर योद्धा थे। उन्होंने अपने अतुल पराक्रम से रामसाह के सैनिकों को मार मार कर भगा दिया।

वीरसिंहदेवचरित के इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीरसिंहदेव नीतिनिपुण योद्धा थे। नीतिवश वे शत्रु पर भी विश्वास कर लेते थे। किन्तु विश्वास में आकर भी वे अपनी रक्षा का उपाय जरूर सोच लेते थे। अबदुर् रहीम और रामसाह के निर्दिष्ट उपाख्यान इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि वीरसिंह ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामसाह को राज्य से हटाने की कभी भी कोशिश नहीं की, प्रत्युत रामसाह ने पिता

मधुकरसाह की दी हुई जागीर को भी वीरसिंह से छीनना चाहा और तदर्थ वीरसिंह को मारने की भी चेष्टा की।

तो भी कुछ ऐतिहासिकों ने वीरसिंह को ही दोषी ठहराया है। किन्तु यदि आत्मरक्षा के लिये आततायी ज्येष्ठ भ्राता का सामना करने से पुरुष दोषी बनता है तो वीरसिंह अवश्य ही दोषी थे। आक्रमणकारी भाई से आत्मत्राण के लिये ही वीरसिंह ने शस्त्र उठाये थे। वीरसिंहदेवचरित से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों भाइयों में से बड़े भाई रामसाह ही दोषी थे। स्वार्थवश इन्होंने ही सम्राट् अकबर की आज्ञा से कई बार अपने भाई वीरसिंह पर आक्रमण किये। आत्मरक्षा के उद्देश्य से इन आक्रमणों को रोकने के लिये यदि वीरसिंह को शस्त्र उठाने पड़े तो वीरसिंह का कुछ दोष नहीं था।

प्रायः ऐतिहासिकों ने अकबर के नीतिनिपुण अमात्य अबुलफज़ल की हत्या को वीरसिंहदेव के महापराध का कारण माना है। इस हत्या के कारण ऐतिहासिकों ने वीरसिंहदेव को गालियां दी हैं। अबुलफज़ल अकबरकाल के प्रसिद्ध ऐतिहासिक हुए हैं। आयनेअकबरी की रचना ने इन्हें ऐतिहासिक जगत् में अमर बना दिया है। इसलिये इनके साथ ऐतिहासकों की सहानुभूति का होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः वीरसिंहदेव निरपराध हैं। एक तो अबुलफज़ल की वीरसिंह के साथ युद्ध में मृत्यु हुई; दूसरा वीरसिंह अबुलफज़ल के साथ युद्ध करने को तय्यार न थे और उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। तीसरा मित्रों ने अबुलफज़ल को वीरसिंह के साथ युद्ध करने से काफ़ी रोका, किन्तु अबुलफज़ल ने मित्रों के उपदेश की ज़रा भी परवाह न की। इन तीन कारणों से वीरसिंह अबुलफज़ल की हत्या के दोष से सर्वथा छूट जाते हैं। वीरसिंह की निर्दोषता दिखाने के लिये वीरसिंहदेवचरित में वर्णित अबुलफज़ल की हत्या का यहां निरूपण आवश्यक है :—

ऊपर लिख चुके हैं कि राजसिंह से समझौते के अनुसार वीरसिंह बरौं में वापिस आये। जब वे कुछ साथियों के साथ अपने घर में सो रहे थे तो उनके भाई रामसाह के सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया; किन्तु वीरसिंह और उनके साथियों ने आक्रमणकारियों को भगा दिया। इस बात का भी निरूपण कर दिया है कि रामसिंह-वीरसिंह के समझौते के विरुद्ध रामसाह ने बरौं पर अधिकार जमा लिया। इस विषम दशा में वीरसिंह ने नीतिनिपुण मन्त्रियों से सलाह की। वीरसिंह ने मन्त्रियों के आगे अपनी यथार्थ परिस्थिति को स्पष्टरूप से रक्खा। परिस्थिति इस प्रकार थी। एक तरफ से वीरसिंह के ज्येष्ठ भ्राता रामसाह वीरसिंह को कुचलने के लिये तय्यार थे,

दूसरी तरफ सम्राट् अकबर वीरसिंह से घोर शत्रुता रखते थे। इन दो भारी आपत्तियों में वीरसिंह को क्या करना चाहिये था। इस पर मन्त्री मुकुट ने कहा कि सम्राट् अकबर तो स्वयं विषम परिस्थिति में हैं। एक तो राणा प्रताप ने उन्हें तंग कर रक्खा है; दूसरा युवराज सलीम उनसे बिगड़ बैठे हैं। मन्त्री मिर्ज़ा गोविन्ददास ने सलाह दी कि इस विषम परिस्थिति में सलीम का आश्रय लेना ही ठीक रहेगा। सलीम की सहायता से रामसाह से बरौं लेना भी सहज हो जावेगा और सम्राट् अकबर भी हस्ताक्षेप नहीं कर सकेंगे। वीरसिंह के समझ में यह बात आगई। वे अपने साथियों को लेकर अलाहबाद की ओर चले। युवराज सलीम इस समय अलाहबाद के गवर्नर थे।

सलीम ने वीरसिंह का स्वागत बड़े समारोह से किया। बहुमूल्य पदार्थ इन्हें भेंट में दिये। सलीम द्वारा वीरसिंह के इस बहुसम्मान का एक कारण था जिसे वीरसिंह नहीं जानते थे। कई दिन तक वीरसिंह सलीम की राजसभा में जाते रहे। जब सलीम ने सम्मान द्वारा वीरसिंह को प्रसन्न कर लिया और वीरसिंह सलीम को अभिन्न मित्र समझने लगे तो एक दिन सलीम ने वीरसिंह को एकान्त में बुलाकर अपने मन की बात कहीः—

सलीम—

जितनो कुल आलम परवीन। थावर जंगम दोई दीन॥
तामें एकै बैरी लेख। अब्बलफ़ज़ल कहावे सेख॥
वह सालतु है मेरे चित्त। काढ़ि सकै तो काढ़े मित्त॥
जितने कुल उमरावनि जानि। ते सब करत हमारी कानी।
आगे पीछे मन आपनै। वह न मोहिं तिनका करि गनै॥
हज़रत को मन मोहित भयो। याके पारे अन्तर पर्यो॥
सत्वर ताहि बुलायो राज। दक्खिन ते मेरे ही काज॥
हज़रत सों जो मिलि हैं आनि। तो तुम जानो मेरी हानि॥
बेगि जाउ तुम राजकुमार। बीचहिं वासौं कीजै रारि॥
पकरि लेहु कै डारो मारि। यह मता निहचै करौ बिचारी॥
होइ काम यह तेरे हाथ। सब साहिब तुम्हारे साथ॥

सलीम समझता था कि पिता अकबर के बाद उसने भारतवर्ष का सम्राट् बनना है। किन्तु अकबर सलीम के आचरणों से असन्तुष्ट थे। राज्य के उत्तराधिकारी सलीम के ज्येष्ठ भ्राता युवराज मुराद की मृत्यु के अनन्तर अकबर ने राज्य का सारा

भार नीतिनिपुण अमात्य अबुलफज़ल पर छोड़ रक्खा था। अबुलफज़ल अकबर और सलीम में अधिक वैमनस्य फैलाने के प्रयत्न में थे। पिता-पुत्र में वैमनस्य फैलाने से ही अबुलफज़ल का स्वार्थ सिद्ध हो सकता था।

सलीम के मानसिक दुःख की कहानी सुनकर वीरसिंह ने उसे समझाने की कोशिश की। वीरसिंह सच्चे मित्र थे। अकबर और सलीम में वैमनस्य बढ़ाने से उन्हें अवश्य ही लाभ होता तो भी उन्हें अपने स्वार्थ की अपेक्षा सलीम के स्वार्थ का विशेष ध्यान था। उन्हें पता था कि युवराज मुराद की मृत्यु के अनन्तर अकबर का झुकाव अबुलफज़ल की ओर बढ़ रहा था। किन्तु वे जानते थे कि सम्राट् अकबर अबुलफज़ल की हत्या के कारण सलीम से अधिक रुष्ट हो जायेंगे। दूसरा वे प्रभुद्वारा सेवक की हत्या को घृणित समझते थे। तीसरा वे नीतिद्वारा कार्यसिद्धि के पक्ष में थे। क्रोध के वश में आकर साहस करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिए उन्होंने सलीम को इस निश्चय से हटाने के लिये बहुत कोशिश की।

वीरसिंह :—

वह गुलाम तू साहेब ईस। तासो इतनी कीजहि रीस॥
प्रभु सेवक की भूल विचारि। प्रभुता रहै जो लेइ संभारि॥
सुनिये तुहे हजरत को चित्त। मन्त्री लोग कहत हैं मित्त॥
तो लगि सादि करै जो रोस। कहिए तो केहि दीजै दोस॥
जन की युवती कैसी रीति। सब तजि साहिब ही सों प्रीति॥
ताते वाहि न कीजै रोष। छाँड़ि रोष कीजै संतोष॥
सहसा कछु नहि कीजिये। कीजै समय विचारि।
सहसा करेते घटि पैर। अरु आवै जग गारि॥

इस पर सलीम ने वीरसिंह से कहा, मित्र बहुत सोचना व्यर्थ है। यह जीवन-मरण का प्रश्न है। सब विचार को दूर कर तुम इसी समय अबुलफज़ल की हत्या के लिये प्रस्थान करो।

सलीम :—

बरन्यो मीत मते को सारु। प्रभुजन को अब यहै विचारु॥
जौ लगि यह जीवत है सेख। तो लगि मोहि मुओ ही लेख॥
सबै विचार दूर करि चित्त। बिदा होहु तुम अब हीं मित्त॥

अब वीरसिंह ने देखा कि सलीम आग्रह से नहीं हटते और अबुलफज़ल ठीक सलीम के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था तो उन्होंने सलीम की बात को मानना ही ठीक समझा।

सलीम की उद्धतता से उद्विग्न होकर अकबर ने सलीम के विषय में सलाह करने को दक्षिण से अबुलफज़ल को बुलाया था । अबुलफज़ल मार्ग में ही था। वीरसिंह ने उचित समझा कि अबुलफज़ल को मार्ग में ही घेर लिया जाय। इसलिए पर्याप्त सेना को लेकर वीरसिंह अलाहबाद से चले । सहायता के लिये सैय्यद मुज़फरअली साथ थे।

अबुलफज़ल को जब मालूम हुआ कि सलीम के कहने पर वीरसिंह सेना को लिये उसके साथ युद्ध करने को आपहुंचा है तो उसके क्रोध की सीमा न रही। दक्षिण से चलते समय अबुलफज़ल को यदि वीरसिंह के साथ युद्ध करने की सम्भावना होती तो वह सज्जित होकर आता । तो भी अबुलफज़ल अकेला नहीं था, पराक्रमशाली पठानों की सेना उसके साथ थी । साथ ही उसे जातीयतागौरव था । किसी हिन्दु से पराजित होने की बात कभी उसे स्वप्न में भी नहीं आसकती थी। इसलिए वीरसिंह के साथ युद्ध करने का विचार कर उसने एक पठान मित्र को अपने मन की बात कही।

अबुलफज़ल :—

मैं बल लीनौं दक्खिन देस। जीत्यों मैं दक्खिनी नरेस ॥
साहि मुराद स्वर्ग जब गये। मैं भुवभार आपु सिर लये ॥
मेरो साहि भरोसो करै। भाजि जाउं मैं कैसे घरै ॥
कहु यों आलम लोग गँवाय। कहिहौं कहा साहि सों जाय ॥
देखत लियों नगारो आय । कहा बजाऊं हौं घर जाइ ॥
घर को मेरे पाइन परै। मेरे आगे हिन्दू लरै ॥

इस पर पठान मित्र ने उसे समझाया कि इस समय वीरसिंह से युद्ध करना ठीक नहीं। अकबर ने सलाह के लिये उसे (अर्थात् अबुलफज़ल को) दक्षिण से बुलाया है। युद्ध की अपेक्षा अकबर के पास जाकर सलीम के विरुद्ध अकबर को भड़काना ठीक रहेगा। वीरसिंहदेवचरित में पठान की उक्ति इस प्रकार है :—

पठान:—

सेख विचारि चित्त महँ देखु। काजु अकाजु साहि को लेखु ॥
सुनु नबाब तू जूझहि तहां । अकबर साहि विलोकै जहां ॥
प्रभुपै जाइ जमातिहि जोर । सोकसमुद्र सलेमहि बोर ॥

अबुलफज़ल भागना नहीं चाहता था। भागना कठिन भी था । चारों ओर से वीरसिंह की सेना ने उसे आघेरा था । यदि किसी तरह वह भाग भी जाता तो वह अकबर को किस तरह मुंह दिखाता । यह सोचविचार कर शरीर की अपेक्षा यश को

ही मुख्य रखते हुए अबुलफज़ल ने पठान को इस प्रकार कहा :—

अबुलफज़ल :—

तू जु कहत चलि जैये भाजि। उठे चहूँ दिसि वैरी गाजि॥
भाजे जातु मरनु जो होइ। मोको कहा कहै सब कोइ॥
जो भजिये लरिये गुन देखि। दुहू भाँति मरिबोई लेखि॥
भाजौं तो जो भाजो जाइ। क्यों करि देहै मोहि भजाइ॥
पति की बेरि पाय निहारु। सिर पर साहि मया को भारु॥
लाज रही अँग अँग लपटाइ। कहु कैसे कै भाजो जाइ॥

दोनों सेनाओं का घमसान युद्ध हुआ। शस्त्रसज्जित अबुलफज़ल आक्रमण के लिये जिधर भी दौड़ता था वीरसिंह के सैनिक उधर से भाग जाते थे। दोनों तरफ से बाणों तथा गोलियों की वर्षा होरही थी। आखिर अबुलफज़ल को एक गोली आ लगी और वह प्रहार से मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसी समय वीरसिंह साथियों के साथ घटनास्थल पर आपहुंचे। घात असाध्य था। अबुलफज़ल अर्धमूर्छित था और रुधिर से लपटा हुआ था। उसका स्वस्थ होना कठिन समझ कर वीरसिंह ने उसका सिर काट लिया।

कुछ दिन बरौं में ठहरने के बाद वीरसिंह अपने सैनिकों के साथ अलाहबाद पहुंचे। जब अबुलफज़ल का सिर सलीम के सामने रक्खा गया तो सलीम के हर्ष की सीमा न रही। सलीम ने वीरसिंह की बड़ी प्रशंसा की। वीरसिंहदेवचरित में इस प्रशंसा का निरूपण इस प्रकार किया है :—

सलीम :—

वीरसिंह की यहई ठई। हमको सकल साहिनी दई॥
वीरसिंह हमैं लीन्हे मोल। करी साहिबी निपटनिडोल॥
राख्यो आज हमारो राज। अब हम देहैं उनको राज॥

सलीम ने वीरसिंह को बुन्देलखण्ड का राजा उद्घोषित कर दिया। सलीम से सम्मान पाकर वीरसिंह बरौं को वापिस चले आये।

अकबर को जब अबुलफज़ल की मृत्यु का समाचार मिला तो उसने वीरसिंह को पकड़ने के लिये राजाराम और संग्रामसाह को भेजा। बुन्देलखण्ड में रामसाह और त्रिपुर भी इनके साथ होगये। सलीम को जब इस बात का पता चला तो उसने वीरसिंह को सन्देश भेजा कि वह अकबर की सेना से न लड़े। सन्देश मिलते ही वीरसिंह बरौं को छोड़कर दतिया चले गये। अकबर की सेना ने इनका पीछा किया,

वीरसिंह दतिया से भी भाग गये। तो भी अकबर की सेना ने इनका पीछा न छोड़ा। आखिर वीरसिंह से टक्कर होगई। कुछ समय तक दोनों सेनाओं का युद्ध होता रहा। अकबर के योद्धाओं में से खानज़मान के पुत्र जमाल की मृत्यु से अकबर की सेना में हलचल मच गई। इस हलचल में वीरसिंह अपनी सेना के साथ दतिया को लौट आये। यहां पर युवराज सलीम वीरसिंह की प्रतीक्षा कर रहे थे। वीरसिंह की सहायता के लिये युवराज सलीम के पहुंचने का समाचार जब अकबर के सेना-नायकों को मिला तो वे किंकर्तव्यताविमूढ होकर वापिस आगरा को चले आये।

यह सुनकर अकबर को बहुत दुख हुआ कि सलीम विद्रोहियों का साथ दे रहा है। सलीम को समझाने के लिये अकबर ने रामदास कच्छवाहे को भेजा। कच्छ-वाहे ने सलीम को कहा कि 'अगर तुम वीरसिंह को शरीफखान के सुपुर्द कर दो तो अकबर तुम्हें राज्य का उत्तराधिकारी बना देंगे।' सलीम ने हंसकर कहा। 'राज्य का उत्तराधिकारी बनाना ईश्वर के हाथ में है। रामदास तुम सदैव मेरे हितैषी रहे हो। वीर-सिंह के विषय में अगर ऐसी बात कोई दूसरा व्यक्ति कहता तो मैं उसे उसी समय मार देता। तुम यहां से चुपचाप चले जावो।' रामदास ने सारी कथा अकबर को जा सुनाई। इधर सलीम अलाहबाद की ओर रवाना हुए।

कुछ दिनों के बाद रामदास ने सम्राट् को समझाया कि बुन्देलखण्ड में शान्ति-स्थापन करना आवश्यक है। ओरच्छा की जागीर वीरसिंह से छीनकर यदि उसके भाई इन्द्रजित् को देदी जाय तो ठीक रहेगा। दोनों भाइयों में फूट पड़ जायेगी। अकबर ने इस विषय पर इन्द्रजित् से बातचीत की। इन्द्रजित् ने भाई की जागीर लेने से इन्कार कर दिया। इस पर अकबर इन्द्रजित् से नाराज़ होगये। तब उन्होंने इस विषय पर त्रिपुर को कहा। त्रिपुर ने अकबर की बात मान ली। वे वीरसिंह को सलीम की सहायता से वञ्चित करना चाहते थे। अकबर की सलाह से वे सलीम को अकबर के पास लाने के लिये रवाना हुए। सलीम को लाने का एक दूसरा कारण भी था। माता का देहान्त हो जाने से अकबर उदास थे।

त्रिपुर की बात सुन कर सलीम ने वीरसिंह से सलाह ली। वीरसिंह अगर स्वार्थी होते तो सलीम को सम्राट् के पास जाने से रोकते। किन्तु उन्होंने सलीम को जाने की सलाह दी। साथ में यह भी कहा कि अगर सम्राट् चाहें तो वह सलीम की खातिर आत्मसमर्पण के लिये भी तय्यार है। किन्तु सलीम पक्के मित्र थे। आत्मसमर्पण की बात पर वे वीरसिंह से नाराज़ भी हुए।

सलीम आगरा पहुंचे। इधर वीरसिंह और संग्रामसाह ओरच्छा चले आये।

सलीम के आगरा पहुंचते ही त्रिपुर ने वीरसिंह पर चढ़ाई कर दी। त्रिपुर की सहायता के लिये राजसिंह और रामसिंह कच्छवाहा साथ में थे।

दोनों सेनाओं का प्रचण्ड युद्ध हुआ। वीरसिंह के पक्ष में संग्रामसाह और राय प्रताप थे। अकबर की सेना हार गई। राजसिंह पकड़ा गया। किन्तु वीरसिंह ने उसे सम्मानपूर्वक वापस भेज दिया।

पराजय का समाचार पाकर अकबर को बड़ा खेद हुआ। कुछ समय के बाद अकबर की मृत्यु होगई। सलीम राज्य पर बैठे। राज्य पर बैठते ही पहले उन्होंने अपने हाथ से वीरसिंह को चिट्ठी लिखी। जब वीरसिंह राजसभा में आये तो उनका बड़ा आदर किया और उन्हें अमूल्य पदार्थ पारितोषिक दिये। बुन्देलखण्ड का उन्हें राजा बनाया गया। वीरसिंह के ज्येष्ठ भ्राता को —जो अकबर के समय बुन्देलखण्ड का राजा था और स्वार्थवश जिसने वीरसिंह के विरुद्ध अनेकों षड्यन्त्र रचे थे—गद्दी से उतार दिया गया। किन्तु उसे कुछ जागीर दे दी गई।

वीरसिंहदेवचरित से हमें वीरसिंह के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन्हीं वीरसिंह की सभा में मित्रमिश्र राजपण्डित थे। इन्हीं की आज्ञा से मित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय की रचना की। राजनीतिप्रकाश वीरमित्रोदय का एक भाग है।

वीरसिंह के विषय में वीरमित्रोदय से भी कुछ परिचय मिलता है। वीरमित्रोदय के राजनीतिप्रकाश में लिखा है[1] कि वीरसिंह की आज्ञा से सैंकड़ों कार्य क्षण में ही सिद्ध हो जाते थे। परिभाषाप्रकाश में वीरसिंह को बुन्देलवंशतिलक माना है। तीर्थप्रकाश में लिखा है कि राजसमूह से शुश्रूषितचरण श्रीवीरसिंहप्रभु की आज्ञा से मित्रमिश्र ने तीर्थप्रकाश की रचना की।

वीरसिंहवंश दानी था। वीरसिंह ने अनेकों तुलादान किये थे। इस बात का परिचय अनन्तशर्मा ने रसमञ्जरी की व्याख्या व्यङ्ग्यार्थकौमुदी के आरम्भ में इस प्रकार दिया है:—

अनेकसौवर्णतुलादिदात्रा बुधव्रजप्रीतिविशेषभाजा।
भास्वान् विवस्वानपि येन राज्ञा तुलां ययौ नैव तुलाशभोक्ता ॥

वीरसिंह के पुत्र चन्द्रभानु की दानप्रशंसा का निरूपण व्यङ्ग्यार्थकौमुदी के आरम्भ में इस प्रकार है :—

विद्वद्भिः समुपाश्रिता मुनिगणव्रातैः पुराणैः पुरा
शाखाभिर्निगमद्रुमस्य रचिता विख्यातरिः सादरम्।

१. द्राक्सिद्धीकृतकार्यसिद्धिशतया श्रीवीरसिंहाज्ञया। पृ० ८.

मग्नाप्यत्र दरिद्रताजलनिधौ सत्कर्णधाराधिक-
श्रीवीरोद्भवचन्द्रभानुविभुना येनाधुना तार्यते ॥

वीरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र जुझारसिंह की दानप्रशंसा के विषय में राजनीतिप्रकाश की भूमिका में मित्रमिश्र ने इस प्रकार लिखा है :—

अयं यदि महामना वितरणाय धत्ते धियं
भियं कनकभूधरोऽश्नति ह्रियं च कर्णोऽटति ॥

वीरसिंह की दानप्रशंसा राजनीतिप्रकाश की भूमिका में इस तरह है :—

जलकणिकामिव जलधिं कणमिव कनकाचलं मनुते ।
नृपसिंहवीरसिंहो वितरणरंहो यदा तनुते ॥

और—

मनो वितरणोत्सुकं वहति वीरसिंहो यदा
तदा पुनरुदारधीरयमवर्णि कर्णो जनैः ।

राजनीतिप्रकाश के निर्माता मित्रमिश्र का वंशपरिचय—

वीरमित्रोदय के समाप्तिवाक्य में मित्रमिश्र ने अपना वंशपरिचय इस प्रकार दिया है:—

श्रीवीरसिंहदेवोद्योजितश्रीहंसपण्डितात्मजश्रीपरशुराममिश्रसूनुसकलविद्यापारावार-पारीणधुरीणजगद्दारिद्र्यमहागजपारीन्द्रविद्वज्जनजीवातुश्रीमन्मित्रमिश्रकृते वीरमित्रो-दयाभिधनिबन्धे राजनीतिप्रकाशः पूर्तिमगात् ।

समाप्तिवाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मित्रमिश्र के पितामह का नाम हंसपण्डित और पिता का नाम परशुराम था। मित्रमिश्र दूरवार वंश के थे। मित्रमिश्र ने दूरवार वंश के प्रचालक का नाम नहीं दिया। राजनीतिप्रकाश के आरम्भ में मित्र-मिश्र ने पितामह हंसपण्डित से ही लेकर वंशवर्णन किया है। हंसपण्डित के विषय में मित्रमिश्र ने लिखा है कि वे विद्वान् और धनी थे। संस्कृतसाहित्य में यह बात प्रसिद्ध है कि विद्वान् लोग धनी नहीं होते। लक्ष्मी और सरस्वती का परस्पर सङ्गम विरल ही होता है। हंसपण्डित के बारे में यह बात असत्य निकली। मित्रमिश्र का कथन है[1] कि लक्ष्मी और सरस्वती ने परस्पर द्वेष छोड़ कर हंसपण्डित की चिरकाल

१. श्रीगोपाचलमौलिमण्डलमणिः श्रीदूरवारान्वये
श्रीहंसोदयहंसपण्डित इति ख्यातो द्विजाधीश्वरः ।
यं लक्ष्मीश्च सरस्वती च विगतद्वन्द्वं चिरं भेजतु-
र्भोकारं रभसात्समानमुभयोः साम्राज्यमाढ्यं गुणैः ॥

तक सेवा की। हंसपण्डित को यज्ञ करने का बड़ा शौक था[1]।

हंसपण्डित के पुत्र का नाम परशुराममिश्र था। परशुराम रणी, गुणी और धनी थे। मित्रमिश्र ने परशुराम को रणी तो कहा है किन्तु यह नहीं बताया कि परशुराम ने किस युद्ध में वीरता प्रकट की। परशुराम के गुरु का नाम चण्डीश्वर था। चण्डीश्वर को 'अग्निहोत्रतिलक' कहा है। ये काशी में रहते थे। परशुराम ने काशी में आकर इनसे विद्या पढ़ी। राजनीतिप्रकाश से स्पष्ट पता चलता है कि परशुराम कहीं बाहिर से काशी को आये थे[2], किन्तु मित्रमिश्र ने यह नहीं लिखा कि वे किस नगर वा ग्राम से काशी को आये। इसलिए परशुराम की जन्मभूमि का कुछ भी पता नहीं चलता। मित्रमिश्र परशुराम के पुत्र थे। काशी में ही रहकर इन्होंने वीरसिंह की आज्ञा से वीरमित्रोदय की रचना की। मित्रमिश्र ने काशी को ही निवासस्थान बना लिया था।

राजनीतिप्रकाश का रचनाकाल—

राजनीतिप्रकाश का रचनाकाल ग्रन्थ में नहीं दिया। पहले हम दिखा चुके हैं कि इस ग्रन्थ की रचना का कारण वीरसिंह की आज्ञा थी। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का आरम्भ वीरसिंह के राज्यकाल (१६०५-१६२७) में हुआ। राजनीतिप्रकाश की भूमिका में वीरसिंह के पुत्र जुहारसिंह को राजा कहा है। इससे प्रतीत होता है कि सम्राट् शाहजहान के समय (१६२७-१६५८) जुहारसिंह के राज्य में इस ग्रन्थ की रचना हुई।

वीरमित्रोदय का तात्पर्य—

वीरमित्रोदय में वीरशब्द से राजा वीरसिंह और मित्रशब्द से ग्रन्थकर्ता मित्रमिश्र का संकेत होता है। बुन्देलखण्ड के राजाओं को नामप्रसिद्धि से रुचि थी। बुन्देलखण्ड में वीरसिंह ने अपने नाम के तीन पदों से तीन तालाबों की स्थापना की थी। ओरच्छावाले तालाब का नाम वीरसागर था, कुन्दरवाले तालाब का नाम सिंहसागर और दीनारवाले तालाब का नाम देवसागर था। वीरसिंह को ही इस तरह नामप्रसिद्धि का शौक नहीं था। चन्देल-राजा मदनवर्मा ने भी जतारा में अपने नाम

१. पटु दिक्षु विदिक्षु कुर्वतीनां नटलीलां स्फुटकीर्तिनर्तकीनाम्
स्फुरदध्वरधूमधोरणीह च्युतवेणीति जनैरमानि यस्य ॥

२. येनागत्य पुरा पुरारिनगरे विद्याऽनवद्यार्जिता
श्रीचण्डीश्वरमग्निहोत्रतिलकं लब्ध्वा गरीयो गुरुम्।
शुद्धा सैव महोद्यमेन बहुधा भान्ती भवन्ती स्थिरा
तद्वंश्येषु कियन्न कल्पलतिकेवाद्यापि सूते फलम् ॥

से मदनसागर तालाब की स्थापना की थी ।

वीरमित्रोदय में राजनीतिप्रकाश का स्थान—

वीरमित्रोदय के बाइस प्रकाश हैं:—(१) परिभाषाप्रकाश, (२) संस्कारप्रकाश, (३) आह्निकप्रकाश, (४) पूजाप्रकाश, (५) प्रतिष्ठाप्रकाश, (६) राजधर्मप्रकाश, (७) व्यवहारप्रकाश, (८) शुद्धिप्रकाश, (९) श्राद्धप्रकाश, (१०) तीर्थप्रकाश, (११) दानप्रकाश, (१२) व्रतप्रकाश, (१३) समयप्रकाश, (१४) ज्योतिःप्रकाश, (१५) शान्तिप्रकाश, (१६) कर्मविपाकप्रकाश, (१७) चिकित्साप्रकाश, (१८) प्रायश्चित्तप्रकाश, (१९) प्रकीर्णप्रकाश, (२०) लक्षणप्रकाश, (२१) भक्तिप्रकाश, (२२) मोक्षप्रकाश । प्रकाशों का यह स्थितिक्रम परिभाषाप्रकाश के अनुसार है[1] ।

इस क्रम के अनुसार राजनीतिप्रकाश का छठा स्थान है । किन्तु यहां पर कठिन समस्या खड़ी होजाती है । प्रकाशों का रचनाक्रम परिभाषाप्रकाश में दिया है और इस रचनाक्रम में परिभाषाप्रकाश का प्रथम स्थान है । यदि इस रचनाक्रम के अनुसार परिभाषाप्रकाश मित्रमिश्र की प्रथम कृति होती तो इसकी भूमिका में अन्य प्रकाशों का जिक्र न आता । अन्यप्रकाशों के नामनिर्देश से प्रतीत होता है कि परिभाषाप्रकाश

---

१. ग्रन्थेऽस्मिन् परिभाषाप्रकाश एव प्रकाशितः पूर्वम् ।
संस्काराख्यस्तस्मादथाह्निकस्य प्रकाशस्तु ॥
पूजाप्रकाशनामा कथितस्तदनु प्रतिष्ठाख्यः ।
श्रीराजधर्मनामा ततः प्रकाशः प्रकाशितः श्रव्यः ॥
व्यवहाराख्यस्तस्मात्प्रकाश एव प्रकाशितः कृतिना ।
शुद्धिप्रकाशनामा ततः परं कीर्तितः सुधिया ॥
श्राद्धप्रकाशतीर्थप्रकाशकौ द्वौ क्रमात्कथितौ ।
दानव्रतप्रकाशौ कथितौ तस्मात्परं विदुषा ॥
समयः प्रकाशितोऽस्मात्तस्माज्ज्योतिःप्रकाशाख्यः ।
शान्तिः प्रकाशिताऽथो कर्मविपाकः प्रकाशितः परतः ॥
तदनु चिकित्सा तस्मात्प्रायश्चित्तप्रकाशाख्यः ।
नानापदार्थशाली प्रकीर्णकाख्यः प्रकाशोऽतः ॥
अथ लक्षणप्रकाशो यस्मात्सर्वस्य लक्षणज्ञानम् ।
भक्तिप्रकाशमोक्षप्रकाशकौ द्वौ ततः परं गदितौ ॥
श्रीमित्रमिश्रकृतिना समाज्ञया वीरसिंहस्य ।
द्वाविंशतिः प्रकाशाः प्रकाशिता धर्मशास्त्रेऽस्मिन् ॥

का निर्माण सब प्रकाशों के बाद हुआ है । किन्तु परिभाषाप्रकाश में लिखा है कि परिभाषाप्रकाश की रचना सब प्रकाशों से पहले हुई । परिभाषाप्रकाश के अन्तर्गत क्रमनिदर्शक पद्यों की सङ्गति तभी हो सकती है यदि ये पद्य निर्दिष्टक्रमानुसार मित्रमिश्र की अन्तिमरचना मोक्षप्रकाश की भूमिका में मिलते । वर्तमान परिस्थिति में हम यही कल्पना कर सकते हैं कि क्रमनिदर्शक पद्यों की रचना सब प्रकाशों की रचना के बाद हुई, किन्तु इन पद्यों को अन्तिमकृति मोक्षप्रकाश में रखने की अपेक्षा मित्रमिश्र ने प्रथमकृति परिभाषाप्रकाश की भूमिका में रख दिया ।

राजनीतिप्रकाश की मौलिकता—

मित्रमिश्रकृत अन्य प्रकाशों की तरह राजनीतिप्रकाश भी एक निबन्धग्रन्थ है । नीतिसम्बन्धी विषयों पर श्रुति, स्मृति, पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण दिये हैं । उद्धृत ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :—

वेद, ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, ऐतरेयारण्यक, सामविधानब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण, आथर्वणपरिशिष्ट, ऋग्विधान, काठकगृह्य, आश्वलायनगृह्य, मनुस्मृति, कामन्द-कीय, रामायण, महाभारत, अग्निपुराण, गरुडपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, कालिकापुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ब्रह्मपुराण, देवीपुराण, आदित्यपुराण, लिङ्गपुराण, भविष्योत्तरपुराण, भागवत, कोष, अनेकार्थकोष, औशनस धनुर्वेद, बृहत्पराशरसंहिता, वराहसंहिता, विष्णुस्मृति, वृत्तशत, पिण्डसिद्धि ।

कुछ उद्धरणों के साथ ग्रन्थकर्ताओं के नाम दिये हैं । वे इस प्रकार हैं:— यास्क मनु, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य, पाणिनि, मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, नारद बृहस्पति, अङ्गिरस् , कात्यायन, कश्यप, आपस्तम्ब, देवल, विश्वकर्मन् , साम-विधानब्राह्मणभाष्यकर्ता माधवाचार्य, शङ्ख, लिखित, व्यास, यम, वसिष्ठ, गौतम, हरदत्त, पुष्कर, वृद्धवसिष्ठ, बृहस्पति, प्रचेतस् , व्याघ्र, बौधायन, देवल ।

उद्धृत ग्रन्थों तथा ग्रन्थकर्ताओं के नामनिर्देश से ही अनुमान लगा सकते हैं कि राजनीतिप्रकाश एक सङ्ग्रहग्रन्थ है । निबन्धग्रन्थ होने के कारण इस में मौलिकरचना बहुत कम है । उद्धरणों के वाक्यांशों पर कहीं कहीं टीका की है ।

किन्तु नीतिशास्त्रों के मौलिक तथा औपजीवक भेद की कल्पना अनुचित है । सन्देह नहीं कि निबन्धग्रन्थों में पूर्वाचार्यों के मत पर्याप्त संख्या में उद्धृत होते हैं । निबन्धकर्ता निबन्ध की प्रतिपत्ति के लिये पूर्वाचार्यों के सङ्गत प्रकरणों को उद्धृत करते हैं तथा उन पर कहीं कहीं टीका-टिप्पणी चढ़ाते हैं । मौलिक लेखकों के ग्रन्थों में पूर्वा-चार्यों के उद्धरणों की भरमार नहीं होती । किन्तु इस मौलिकता के आधार पर ही निबन्ध-

लेखकों का मौलिक लेखकों से भेद मानना सर्वथा भूल है। मौलिक लेखक भी निबन्ध-लेखकों की तरह पूर्वाचार्यों के उपजीवी हैं[1]। भेद केवल इतना ही है कि मौलिक लेखकों ने पूर्वाचार्यों के उद्धरण नहीं दिये किन्तु पूर्वाचार्यों के प्रासंगिक विषयों का भावार्थ अपने शब्दों में दे दिया है। निबन्धकारों ने पूर्वाचार्यों के वाक्य ही उद्धृत कर दिये हैं। मित्रमिश्र तथा अन्य निबन्धकार यदि चाहते तो पूर्वाचार्यों के उद्धरण देने की अपेक्षा मौलिक लेखकों की तरह पूर्वाचार्यों के मत को अपने शब्दों में लिखते, तब उन्हें निबन्धलेखक कहने की अपेक्षा मौलिक लेखक कहा जाता, तथा कौटल्य, कामन्दक आदि प्रसिद्ध नीतिकारों में उनकी गणना होती। किन्तु निबन्धकार पूर्वाचार्यों के मत को पूर्वाचार्यों के ही शब्दों में उद्धृत करना ठीक समझते हैं[2]।

राजनीतिप्रकाश की विषयानुक्रमणिका—

राजनीतिप्रकाश के अन्तर्गत प्रकरणों की आलोचना से पहले उन प्रकरणों का संक्षिप्त प्रदर्शन आवश्यक है :—

(१) राजशब्दार्थविचार, (२) राजप्रशंसा, (३) राज्याभिषेककाल, (४) राज्याधिकारिनिर्णय, (५) राज्याभिषेकविधि, (६) विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अभिषेक-मन्त्र, (७) देवतास्तुतिफल, (८) ऐतरेयब्राह्मणोक्त अभिषेकविधि, (९) मासिक तथा सांवत्सरिक अभिषेक, (१०) राजधर्म, (११) निषिद्ध कृत्य, (१२) राजा का दिनकृत्य, (१३) राजा का वर्षकृत्य, (१४) राजसहाय—अमात्य, सेनापति, राजाध्यक्ष, रत्नपरीक्षक, प्रतीहार, दूत, रक्षिन्, ताम्बूलधारिन्, धनुर्धारिन्, सान्धिविग्रहिक, सूदाध्यक्ष, सूपकार, धर्माध्यक्ष, लेखक आदि, (१५) अनुजीविवृत्त, (१६) राजवासस्थल—दुर्गपुरनिर्माणादिप्रकार, (१७) राष्ट्र, (१८) कोष, (१९) दण्डसेना, (२०) मित्र, (२१) सप्तोपाय, (२२) मन्त्र, (२३) पौरुष, (२४) राजपुत्ररक्षा,

---

१. कौटलीय, १. १. पृ० १ :

‘पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।’

शुक्रनीति, अध्या० १. श्लो० १–३ :

प्रणम्य जगदाधारं सर्गस्थित्यन्तकारणम्। संपूज्य भार्गवः पृष्टो वन्दितः पूजितः स्तुतः॥
पूर्वदेवैर्यथान्यायं नीतिसारमुवाच तान् । शतलक्षश्लोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान्॥
स्वयम्भूर्भगवाँल्लोकहितार्थं संग्रहेण वै। तत्सारं तु वसिष्ठाद्यैरस्माभिर्वृद्धिहेतवे ॥
अल्पायुर्भूभृताद्यर्थं संक्षिप्तं तर्कविस्तृतम्।

२. Cf. B. K. Sarkar: Introduction to Hindu Positivism, P. 555-556

(२५) सन्ध्यादिचिन्ता, (२६) राजमण्डलनिर्णय, (२७) षाड्गुण्य, (२८) यात्राप्रकरण, (२६) शुभाशुभस्वप्न, स्वप्नविपाककाल, (३०) छत्र, अश्व, ध्वज आदि राजचिन्हों के अभिमन्त्रणमन्त्र, (३१) इष्टानिष्टशकुनविचार, (३२) जयाभिषेकविधि, (३३) सैन्यसन्नाह, (३४) युद्धधर्म, (३५) यात्रा में राजा का चातुर्मास्ययापन, (३६) देवयात्रा, (३७) कौमुदीमहोत्सव, (३८) इन्द्रध्वजोच्छ्राय, (३९) नीराजनशान्ति, (४०) देवीपूजा, (४१) लोहाभिसारिक, (४२) गवोत्सर्ग, (४३) वसुधारा, (४४) शत्रुनाशन (४५) घृतकम्बलशान्ति, (४६) प्रकीर्णक।

विषयानुक्रमणिका से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मित्रमिश्र ने प्रायः राजनीति के सभी अङ्गों की आलोचना की है। वस्तुतः सम्पूर्ण राजनीतिप्रकाश के अध्ययन से ही मित्रमिश्र की विद्वत्ता का यथार्थ परिचय होसकता है। यहां पर केवल नीतिविषयक कुछ विशेषताओं का निरूपण करते हैं।

राजशब्दार्थविचार—

राजशब्द के अर्थविचार पर मित्रमिश्र का मत माधव और नीलकण्ठ से सर्वथा भिन्न है। माधव और नीलकण्ठ के अनुसार राजत्व केवल क्षत्त्रियवर्ण के लिये है, अर्थात् क्षत्त्रिय ही राज्य का अधिकारी है, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्ण के लोग राज्य के अधिकारी नहीं बन सकते। किन्तु मित्रमिश्र इस सिद्धान्त से सहमत नहीं।

इस सम्बन्ध में मित्रमिश्र ने तीन पक्षों का निरूपण किया है[1]:—(१) राजशब्द से प्रजापालक शासक का तात्पर्य है, (२) क्षत्त्रियवर्ण के शासक का, (३) अभिषिक्त क्षत्त्रियवर्ण के शासक का। पहले पक्ष के समर्थन में मित्रमिश्र ने वेद, निरुक्त और कोष के प्रमाण दिये हैं। इस पक्ष के अनुसार राजशब्द को यौगिक माना गया है[2]। प्रजापालन से राजा का उत्कर्ष बढ़ता है, इसलिए प्रजापालक को, चाहे वह किसी वर्ण का भी हो, राजशब्द से पुकारा गया है। राजत्व के लिये किसी विशेष वर्ण की अपेक्षा अभीष्ट नहीं। दूसरे पक्ष के अनुसार राजशब्द क्षत्त्रियजातिवाची है। इसके समर्थन में मित्रमिश्र ने मनु, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य, पाणिनि, अनेकार्थकोष के उद्धरण दिये हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि राजशब्द से क्षत्त्रिय राजा का ग्रहण है। तीसरे पक्ष के अनुसार राजशब्द का प्रयोग अभिषिक्त क्षत्त्रिय

---

१. राजनीतिप्रकाश पृ० १० :—किमयं राजशब्दो यस्मिन् कस्मिंश्चित्प्रजापालके वर्तते, उत क्षत्त्रियजातौ, किं वाऽभिषिक्तक्षत्त्रियजातौ।

२. राजा राजते:।

के लिये किया गया है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दूसरे और तीसरे पक्ष में क्षत्रियेतर वर्णों का राज्यकर्तृत्व निषेध है। क्योंकि मनुस्मृति[1] आदि ग्रन्थों में क्षत्रियेतर वर्णों का भी राज्यकर्तृत्व माना है इसलिए क्षत्रियेतर वर्ण के लोग भी राजा बन सकते हैं। क्षत्रियधर्म के ग्रहण करने से वे क्षत्रिय राजा की तरह अपने लिये राजशब्द का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी दशा में राजशब्द लाक्षणिक है।

मित्रमिश्र क्षत्रियजाति के तथा अभिषिक्त क्षत्रियजाति के ही राज्यकर्तृत्व को नहीं मानते। इनके मत में राजशब्द का प्रयोग अभिषिक्त वा अनभिषिक्त क्षत्रियमात्र के लिये ही नहीं। अन्तिम दो पक्षों के न मानने से सम्भावना हो सकती है कि वे कदाचित् पहले पक्ष को मानते हों। सन्देह नहीं कि वे प्रजापालक को राजा मानते हैं, चाहे वह प्रजापालक किसी भी वर्ण का हो, किन्तु साथ ही वे अभिषेक को भी अनिवार्य समझते हैं[2]। अभिषेक से उनका वैदिक वा पौराणिक अभिषेक का ही तात्पर्य नहीं। अमन्त्रक अभिषेक का भी इन्होंने ज़िक्र किया है[3]। सम्भव है कि राजा वीरसिंह के परम मित्र जहांगीर बादशाह का अमन्त्रक अभिषेक इन्होंने देखा हो।

मुसलिमकालीन आर्यनीतिकारों ने वैदिक तथा पौराणिक अभिषेक की अनिवार्यता पर ज़ोर नहीं दिया। वे जानते थे कि मुसलमान बादशाहों की अभिषेकरीति वैदिक तथा पौराणिक रीति से सर्वथा ही भिन्न थी। राजनीतिप्रकाश में वैदिक तथा पौराणिक अभिषेकविधान आर्यराजा के लिये ही अनिवार्य है।

राजप्रशंसा :—

राजप्रशंसाप्रकरण में मित्रमिश्र ने राजा को देवता माना है, और प्रमाण में मनु, बृहत्पराशर, नारद और मार्कण्डेयपुराण के उद्धरण दिये हैं। उद्धृत पद्यों से राजा का देवत्व सिद्ध होता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आर्यराजनीति में वस्तुतः ही राजा को देवता माना गया है। उद्धृत राजदेवताप्रतिपादक पद्य केवल अर्थवादरूप हैं। देवता मानने से राजा का प्रजा के प्रति उत्तरदायित्व नहीं रहता।

---

१. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥ मनु० अध्या० १०, श्लो० ८१.

२. वस्तुतस्त्वभिषेकादिगुणयुक्तस्य वक्ष्यमाणधर्माः। राजनीतिप्रका० पृ० १३.
नृप इति न क्षत्रियमात्रस्यायं धर्मः। किन्तु प्रजापालनेऽधिकृतस्यान्यस्यापि।
राजनीतिप्रका० पृ० १५.

३. तदेवमुक्तदिशा वक्ष्यमाणवैदिकाभिषेकानधिकृतस्य पौराणोऽमन्त्रको वाऽभिषेको विधेयः। राजनीति० पृ० १५.

राजा के सदोष कृत्यों को भी निर्दोष कृत्य मानना पड़ता है। किन्तु मित्रमिश्र तथा अन्य नीतिकार सदोष राजा को निर्दोष नहीं मानते। राजनीतिप्रकाश में ही मित्रमिश्र ने प्रतिषिद्ध राजधर्मों का निरूपण किया है। प्रतिषिद्ध राजधर्मों के आचरण से राजा नरक को जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में स्पष्ट लिखा है कि अविहिताचरण से राजा पदपतित होजाता है; वेन राजा की हत्या का उदाहरण दिया है। मनुस्मृति[1] में राजा को इन्द्र आदि आठ लोकपालों की मात्राओं से बना हुआ तो माना है किन्तु साथ में ही लिखा है[2] कि दण्ड ब्रह्मा का पुत्र है और इसकी उत्पत्ति राजा और प्रजा इन दोनों पर शासन करने के लिये हुई है। इससे स्पष्ट है कि आर्यराजनीति के अनुसार राजा और प्रजा दोनों ही दोषानुकूल दण्ड के भागी होते हैं।

यदि राजा की दैवी शक्ति का स्वीकार आर्यनीतिकारों को अभीष्ट होता तो वे असहाय राजा की असमर्थता पर ध्यान न देते। मनु आदि धर्मशास्त्रों में असहाय राजा को अशक्त माना गया है[3], जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में राज-

---

१. सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ मनु० अध्या० ७, श्लो० ७.

२. तदर्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ मनु० अध्या० ७, श्लो० १४.
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ मनु० अध्या० ७, श्लो० १७.
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ मनु० अध्या० ७, श्लो० २७-२८.
अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ।
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः
महा० अनुशा० अध्या० ६१, श्लो० ३२-३३.

३. सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
दण्डः प्रणयितुं शक्यः सुसहायेन धीमता ॥
मनु० अध्या० ७, श्लो० ३०-३१.

देवत्वप्रतिपादक पद्य अर्थवादमात्र हैं।

मित्रमिश्र राजवाद के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि मात्स्यन्याय (अर्थात् बली से दुर्बल के नाश) को रोकने और प्रजापालन के लिये राजा का होना आवश्यक है। कालिकापुराण का उद्धरण देकर मित्रमिश्र ने सिद्ध किया है कि राजा अपुत्र का पुत्र है, निर्धन का धन है, मातृहीन की माता है, पितृहीन का पिता है अनाथ का नाथ है, पतिहीन का पति है, अभृत्य का भृत्य है, मनुष्यों का मित्र है।

राज्याधिकारिनिर्णय—

आर्यराजनीति के अनुसार राज्य पर ज्येष्ठ पुत्र का ही अधिकार है अन्य पुत्रों का नहीं। मित्रमिश्र भी क्रमागतपरिपाटी के पक्षपाती हैं। ज्येष्ठपुत्र के राज्याधिकार-समर्थन में मित्रमिश्र ने कालिकापुराणे, मनुस्मृति[1], रामायण[2], स्मृत्यर्थतत्त्व, भागवत और महाभारत के प्रमाण उद्धृत किये हैं। ज्येष्ठत्व से जन्मज्येष्ठत्व का तात्पर्य है न कि मातृज्येष्ठत्व का; अर्थात् राजमहिषी का पुत्र यदि सपत्नी के पुत्र से आयु में कनिष्ठ हो तो राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। यमपुत्रों में से जिस पुत्र का जन्म

१. जन्मज्यैष्ठ्येन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मना ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ मनु० अध्या० ६, श्लो० १२६.
सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥

मनु० अध्या० ६, श्लो० १२५.

न क्षेत्रजादींस्तनयान् राजा राज्येऽभिषेचयेत्।
पितॄणां शोधयन्नित्यमौरसे तनये सति ॥

KālikāPurāṇa as quoted by Mitramis'ra, Rājanīti pr.P. 39

२. नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि !
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु महानविनयो भवेत् ॥
तस्माज्ज्येष्ठेषु पुत्रेषु राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः।
आसज्जन्त्यनवद्याङ्गि ! गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥

रामा० अयोध्याका० सर्ग ८, श्लो० २३-२४.

तेषु ज्येष्ठेषु पुत्रेषु ज्येष्ठेष्वेव न संशयः।
आसज्जन्त्यखिलं राज्यं न भ्रातृषु कथञ्चन ॥

Rāmāyaṇa as quoted by Mitramis'ra in RājanītiPrakās'a P. 39

प्रथम हुआ हो वही ज्येष्ठ है। ज्येष्ठ क्षेत्रज पुत्र की अपेक्षा कनिष्ठ औरस पुत्र का राज्य पर प्रथम अधिकार है।

महाभारत[1] में लिखा है कि सदोष ज्येष्ठ पुत्र की अपेक्षा निर्दोष कनिष्ठ पुत्र को राज्य पर बैठाना चाहिये। मनुस्मृति में सदोष राजपुत्रों का राजकोष से पालनपोषण करने का विधान है।

यदि ज्येष्ठ राजपुत्र दोषवश वा किसी अन्य कारणवश राज्य पर न बैठ सके तो कनिष्ठ राजपुत्र का राज्य पर अधिकार होता है। किन्तु कनिष्ठ राजपुत्र के बाद राज्याधिकार ज्येष्ठ राजपुत्र के पुत्र का ही होगा। यदि चचा के बाद ज्येष्ठ राजपुत्र के पुत्र का राज्याधिकार न होता तो भीष्म को ब्रह्मचर्यव्रतपालन की जरूरत न होती।

राजाभिषेकनिरूपण—

राजनीतिप्रकाश में राजाभिषेक का निरूपण पृष्ठ ४२ से ११६ तक है। राजाभिषेक के अनेकों प्रकार हैं। मित्रमिश्र ने यथासम्भव सभी प्रकारों को उद्धृत करने का यत्न किया है। ऐतरेयब्राह्मण, गोपथब्राह्मण, रामायण, ब्रह्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण, और वृद्धवसिष्ठप्रतिपादित राजाभिषेकविधि का विस्तृत वर्णन किया है।

राज्याभिषेक के भिन्न भिन्न प्रकारों का भी एक कारण है। नीतिशास्त्रों में

---

१. नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन !
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥

Cf. महा० आदिपर्व, अध्या० १०६, श्लो० ११.

इत्युक्तः पुनरेवाथ स दाशः प्रत्यभाषत ।
यत्त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण !
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तथैव तत् ॥
नान्यथा तन्महाबाहो ! संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद्यस्तु तत्र नः संशयो महान् ॥

आदिपर्व, अध्या० १००, श्लो० ६१-६२.

भीष्म उवाच—

राज्यं तावत्पूर्वमेव यथा त्यक्तं नराधिपाः !
अपत्यहेतोरपि च करिष्ये सुविनिश्चयम् ।
अद्यप्रभृति मे दाश ! ब्रह्मचर्यं भविष्यति ॥

आदिपर्व, अध्या० १००, श्लो० ६५-६६.

साम्राज्य, भौज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य आदि कई प्रकारों के राज्यों का ज़िक्र है। प्रत्येक राज्य के अभिषेकप्रकार भी अवश्य ही भिन्न होने चाहियें।

प्रकारभेद होने पर भी अभिषेकशपथ एक ही है। आर्यराजनीति के अनुसार अभिषेक के समय राजा को सौगन्ध उठानी पड़ती है कि मैं मन, कर्म और वाणी से ब्रह्मरूपी प्रजा का पालन करूंगा[1]। अभिषेकशपथ से स्पष्ट है कि राजा का राज्य पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता। राजत्व केवल विष्णुस्वरूप प्रजा की पालना के लिये है। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्पष्टरूप से लिखा है[2] कि मात्स्यन्याय को रोकने के लिये प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया; रक्षा के निमित्त धान्य का छठा और विक्रेय पदार्थों का दसवां अंश तथा सुवर्ण उसका भाग नियत किया। इस भाग के कारण राजा प्रजा की रक्षा करता है।

मित्रमिश्र ने प्रजागत राज्याधिकार के विषय में विशेष आलोचना नहीं की, किन्तु अभिषेकप्रकरण में ऐतरेयब्राह्मण के अभिषेकशपथ को उद्धृत किया है जिससे प्रकट होता है कि मित्रमिश्र राजा-प्रजा का अन्योन्य व्यावहारिक सम्बन्ध मानते हैं। ऐतरेयब्राह्मण का अभिषेकशपथप्रकरण इस प्रकार है :—

'स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियम्—अयं सर्वा जितीर्जयेत्, अयं सर्वाँल्लोकान्विन्देत, अयं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत् साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यम्, अयं समन्तपर्यायी स्यात्, सार्वभौमः, सार्वायुष आन्तादापरार्द्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति,—तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चेत्, 'यां च रात्रिमजायेथाः, यां च प्रेतासि

---

१. प्रतिज्ञाश्चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥
महा० शान्ति० अध्या० ५६, श्लो० १०६-१०७.

और राजनीतिरत्नाकर—

अद्यारभ्य न मे राज्यं राजाऽयं रक्षतु प्रजाः।
इति सर्वं प्रजाविष्णुं साक्षिणं श्रावयेन्मुहुः॥ पृ० ८३, पं० १८-१९.

२. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं हिरण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। कौटलीय अर्थशास्त्र १. ४.

तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं ते लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीयां यदि मे द्रुह्येः' इति'।

"स य एवंवित् क्षत्रियः—अहं सर्वा क्षितीर्जयेयम्, अहं सर्वाँल्लोकान्विन्देयम्, अहं सर्वेषां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेयं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यम्, अहं समन्तपर्यायी स्याम्, सार्वभौमः, सार्वायुष आन्तादापरार्द्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति—स न विचिकित्सेत्, स ब्रूयात्सह श्रद्धया, 'यां च रात्रीमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि, तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयम्' इति"। (पं० ८, अ० ४, खं० १५).

राज्याभिषेक के समय राजपुरोहित, पौर और जानपदों की ओर से, राजा को कहता है कि जन्म से मरण तक किये हुए तुम्हारे कर्म का तथा तुम्हारे पुण्य, पुण्यलोक, आयु और सन्तान का विध्वंस कर दूंगा, यदि तुमने मेरे (अर्थात् प्रजा के) साथ द्रोह किया। राजपुरोहित के इन्हीं वाक्यों को श्रद्धापूर्वक राजा प्रथमपुरुष में बोलता है—'जन्म से मरण तक किये हुए कर्म को, तथा मेरे पुण्य, पुण्यलोक, आयु और सन्तान को तुमने विध्वंस कर देना यदि मैंने तुम्हारे (अर्थात् प्रजा के) साथ कभी द्रोह किया।'

ऐतरेयब्राह्मण की अभिषेकशपथ को उद्धृत करने से सिद्ध हो जाता है कि मित्रमिश्र राजा-प्रजा का परस्पर व्यावहारिक सम्बन्ध मानते हैं। इससे राजदेवत्वप्रतिपादक सिद्धान्त भी खण्डित होजाता है। वास्तव में राजा का मान बढ़ाने के लिये ही उसे देवता कहा है।

अभिषेकशपथ की प्रथा राजा वेन के पुत्र पृथुराजा से चली है। जब राजा वेन को दुराचरणों के कारण मार दिया गया तब ऋषियों ने सिंहासन पर बैठाने से प्रथम पृथु से प्रतिज्ञा करवाली कि वह राजनियमों के अनुसार प्रजा का पालन करेगा[1]। पृथु अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर रहे। पृथु के आचरणों से लोग सन्तुष्ट थे।

मित्रमिश्र का कथन है कि आर्यराजा की शासनभूमि सीमित नहीं होती। अभिषेकमन्त्रों में राजा को सार्वभौम, चातुरन्त, चक्रवर्ती बनने की उत्तेजना दी जाती है। राजनीतिप्रकाश में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अभिषेकमन्त्रों में राजा को आशीर्वाद दी जाती है कि वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथिवी का शासन करे[2]। ऐतरेयब्राह्मण

---

१. यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा॥ महा० शान्ति० ४६, १०२.

२. एतैर्यथोक्तैर्नृपराज! राज्ये दत्ताभिषेकः पृथिवीं समग्राम्।
ससागरां भुङ्क्ष्व चिरं च जीव धर्मे च ते बुद्धिरतीव चास्तु॥ वीरमित्रो० पृ० ८१.

के अभिषेकप्रकरण में समुद्रपर्यन्त पृथिवी के साम्राज्य का आदर्श प्रस्तुत किया है।

द्वादशराजमण्डल—

विजिगीषु को चाहिये कि वह दिग्विजययात्रा से पहले राजमण्डल की यथार्थ परिस्थिति का समीक्षण करे। भिन्न भिन्न राजाओं की भिन्न भिन्न प्रकृति का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। आर्यराजनीति के अनुसार मैत्री, शत्रुता और उदासीनता के उत्पत्तिकारण प्रायः भौगोलिक हैं। इस सिद्धान्त की परिपुष्टि में मित्रमिश्र ने मनुस्मृति और महाभारत को उद्धृत किया है।

नीतिशास्त्रों के अनुसार विजिगीषु के सम्मुख पांच राजमण्डलों की प्रकृति इस प्रकार है :—

विजिगीषु
\
१. अरि
\
२. मित्र
\
३. अरिमित्र
\
४. मित्रमित्र
\
५. अरिमित्रमित्र
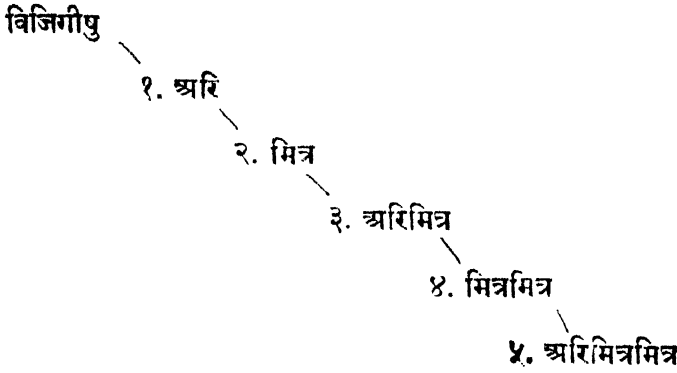
'सम्मुख' से उस दिशा का तात्पर्य है जिस ओर विजिगीषु ने जययात्रा के लिये प्रस्थान करना हो। पहला, तीसरा और पांचवां विजिगीषु के शत्रु हैं; दूसरा, चौथा विजिगीषु के मित्र हैं। अरि नं० १ पर आक्रमण करने में विजिगीषु को मित्र नं० २ से सहायता मिल सकती है; किन्तु जिस तरह विजिगीषु को मित्र नं० २ से सहायता मिल सकती है वैसे ही अरि नं० १ को भी मित्र नं० ३ से सहायता पहुंच सकती है।

विजिगीषु के पृष्ठ में चार राजमण्डलों की प्रकृति इस प्रकार है :—

४. आक्रन्दासार
\
३. पार्ष्णिग्राहासार
\
२. आक्रन्द
\
१. पार्ष्णिग्राह
\
विजिगीषु
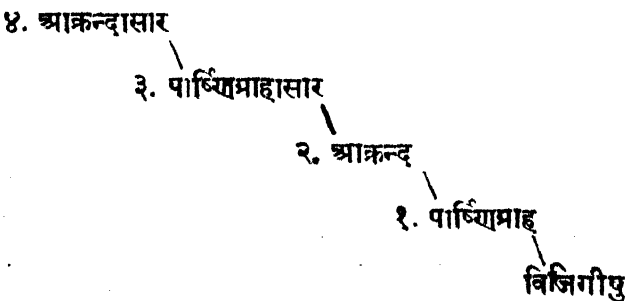
पार्ष्णिग्राह और पार्ष्णिग्राहासार—ये दोनों विजिगीषु के शत्रु हैं।

आक्रन्द और आक्रन्दासार—ये दोनों विजिगीषु के मित्र हैं।

तात्पर्य यह है कि विजिगीषु को अरि नं० १ सम्मुख और अरि नं० १ पृष्ठ से सर्वदा ही सावधान रहना चाहिये। छः गुण, सात उपाय द्वारा सप्ताङ्ग राज्य की समृद्धि के लिये विजिगीषु का कर्तव्य है कि वह अरि नं० १ पृष्ठ और अरि नं० १ सम्मुख को वश में करे। विशेष भय इन दोनों से ही होता है। इन दोनों के अनुनीत हो जाने पर अन्य शत्रु राजाओं का जीतना सहज हो जाता है।

अरिमित्रमण्डल के अतिरिक्त दो मण्डल और हैं—मध्यम और उदासीन। मध्यम का लक्षण मित्रमिश्र ने इस प्रकार किया है—"मध्यमः, अरिविजिगीष्वोरसंहतयोर्निग्रहे समर्थः। तदुक्तम्-'अखिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिन् ज्ञेयः स मध्यमः।' इति। अखिलः, अर्थाद्विजिगीषुयातव्ययोः, मण्डलार्थो मण्डलप्रयोजनं यस्मिन् स मध्यमो ज्ञेयः।" स्पष्ट है कि विजिगीषु और नं० १ अरि के युद्ध में मध्यम की शक्ति अधिक होती है। विजिगीषु और अरि—दोनों ही मध्यम की सहायता चाहते हैं, किन्तु प्रायः मध्यम विजिगीषु के ही पक्ष में रहता है। अरि, विजिगीषु और मध्यम—इन तीनों से उदासीन की शक्ति अधिक होती है। वह इन तीनों असंगठित शक्तियों को वश में कर सकता है। अरि-मित्र की अपेक्षा उदासीन की राज्यस्थिति दूर होती है। मध्यम और उदासीन की भौगोलिक राज्यस्थिति इस प्रकार हो सकती है :—

(मध्यम)
(विजिगीषु) (अरि)
(उदासीन)

इससे सिद्ध होता है कि विजिगीषु को चाहिये कि वह दिग्विजयप्रस्थान से पहले अरि नं० १ पृष्ठ और सम्मुख को सामादि उपायों के द्वारा वश में करे। इन दोनों के वशी हो जाने पर मध्यम स्वयं ही साथ मिल जाता है। उदासीन को उत्साह नहीं होता कि वह विजिगीषु, अरि नं० १ पृष्ठ, अरि नं० १ सम्मुख, तथा मध्यम—इन संगठित शक्तियों का सामना कर सके। यदि अरि नं० १ पृष्ठ और सम्मुख वश में न आ सकें तो विजिगीषु को कदापि दिग्विजययात्रा के लिये प्रस्थान नहीं करना चाहिये।

अनन्तदेवकृत राजधर्मकौस्तुभ

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, लाहौर ।]

अनन्तदेव के आश्रयदाता राजा बाजबहादुरचन्द्र का परिचय—

राजधर्मकौस्तुभ के आरम्भ में अनन्तदेव ने लिखा है कि राजा बाजबहादुरचन्द्र की कीर्ति के लिये उन्होंने राजधर्मकौस्तुभ की रचना की।[1] स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि राजा बाजबहादुरचन्द्र कौन थे। राजधर्मकौस्तुभ में राजा बाजबहादुरचन्द्र-सम्बन्धी कुछ पद्य मिलते हैं।[2] इन पद्यों में अनन्तदेव ने राजा बाजबहादुरचन्द्र की प्रशंसा की है। इन पद्यों से प्रतीत होता है कि राजा बाजबहादुरचन्द्र शूरवीर और विद्वान् थे, किन्तु यह नहीं मालूम होता कि बाजबहादुर ने किन युद्धों में भाग लिया, वा किन ग्रन्थों की रचना की। आर्यराजनीतिकार विशेषतः आर्यराजनीतिसिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करते हैं; इन सिद्धान्तों की प्रयोगात्मक तात्कालिक परिपाटी का निर्देश नहीं करते। ऐतिहासिक सामग्री के लिये नीतिशास्त्र से अतिरिक्त ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है। राजधर्मकौस्तुभ में न तो बाजबहादुरचन्द्र के वंश का न ही बाजबहादुरचन्द्र के जीवन का वर्णन आता है।

सन्देह नहीं कि अनन्तदेव मित्रमिश्र के राजनीतिप्रकाश से परिचित होंगे। मित्रमिश्र ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में हुए हैं और अनन्तदेव इसी शताब्दी के अन्तिम भाग में। राजधर्मकौस्तुभ के अनुसन्धान से पता चलता है कि

---

१. राजधर्मकौस्तुभ, बड़ौदा संस्करण,

बाजबाहदुरचन्द्रभूपतेस्तस्य भूरियशसे प्रतन्यते।
राजधर्मविषयोऽत्र कौस्तुभोऽनेकदीधितियुतः सुधीसुखः॥

पृ० ३, श्लो० १०.

'इति श्रीमत्सकलभूमण्डलमण्डनायमानबाजबाहदुरचन्द्रदेवाज्ञाप्रवृत्तेन विद्वन्मुकुटशिरोमणिश्रीमदापदेवसुतेनानन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे प्रथमदीधितिः समाप्तिमगात्, पृ० १२८.

बाजबाहनृपतेरनुज्ञया तस्य कौस्तुभनिबन्धगामिनी।
दीधितिः सदभिषेकगोचराऽनन्तदेवविदुषा प्रतन्यते॥ पृ० २३३.

२. देखिये राजधर्म० पृ० १-३; १२७-१२८; १२९-१३०; १७०; १८३; २३२; २३३; ३८०; ४६६.

अनन्तदेव ने पर्याप्त अंशों में मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश का अनुसरण किया है। अनन्तदेव को ज्ञात होगा कि मित्रमिश्र ने राजनीतिप्रकाश तथा अन्य प्रकाशों में अपने आश्रयदाता राजा वीरसिंहदेव के वंश का वर्णन किया है। इस बात का ज्ञान होने पर भी अनन्तदेव ने राजधर्मकौस्तुभ में राजा बाजबहादुरचन्द्र के वंश का निरूपण नहीं किया। स्मृतिकौस्तुभ में राजा बाजबहादुरचन्द्र की वंशावली दी है। राजधर्मकौस्तुभ में भी बाजबहादुरचन्द्र के प्रतापनिर्देश से पूर्व उनके वंश का प्रतापनिर्देश सर्वथा आकांक्षित था।

राजधर्मकौस्तुभ की दूसरी दीधिति के आरम्भ में लिखा है कि बाजबहादुरचन्द्र अपनी वंशवृद्धि के लिये श्रीनगर से पर्याप्त धन हर लाये[1]। इस कथन से बाजबहादुर-चन्द्र का श्रीनगर पर आक्रमण अनुमित होता है। काश्मीर, गढ़वाल आदि प्रान्तों में अनेक श्रीनगर मिलते हैं। यहां पर कौनसा श्रीनगर अभिप्रेत है इस बात का परिचय नहीं मिलता। इसलिए राजधर्मकौस्तुभ के बाजबहादुरसम्बन्धी प्रकरण से बाजबहादुर के वंश तथा जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

बाजबहादुरचन्द्र के सम्बन्ध में हमें अलमोड़ा तथा नैनीताल गज़टीयर से कुछ सामग्री मिलती है। आर्यराजवंशावली में राजा बाजबहादुरचन्द्र एक ही हुए हैं, इसलिए इनके निर्धारण में विशेष कठिनता नहीं होती। बाजबहादुरशब्द के साथ चन्द्रशब्द के योग से स्पष्ट है कि ये चन्द्रवंश के थे। इस चन्द्रवंश का परिचय अलमोड़ा गज़टीयर में इस प्रकार है :—

चन्द्रवंश के आदिपुरुष सोमचन्द्र हुए हैं। इस वंश की राजधानी कुमाओं थी। कुमाओं नगर संयुक्त प्रान्त में काली नदी के वामतट पर विराजमान था। इसलिए कुमाओं राज्य को काली कुमाओं राज्य से पुकारा जाता था, किन्तु ई० स० १५६३ में चन्द्रवंश के राजाओं ने संयुक्त प्रान्त के अलमोड़ा और नैनीताल के ज़िलों को कुमाओं राज्य में मिला लिया था।

चन्द्रवंश के आदिपुरुष सोमचन्द्र के विषय में कहा जाता है कि वे कुमाओं के रहने वाले नहीं थे। कुमाओं राज्य से इनका सम्बन्ध इतना ही था कि कुमाओं के राजा की कन्या इनकी स्त्री थी। विवाहसम्बन्ध की ओर ध्यान न देकर सोमचन्द्र अपने श्वशुर को राज्य से हटाकर स्वयं राजा बन बैठे।

सोमचन्द्र का राज्यकाल ई० स० ६५३ से ई० स० ६७५ माना गया है। सोमचन्द्र की वंशावली इस प्रकार है :—

---

१. येन श्रीनगरादहारि च परा श्रीर्वंशवृद्धिप्रदा। पृ० १३०, श्लो० ६.
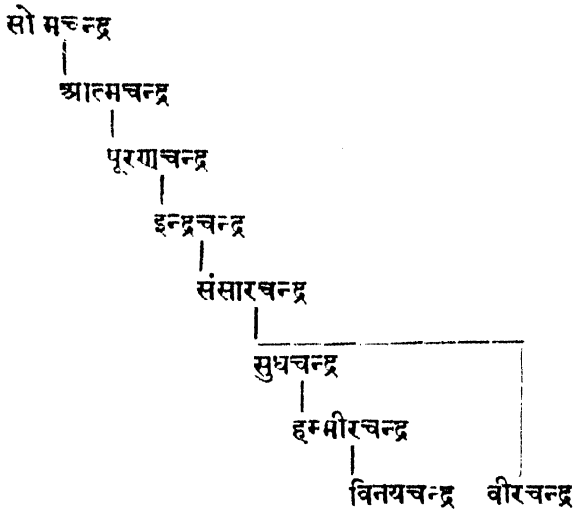
विनयचन्द्र की सन्तति नहीं थी। विनयचन्द्र की मृत्यु के अनन्तर खसियाजाति ने राजविद्रोह किया, विद्रोह के नेता सोनपाल खसिया थे। क्रान्ति को दबाने के लिये चन्द्रवंश में से संसारचन्द्र के सम्बन्धी वीरचन्द्र ने सोनपाल से युद्ध किया। खसिया हार गये, सोनपाल मारा गया। वीरचन्द्र ने चम्पावत को राजधानी बनाया और जोशियों को प्रधान स्थानों पर नियुक्त किया, क्योंकि इन्होंने खसिया जाति के विद्रोहियों के विरुद्ध वीरचन्द्र की सहायता की थी।

वीरचन्द्र से गरुड़ ज्ञानचन्द्र तक कोई विशेष ऐतिहासिक घटना नहीं मिलती। ज्ञानचन्द्र को गरुड़ इसलिए कहा जाता था कि इन्होंने एक बड़े सांप को लिये उड़ती हुई चील को मारा था। गरुड़ ज्ञानचन्द्र से भारतीचन्द्र तक वंशावली इस प्रकार है :—
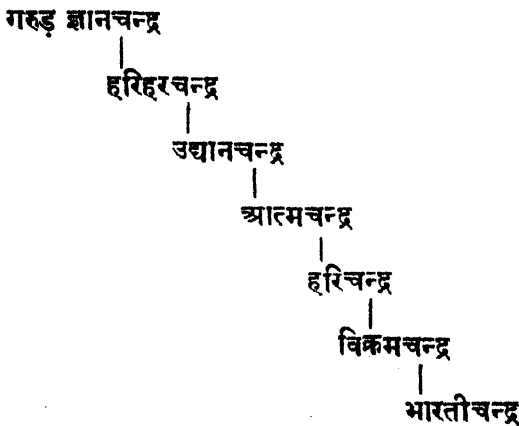
उद्यानचन्द्र ई० स० १४२० में सिंहासन पर बैठे। इन्होंने केवल एक वर्ष राज्य

किया। इनके पुत्र आत्मचन्द्र और पौत्र हरिचन्द्र भी एक-एक वर्ष तक ही सिंहासन पर बैठे। हरिचन्द्र के पुत्र विक्रमचन्द्र का शासनकाल ई० स० १४२३ से ई० स० १४३७ तक है।

ई० स० १४३७ में भारतीचन्द्र सिंहासन पर बैठे। चन्द्रवंश के आदिपुरुष सोमचन्द्र से लेकर भारतीचन्द्र तक कुमाऊँ राज्य स्वतन्त्र राज्य नहीं था। वंश-परम्परा से दोति के राजाओं का काली कुमाऊँ के शासकों पर प्रभुत्व चला आता था। किन्तु भारतीचन्द्र के पुत्र रत्नचन्द्र को यह बात अच्छी न लगी। रत्नचन्द्र ने दोति पर चढ़ाई की। दोति राजा शूरवीर था। रत्नचन्द्र साहसी शूरवीर और साथ ही हठी भी थे। युद्ध बारह वर्ष तक चलता रहा। अन्त में दोति राजा की हार हुई और उसे काली कुमाऊँ पर प्रभुत्व छोड़ना पड़ा। भारतीचन्द्र अपने पुत्र रत्नचन्द्र की वीरता से अतीव प्रसन्न हुए और इस प्रसन्नता से उन्होंने ई० स० १४५० में रत्नचन्द्र को राज्य पर बैठा दिया। भारतीचन्द्र का मृत्युवर्ष ई० स० १४६१ और रत्नचन्द्र का मृत्युवर्ष ई० स० १४८८ है।

ई० स० १४८८ में रत्नचन्द्र के पुत्र कीर्तिचन्द्र सिंहासन पर बैठे। पिता की तरह वे उत्साहशाली शूरवीर थे। अलमोड़ा और नैनीताल के जिले इन्होंने ही कुमाऊँ शासन के अन्तर्गत किये थे।

कीर्तिचन्द्र की मृत्यु ई० स० १५०३ में हुई। कीर्तिचन्द्र से लेकर भीष्मचन्द्र की वंशावली इस प्रकार है:—

कीर्तिचन्द्र ई० स० १४८८–१५०३.
|
प्रतापचन्द्र ई० स० १५०३–१५१७.
|
ताराचन्द्र ई० स० १५१७–१५३३.
|
मानिकचन्द्र ई० स० १५३३–१५४२.
|
कल्याणचन्द्र ई० स० १५४२–१५५१.
|
पूरणचन्द्र ई० स० १५५१–१५५५.
|
भीष्मचन्द्र ई० स० १५५५–१५६०.

भीष्मचन्द्र के सन्तति नहीं थी, इसलिए इन्होंने ताराचन्द्र के पुत्र कल्याणचन्द्र को गोद में लिया। कल्याणचन्द्र ई० स० १५६० में सिंहासन पर बैठे। इन्होंने खग-मार पर्वत को राजधानी बनाया और इसका नाम अलमोड़ा रक्खा।

ई० स० १५६५ में कल्याणचन्द्र की मृत्यु के अनन्तर इनके पुत्र रुद्रचन्द्र गद्दी पर बैठे। रुद्रचन्द्र का शासनकाल ई० स० १५६५-१५६७ तक है। इस समय अकबर दिल्ली में शासन करते थे।

ई० स० १५६७ में रुद्रचन्द्र के पुत्र लक्ष्मीचन्द्र ने राज्य का भार हाथ में लिया। रुद्रचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र शक्ति गोसाईं अन्धे होने के कारण राज्य पर न बैठ सका। ई० स० १६२१ में लक्ष्मीचन्द्र की मृत्यु के अनन्तर उसके पुत्र दलीपचन्द्र सिंहासन पर बैठे।

दलीपचन्द्र (ई० स० १६२१—१६२५) के अनन्तर विजयचन्द्र राज्य के उत्तराधिकारी थे, क्योंकि वे अभी बालक ही थे इसलिए राज्यकार्यसञ्चालन के निमित्त पौरजानपदों ने एक कमेटी नियुक्त क । कमेटी में तीन व्यक्ति थे :—सुखराम, पीरु गोसाईं; विनायकभट्ट। विजयचन्द्र का विवाह छोटी अवस्था में ही कर दिया गया। कमेटी का अभिप्राय विजयचन्द्र को व्यसनासक्त करने का था। राजवंश में से लक्ष्मीचन्द्र के पुत्र नील गोसाईं ने इस बात पर कमेटी का विरोध किया। कमेटी ने इसे पकड़वा कर अन्ध करवा डाला। अब कमेटी ने सोचा कि विजयचन्द्र के निकृष्ट सम्बन्धियों को मरवा डाला जाय। किन्तु कमेटी के उद्देश्य का उन्हें पता चल गया और वे शीघ्र ही कुमाऊं से भाग गये। लक्ष्मीचन्द्र का दूसरा पुत्र त्रिमल्ल-चन्द्र गढ़वाल की ओर तीसरा पुत्र नारायणचन्द्र दोती की ओर चले गये। लक्ष्मीचन्द्र के पौत्र अर्थात् नील गोसाईं के पुत्र की बाजबहादुर के पुरोहित की स्त्री ने रक्षा की।

लक्ष्मीचन्द्र के पुत्र त्रिमल्लचन्द्र को, जो कमेटी के भय से भागकर गढ़वाल को चला गया था, गढवाल के राजा ने कहा कि 'यदि तुम पश्चिमी रामगङ्गा को गढ़वाल और कुमाऊं की स्थायी सीमा समझने के लिये तय्यार हो तो मैं कुमाऊं के राज्य लेने में तुम्हारी सहायता करूंगा।' किन्तु त्रिमल्लचन्द्र ने इस सहायता लेने से इन्कार कर दिया। क्योंकि जोशियों ने, जो ज्योतिर्विद्या में निपुण थे, त्रिमल्लचन्द्र की जन्मकुण्डली को देखकर भविष्यवाणी की थी कि त्रिमल्लचन्द राजा बनेंगे। इस भविष्यवाणी पर विश्वास रखते हुए त्रिमल्लचन्द्र ने कठिन शर्तों पर गढ़वाल के राजा की सहायता व्यर्थ ही समझी।

इधर कुमाऊं में इस समय राजा बीरचन्द्र यौवनावस्था को पहुंच चुके थे। आत्मरक्षा के लिये इन्होंने अलमोड़ा दुर्ग के मज़बूत प्रवेशद्वार का निर्माण करवाया था। बीरचन्द्र के इस समुत्थान को कमेटी के लोगों ने अच्छा न समझा। एक दिन

जब वीरचन्द्र भांग पीकर अन्तःपुर में सो रहे थे तब कमेटी के तीनों पुरुषों ने मिलकर उन्हें मार डाला। सुखराम ने प्रजा में घोषित किया कि 'राजा वीरचन्द्र अचानक मर गये हैं। जब तक कोई योग्य उत्तराधिकारी न मिल सके तब तक राज्यकार्यसञ्चालक मैं ही रहूंगा।' किन्तु प्रजा इस बात का सहन नहीं कर सकती थी।

वीरचन्द्र की हत्या में त्रिमल्लचन्द्र का भी हाथ था। त्रिमल्लचन्द्र ने गढ़वाल से पीरु गोसाईं को लिखा था कि 'अगर तुम किसी प्रकार से विजयचन्द्र को मरवा डालो तो मैं तुम्हें अभयदान देकर किसी उन्नत पद पर नियुक्त करूंगा'। वीरचन्द्र की हत्या का अवसर पाकर त्रिमल्लचन्द्र ने कुमाओं पर आक्रमण किया। प्रजा पहले ही कमेटी से असन्तुष्ट थी, इसलिए कुमाओं पर आधिपत्य जमाने के लिये त्रिमल्लचन्द्र को किसी विशेष आपत्ति का सामना न करना पड़ा।

आधिपत्य-स्थिरता के लिये प्रजा को सन्तुष्ट रखना आवश्यक था। इसलिए वीरचन्द्र की हत्या में हाथ होने पर भी त्रिमल्लचन्द्र ने वीरचन्द्र के हत्यारों को समुचित दण्ड दिया। सुखराम को शूलीदण्ड मिला, विनयभद्र को अन्धा करवा डाला गया और उसकी सम्पत्ति छीन ली गई; किन्तु पीरु गोसाईं को प्रयाग में जाकर वटवृक्ष के नीचे आत्महत्या की स्वीकृति दे दी गई। पीरु गोसाईं के साथ इस नम्र व्यवहार का कारण यह हो सकता है कि पीरु गोसाईं त्रिमल्लचन्द्र के अधिक विश्वास-पात्र थे। वीरचन्द्र की हत्या के लिये त्रिमल्लचन्द्र ने गढ़वाल से इन्हें ही चिठ्ठियां लिखी थीं।

त्रिमल्लचन्द्र के शासनप्रबन्ध का कुछ पता नहीं चलता। त्रिमल्लचन्द्र निरपत्य थे। चन्द्रवंश में से ही वे किसी को उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। सोच विचार कर उन्होंने अपने भाई नीलगुसाईं के पुत्र बाजबहादुरचन्द्र को युवराज बनाया। त्रिमल्ल-चन्द्र के बाद बाजबहादुरचन्द्र राज्य के उत्तराधिकारी बने।

बाजबहादुरचन्द्र (ई० स० १६३८–१६७८) के सिंहासन पर बैठते ही कुमाओं राज्य उन्नति के शिखर पर पहुंचने लगा। किन्तु कटेहर शासक ईर्ष्यालु थे, इन्होंने बाजबहादुर के राज्य का कुछ भाग अपने अधीन कर लिया। बाजबहादुर अभी अकेले शत्रु का सामना नहीं कर सकते थे, इसलिए वे बादशाह शाहजहान से सहायता मांगने के लिये ई० स० १६५४ में दिल्ली पहुंचे। शाहजहान ने इन्हें गढ़वाल पर आक्रमण करने के लिये कुछ सेना के साथ भेजा। इस युद्ध में बाजबहादुरचन्द्र की शूरता से शाहजहान बहुत खुश हुए। कहा जाता है कि इनका जन्मनाम बाजचन्द्र था। 'बहादुर' पद इन्हें शाहजहान ने शूरता के कारण दिया था।

दिल्ली से वापिस आकर बाजबहादुर ने गढ़वाल पर आक्रमण किया और कुछ दुर्ग छीन लिये इन दुर्गों में से जुनियागढ़ का दुर्ग प्रसिद्ध था। इस दुर्ग में नन्दा देवी की सुन्दर मूर्ति थी जिसे अलमोड़ा लाकर बाजबहादुर ने मन्दिर में स्थापित किया।

इस समय बाजबहादुर के पास कैलास और मानसरोवर के यात्रियों ने वेदना-पत्र भेजे। कैलास और मानसरोवर की यात्रा में तिब्बत से गुजरने वाले लोगों पर टैक्स लगाये जाते थे। इस बात से दुखित होकर बाजबहादुर ने हुनियों को दबाने के लिये भोट पर आक्रमण किया। बाजबहादुर से बाधित होकर हुनियों को यात्रियों पर टैक्स छोड़ने पड़े।

बाजबहादुर के भोट पर आक्रमण का अवसर पाकर गढ़वाल के राजा ने बाजबहादुर से छीने हुए स्थानों को वापिस अधिकार में ले लिया। भोट से वापिस आते ही इस बात का पता चलने पर बाजबहादुर ने गढ़वाल पर आक्रमण किया और अपनी शूरता का यथार्थ परिचय देकर गढ़वाली सेना को श्रीनगर तक भगा दिया। राजधर्मकौस्तुभ की दूसरी दीधिति के आरम्भ में बाजबहादुरचन्द्रद्वारा इसी श्रीनगर के लूटे जाने का ज़िक्र आता है[1]।

बाजबहादुरचन्द्र के वंश तथा जीवन का निर्दिष्ट चरित्र अलमोड़ा तथा नैनीताल गज़टीयर पर आश्रित है। किन्तु अनन्तदेवकृत स्मृतिकौस्तुभ[2] की संवत्सरदीधिति के

---

१. राजधर्मकौ० पृ० १३०. येन श्रीनगरादहारि च परा श्रीर्वंशवृद्धिप्रदा॥

२. See India Office Library Catalogue, No 1475.

य: पूर्वजन्मार्जितपुण्यभारैः संलब्धया दिव्यधियावनीशान्।
वशेऽकरोच्छीतकरोच्चवंशे स ज्ञानचन्द्रो नृपतिर्बभूव ॥ २॥

कल्याणकर्ता सकलप्रजानां कल्याणचन्द्रस्तत आविरासीत्।
कदापि दण्ड्या न यदीयराज्ये बभूवुरेषां क नु दण्डवार्त्ता ॥ ३॥

प्रतापेन रुद्रोपमः स्वच्छकीर्त्या समाह्लादयन्यो जनांश्चन्द्रतुल्यः।
सदा सर्वविद्वद्गुणज्ञो वदान्योऽभवच्चन्द्रवंशे ततो रुद्रचन्द्रः ॥ ४॥

श्रीरुद्रस्य षडाननः शशधरस्यासीद् यथा वा बुधः
श्रीमल्लक्ष्मणचन्द्रनामकसुतोऽभूद्रुद्रचन्द्रस्य यः।
तेनानेकहिमालयस्य नृपतीन्दुष्टान् विजित्य स्वके
राज्ये वृद्धिरकारि तुष्टिरमिता चाधारि विद्वद्हृदि ॥ ५॥

ततस्त्रिमल्लचन्द्रोऽभूद्भूपो रूपोत्कटो भुवि।
काशीस्थविद्वदादिभ्यो धनराशीनदात्सदा ॥ ६॥

आरम्भ में वर्णित बाजबहादुरचन्द्र की वंशावली कुछ भिन्न है। स्मृतिकौस्तुभ के कर्ता अनन्तदेव बाजबहादुर के राजपण्डित थे। इसलिए अनन्तदेवकृत बाजबहादुरचन्द्र-वंशवर्णन अधिक विश्वसनीय है।

किन्तु सम्भव है कि स्मृतिकौस्तुभ का बाजबहादुरचन्द्रवंशवर्णन अनन्तदेव-कृत न हो, स्मृतिकौस्तुभ में पीछे किसी ने अनन्तदेव के नाम से रख दिया हो, क्योंकि अनन्तदेवकृत अन्य ग्रन्थों में बाजबहादुरचन्द्र का वंशवर्णन नहीं मिलता। अलमोड़ा तथा नैनीताल गज़टीयर से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाजबहादुरचन्द्र के पिता नील गोसाईं को कमेटी ने अन्धा करवा डाला था, बाजबहादुर की रक्षा राजपुरोहित की स्त्री ने की थी, त्रिमल्लचन्द्र ने बाजबहादुर को गोद में लिया था। ऐसी दशा में अनन्तदेवद्वारा अपने वंश का वर्णन बाजबहादुर को कैसे रुचिकर हो सकता था।

स्मृतिकौस्तुभ के अनुसार बाजबहादुरचन्द्र की वंशावली इस प्रकार है :—
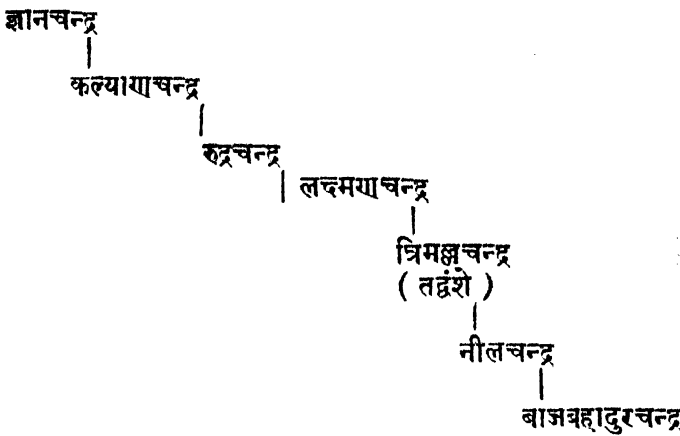
स्मृतिकौस्तुभ की वंशावली के अनुसार कल्याणचन्द्र के पिता का नाम ज्ञानचन्द्र था, किन्तु गज़टीयरों से पता चलता है कि राजा भीष्मचन्द्र ने ताराचन्द्र के पुत्र को गोद में लिया था। गज़टीयरों के अनुसार ज्ञानचन्द्र चन्द्रवंश के आदिपुरुष थे। स्मृतिकौस्तुभ में त्रिमल्लचन्द्र को लक्ष्मणचन्द्र का उत्तराधिकारी माना है। किन्तु गज़टी-

---

तस्मिन्कुलेऽजनि ततः किल नीलचन्द्रो यस्तीर्थसज्जननिषेवणभूरिपुण्यैः ।
तेजो दधार परमं पुरुषोत्तमाख्यं धत्ते यथेन्द्रदिशि नीलगिरिः परं तत् ॥ ७ ॥

श्रीबाजबाहदुरचन्द्रनृपस्ततोऽभू-
च्चान्द्रान्वयस्य भुवि भूरियशोऽकरोद् यः ।
सर्वावनिस्थविदुषामवनं प्रकुर्वन्
योऽस्मिन् कलावपि ररक्ष समस्तशास्त्रम् ॥ ८ ॥

यरों से ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्र (=लक्ष्मणचन्द्र) के उत्तराधिकारी दलीपचन्द्र, दलीपचन्द्र के उत्तराधिकारी विजयचन्द्र और विजयचन्द्र के उत्तराधिकारी त्रिमल्ल-चन्द्र थे।

राजधर्मकौस्तुभ तथा स्मृतिकौस्तुभ में वर्णित बाजबहादुरचन्द्र के चरित्र से बाजबहादुर की विद्वत्प्रियता और संग्रामशूरता का परिचय मिलता है। राजाओं की वीरता और विद्वत्प्रियता की वर्णनरीति परम्परागत है। किन्तु अनन्तदेव ने बाज-बहादुर के विषय में एक विशेष बात का उल्लेख किया है[1]—वह यह है कि बाजबहादुर परास्त शत्रु की कन्या से विवाह कर लेते थे। शत्रु को वश करने का उन्होंने यह एक उपाय सोचा हुआ था। शत्रु की कन्या के साथ विवाह कर लेने से शत्रुता मैत्री में परिणत हो जाती थी।

राजधर्मकौस्तुभ के कर्ता अनन्तदेव का परिचय—

राजधर्मकौस्तुभ के आरम्भ में अनन्तदेव अपना परिचय इस प्रकार देते हैं:—

यैरर्थैः सम्मतानीह यानि कार्याणि भूपतेः।
अनन्तेनात्र कथ्यन्ते तानि तल्लक्षणैः सह॥

इससे केवल यही ज्ञात होता है कि राजधर्मकौस्तुभ के कर्ता अनन्तदेव हैं:—

राजधर्मकौस्तुभ की प्रथमदीधिति का समाप्तिवाक्य इस प्रकार है:—

'इति श्रीमत्सकलभूमण्डनमण्डनायमानबाजबहादुरचन्द्रदेवाज्ञाप्रवृत्तेन विद्वन्मुकुटशिरोमणिश्रीमदापदेवसुतेनानन्तदेवेन कृते राजधर्मकौस्तुभे प्रथमदीधितिः समाप्तिमगात्।'

इस समाप्तिवाक्य से पता चलता है कि अनन्तदेव के पिता का नाम आपदेव था। राजधर्मकौस्तुभ की द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ दीधितियों के समाप्तिवाक्य भी अनन्तदेव की वंशावली पर प्रथमदीधिति की अपेक्षा कुछ विशेष प्रकाश नहीं डालते।

१. Cf. राजधर्मकौ० पृ० २.

युद्धाय दुन्दुभिर्यस्य क्षणा आद्ये समाहितः।
द्वितीये परकन्याभिलाभामोदेन हन्यते॥

also स्मृतिकौस्तुभ, India Office Lib Catalogue. No 1475, Verse 10.

ब्रह्मण्यदेवस्य हरेरिवास्य गुणैरनन्तैः श्रुतिषु स्पृश द्रः।
आकृष्य नीताः परभूपकन्या धन्या बभूवुः स्वकुलोद्भवानाम्॥

अनन्तदेव के वंशपरिचय के लिये हमें स्मृतिकौस्तुभ का आश्रय लेना पड़ता है। स्मृतिकौस्तुभ[1] में अनन्तदेव की वंशावली इस प्रकार है:—
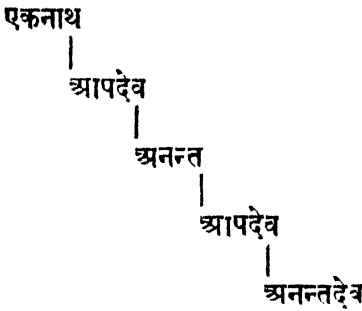
इस वंशावली के अनुसार अनन्तदेव के पूर्वपुरुष एकनाथ थे। स्मृतिकौस्तुभ से पता चलता है कि एकनाथ का निवासस्थान दक्षिण में गोदावरी के तट पर था। एकनाथ श्रीकृष्णदेव के उपासक थे; वेदों में इनकी परम श्रद्धा थी। ये एकनाथ महाराष्ट्र के ऋषि एकनाथ से सर्वथा भिन्न हैं। सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र के ऋषि एकनाथ भी

१. स्मृतिकौस्तुभ:—India Office Lib. Catalogue, No 1475, Verses १३-१८.

आसीद्गोदावरीतीरे वेदवेदिसमन्वितः। श्रीकृष्णभक्तिमानेक एकनाथाभिधो द्विजः।
तत्सुतस्तद्गुणैर्युक्तः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित्। आपदेवोऽभवद्देवात्प्राप स सकलान्मनून्॥

मीमांसानयकोविदो मधुरिपोः सेवासु नित्योद्यतो
विद्यादानसुभावितोत्तमयशा आसीत्तदीयात्मजः।
यस्यानन्तगुणैरनन्त इति सन्नामार्थवत्तां गतं
येनावादि च वादिनां श्रुतिशिरः सिद्धान्ततत्त्वं मुदे॥

न्यायप्रकाशकर्ता निरवधिविद्यामृतप्रदः सततम्।
मीमांसाद्वयनयवित्तनयस्तस्यापदेवोऽभूत्॥

तस्यात्मजं वैदिकशास्त्रविज्ञं
सन्तोऽसकृत्प्राहुरनन्तदेवम्।
बाजाह्वराज्ञो वचसा विधेयं
निबन्धसारोद्धरणं त्वयेति॥

अनन्तदेवेन तदाज्ञयाथो मुदे हरेः पूर्वनिबन्धरूपम्।
क्षीराम्बुधिं बुद्धिगुणैर्मथित्वा प्रकाश्यतेऽयं स्मृतिकौस्तुभः कौ॥

गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठान में रहते थे; इनके पुत्र का नाम हरि था। किन्तु अनन्तदेव के पूर्वपुरुष एकनाथ के पुत्र का नाम आपदेव था । आपदेव का पुत्र अनन्त मीमांसा-शास्त्र में निपुण था । अनन्तदेव का पुत्र आपदेव पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का अद्वितीय विद्वान् था। इसने मीमांसान्यायप्रकाश और वेदान्तसार पर दीपिका व्याख्या—ये दो ग्रन्थ लिखे हैं। इस आपदेव के पुत्र का नाम भी अनन्तदेव था। यही अनन्तदेव स्मृतिकौस्तुभ, राजधर्मकौस्तुभ आदि ग्रन्थों के निर्माता हैं । इन्होंने अपने पिता के मीमांसान्यायप्रकाश पर भाट्टालङ्कार नाम की टीका भी लिखी है।

शम्भुभट्ट ने अपने गुरु खण्डदेव मीमांसक की कृति भाट्टदीपिका पर प्रभावली नाम की व्याख्या लिखी है । प्रभावली से पता चलता है कि खण्डदेव ने भाट्टदीपिका में आपदेवकृत मीमांसान्यायप्रकाश का तथा अनन्तदेवकृत मीमांसान्यायप्रकाश की टीका भाट्टालङ्कार का खण्डन किया है। इतिहासकारों ने खण्डदेव की मृत्यु का समय ई० स० १६६५ माना है । इससे अनन्तदेव का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम भाग में अर्थात् राजा बाजबहादुरचन्द्र के राज्यकाल के आरम्भ में सिद्ध होता है।

राजधर्मकौस्तुभ का नीतिशास्त्र से सम्बन्ध—

राजधर्मकौस्तुभ चार दीधितियों में विभक्त है[1]:—(१) प्रतिष्ठादीधिति, (२) प्रयोगदीधिति, (३) राज्याभिषेकदीधिति, (४) प्रजापालनदीधिति। प्रतिष्ठा और प्रयोग—इन दो दीधितियों में कूप, तड़ाग, दुर्ग आदियों के वास्तुकर्म का विधान है। प्रजापालनदीधिति में व्यवहार का वर्णन है। प्रतिष्ठा और प्रयोग का अंशत: शिल्प-शास्त्र से और विशेषत: कर्मकाण्ड से सम्बन्ध है; प्रजापालन का धर्मशास्त्र से। केवल राज्याभिषेकदीधिति ही राजनीति से सम्बन्ध रखती है । इस में भी कर्मकाण्ड का प्रधान स्थान है। यहां पर राज्याभिषेकदीधिति के राजसम्बन्धी विषयों पर ही विवेचना प्राकरणिक होगी। किन्तु विवेचना के पहले राज्याभिषेकदीधिति के अन्तर्गत विषयों का निरूपण आवश्यक है :—

राज्याभिषेकदीधिति की विषयानुक्रमणिका—

राज्याभिषेकदीधिति के अन्तर्गत विषयों की अनुक्रमणिका इस प्रकार है:—

---

१ दीधिति: कौस्तुभस्यास्य भविष्यति चतुर्विधा ।
प्रतिष्ठाविषयाऽत्राद्या तत्प्रयोगपराऽपरा ॥
राज्याभिषेकविषया तृतीया दीधितिस्तत: ।
प्रजापालनयुद्धादिशिष्टार्था च तत: परा ॥ राजधर्मकौ० पृ० ३

(१) राज्याभिषेकनिर्णय
(२) अभिषेककाल
(३) अभिषेक से प्राथमिक कर्तव्य
(४) राजलक्षण
(५) पट्टमहिषीलक्षण
(६) मन्त्रिलक्षण
(७) पुरोहितलक्षण
(८) ज्योतिर्विल्लक्षण
(९) शान्तिप्रयोग
(१०) ऐशानयाग
(११) ग्रहयाग
(१२) प्रत्यधिदेवतावाहन
(१३) नक्षत्रावाहनमन्त्र
(१४) प्रत्यधिदेवतास्थापन
(१५) नक्षत्रयाग
(१६) निर्ऋतियाग
(१७) ऐन्द्री शान्ति
(१८) अभिषेकप्रयोगपुराण
(१९) अभिषेकप्रयोग
(२०) अभिषेककीर्त्तनफलविशेष
(२१) श्रीस्तवपाठ
(२२) अभिषेकोत्तरकृत्य
(२३) पुष्याभिषेक
(२४) मासाभिषेक
(२५) संवत्सराभिषेक

अभिषेकदीधिति के आरम्भ में अनन्तदेव ने लिखा है कि ' विद्वान् चाहे अतीत राजाओं के बोधार्थ विरचित निबन्धरत्नों से सन्तुष्ट हो जाएं, किन्तु वे श्रीबाज-बहादुर के निमित्त बनाये हुए इस कौस्तुभ में कुछ विशेषता ही देखेंगे' । यहां पर ' अतीतभूपालनिबन्धरत्नैः,—अर्थात् अतीत राजाओं के बोधार्थ विरचित निबन्धरत्नों से', इस वाक्यांश के अन्तर्गत राजशब्द से मित्रमिश्र के आश्रयदाता वीरसिंहदेव का सङ्केत है। मित्रमिश्र ने वीरसिंहदेव के लिये राजनीतिप्रकाश को लिखा था। एक ही शताब्दी में राजनीतिप्रकाश और राजधर्मकौस्तुभ की रचना हुई । मित्रमिश्र कुछ ही वर्ष अनन्तदेव से पूर्व हुए हैं। नीतिविषय के दृष्टिकोण से राजधर्मकौस्तुभ की अपेक्षा राजनीतिप्रकाश का विशेष महत्त्व है । किन्तु अनन्तदेव मित्रमिश्रकृत राज-नीतिप्रकाश की अपेक्षा स्वकृति राजधर्मकौस्तुभ को विशेष गौरव देते हैं।

अनन्तदेव के कथन का तात्पर्य यह होसकता है कि उन्होंने राजधर्मकौस्तुभ में कुछ ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया है जो मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश में नहीं मिलते। इन नवीन विषयों की प्रतिपत्ति में अनन्तदेव की विशेषता प्रकट होती है। किन्तु समान विषय की प्रतिपत्ति में मित्रमिश्र ही नायक हैं।

पहले लिख चुके हैं कि अनन्तदेव मित्रमिश्र के अनन्तर हुए हैं और अनन्तदेव ने मित्रमिश्र का राजनीतिप्रकाश अवश्य देखा होगा । इसलिए समान विषय की

---

१. अतीतभूपालनिबन्धरत्नैः सन्तोषमायान्तु भुवीह सन्तः ।
श्रीबाजबाहस्य तु कौस्तुभेऽस्मिन् त एव पश्यन्त्वधिकं प्रकाशम् ॥

आलोचना में मित्रमिश्र की अपेक्षा अनन्तदेव से विशेषता आकांक्षित होती है। किन्तु अनन्तदेव मित्रमिश्रकर्तृक विषयप्रतिपत्ति की सीमा से बाहिर नहीं जाते।

उदाहरणार्थ, राजशब्दार्थविचार पर राजधर्मकौस्तुभ और वीरमित्रोदय की तुलना ठीक रहेगी।[1]

राजधर्मकौस्तुभ पृ० ५-६	राजनीतिप्रकाश पृ० १०-१५
नन्वत्र राजपदेनावेष्टिपूर्वपक्षन्यायेन राज्ये प्रवृत्त उच्यते, उत सिद्धान्तन्यायेन जातिमात्रम्।	किमयं राज्यशब्दो यस्मिन् कस्मिंश्चित्प्रजापालके वर्तते, उत क्षत्त्रियजातौ, किं वाऽभिषिक्तक्षत्त्रियजातौ वर्तत इति?
नाद्यः, अभिषेकस्यानिरूपणीयत्वापत्तेः। न ह्यसौ राज्यप्रवृत्तस्य धर्मः, तदधीनत्वात्तत्र प्रवृत्तेः।	
न द्वितीयः, तथाहि क्षत्रियत्वजात्यवच्छिन्नाधिकारिकत्वं राजधर्मपदेन विवक्षितमिति वाच्यम्, नचैतत् सम्भवति।	एष्वपि पक्षेषु 'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि' इत्यादिराजधर्मप्रतिपादकवचनेषु राजशब्दो जनपदैश्वर्यवन्नृपतिं लक्षणया प्रतिपादयतीति पक्षः साधुः।
वस्तुतस्तु—अभिषेकप्रकरणे राजलक्षणान्तर्गतत्वेन वक्ष्यमाणैः शौर्यधैर्यादिभी राजगुणैः प्रजापरिपालनाधिकारितावच्छेदकैः सम्पन्नो राजपदार्थः, प्रजापरिपालनं साक्षात्परम्परया तदुपयोगि च धर्मपदार्थः।	तथा, नृप इति न क्षत्रियमात्रस्यायं धर्मः, किन्तु प्रजापालनेऽधिकृतस्याऽन्यस्यापि। तदेवमुक्तदिशा वक्ष्यमाणवैदिकाभिषेकानधिकृतस्य पौराणोऽमन्त्रको वाऽभिषेको विधेयः। तथा चाभिषेकार्द्रशिरसेत्यादि सङ्गच्छते।

राजधर्मकौस्तुभ में राजशब्दार्थविचार पर दो पूर्वपक्षों का निरूपण किया है :— (१) क्या राजपद से राज्यप्रवृत्त पुरुष का बोध होता है, अथवा (२) जातिमात्र का। अनन्तदेव ने इन दोनों पक्षों का खण्डन किया है। पहले पक्ष के विरुद्ध अनन्तदेव ने युक्ति दी है कि यदि राजपद से राज्यप्रवृत्त पुरुष का ग्रहण अभीष्ट होता तो स्मृतिकार अभिषेक की अनिवार्यता पर ध्यान न देते। दूसरे पक्ष के अनुसार क्षत्रिय जाति का ही राजत्व सिद्ध होता है, किन्तु लोक में क्षत्रियेतर जाति के भी कई राजा हो चुके हैं इसलिए जातिविशेष, अर्थात् क्षत्रिय राजा के लिये ही राजशब्द को नियमित

---

१. राजशब्दार्थविचार राजधर्मकौस्तुभ की प्रतिष्ठादीधिति के आरम्भ में है। राजधर्मकौ० पृ० ५.

करना उचित नहीं । यह रहा पूर्वपक्षों का खण्डन । उत्तरपक्ष में अनन्तदेव ने राजधर्म-कौस्तुभ के अन्तर्गत अभिषेकप्रकरण के राज्यलक्षण में वर्णित प्रजापालनाधिकार-सम्बद्ध शौर्यधैर्यादिराजगुणसम्पन्न व्यक्ति को राजा माना है । अनन्तदेव प्रजा-परिपालन को राजधर्म मानते हैं ।

मित्रमिश्र ने भी तीनों पक्षों का निरूपण किया है : – (१) राजशब्द से प्रजा-पालक शासक का तात्पर्य है, (२) क्षत्रियवर्ण के शासक का, (३) अभिषिक्त क्षत्रियवर्ण के शासक का । अनन्तदेव ने इन तीनों पक्षों का निर्देशमात्र किया है, प्रमाणद्वारा प्रति-पादन नहीं किया । किन्तु मित्रमिश्र ने इन तीनों पक्षों की पुष्टि में ग्रन्थान्तरों से प्रमाण उद्धृत किये हैं । मित्रमिश्र अन्तिम दो पक्षों को नहीं मानते, क्योंकि क्षत्रियवर्ण के शासक को अथवा अभिषिक्त क्षत्रिय शासक को ही राजा मानने से राजशब्द सीमित हो जाता है । इसलिए राजशब्द को सर्ववर्णगोचर बनाने के लिये उन्होंने प्रथम पक्ष को अर्थात् प्रजापालक शासक को राजा माना है, किन्तु साथ में अभि-षेकमर्यादा का भी अङ्गीकार किया है । मित्रमिश्र अभिषिक्त प्रजापालक को राजा मानते हैं ।

स्पष्ट है कि मित्रमिश्र और अनन्तदेव—दोनों ने प्रजापालक को राजा माना है। मित्रमिश्र का मन्तव्य है कि प्रजापालक का वैदिकरीति के अनुसार अभिषेक होना चाहिये; यदि प्रजापालक वैदिक अभिषेक का अधिकारी न हो तो उसका पौराणिक अभिषेक होना चाहिये; यदि पौराणिक अभिषेक के भी योग्य न हो तो उसका अम-न्त्रक अभिषेक होना चाहिये । मुसलमान बादशाहों की अभिषेकप्रथा भी अमन्त्रक अभिषेक के अन्तर्गत हो सकती है ।

अनन्तदेव ने प्रजापालक को राजा माना है और साथ में लिखा है कि प्रजा-पालक अभिषेकप्रकरणनिर्दिष्ट शौर्यधैर्यादिराजगुणों से सम्पन्न हो । अनन्तदेव को स्पष्ट करना चाहिये था कि अभिषेकप्रकरणनिर्दिष्टशौर्यधैर्यादिराजगुणसम्पन्न व्यक्ति का अभिषेक अनिवार्य है वा नहीं। अनन्तदेवप्रतिपादित प्रथम पूर्वपक्ष की खण्डनयुक्ति से प्रतीत होता है कि वे अभिषेकप्रथा को अनिवार्य मानते हैं। किन्तु इस दशा में उन्होंने यह नहीं बताया कि आर्येतरजाति के व्यक्ति का वैदिक तथा पौराणिक रीति से अभिषेक न होने पर भी राजशब्द से व्यवहार किस प्रकार हो सकता था । आश्चर्य है कि मित्रमिश्र से अर्वाचीन भी अनन्तदेव समान विषय की प्रतिपत्ति में मित्रमिश्र से आगे नही बढ़ते ।

राज्याभिषेकदीधिति की विषयानुक्रमणिका ऊपर दिखा चुके हैं। अब देखना

है कि विषयानुक्रमणिका के समान विषयों पर अनन्तदेव की मित्रमिश्र से क्या विशेषता है।

राज्याभिषेकदीधिति के आरम्भ में अनन्तदेव ने राज्याधिकारिनिर्णय किया है। 'औरस ज्येष्ठपुत्र ही राज्य का अधिकारी है' इस बात के समर्थन में मित्रमिश्र और अनन्तदेव ने कालिकापुराण, मनु, रामायण आदि ग्रन्थों के प्राकरणिक पद्यों को उद्धृत किया है। मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश में उद्धृत पद्य अनन्तदेवकृत राजधर्मकौस्तुभ में भी पर्याप्त संख्या में उद्धृत हैं। सम्भव है कि अनन्तदेव ने इन पद्यों को मौलिकग्रन्थों से उद्धृत करने की अपेक्षा राजनीतिप्रकाश से ही उद्धृत किया हो।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अनन्तदेव विषयप्रतिपत्ति के लिये प्रमाणोद्धरण में सर्वथा मित्रमिश्र के आश्रित हैं। अनन्तदेव ने समान विषयों पर मित्रमिश्रोद्धृत समस्त पद्यों को उद्धृत नहीं किया। उदाहरणार्थ, ज्येष्ठपुत्र के राज्याधिकारसमर्थन में मित्रमिश्र ने आपस्तम्ब का प्रमाण दिया है:—'ज्येष्ठो दायाद इति।' अनन्तदेव ने राज्याधिकारिनिर्णय में आपस्तम्ब के इस प्रमाण को उद्धृत नहीं किया। वास्तव में अनन्तदेव ने मित्रमिश्रोद्धृत प्रमाणों में से कुछ प्रमाणों को राज्यधर्मकौस्तुभ में स्थान दे दिया है और कुछ प्रमाणों को नहीं दिया। किन्तु कहीं कहीं अन्य ग्रन्थों के कुछ प्रमाण दिये हैं जो राजनीतिप्रकाश में नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, राज्यधर्मकौस्तुभ में उद्धृत महाभारत की पौरोक्ति[1] मित्रमिश्र के राजनीतिप्रकाश में नहीं है। किन्तु इस प्रकार के मौलिक उद्धरण प्रायः विरल ही हैं।

अभिषेककालनिर्णय—

राज्याधिकारिनिर्णय के अनन्तर अनन्तदेव ने अभिषेककाल पर विचार किया है। अभिषेककालनिर्णय के लिये ज्योतिश्शास्त्र का आश्रय लेना जरूरी है। नीतिशास्त्र और ज्योतिश्शास्त्र के सम्बन्ध में हम पहले भी लिख चुके हैं[2]। रणदीपिका, संग्रामविजयोदय आदि ग्रन्थों के अनुसन्धान से नीतिशास्त्र और ज्योतिर्विद्या के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतीति होती है। प्रायः सभी नीतिकार राजसभा में ज्योतिर्विद को आवश्यक समझते हैं। मित्रमिश्र और अनन्तदेव भी रूढिवाद के अनुयायी हैं। राजकालनिर्णय के लिये प्राचीन नीतिकारों की तरह इन्होंने भी ज्योतिश्शास्त्र का आश्रय लिया है।

---

१. राजधर्मकौस्तुभ, पृ० २३६: प्रज्ञाचक्षुरित्यादि।

२. ओरियण्टल् कालेज मैगज़ीन, मई, १९४१, पृ० ४६.

अभिषेक से पूर्व ऐन्द्री शान्ति का प्रयोग—

राजनीतिशास्त्र में कर्मकाण्ड की भी उपयोगिता कुछ कम नहीं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अभिषेकप्रकरण में ऐन्द्री शान्ति का विधान है। अभिषेककाल में शत्रु से भय उपस्थित हो जाने पर, राष्ट्रभेद के समय तथा अरिवध के लिये ऐन्द्री शान्ति का प्रयोग अभीष्ट है। आथर्वणशान्तिकल्प में वर्णित अमृता, अभया आदि शान्तियों में ऐन्द्री शान्ति प्रसिद्ध है। राजधर्मकौस्तुभ के अन्तर्गत ऐसे प्रकरणों से स्पष्ट मालूम होता है कि राजनीतिशास्त्र का कर्मकाण्डशास्त्र से पर्याप्त सम्बन्ध है।

राजलक्षण—

आर्यराजनीति में गणतन्त्र राज्य की अपेक्षा राजतन्त्र राज्य को श्रेष्ठ माना है[1]। मनु आदि स्मृतिकार राजतन्त्र राज्य के ही पक्ष में हैं। प्रायः सभी स्मृतिकारों ने राजा की प्रशंसा की है। मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश की आलोचना में हम लिख चुके हैं कि मित्रमिश्र ने मनु, महाभारत आदि ग्रन्थों से राजदेवत्वप्रतिपादक कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। वहां पर स्पष्टरूप से निरूपण कर दिया था कि इन राजदेवत्वप्रतिपादक पद्यों के लेखकों अथवा उद्धरणकर्ताओं का अभिप्राय वास्तव में राजा को देवता मानने का नहीं। राजदेवत्वप्रतिपादक पद्य अर्थवादमात्र हैं। यदि आर्यराजनीतिकारों को राजदेवत्वप्रतिपादक सिद्धान्त वास्तव में अभीष्ट होता तो वे राजा के निषिद्ध धर्मों की ओर ध्यान न देते। वेन नहुष आदि सदोष राजाओं के राज्यभ्रंश दृष्टान्त[2] से ही राजदेवत्वसिद्धान्त का खण्डन हो जाता है और राजदेवत्वप्रतिपादक पद्य अर्थवादमात्र रह जाते हैं। अनन्तदेवकृत राजधर्मकौस्तुभ के राजलक्षण में राजदेवत्वप्रतिपादक सिद्धान्तों का नाममात्र निर्देश भी नहीं। इससे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि अनन्तदेव राजाप्रजासम्बन्ध को व्यवहारात्मक दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु राजदेवत्वसिद्धान्त के न मानने से अनन्तदेव की दृष्टवादियों में गणना करना सर्वथा भूल है। नक्षत्रप्रभाव के समर्थक अनन्तदेव केवल दृष्टवादी नहीं रह सकते।

अभिषेककालनिर्णय में लिख चुके हैं कि ज्योतिश्शास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। राज्यलक्षणप्रकरण से भी इसी बात का समर्थन होता है। राजलक्षण में लिखा है[3] कि राजा को मन्त्री और ज्योतिषी के अधीन रहना चाहिये।

---

१. ओरियण्टल कालेज मैगज़ीन, मई, १९४१, पृ० ४०.

२. मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश, पृ० ११९.

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदासः पैजवनश्च सुमुखो निमिरेव च॥

३. मन्त्रिसांवत्सराधीनः। राजधर्मकौ०, पृ० २४३, श्लो० ५.

मन्त्री और सांवत्सर (= ज्योतिषी) इन दोनों पदों को एकसाथ रखने से दोनों की समान उपयोगिता सिद्ध होती है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का उद्धरण देकर अनन्तदेव ने सिद्ध किया है कि राजा को विनयता, प्रियदर्शिता आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिये। इस गुणसंख्या में 'अदीर्घसूत्र' गुण का भी निर्देश किया है। 'अदीर्घसूत्र' की व्याख्या अनन्तदेव ने इस प्रकार की है :—'अदीर्घसूत्रः-अवश्यकार्याणां कर्मणामारम्भे, आरब्धानाञ्च समाप्तौ योऽत्यन्तं न विलम्बते सः।' अर्थात् अवश्यकरणीय कार्यों के आरम्भ में तथा आरब्ध कार्यों की समाप्ति में जो व्यक्ति विलम्ब न करे। किन्तु मत्स्यपुराण[1] से पता चलता है कि कुछ कार्यों में दीर्घसूत्रता ही अच्छी होती है :—दोष, दर्प, मान, द्रोह, पाप तथा अप्रिय कार्यों में विलम्ब करना प्रशस्त है। मत्स्यपुराण के इस पद्य को मित्रमिश्र ने राजनीतिप्रकाश में उद्धृत किया है। मित्रमिश्र से अनन्तरकालिक भी अनन्तदेव इस पद्य को उद्धृत नहीं करते। कार्यविशेषता के अनुसार दीर्घसूत्रता के गुणदोषों पर विचार अनन्तदेव से आकांक्षित है।

राजलक्षणप्रकरण में अनन्तदेव ने लिखा है[2] कि राजा को युद्ध में पीठ नहीं दिखानी चाहिये। इससे आर्यराजा का शत्रु के साथ युद्धक्षेत्र में लड़ना स्पष्ट हो जाता है। अनन्तदेव परम्परागत आर्यनीतिमर्यादा के अनुयायी हैं। पुराणादि आर्येतिहासग्रन्थों में आर्यराजाओं के संग्रामभूमि में आकर शत्रु से लड़ने के अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

नीतिशास्त्रों में छः गुण[3], तीन शक्तियां[4], और सात अङ्गों[5] का निरूपण प्रायः भिन्न भिन्न प्रकरणों में मिलता है। किन्तु अनन्तदेव इन तीनों का संक्षिप्त विवेचन राजलक्षण में ही करते हैं। क्योंकि अनन्तदेव के मत में गुण, शक्ति और अङ्गों का ज्ञान न होने से राजलक्षणों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, राजलक्षण में लिखा है कि राजा षाडगुण्य का प्रयोक्ता[6] हो, शक्तिसम्पन्न[7] हो, सप्ताङ्ग-

---

१. Matsyapurāṇa as quoted by Mitramis'ra in his Rājanīti-prakās'a P. 117.

२. राजधर्मकौस्तुभ पृ० २४३. समरेष्वनिवर्त्तकः।

३. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय।

४. प्रभाव, उत्साह, मन्त्र।

५. स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र।

६. षाड्गुण्यस्य प्रयोक्ता च। राजधर्मकौ०, पृ० २४४.

७. शक्त्युपेतस्तथैव च। Ibid P. 244.

राज्य के छिद्रों की शत्रु से गुप्ति करे[1]। यहां पर स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि छः गुण, तीन शक्तियां, तथा सात अङ्ग कौन-से हैं। इसलिए अनन्तदेव ने राज्यलक्षण में ही इनका संक्षिप्त निरूपण उचित समझा है।

पट्टमहिषीलक्षण—

आर्यनीतिकारों ने प्रायः पट्टमहिषी के लक्षण तथा कर्तव्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए पट्टमहिषीलक्षणप्रकरण में अनन्तदेव को केवल विष्णुधर्मोत्तर पुराण का आश्रय लेना पड़ा है। राजधर्मकौस्तुभ में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तरपुराण के पद्यों से राजाभिषेक की तरह पट्टमहिषी के अभिषेक का पता चलता है। इसका अभिप्राय यही नहीं समझना चाहिये कि निरपत्य राजा की मृत्यु के अनन्तर राज्याधिकारिणी पट्टमहिषी है। विष्णुधर्मोत्तर के कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि राजाभिषेक के साथ राज्ञ्यभिषेक होना चाहिये। राजसूय, अश्वमेध आदि धर्मकार्यों की तरह अभिषेक धर्मकार्य है। आर्यधर्मशास्त्रों के अनुसार धर्मकार्यों में पत्नी का पति के साथ बैठना आवश्यक है। राजाभिषेक के समय पट्टरानी का राजा के साथ बैठना ही राज्ञ्यभिषेक हो सकता है।

विष्णुधर्मोत्तर[2] के राज्ञ्यभिषेकविषयक पद्य इस प्रकार हैं:—

> एवंगुणगणोपेता नरेन्द्रेण सहानघ !
> अभिषेच्या भवेद्राज्ये राज्यस्थेन नृपेण वा।
> राज्ञाऽग्रमहिषी कार्या सर्वलक्षणलक्षिता ॥

तात्पर्य यह है कि पट्टरानी का राजा के साथ अभिषेक होना चाहिये, अथवा अभिषिक्त राजा पट्टरानी का अभिषेक करे। अन्तिम विकल्प का अभिप्राय यह हो सकता है कि अभिषिक्त राजा जब निरपत्य और वृद्ध हो तब उसे राज्य के उत्तराधिकारिणी पट्टमहिषी का अभिषेक स्वयं करना चाहिये। यह अभिषेक युवराजाभिषेक के सदृश होगा। किन्तु निरपत्यता का निर्देश इस पद्य में नहीं है। इसलिए निरपत्य राजा अग्रमहिषी का अभिषेक करे—यह अर्थ कल्पनामात्र है। अनन्तदेव ने 'राज्यस्थेन नृपेण वा' इस वाक्यांश का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है:—वृद्ध राजा को

१. स्वस्य सप्तसु राज्याङ्गेषु यत्परप्रवेशे शैथिल्यं तत्स्वरन्ध्रं तस्य गोप्ता प्रच्छादयिता। Ibid. P. 246.

2. Viṣṇudharmottara as quoted by Anantadeva in his Rājadharmakaustubha, P. 249.

चाहिये कि वह युवराज तथा युवराज की अग्रमहिषी का एक साथ अभिषेक करे।[1]

विष्णुधर्मोत्तर के निर्दिष्ट पद्यों के अनन्तर अनन्तदेव ने लिखा है:—'इति विष्णुधर्मोत्तरादिवचनैः।' यहां पर आदिशब्द से मालूम होता है कि विष्णुधर्मोत्तर के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी पट्टमहिषी के अभिषेकविधान का निरूपण है। अनन्तदेव को चाहिये था कि वे इन ग्रन्थों से प्राकरणिक उद्धरण देते, अथवा इन ग्रन्थों का नामनिर्देश करते।

अनन्तदेव ने पट्टमहिषी के लक्षणनिरूपण में विष्णुधर्मोत्तर की पुष्करोक्ति को उद्धृत किया है। इस उक्ति से पता चलता है कि पट्टमहिषी का कार्यविषय अन्तःपुर तक ही सीमित नहीं। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार पट्टमहिषी को प्रजा के पालनपोषण-साधनों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, अर्थात् भृत और अभृत व्यक्ति का पूरा पता रखना चाहिये। भृतव्यक्तियों के वृत्तिसाधन का पता चलाना जरूरी है; कहीं वे अन्याय से अपना पालनपोषण न कर रहे हों। अभृतव्यक्तियों को भृतिकर्म में प्रवृत्त कराना पट्टरानी का परम कर्तव्य है।[2]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के पट्टमहिषीलक्षण से स्पष्ट सिद्ध होता है कि राष्ट्र-हितचिन्तन पट्टमहिषी का परम कर्तव्य है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह हुआ कि पट्टमहिषी की कार्यविषयता राष्ट्र भर में व्याप्त है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि पट्टमहिषी की कार्यविषयता राष्ट्रमात्र तक सीमित है। विष्णुधर्मोत्तर में स्पष्टरूप से लिखा है कि पट्टरानी दूतादिद्वारा अन्य राजमण्डलों की कार्यप्रवृत्ति का भी ठीक ठीक ध्यान रक्खे[3]।

मन्त्रिलक्षण —

अनन्तदेव ने राजलक्षण में लिखा है कि राजा को मन्त्री और ज्योतिषी के अधीन रहना चाहिये[4]। इसलिए मन्त्री का लक्षण स्वभावतः ही आकांक्षित होजाता है।

---

१. राजधर्मकौ०, पृ० २४६. राज्ञा सहाग्रमहिषी अभिषेक्तव्या, अथवा अभिषिक्तेन राज्ञा पश्चात्स्वयमभिषेकयेदुक्तम्। यद्वा—वृद्धराज्ञा पुत्रस्य यौवराज्याभिषेक-करणे तदग्रमहिष्या सहाभिषेकः कार्य इत्याशयेनेति।

२. राजधर्मकौ०, पृ० २४६: भृताभृतजनज्ञा च भृतानां तत्त्ववेदिनी।
अभृतानां जनानाञ्च भृतिकर्मप्रवर्तिनी॥

३. राजधर्मकौ० पृ० २५० दूतादिप्रेषणकरी राजद्वारेषु सर्वदा।
तद्द्वारेण नरेन्द्राणां कार्यज्ञा च विशेषतः॥

४. राजधर्मकौ० पृ० २४३: मन्त्रिसांवत्सराधीनः।

मन्त्रिलक्षणनिरूपण में अनन्तदेव ने महाभारत और विष्णुधर्मोत्तरपुराण को उद्धृत किया है। मन्त्रिलक्षण की कुछ अवश्यनिरूपणीय विशेषतायें इस प्रकार हैं।

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि मन्त्री बृहस्पति और शुक्र की नीति को अच्छी प्रकार से जानता हो[1]। बृहस्पति और शुक्र क्रमशः देव और दैत्यों के गुरु हैं। देव और दैत्यों की भिन्न प्रकृति के अनुसार इनके आचार्यों का नीतिविषयक दृष्टिकोण भी भिन्न होना चाहिये। किन्तु बृहस्पति और शुक्र के नाम से उपलब्ध बार्हस्पत्य-सूत्र, बृहस्पतिस्मृति तथा शुक्रनीति के नीतिविषयक सिद्धान्त प्रायः एक-से हैं। इन दोनों ग्रन्थों के अनुसन्धान से हमें दैवी तथा आसुरी नीति का कुछ पता नहीं चलता।

इसके अतिरिक्त बृहस्पति तथा शुक्र के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत कुछ सन्दर्भ बृहस्पति तथा शुक्र के निर्दिष्ट ग्रन्थों में नहीं मिलते। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि बृहस्पति और शुक्र के नीतिविषयक ग्रन्थ इन ग्रन्थों से भिन्न होंगे। मालूम नही होता कि विष्णुधर्मोत्तर के मन्त्रिलक्षण में बृहस्पति तथा शुक्र के कौन-से नीतिग्रन्थ अभिप्रेत हैं।

मन्त्रिलक्षण में लिखा है मन्त्री षाड्गुण्यविधि का ज्ञाता तथा उपायकुशल हो। षाड्गुण्यनिरूपण, अनन्तदेव, राजलक्षण में कर चुके हैं, किन्तु उपायनिर्देश मन्त्रि-लक्षण में ही किया है। इसलिए उपाय भी यहां पर अवश्यनिरूपणीय होजाते हैं।

अनन्तदेव ने याज्ञवल्क्य का उद्धरण देकर साम, दान, भेद, दण्ड इन चार उपायों का निर्देश किया है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तरादि ग्रन्थों में इन चार उपायों के अति-रिक्त उपेक्षा, माया और इन्द्रजाल—इन तीन अन्य उपायों का भी निर्देश है। अनन्तदेव के पूर्वकालीन मित्रमिश्र ने भी राजनीतिप्रकाश में विष्णुधर्मोत्तर का उद्धरण देकर सात उपायों का ज़िक्र किया है। आश्चर्य है कि विष्णुधर्मोत्तर से परिचित भी अनन्तदेव उपायवर्णन में विष्णुधर्मोत्तर का आश्रय नहीं लेते।

षाड्गुण्य, सप्ताङ्ग और उपाय आदि का ज्ञान राज्य के सभी उच्चाधिकारियों के लिये आवश्यक है। 'उपायकुशल' पद के मन्त्रिलक्षण में ही आने से कहीं यह नहीं समझना चाहिये कि राजादि अन्य अधिकारिवर्ग उपायज्ञान से सर्वथा वञ्चित रहें।

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है कि मन्त्री ब्राह्मण हो:—

सर्वलक्षणलक्षण्यो मन्त्री राज्ञस्तथा भवेत्।
ब्राह्मणो वेदतत्त्वज्ञो विनीतः प्रियदर्शनः॥[2]

---

१. राजधर्मकौ० पृ० २५१ : बृहस्पत्युशनःप्रोक्तां नीतिं जानाति सर्वतः।

२. Viṣṇudharmottara as quoted by Anantadeva in his Rājadharmakaustubha. P. २५१.

विष्णुधर्मोत्तर के इस पद्य को उद्धृत करने से अनन्तदेव का भी यही मत सिद्ध होता है। मनु[1], कात्यायन[2] आदि स्मृतिकार भी इसी पक्ष के समर्थक हैं।

गरुडपुराण[3] में मन्त्री के तीन भेद कहे हैं—उत्तम, अधम और मध्यम। जिस प्रकार का कार्य हो उसी प्रकार के मन्त्री को उस कार्य में नियुक्त करना चाहिये। मनुस्मृति[4] में मन्त्रियों की संख्या सात वा आठ कही है। मित्रमिश्र ने राजनीति-प्रकाश में गरुडपुराण तथा मनुस्मृति के मन्त्रिभेद तथा मन्त्रिसंख्याविषयक स्थलों को उद्धृत किया है। किन्तु अनन्तदेव न तो मन्त्रिभेद और ना ही मन्त्रिसंख्या के विषय में कुछ सूचना देते हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति[5] में लिखा है कि मन्त्री को कालज्ञ होना चाहिये। कालज्ञ की व्याख्या राजधर्मकौस्तुभ में इस प्रकार की है :—'कालज्ञः शकुनगणिताद्युपायैर्भविष्यत्कार्यकालवेलाभिज्ञः।' अर्थात् मन्त्री शकुनशास्त्र तथा होराशास्त्रद्वारा भविष्य का ज्ञाता हो। याज्ञवल्क्य के इस वचन से मन्त्री का ज्योतिश्शास्त्र में निपुण होना सिद्ध होता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजा के पास मन्त्री से भिन्न

---

१. सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥

Manu as quoted by Mitramis'ra in his Rājanīti-prakās'a, P. 178.

२. एतैरेव गुणैर्युक्तममात्यं कार्यचिन्तकम्।
ब्राह्मणं तु प्रकुर्वीत नृपभक्तं कुलोद्भवम्॥

Kātyāyana as quoted by Mitramis'ra in his Rājanītipr. P. 178.

३. भृत्याश्च त्रिविधाः ज्ञेया उत्तमाधममध्यमाः।
नियोक्तव्या यथार्हेषु त्रिविधेषु च कर्मसु॥

Garudapurāṇa as quoted by Mitramis'ra in his Rājanītipr. P. 176.

४. मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्॥ Manu. 7. 54.

५. कालज्ञः समयज्ञश्च कृतज्ञश्च जनप्रियः।

Yājnavalkyasmṛti as quoted by Anantadeva in his Rājadharmakaustubha, P. 252.

ज्योतिषी का होना व्यर्थ है। क्योंकि मन्त्री का कार्यविषय ज्योतिषी के कार्यविषय से सर्वथा ही भिन्न है इसलिए ज्योतिश्शास्त्रविषयक कार्य के लिये पृथक् राजज्योतिषी का होना अनिवार्य है। मन्त्री के कालज्ञ होने का तात्पर्य यही होसकता है कि मन्त्री को ज्योतिश्शास्त्र से भी परिचित होना चाहिये।

पुरोहितलक्षण—

अनन्तदेव[1] ने महाभारत के उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि राष्ट्र का योगक्षेम राजा के अधीन है और राजा का योगक्षेम पुरोहित के अधीन है। अनन्तदेव इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सम्पूर्ण राज्य पुरोहित के अधीन है। अनन्तदेव के मत में इसी बात के मानने से राष्ट्र सुखी रह सकता है।

किन्तु इससे पुरोहित की असीमितशक्ति का अनुमान अनुचित होगा। धर्मशास्त्र के अनुसार जैसे राजा की प्रभुत्वशक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा नियमित है वैसे ही पुरोहित की भी शक्ति राजद्वारा मर्यादित है। राज्यकार्यों में पुरोहित हाथ नहीं डाल सकता। राजा का हितचिन्तन ही पुरोहित का परम कर्तव्य है। "राज्यं पुरोहितायत्तम्', अर्थात् राज्य पुरोहितायत्त है," अनन्तदेव की यह उक्ति अर्थवादमात्र है। राज्यधर्मकौस्तुभ में उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर के सन्दर्भ से पता चलता है कि विरुद्ध पुरोहित वा ज्योतिषी को राजा सर्वथा त्याग दे।[2] विरुद्ध राजा को दैवज्ञ वा पुरोहित भी सर्वथा त्याग दें[3]।

पुरोहित के मुख्य कर्म दो हैं—(१) ग्रहोत्पातप्रशमनादिविधि का ज्ञान, (२) शत्रुहिंसा के लिये अथर्ववेदोक्त अभिचारादिकर्म में निपुणता। पुरोहित के लिये नीतिशास्त्र और ज्योतिश्शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है।

ज्योतिर्विल्लक्षण —

ज्योतिषी की उपयोगिता के निरूपण में अनन्तदेव लिखते हैं कि जैसे धर्मज्ञ

१. योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते॥
इत्यादिमहाभारतवचनैः सर्वं राज्यं पुरोहितायत्तमवगम्यते। यत्रैवमवगम्यते तत्र राष्ट्रं सुखार्थम्। Rājadharmakau. P. 255.

२. सांवत्सरो विरुद्धस्तु त्याज्यो राज्ञा पुरोहितः। Ibid. P. 257.

३. न त्याज्यस्तु भवेद्राजा दैवज्ञेन पुरोधसा।
पतितस्तु भवेत्त्याज्यो नात्र कार्या विचारणा॥ Ibid. P. 256.

राजज्योतिषी राजा को सहायता पहुंचा सकता है वैसे हाथी, योद्धा, माता, पिता तथा बन्धु भी सहायता नहीं दे सकते'।

ज्योतिषी के लक्षण में लिखा है कि वह ग्रहविद्या में निपुण हो, ग्रहोत्पातप्रतीकार का ज्ञाता हो, भूत, भव्य, भविष्य को अच्छी प्रकार बता सके। ज्योतिषी के लिये गणित का विशेष ज्ञान आवश्यक है। उल्कापातादि उत्पातों के फल का बोध उसे होना चाहिये। प्राणिमात्र के शब्द का भाव समझ सके। ऋतुस्वभाव की परीक्षा से देश में भावी सुभिक्ष वा दुर्भिक्ष की पूर्वप्रतीति कर सके। राज्यकौस्तुभनिर्दिष्ट ज्योतिषी के लक्षण से ज्योतिषी की कार्यविषयता बहुत विस्तृत मालूम होती है। न केवल दैवी गति के ही किन्तु पुरुषकारगति के प्रभाव का ज्ञान भी ज्योतिषी का कार्यविषय है।

ज्योतिषी के चुनाव के बारे अनन्तदेव इस प्रकार लिखते हैं:—ज्योतिषी का चुनाव राजा के अधिकार में है। ज्योतिषी के चुनाव के बाद राजा उसे इस प्रकार कहे—'जिस प्रकार देवताओं का मुख अग्नि हैं, प्रजा का मुख राजा है, अग्नि का मुख मन्त्र है, उसी प्रकार राजा का मुख ज्योतिषी है।' ज्योतिषी के प्रति राजा के विनम्र शब्द इस प्रकार होने चाहियें। 'तुम मेरी माता हो, मेरे पिता हो, आज्ञाप्रद हो, गुरु हो, मेरे दृष्ट वा अदृष्ट का सदा तुम्हें ध्यान रखना होगा। हे धर्मज्ञ! मेरा क्षेमकुशल और राज्य तुम्हारे साथ साधारण है। शान्तिपूजाद्वारा तुमने मेरे अशुभ दैव को शान्त करना और युद्ध में सर्वदा पौरुष से मेरी चाल बढ़ाना।

अमात्य, पुरोहित आदि अधिकारिवर्गों की अपेक्षा ज्योतिषी का महत्त्व अधिक

---

१. न तत्र नागाः सुभृता न योधा राज्ञो न माता न पिता न बन्धुः।
यत्रास्य कार्यं भवतीह विद्वान सांवत्सरो धर्मविदः प्रयत्नः॥

राजधर्मकौ० पृ० २६३.

२. वरयित्वा तु वक्तव्यः स्वयमेव महीभुजा।
यथैवाग्निमुखा देवास्तथा राजमुखाः प्रजाः॥
यथैवाग्नेर्मुखं मन्त्रा राज्ञां सांवत्सरस्तथा।
त्वं मे माता पिता चैव देशिकश्च गुरुस्तथा॥
दैवं पुरुषकारश्च ज्ञातव्यश्च सदा त्वया।
मम धर्मज्ञ! भद्रं ते राज्यं साधारणं हि ते॥
शमनीयोऽशुभो दैवस्त्वयैव मम शान्तिभिः।
पौरुषेण पदं कार्यं समरे च सदा मम॥

राजधर्मकौ० पृ० २६२, श्लो० २५-२८.

है। राजधर्मकौस्तुभ में लिखा है कि ज्योतिषी के कहने से राजा मन्त्री और पुरोहित का चुनाव करे। महिषी के चुनने में भी ज्योतिषी की सलाह लेना जरूरी है[1]।

निर्दिष्ट ज्योतिषीविषयक महत्त्व को कहीं व्यक्तिगत नहीं समझना चाहिये। आर्यराजनीति में व्यक्तित्व की अपेक्षा गुणों का प्राधान्य है। गुणमहत्त्व से ही ज्योतिषी का महत्त्व है। राजधर्मकौस्तुभ में लिखा है कि यदि प्राचीन ज्योतिषी की अपेक्षा अधिक गुणों वाला नवीन ज्योतिषी प्राप्त हो सके तो प्राचीन ज्योतिषी को छोड़कर नवीन ज्योतिषी रख लेना चाहिये[2]। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अनन्तदेव व्यक्तित्व की अपेक्षा गुणों का अधिक गौरव मानते हैं।

राजाभिषेकविधान—

पहले लिख चुके हैं कि अनन्तदेवकृत राजधर्मकौस्तुभ की अपेक्षा मित्रमिश्रकृत राजनीतिप्रकाश में नीतिविषयक सामग्री अधिक मिलती है। किन्तु राजधर्मकौस्तुभ के अभिषेकविषय की आलोचना से प्रतीत होता है कि अनन्तदेव ने अभिषेकविषय पर विशेष प्रकाश डाला है। अभिषेक की प्रयोगात्मकरीति के वर्णन में अनन्तदेव मित्रमिश्र से बढ़चढ़कर हैं। तथापि अभिषेक के सिद्धान्तपक्ष का विवरण मित्रमिश्र के राजनीतिप्रकाश में ही विशेषत: मिलता है[3]।

राजधर्मकौस्तुभ की राज्याभिषेकदीधिति में अभिषेकविषय का ही प्रधानत: निरूपण है, इसलिए यहां पर राज्यधर्मकौस्तुभ के अनुसार अभिषेक का संक्षिप्त प्रदर्शन आकाङ्क्षित है।

यहां पर इस बात का निरूपण प्राकरणिक होगा कि राज्याभिषेकविधि का मूलस्थान ऋग्वेद है। अभिषेकविधि अर्वाचीन नहीं। क्योंकि ऋग्वेद में अभिषेकसम्बद्ध मन्त्र मिलते हैं इससे सिद्ध होता है कि अभिषेकविधि यदि ऋग्वेद से प्राचीन नहीं तो ऋग्वेदसमकालिक तो अवश्य ही है। राजधर्मकौस्तुभ में अभिषेकप्रयोग के प्रमाण में विष्णुधर्मोत्तर, ब्रह्मपुराण और ऋग्विधान को उद्धृत किया है[4]। ऋग्वि-

---

१. तेनोद्दिष्टौ च वरयेद्राजा मन्त्रिपुरोहितौ।
तेनोद्दिष्टाञ्च वरयेन्महिषीं नृपसत्तम: ॥ राजधर्मकौ० पृ० 262.

२. दैवज्ञश्च पूर्वज्योतिर्विदपेक्षया गुणाधिकश्चेत्प्राप्यते, तदा प्राचीनं विहाय नूतन: कर्तव्य:। नूतनदैवज्ञस्य गुणाधिकाभावे तु पुरातन एव दैवज्ञ: स्थापनीय:।

३. Cf. Coronation oath of the Aitareya Brāhmaṇa as quoted by Mitramis'ra in his Rājanītiprakās'a, P.100.

४. राजधर्मकौ० पृ० ३३७.

धान के उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तदेव न केवल विष्णुधर्मोत्तरादिपुराण-प्रतिपादित ही किन्तु वेदप्रतिपादित अभिषेकविधि से भी अच्छी तरह परिचित हैं।

राजशक्तिभेद से अभिषेकभेद का मानना स्वाभाविक है। अर्थात् एकराट्, द्विराट्, विराट् आदि शासकों के अभिषेक में कुछ भेद तो अवश्य होना चाहिये। किन्तु अनन्तदेव शाखाभेद से अभिषेकभेद मानते हैं। तथापि पुराणनिर्दिष्ट अभिषेक को उन्होंने सर्वसाधारण माना है[1]।

विष्णुधर्मोत्तर का उद्धरण देकर अनन्तदेव ने सिद्ध किया है कि राजा का अभिषेक चैत्र, अधिमास, अथवा वर्षा ऋतु में नहीं होना चाहिये। राज्याभिषेक में मङ्गलवार, शुक्लपक्ष की चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी तथा कुछ अन्य करण, नक्षत्र, आदि सर्वथा वर्जित हैं।[2] अभिषेक से पहले ऐन्द्री शान्ति का विधान है[3]। राज्याभिषेचक पुरोहित को चाहिये कि वह राज्याभिषेचन से पहले बारह रात तक दुग्ध, शाक, वा फल, अथवा सात रात तक केवल घृत का भक्षण करे[4]। ऐन्द्री शान्ति से पहले विनायकपूजन ऐशानयाग, ग्रहयाग, नक्षत्रयाग, और निर्ऋतियाग करने चाहियें।

अभिषेक के दिन राजपुरोहित को व्रत रखना जरूरी है। राजपुरोहित का कर्तव्य है कि वह शुभ्र वस्त्र तथा आभूषणों से सज्जित होकर मन्त्रविधि से वेदी की शुद्धि करे[5]। हवन के अनन्तर राजपुरोहित को स्नान करना लिखा है[6]।

---

१. Ibid. P. 339. एवमभिषेकविधिषु बहुविधेष्वपि विष्णुधर्मोत्तरे धर्माणां मन्त्राणां भूयस्त्वं नाम्ना नक्षत्रोत्पन्नेऽभिषेकेऽन्यत्र विहितानामविरुद्धानां गुणानामुपसंहारेण प्रयोगावधारणं शक्तैः कार्यम्, अशक्तानां त्वैच्छिको विकल्पः। यद्वा ऋग्विधानोक्तमृक्शाखिनां सामविधानोक्तं सामशाखिनामाथर्वणोक्तं तच्छाखिनां पौराणं सर्वेषामिति बोध्यम्।

२. विष्णुधर्मोत्तर as quoted by Anantadeva in his Rājadharmakaustubha, P. 238.

३. Ibid. P. 239.

४. आथर्वणिकशान्तिकल्प as quoted by Anantadeva, in his Rājadharmakaustubha, P. 239.

५. विष्णुधर्मोत्तर as quoted by Anantadeva in his Rājadharmakaustubha, P. 318.

६. Ibid. P. 319.

स्नानं समारभेत् प्राज्ञो होमकाले पुरोहितः।

अनन्तदेव 'होमकाल' पद से 'होमसमाप्ति' का ग्रहण करते हैं।

राजा को पर्वतशिखिर की मृत्तिका से सिर की, वल्मीक की मृत्तिका से कानों की हस्तिशुण्डादण्डोद्धृत तथा बलीवर्दशृङ्गोत्खात मृत्तिका से क्रमशः दक्षिण और वाम हाथ की, तालाब तथा नदीसङ्गम के कीचड़ से क्रमशः पृष्ठ तथा हृदयभाग की, नदीतटों की मृत्तिका से पार्श्वभाग की, वेश्याद्वार की मृत्तिका से कटिदेश की, गज-स्थान की मृत्तिका से ऊरुभाग की, गोस्थान की मृत्तिका से जानुभाग की, अश्वस्थान की मृत्तिका से जङ्घाभाग की, रथचक्रोद्धृतधूलि से चरणों की और पञ्चगव्यजल से सम्पूर्ण शरीर की शुद्धि करनी चाहिये।

अङ्गशुद्धि के अनन्तर राजा भद्रासन पर बैठे। निकट ही मुख्यामात्य और सेनानायक बैठें। भद्रासन पर बैठे हुए राजा का सुवर्णघटित तथा शतच्छिद्रवाले पात्र द्वारा घी से ब्राह्मण, चान्दी के पात्र द्वारा दूध से क्षत्रिय, ताम्बे के पात्र द्वारा दही से वैश्य अभिषेचन करे। पूर्व की ओर ब्राह्मण खड़ा रहे, दक्षिण की ओर क्षत्रिय, पश्चिम की ओर वैश्य। तब मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, तथा अन्य अभिषिक्त राजसमूह राजा का जल से अभिषेक करें। अभिषेकजल तीर्थस्थान, नदी, तालाब, कूप, समुद्र, गङ्गा, यमुना तथा निर्झर का हो, अनेक प्रकार के घड़ों में भरा हुआ हो। छत्र, चामर तथा वेत्र पकड़ कर भृत्य खड़े हों। सभी एकत्रित पुरुष शङ्ख भेरी, मन्त्रपाठ, गीत, वाद्य आदि द्वारा अभिषेकोत्सव मना रहे हों। पहले राजा दर्पण में अपना मुख देखे, फिर घृत में। शुभ्र वस्त्र तथा माङ्गलिक चिन्हों से अलङ्कृत होकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ग्रह तथा नक्षत्रों की पूजा के अनन्तर राजा आत्मपूजन करे, फिर राजशय्या पर बैठे। सिंहत्वचा, तथा शुभ्र वस्त्रों से सुसज्जित शय्यासीन राजा की पुरोहित मधुपर्क से पूजा करे। इस समय राजा को ज्योतिषी तथा पुरोहित का अभिवादन करना चाहिये।

इसके अनन्तर राजा धनुष बाण लेकर यज्ञवेदि की प्रदक्षिणा करे। यहां पर बैल तथा सवत्सा गौ के विसर्जन का विधान है। फिर राजा घोड़े पर चढ़े, राजमार्ग द्वारा राजधानी में घूमें। प्रधान अमात्य, स्वाधीन राजमण्डल, राजपुरोहित, राजज्योतिषी तथा भृत्यवर्ग साथ में हों। तब राजा नगर के सम्पूर्ण देवताओं की पूजा करे। हर्षोत्फुल्ल-चित्त से राजमहल को लौटे। कुलपुरुषों का समुचित पुरस्कार द्वारा, नट और नर्तकों का धनद्वारा सम्मान करे। ब्राह्मण, बन्धु, निर्धन तथा अनाथों को भोजन खिलावे। स्वयं राज्यपरम्परागत कुलपुरुषों के साथ भोजन करने के अनन्तर अन्तःपुर में जाकर विश्राम करे। अभिषेकसंस्कार के समय राजा को शरीररक्षा में सर्वथा सावधान रहना चाहिये।

राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में सब प्रकार के कैदियों को छोड़ देना चाहिये[१] चाहे वे गौ, ब्राह्मण आदि के घातक हों। गौ, आदि पशुओं को बन्धनस्थान से स्वतन्त्र कर देना चाहिये। यहां पर विष्णुपुराणनिर्दिष्ट श्रीसूक्त के पाठ का विधान है। श्रीसूक्त-पाठ के अनन्तर राजा को प्रतीहारद्वारा क्रमश. अमात्य, कुलपुरुष, वणिग्जन तथा अन्य प्रजाजनों से परिचय करना चाहिये। परिचय के अनन्तर ये सब लोग राजा को आशीर्वाद दें।

तब एक सफेद तथा शीघ्रगामी अश्व को, जिस का शब्द शङ्खध्वनि के समान हो, राजा के सामने खड़ा करना चाहिये। राजा घोड़े पर एक वार चढ़े फिर उसी समय नीचे उतर आवे। इसी तरह एक स्थूलकाय, बलिष्ठ दर्शनीय हाथी को राजा के सामने खड़ा किया जाय। पहले राजज्योतिषी इस पर चढ़े जब राजज्योतिषी नीचे उतर आवे तब राजा को हाथी पर सवार होना चाहिये।

हाथी पर सवार होकर, प्रधान अमात्य, स्वाधीन कुलपुरुष, राजज्योतिषी तथा राजपुरोहित आदियों के साथ धन की वर्षा करता हुआ राजा राजधानी की यात्रा करे। यात्रामार्ग में जहां मन्दिर आवें हाथी से उतरकर राजा को उन मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा करनी चाहिये। महल को लौटकर, कुलदेवताओं की पूजा के अनन्तर उसे अपना शिरोमुकुट अलग रख देना चाहिये। इस समय एक ग्राम, एक-सौ दासियां, एक हजार सुवर्णमुद्राओं का याचकों के प्रति दान देने का विधान है। अभिषेकरात्री को राजा के लिये तृणशय्या पर सोना तथा ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना आवश्यक है।

राजा को अभिषेक प्रतिवर्ष कराना चाहिये। इससे राजा की आयुवृद्धि, ऐश्वर्यसमृद्धि और शत्रुनाश होता है। राजा के लिये प्रतिवर्ष तथा प्रतिमास जन्मनक्षत्र के दिन अभिषेक कराना लाभकारी है।

अभयं सर्वभूतेभ्यः सम्यक् तत्र ददाति च।
आघातस्थानकात्सर्वान् पशूनपि विमोचयेत् ॥
बन्धनस्थानसंस्थांश्च प्रमोचयति शास्त्रवित् ।
गोब्राह्मणादिहन्तृंश्च कण्टकान्दारुणानपि ॥
जहाति हस्तिहन्तृंश्च क्रूरांश्चापि सुरक्षितान् ॥

१. Rājadharmakaustubha, P. 329.

बौद्धसाहित्य के त्रिपिटक का नीतिविषयक अनुसन्धान।

[लेखक—जगदीशलाल शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, लाहौर.]

त्रिपिटक में बौद्धनीति का स्थान—

बौद्धसाहित्य के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। प्राय: यही समझा जाता है कि धर्म तथा निर्वाण का ही प्रतिपादन बौद्धसाहित्य का एकमात्र विषय है, अर्थात् काम और अर्थ के विषय से बौद्धसाहित्य सर्वथा अपरिचित है। बौद्धसाहित्य के मर्मज्ञों ने भी बौद्धसाहित्य का धर्मविषयक ही अनुसन्धान किया है। अर्वाचीन काल के धुरन्धर विद्वान भी अध्यात्मविषयक दृष्टिकोण से बौद्धसाहित्य की आलोचना करते हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनदेश के प्रसिद्ध विद्वान् दाल्कीमहोदय ने[1], तथा अमेरिका-निवासी विद्वच्छिरोमणि वारेनमहोदय ने[2] बौद्धसाहित्य का परमार्थविषयक तथा अध्यात्मविषयक मनन किया है। इन विद्वानों के अनुसार बौद्धधर्म की संस्कृति में नीतिविषयक कुछ भी सामग्री नहीं मिलती।

स्वाभाविक जिज्ञासा होती है, क्या वास्तव में ही बौद्ध विद्वान् तत्त्वज्ञान की खोज में लगे रहने के कारण भौतिक ज्ञान से सर्वथा शून्य रहे हैं? क्या बौद्धसाहित्य में आदर्शबौद्धशासनपद्धति का वर्णन नहीं? बौद्धसाहित्य के यथार्थ अनुसन्धान से पता चलता है कि बौद्धसाहित्य में नीतिविषयक सामग्री पर्याप्त संख्या में विद्यमान है; किन्तु विद्वानों ने इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया। बौद्धसाहित्य के नीतिविषयक ज्ञान के लिये भौतिक दृष्टिकोण से बौद्धसाहित्य का अनुसन्धान आवश्यक है।

बौद्धराजनीति का यथार्थ ज्ञान बौद्धधर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थों से ही होसकता है। बौद्धधर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ तीन पिटकों के अन्तर्गत हैं। बौद्धसाहित्य के नीति-विषयक ज्ञान के लिये प्रथम यहां पर तीन पिटकों की आलोचना ठीक रहेगी।

पिटकों का क्रमविभाग—

बौद्धसाहित्य दो भाषाओं में विभक्त है:—(१) पाली और (२) संस्कृत।

---

1. Cf. Dahlke's Buddhist Essays Translated from the German by Bhikkhu S'ilācāra, London, 1908.

2. Cf. Warren: Buddhism in Translations, Harvard Oriental Series, Cambridge, Mass, 1900.

बौद्ध पालीसाहित्य के तीन पिटक हैं :—(१) विनयपिटक, (२) सुत्तपिटक और (३) अभिधम्मपिटक । इन पिटकोंका रचनाकाल ईसा से पूर्व पांचवी शताब्दी से पहली शताब्दी तक है । क्योंकि इन पिटकों में शाक्यमुनि गौतम के वचन मिलते हैं इसलिए मानना पड़ेगा कि इनके प्राचीन भाग का रचनाकाल ईसा से पूर्व ५६३-४८३ तक है जो कि शाक्यमुनि गौतम का जीवनकाल है । पालीसाहित्य का प्रकाश, विकास और ह्रास ईसा से पूर्व पांच शताब्दियों में हुआ है । पिटकों का निर्माण पालीभाषा के विकासकाल में ही सम्भावित होसकता है ।

पिटक संग्रहग्रन्थ हैं । इनमें शाक्यमुनि गौतमबुद्धप्रतिपादित धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के विषय में शाक्यमुनि के शब्दों में अथवा शाक्यमुनिसम्बद्ध आख्यानों द्वारा विवेचना की है । शाक्यमुनि की उक्तियों के तथा शाक्यमुनिसम्बद्ध आख्यानों के सङ्ग्रहकर्ता का नाम नहीं दिया । प्रतीत होता है कि शाक्यमुनि गौतमबुद्ध के निर्वाण के अनन्तर भिक्षुसङ्घ ने अर्थात् गौतमबुद्ध के अनुयायियों ने गौतमबुद्ध के वचनों का तथा गौतमबुद्धसम्बन्धी आख्यानों का इन तीन पिटकों में सङ्ग्रह कर दिया है ।

पिटकों का विभाग विषयानुक्रम से है । प्रत्येक पिटक के अवान्तर प्रकरण हैं । किसी विशेष विषय की पूर्ण प्रतिपत्ति के लिये कुछ विशेष प्रकरणों का ही नहीं, किन्तु सभी पिटकों का स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है । पूर्ण स्वाध्याय करने पर भी पूर्णतः सफल होना सन्दिग्ध ही रहता है । उदाहरणार्थ—प्राचीन बौद्धराजनीतिपरिपाटी की गवेषणा में सभी पिटकों का अध्ययन आकांक्षित है, क्योंकि बौद्धराजनीति का विषय किसी एक प्रकरण में प्रतिपादित नहीं किया गया जिससे उस प्रकरण के पढ़ने से ही बौद्धराजनीति का ज्ञान हो जाय इसलिए सभी पिटकों के अनुसन्धान से ही बौद्ध-शासनप्रणाली का दिग्दर्शन होता है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि पिटकों के सभी प्रकरणों में राजनीति के भाव रक्खे हैं । प्रकरणों के प्रकरण अन्य विषयों पर लिखे गये हैं । केवल राजनीति से सम्बद्ध तो कुछ ही प्रकरण और उन प्रकरणों में भी कुछ ही स्थल मिलेंगे । किन्तु अन्यविषयगत प्रकरण तथा प्रकरणों के अवान्तर स्थलों में अप्राकरणिक रूप से नीतिविषय पर्याप्त संख्या में मिलता है ।[1]

पिटकों के नीतिविषयक अनुसन्धान से पूर्व यहां पर पिटकों के क्रमविभाग का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है :—

1. Cf. Oriental College Magzine, August 1940, P. 2. Lines 11—22.

I. विनयपिटक.

विनयपिटक में शाक्यमुनिगौतमबुद्धद्वारा साधुजीवन के विनयनियमों का वर्णन है। विनयपिटक के विभाग इस प्रकार हैं :—

१. सुत्तविभंग. रचनाकाल—४४० वर्ष ईसा से पूर्व.

२. महावग्ग.
३. चुल्लवग्ग.
४. परिवारपत्त.
५. पातिमोक्ख.
} रचनाकाल—२५० वर्ष ईसा से पूर्व.

सुत्तविभंग के दो प्रकरण हैं :—पाराजिक, और पाचित्तिय। पाराजिक में उन अपराधों का वर्णन है जिनके आचरण से मनुष्य सङ्घ से बहिष्कृत किया जाता है।

पाचित्तिय में उन अपराधों का वर्णन है जिनका दण्ड प्रायश्चित्त है।

महावग्ग, चुल्लवग्ग, परिवारपत्त, और पातिमोक्ख को खण्डक भी कहा जाता है। इतिहासकार खण्डकों के रचनाकाल को सुत्तविभंग के रचनाकाल से अनन्तर ही मानते हैं।

II. सुत्तपिटक.

इस पिटक में शाक्यमुनिद्वारा बौद्धसिद्धान्तों का प्रतिपादन है। सुत्तपिटक में पांच निकाय हैं :—

(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) संयुत्तनिकाय, (४) अंगुत्तर-(एकुत्तर) निकाय, (५) खुद्दकनिकाय।

पांच निकायों के अवान्तरविभाग इस प्रकार हैं :—

(१) दीघनिकाय.

दीघनिकाय मुख्य तीन भागों में विभक्त है। मुख्य तीन विभाग इस प्रकार हैं :—

(क) सीलक्खन्ध.

(ख) महावग्ग.

(ग) पाथिकवग्ग.

इन तीन विभागों के ३४ प्रकरण हैं :—

(२) मज्झिमनिकाय. मज्झिमनिकाय के १५२ प्रकरण हैं।

(३) संयुत्तनिकाय. संयुत्तनिकाय के ५६ प्रकरण हैं।

संयुत्तनिकाय मुख्य पांच भागों में विभक्त है। मुख्य पांच विभाग इस प्रकार हैं :—

(क) सगाथावग्ग (ग) खन्धवग्ग.
(ख) निदानवग्ग. (घ) सलायतनवग्ग.
(ङ) महावग्ग.

(४) अंगुत्तर (एकुत्तर) निकाय. इस में ग्यारह निपातों का वर्णन है। ग्यारह निपात इस प्रकार हैं :—

(क) एकनिपात. (च) छक्कनिपात.
(ख) दुकनिपात. (छ) सत्तकनिपात.
(ग) तिकनिपात. (ज) अट्ठकनिपात.
(घ) चतुक्कनिपात. (झ) नवकनिपात.
(ङ) पञ्चकनिपात. (ञ) दसकनिपात.
(ट) एकादसकनिपात.

(५) खुद्दकनिकाय. खुद्दकनिकाय के बीस विभाग इस प्रकार हैं :—

(क) खुद्दकपाठ. (ज) थेर गाथा. (ण) बुद्धवंश.
(ख) धम्मपद. (झ) थेरी गाथा. (त) चरियापिटक.
(ग) उदान. (ञ) जातक. (थ) मिलिन्दपञ्ह.
(घ) इतिवुत्तक. (ट) महानिद्देस. (द) सुत्तसंघ.
(ङ) सुत्तनिपात. (ठ) चुल्लनिद्देस. (ध) पेतकोपदेस.
(च) विमानवत्थु. (ड) पतिसम्भिदमग्ग. (न) नेत्तिपकरण.
(छ) पेतवत्थु. (ढ) अपदान.

III अभिधम्मपिटक.

अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों में उक्तिप्रत्युक्तिरूप से सुत्तपिटक के विषयों पर विचार मिलता है। अभिधम्मपिटक के ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—

(क) धम्मसंगणी. (घ) पुग्गलपञ्ञत्ति.
(ख) विभंग. (ङ) धातुकथा.
(ग) कथावत्थु. (च) यमक.
(छ) पत्थन.

बौद्धधर्म की दो शाखाएं हैं—(१) हीनयान और (२) महायान। हीनयान भी दो शाखाओं में विभक्त है—(१) शुद्ध और (२) मिश्रित। शुद्धहीनयान का प्रचारकाल ईसा से पूर्व लगभग ४५० से ३५० तक है। मिश्रित हीनयान का प्रचारकाल शुद्ध हीनयान के प्रचारकाल के अनन्तर ईसा से पूर्व लगभग ३५० वर्ष से १०० वर्ष तक है।

शुद्ध हीनयान के अनुयायी तीन पिटकों में से पहले दो पिटक विनयपिटक

और सुत्तपिटक को और मिश्रित हीनयान के अनुयायी तीसरे पिटक अभिधम्मपिटक को मानते हैं। हीनयान का इन दो शाखाओं में भेद मौर्यवंश के राज्य में हुआ है।

बौद्धधर्म की दूसरी शाखा महायान का प्रचारकाल ईसा के पूर्व १०० वर्ष से लेकर ईसा के पश्चात् ३०० वर्ष तक है, अर्थात् हीनयानशाखा की अपेक्षा महायान अर्वाचीन है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि महायानशाखा के सिद्धान्तग्रन्थों में हीनयानशाखा के सिद्धान्तों का खण्डन मिलता है। नागार्जुन और अश्वघोष महायान के मुख्य नेता हुए हैं।

ऊपर लिख चुके हैं कि बौद्धसाहित्य दो भाषाओं में विभक्त है:—(१) पाली और (२) संस्कृत, और यह भी दिखा चुके हैं कि त्रिपिटक की रचना पालीभाषा में हुई, तथा शुद्ध हीनयान के अनुयायियों ने विनयपिटक और सुत्तपिटक को और मिश्रित हीनयान के अनुयायियों ने अभिधम्मपिटक को अपनाया। यहां पर इस बात का निर्देश आवश्यक होगा कि महायानशाखा के ग्रन्थ संस्कृतभाषा में लिखे हुए मिलते हैं।

बौद्धसाहित्य में राजवाद का उत्कर्ष—

शान्तिपर्व महाभारत में गणवाद की अपेक्षा राजवाद का महत्त्व अधिक माना गया है। गणतन्त्र राज्य में मन्त्रभेद हो जाता है; कार्यनिर्णय पर गणों का एकमत होना भी कठिन है; शत्रुद्वारा प्रयुक्त द्वैधीभाव उपाय से गणों का परस्पर भेदन भी सुकर है[1]। इन तथा अन्य दोषों के कारण राजतन्त्र राज्य की अपेक्षा गणतन्त्र राज्य की निकृष्टता स्पष्ट हो जाती है। महाभारत[2] के अनुसार मात्स्यन्याय को रोकने के लिये राजवाद का स्थापन हुआ है। जैनराजनीति में भी दण्ड तथा दण्डधर राजा की उत्पत्ति का उद्देश्य मात्स्यन्याय का रोकना है। बौद्धपिटकसाहित्य में भी सृष्टि के आदिकाल में राजनिर्वाचन का लक्ष्य उचितानुचित का न्याय से अनुशासन करना कहा है।

बौद्धसाहित्य में सृष्टिरचनाक्रम, वर्णविभाग तथा राजवाद की उत्पत्ति—

राजवाद की उत्पत्ति के परिचय से पहले बौद्धसाहित्य के अनुसार सृष्टिरचनाक्रम तथा वर्णविभाग का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

---

१. महा० शान्ति०, अध्या० ६७, श्लो० १६-१७.

२. महा० शान्ति०, अध्या० १०७.

३. आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक० १३०-१६०; ओरियण्टल कालेज मैगज़ीन, मई, १६४१, पृ० २४, ३०.

सुत्तपिटक—

सृष्टिरचनाक्रम, वर्णविभाग, तथा राजवाद के आविर्भाव का वर्णन सुत्तपिटक के अन्तर्गत दीघनिकाय के अगञ्ञसुत्तप्रकरण में मिलता है।

(१) सृष्टिरचनाक्रम —

अगञ्ञसुत्त में प्रलय के बाद सृष्टि की उत्पत्ति गौतमवसिष्ठसंवादद्वारा वर्णित है।

बौद्धपरिभाषा में प्रलय का संवर्त और सृष्टि का विवर्त नाम है। संवर्त हो जाने पर इस लोक में रहने वाले अधिकतर प्राणी मनोमय, प्रीतिभक्ष, स्वयंप्रभ, आकाशचारी, शुभस्थायी होकर बहुत दिन आभास्वर (देवों) में रहते हैं। विवर्त होने पर अनेक सत्त्व आभास्वर लोक से च्युत होकर यहां आते हैं। वे यहां मनोमय, प्रीतिभक्ष, स्वयंप्रभ, आकाशचारी, शुभस्थायी होकर बहुत दिन रहते हैं। उस समय सभी जगह पानी ही पानी होता है। बहुत अन्धकार फैला रहता है। न चांद और न सूरज, न नक्षत्र और न तारे दिखाई देते हैं। न रात और न दिन, न मास और न पक्ष, न ऋतु और न वर्ष, न स्त्री और पुरुष मालूम पड़ते हैं। स्त्रीपुरुषों की सत्त्व ही संज्ञा होती है।

तब बहुत दिनों के बाद उन सत्त्वों के लिये पृथिवी फैलती है। सत्त्व पृथिवी के रस को चाटने लगते हैं, चाटने से उन्हें तृष्णा उत्पन्न होती है। तब वे हाथों से पृथिवी को ग्रास ग्रास करके खाने लगते हैं, खाने से उन सत्त्वों की स्वाभाविक प्रभा का अन्तर्धान हो जाता है। फिर चांद और सूरज, नक्षत्र और तारे प्रकट होते हैं। रात और दिन के मालूम होने से मास और पक्ष मालूम पड़ने लगते हैं। मास और पक्ष के मालूम होने से ऋतु और वर्ष का पता चलता है।

तब वे सत्त्व पृथिवी को बहुत दिनों तक खाते रहते हैं। उनका शरीर कर्कश होने लगता है। उनके वर्ण में विकार मालूम पड़ने लगता है। कोई सत्त्व सुन्दर होते हैं तो कोई कुरूप। जो सत्त्व सुन्दर होते हैं सो अपने को कुरूप सत्वों से ऊंचा समझते हैं। उनके अपने वर्ण के अभिमान से पृथ्वी अन्तर्हित हो जाती है। पृथ्वी के अन्तर्हित हो जाने पर वे सत्त्व इकट्ठे होकर चिल्लाने लगते हैं—अहो रस ! अहो रस !

उन प्राणियों के लिये पृथ्वी के अन्तर्हित हो जाने पर नागफनी सी भूमि की पपड़ी प्रकट होती है। तब वे सत्त्व भूमि की पपड़ी को खाने लगते हैं। उन सत्त्वों के शरीर अधिकाधिक कर्कश होने लगते हैं, उनके वर्ण में विकार मालूम पड़ने लगता है। उनके वर्णाभिमान से भूमि की पपड़ी अन्तर्हित हो जाती है।

उसके अन्तर्हित होने पर भद्रलता प्रकट होती है। तब वे सत्त्व भद्रलता को

खाने लगते हैं। उनके वर्ण में विकार मालूम पड़ने लगता है। उनके वर्ण के अभिमान से उनकी वह भद्रलता अन्तर्हित हो जाती है । अन्तर्हित होने पर वे इकट्ठे होकर चिल्लाने लगते हैं। फिर अकृष्टपच्य धान का प्रादुर्भाव होता है। वह चावल कण और तुष के बिना सुगन्धित होता है । उस अकृष्टपच्य शाली को वे बहुत दिनों तक खाते रहते हैं। उनके वर्ण में विकार मालूम पड़ने लगता है । स्त्रियों के स्त्रीचिन्ह, पुरुषों के पुरुषचिन्ह उत्पन्न हो जाते हैं । परस्पर आंख लगाकर देखने से राग उत्पन्न हो जाता है । अधर्म राग को छिपाने के लिये ही गृहनिर्माण की प्रथा का आरम्भ हुआ है ।

यह रहा अगञ्ञसुत्त के अनुसार सृष्टिरचना का क्रम। सृष्टिरचना के बाद वैयक्तिक सम्पत्ति के आरम्भ का प्रकार भी अगञ्ञसुत्त में वर्णित है । बौद्धग्रन्थों के अनुसार इसी सम्पत्ति की रक्षा के निमित्त राजा का निर्वाचन हुआ है ।

ऊपर लिख चुके हैं कि अधर्म राग को छिपाने के लिये गृहनिर्माण का आरम्भ हुआ है। जब लोग अपने गृहों में रागमय जीवन व्यतीत करने लगे तब किसी आलसी के मन में यह आया—'शाम सुबह, दोनों समय धान लाने के लिये जाने का कष्ट क्यों उठावें ? क्यों न एक ही बार शाम सुबह दोनों के खाने के लिये शालि ले आवें । तब वह प्राणी एक ही बार शामसुबह दोनों के खाने के लिये शालि ले आया। उस की देखादेखी कोई दूसरा प्राणी दो दिनों के लिये शालि ले आया। कोई अन्य प्राणी चार दिनों के लिये, कोई अन्य प्राणी आठ दिनों के लिये—

इस प्रकार प्राणी शालि को एकत्र करके खाने लगे। तब चावल के ऊपर कन भी, भूसी भी होने लगी। तब किसी जगह से एक बार उखाड़ लेने पर शाली के फिर नहीं जमने के कारण वह स्थान खाली मालूम होने लगा। शालि का खेत खण्ड खण्ड दिखलाई देने लगा।

तब वे सत्त्व एकत्रित होकर चिल्लाने लगे—उस शालि को हम लोग बहुत दिनों तक खाते रहे। तब हम लोगों के अकुशलधर्म प्रकट होने से कन भी, भूसी भी चावल के ऊपर आगई। आओ, हम लोग शालि (खेत) बांट लें और मर्यादा बांध दें। तब उन लोगों ने शालि बाँट ली और मर्यादा बांध दी ।

कोई लालची सत्त्व अपने भाग की रक्षा करता दूसरे के भाग को चुराकर खागया। उसे लोगों ने पकड़ लिया और कहा—मत फिर ऐसा करना। दूसरी बार भी वह दूसरे के भाग को चुराकर खागया तीसरी बार भी। कोई हाथ से मारने लगा, कोई डले से, कोई लाठी से । तभी से चोरी, निन्दा, मिथ्याभाषण और दण्डकर्म होने लगे।

तब वे प्राणी एकत्रित होकर कहने लगे—'प्राणियों में पापधर्म प्रकट हुए हैं। अतः हम लोग ऐसे एक प्राणी को निर्वाचित करें, जो हम लोगों के निन्दनीय कर्मों की निन्दा करे, उचित कर्मों को बतलावे; निकालने योग्य को निकाल दे और हम लोग उसे अपने शालि में से भाग दें।

चतुर्वर्णविभाग—

(क) क्षत्रिय राजा की उत्पत्ति—

तब वे प्राणी जो उनमें वर्णवान्, दर्शनीय, प्रासादिक और महाशक्तिशाली था, उसके पास जाकर बोले—हे सत्त्व! उचितानुचित का ठीक से अनुशासन करो, निन्दनीयकर्मों की निन्दा करो, उचितकर्मों को बतलाओ, निकालने योग्य को निकाल दो, हम लोग तुम्हें शालि का भाग देंगे[1]। बहुत अच्छा कहकर स्वीकार कर लिया। वह ठीक से उचितानुचित का अनुशासन करता था। लोग उसे शालि का भाग देते थे। महाजनों द्वारा सम्मत होने से 'महासम्मत' उसका पहला नाम पड़ा। क्षेत्रों का अधिपति होने से 'क्षत्रिय' उसका दूसरा नाम पड़ा[2]। धर्म से दूसरों का रञ्जन करने से 'राजा' तीसरा नाम पड़ा[3]।

१. मनु० १२६—१३२.

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥
पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥

शालिभाग रक्षा के निमित्त है। शालिभाग लेने पर भी रक्षा न करने से राजा नरक को जाता है।

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥ मनु० ८. ३०७.

२. महा० शान्ति०, अध्या० ५९, श्लो० १२६ में क्षत्रियपद की व्युत्पत्ति अन्य प्रकार से है:— ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते।

३. महा० शान्ति०, अध्या० ५९, श्लो० १२५.

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥

(ख) ब्राह्मण की उत्पत्ति—

तब उन्हीं प्राणियों में किन्हीं किन्हीं के मन में यह हुआ—प्राणियों में पाप-धर्म प्रादुर्भूत हो गये हैं जोकि चोरी होती है। अतः हम लोग अकुशलधर्मों को छोड़ दें; उन लोगों ने अकुशलधर्मों को छोड़ दिया। इसीलिये 'ब्राह्मण' उनका पहला नाम पड़ा। वे जंगल में पर्णकुटी बना कर वहीं ध्यान करते थे। उनके पास अंगार न था, धुआं न था, मुसल न था। वे शाम सुबह के भोजन के लिये ग्राम, निगम और राज-धानियों में जाते थे। भोजन कर फिर जंगल में अपनी कुटी में आकर ध्यान करते थे। उन्हें देखकर मनुष्यों ने कहा—ये सत्त्व जंगल में पर्णकुटी बना ध्यान करते हैं। इसी लिये उनका दूसरा नाम 'ध्यायक' पड़ा। उन्हीं सत्त्वों में कितने जंगल में पर्णकुटी बना ध्यान न पूरा कर सकने के कारण ग्राम वा निगम के पास आकर ग्रन्थ बनाते हुए रहने लगे। उन्हें देखकर मनुष्यों ने कहा—ग्रन्थ बनाते हुए रहते हैं, ध्यान नहीं करते। इसीलिये उनका नाम अध्यायक पड़ा।

(ग) वैश्य की उत्पत्ति—

उन्हीं प्राणियों में कितने मैथुन कर्म करके नाना कामों में लग गये। मैथुन कर्म करके नाना कामों में लग जाने के कारण वैश्य नाम पड़ा।

(घ) शूद्र की उत्पत्ति—

उन्हीं प्राणियों में बचे जो क्षुद्र आचार वाले प्राणी थे, क्षुद्र आचार करने से उनका नाम शूद्र पड़ा।

अगञ्ञसुत्तनिर्दिष्ट चतुर्वर्णविभाग के अनुसन्धान से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-धर्म में चतुर्वर्णोत्पत्ति का प्रकार स्वाभाविक है। वैदिकधर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष अर्थात् ब्रह्मा से हुई है[1]। जैनधर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन तीन वर्णों को अन्तिम कुलकर और प्रथम तीर्थ-कर ऋषभदेव ने बनाया। ऋषभदेव के पुत्र भरत ने इन तीनों वर्णों में से कुछ लोगों को चुनकर ब्राह्मण वर्ण बनाया। ऋग्वेद के अनुसार वर्णव्यवस्था दैवी कृति है। जैनशास्त्रों के अनुसार वर्णव्यवस्था तीर्थकरों की कृति है, दैवी कृति नहीं। तो भी जैनधर्म के आदिपुराण में वर्णित वर्णव्यवस्थाप्रकार ऋग्वेद में वर्णित वर्णव्यवस्थाप्रकार

१. ऋग्वेद १०, ६०, १२ : ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

२. ओरियण्टल कालेज मैगज़ीन, मई, १९४१, पृ० २५-२६.

से समता रखता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[1] में लिखा है कि ब्राह्मणादिवर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है। ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। आदिपुराण[2] में लिखा है कि ऋषभदेव ने हाथ में तलवार लेकर क्षत्रियवर्ण की, ऊरु से चलने का संकेत करते हुए व्यापार-वृत्तिवाले वैश्य की, चरणों से नीचवृत्तिवाले शूद्र की उत्पत्ति की। किन्तु बौद्धधर्म में मुखादि अङ्गों द्वारा वर्णोत्पत्ति का ज़िक्र कहीं भी नहीं। बौद्धवर्णव्यवस्था का प्रकार वैदिक तथा जैन वर्णव्यवस्था के प्रकार से सर्वथा ही भिन्न है।

वैदिकधर्म में ब्राह्मण का क्षत्रियवैश्यशूद्र की, क्षत्रिय का वैश्यशूद्र की, वैश्य का शूद्र की अपेक्षा विशेष गौरव है। लघ्वर्हन्नीति की आलोचना में दिखा चुके हैं कि जैन नीतिकारों ने भी लौकिक व्यवहार में श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादित वर्ण की उच्च-नीचता को माना है। किन्तु बौद्धधर्म में वर्णव्यवस्थासम्बन्धी वैदिक तथा जैन मर्यादा का अङ्गीकार नहीं किया गया। बौद्धधर्म के अनुसार जन्म से वर्ण का प्राधान्य नहीं है। उदाहरणार्थ—अपराध के सदृश होने पर वैदिक तथा जैन नीति-शास्त्रों में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण को उत्तरोत्तर न्यून दण्ड देने का निर्देश है। सदृश अपराध होने पर दण्डवैषम्य जन्मप्राधान्य का सूचक है। किन्तु वैदिक तथा जैन नीतिकारों के इस मन्तव्य से बौद्ध नीतिकार कदापि सहमत नहीं। अगञ्ञ-सुत्तनिर्दिष्ट वर्णोत्पत्तिप्रकार से क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र की उत्तरोत्तरनिकृष्टता

---

१. ऋग्वेद १०, ६०, १२.

२. आदिपुराण, पर्व १६, श्लो० २४१-२४६.

अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य सन्निधौ।
प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट्॥
कृत्वादितः प्रजासर्गं तद्वृत्तिनियमं पुनः।
स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात्प्रजाः॥
स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः॥
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः।
जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः॥
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत्सुधीः।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता।
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान्॥

सिद्ध होती है, किन्तु इस निकृष्टता का आधार आचरण है, जन्म नहीं। शुभाचरणों द्वारा वैश्य और शूद्र भी क्षत्रिय और ब्राह्मण की तरह उत्तमगति को पहुंच सकते हैं¹।

लक्खणसुत्त—

दीघनिकाय के अगञ्ञसुत्त से राजवाद और समष्टिवाद का, अर्थात् राजाद्वारा व्यवहारसमानता का, दिग्दर्शन होजाता है। किन्तु अगञ्ञसुत्त में राजा के लक्षणों का ज़िक्र नहीं है। बौद्ध राजा के लक्षणों का ज्ञान हमें दीघनिकाय के लक्खणसुत्त से होता है। लक्खणसुत्त में बौद्ध राजा के सात रत्न कहे हैं—(१) चक्ररत्न, (२ हस्तिरत्न, (३) अश्वरत्न, (४) मणिरत्न, (५) स्त्रीरत्न, (६) गृहपतिरत्न, और (७) पुत्ररत्न। इन सात रत्नों से चक्रवर्ती राजा होता है। लक्खणसुत्त में लिखा है कि चक्रवर्ती राजा सागरपर्यन्त इस पृथ्वी को दण्ड और शस्त्र के बिना ही धर्म से जीत कर रहता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्ध राजा के लिये दण्डविधान वा शस्त्रविधान का निषेध है। क्योंकि लक्खणसुत्त के इसी प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि चक्रवर्ती राजा के एक हज़ार से भी अधिक शूर-वीर, दूसरे की सेनाओं का मर्दन करने वाले पुत्र होते हैं। 'दूसरे की सेनाओं का मर्दन करने वाले' इसी वाक्यांश से बौद्ध-चक्रवर्तिराज्यसंस्थापन में अस्त्रशस्त्र का प्रयोग सिद्ध होजाता है। दण्ड और शस्त्र को उपयोग में न लाकर धर्म से पृथ्वीविजय का अभिप्राय यही हो सकता है कि राजा धर्मद्वारा न कि दण्डद्वारा प्रजा का शासन करे।

लक्खणसुत्त में राजा के बत्तीस लक्षण बताये हैं। आश्चर्य है कि ये बत्तीस लक्षण राजा की शारीरिक विशेषताओं से ही सम्बद्ध हैं। लक्खणसुत्त में लिखा है कि राजा (१) सुप्रतिष्ठितपाद, (२) सर्वाकारपरिपूर्ण, नाभिनेमियुक्त और सहस्रअरोंवाले चक्र से युक्त पादतल वाला (३) आयतपार्ष्णि, (४) दीर्घाङ्गुल, (५) मृदुतरुणहस्तपाद, (६) जालहस्तपाद, (७) उस्संखपाद, (८) एणीजंघ, (९) आजानुबाहु, (१०) कोषाच्छादितवस्तिगुह्य, (११) सुवर्णवर्ण, (१२) सूक्ष्मछवि, (१३) एकैकलोम, (१४) ऊर्ध्वाग्रलोम, (१५) ब्राह्म-ऋजु-गात्र, (१६) सप्त-उत्सद, (१७) सिंह-पूर्वार्द्धकाय, (१८) चितान्तरस, (१९) न्यग्रोधपरिमण्डल, (२०) समवर्तस्कन्ध, (२१) रसग्गसग्गी, (२२) सिंहहनु, (२३) चत्वालीसदन्त, (२४) समदन्त, (२५) अविवरदन्त, (२६) सुशुक्ल-दाढ, (२७) प्रभूतजिह्व, (२८) ब्रह्मस्वर करविंक स्वर वाला,

१—कर्मप्राधान्य तथा जातिखण्डन के लिये देखिये क्रमशः अगञ्ञसुत्त, पृ० २४०-२४१; २४५ और अम्बट्ठसुत्त पृ० ३८-३९.

(२९) अभिनीलनेत्र, (३०) गोपक्ष्मवाला, (३१) भौहों के बीच में श्वेत कोमल कपास सी ऊर्णा वाला, और (३२) उष्णीषशीर्ष हो।

लक्खणसुत्त में राजा के बत्तीस शारीरिक लक्षणों के अनन्तर प्रियकारिता, सत्यवादिता, मधुरभाषिता आदि कुछ अन्य लक्षण भी बताये हैं। राजा के सात्त्विक लक्षणों के वर्णन में बौद्ध तथा वैदिक राजनीति में कुछ अन्तर नहीं।

चक्कवत्तिसीहनादसुत्त—

दीघनिकाय के चक्कवत्ति-सीहनादसुत्त में चक्रवर्तिव्रत का निरूपण है। चक्रवर्त्ति राजा के लिये इस व्रत का पालन अत्यन्त आवश्यक है। इस व्रत के त्याग से लोगों में निर्धनता और असन्तोष फैल जाते हैं। निर्धनता सभी पापों की जननी है। पापों से आयु और वर्ण का ह्रास हो जाता है। पशुवद् व्यवहार और नरसंहार का भय सदा ही उपस्थित रहता है। चक्रवर्त्तिव्रत इस प्रकार है:—

बौद्ध चक्रवर्ती राजा को चाहिये कि वह अपने आश्रितों में, अनुगामियों में, सेना में, क्षत्रियों में, गृहपतियों में, नैगमों और जानपदों में श्रमण और ब्राह्मणों में, मृग और पक्षियों में धर्म ही के लिये धर्म का सत्कार करे। वह धर्मध्वज हो, धर्मकेतु हो, धर्माधिपति हो, सभी धार्मिक बातों की रक्षा का विधान करे, ताकि राज्य में कहीं भी अधर्म न होने पावे। जो राज्य में निर्धन हों उन्हें धन देवे। राज्य में जो श्रमण और ब्राह्मण मदप्रमाद से विरत हों, क्षान्ति के अभ्यास में लगे हों, केवल आत्मदमन, आत्मशमन, आत्मनिर्वापन करते हों उनके पास समय समय पर जाकर पूछना चाहिये—भन्ते! क्या भलाई है, क्या बुराई, क्या सदोष है, क्या निर्दोष, क्या सेवनीय है, क्या असेवनीय, क्या करने से भविष्य अहित और दुख के लिये होगा, क्या करने से भविष्य हित और सुख के लिये होगा, उनके कहे हुए को सुन, जो बुराई है उसका त्याग करना चाहिये और जो भलाई है उसका ग्रहण करके पालन करना चाहिये। यही चक्रवर्ती-व्रत है।

महापरिनिब्बाणसुत्त—

दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त में चक्रवर्ती राजा के चार गुण बतलाए हैं। इन चार गुणों का सम्बन्ध प्रजा को सन्तुष्ट करने से है। वे चार गुण इस प्रकार से हैं:—

यदि (१) क्षत्रियपरिषद्, (२) ब्राह्मणपरिषद्, (३) गृहपतिपरिषद्, और (४) श्रमणपरिषद् चक्रवर्ती राजा का दर्शन करने जाती है, तो दर्शन से सन्तुष्ट हो जाती है।

वहां यदि चक्रवर्ती राजा भाषण करता है तो भाषण से सन्तुष्ट हो जाती है और अतृप्त ही रहती है यदि चक्रवर्ती राजा चुप हो जाता है।

यहां पर एक ही प्रजासन्तोषक गुण क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति और श्रमण-इन चार परिषदों से सम्बद्ध होने के कारण चार प्रकार का हो जाता है।

बौद्धपिटकों में केवल राजतन्त्र शासन का ही नहीं, गणतन्त्र शासन का भी ज़िक्र है। महापरिनिब्बाणसुत्त में लिखा है कि मगध के राजा अजातशत्रु वज्जियों के साथ युद्ध करना चाहते थे। गौतमबुद्ध के पास इस विषय पर परामर्श करने के लिये उन्होंने अपने अमात्य वर्षकार को भेजा।

वज्जिराज्य गणतन्त्र राज्य था। गौतम बुद्ध जानते थे कि अजातशत्रु संगठित वज्जियों को जीत नहीं सकेंगे। वर्षकार को इस बात से सूचित करने के लिये उन्होंने वर्षकार के सामने अपने शिष्य आनन्द को संबोधित करते हुए इस प्रकार कहा —

१. आनन्द ! क्या तूने सुना हैं कि वज्जी (सम्मति के लिये) बराबर बैठक (=सन्निपात) करते हैं? आनन्द! जब तक वज्जी बैठक करते रहेंगे, तब तक आनन्द ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

२. क्या आनन्द ! तूने सुना है, वज्जी एक हो बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं, वज्जी एक हो करणीय करते हैं ? आनन्द ! जब तक०

३. क्या० सुना है, वज्जी अप्रज्ञप्त (गैरकानूनी) को प्रज्ञप्त (विहित) नहीं करते, प्रज्ञप्त (=विहित) का उच्छेद नहीं करते ? जैसे प्रज्ञप्त है वैसे ही पुराने वज्जिधर्म को ग्रहण कर वर्तते हैं ? आनन्द ! जब तक०

४. क्या० सुना है, वज्जियों के जो महल्लक (=वृद्ध) हैं, उनका वह सत्कार करते हैं, उनकी बात सुनने योग्य मानते हैं। आनन्द ! जब तक०

५. क्या० सुना है, जो कुलस्त्रियां हैं, कुल-कुमारियां हैं, उन्हें छीन कर जबर्दस्ती नहीं बसाते ? आनन्द ! जब तक०

६. क्या० सुना है, वज्जियों के नगर के भीतर वा बाहर के जो चैत्य हैं वे उनका सत्कार करते हैं, उनके लिये पहले किये गये दान को, धर्मानुसार पहिले कीगई बलि का लोप नहीं करते ? आनन्द ! जब तक०

७. क्या० सुना है, वज्जी लोग अर्हतों की अच्छी तरह रक्षा करते हैं ? किस लिए ? भविष्य में अर्हत् राज्य में आवें, आये अर्हत् राज्य में सुख से विहार करें।

तब गौतम बुद्ध ने वर्षकार ब्राह्मण को कहा - ब्राह्मण ! एक समय मैं वैशाली के सारन्दद चैत्य में विहार करता था। वहां मैंने वज्जियों को यह सात अपरिहाणीय

धर्म कहे । जब तक ब्राह्मण ! ये सात अपरिहाणीय धर्म वज्जियों में रहेंगे तब तक ब्राह्मण ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं ।

ऐसा कहने पर वर्षकार गौतम से बोला—

हे गौतम ! एक भी अपरिहाणीय धर्म से वज्जियों की वृद्धि ही समझनी होगी, सात अपरिहाणीय धर्मों की तो बात ही क्या ? हे गौतम ! राजा को उपलाप (रिश्वत देना), या आपस में फूट को छोड़, युद्ध करना ठीक नहीं ।

ब्राह्मण ! जिस का तू काल समझता है । गौतम ने कहा ।

वर्षकार ब्राह्मण ने गौतम का यह कथन अजातशत्रु को जा सुनाया । अजातशत्रु ने भेदनीति से ही वज्जियों को परास्त करने का निश्चय किया ।

'वज्जियों के पक्ष की बात करता है' इस तरह का झूठा दोष लगा कर अजातशत्रु ने वर्षकार का सिर मुंडा कर उसे नगर से निकाल दिया, तब वर्षकार वज्जियों से जा मिला । 'हमारा पक्ष लेने से अजातशत्रु ने इसे निकाल दिया है' इसलिए वज्जियों ने वर्षकार का स्वागत कर उसे विनिश्चयमहामात्य बना दिया । अधिकार मिलने के अनन्तर वर्षकार ने नीतियुक्तिद्वारा तीन वर्ष में वज्जिगणमुख्यों में ऐसी फूट डाल दी कि दो आदमी एक रास्ते से भी न जाते थे । तब वर्षकार ने अजातशत्रु को जल्दी आने के लिये खबर भेजी। अजातशत्रु खुले द्वारों से ही वैशाली में घुसकर सब का विध्वंस कर चला गया ।

शान्तिपर्व महाभारत[1] के युधिष्ठिरभीष्मसंवाद से भी भेद को ही गणविनाश का मूल कारण सिद्ध किया है। लोभ और अमर्ष —भेद के ये दो मुख्य कारण हैं । गणतन्त्र राज्य में मन्त्रगुप्ति भी कठिन है। इसीलिये शान्तिपर्व में गणतन्त्रराज्य का वर्णन करते हुए भीष्म ने गणतन्त्रराज्य में गणमुख्यों का होना आवश्यक कहा है । बौद्ध और वैदिक नीतिसाहित्य गणतन्त्रराज्य की अपेक्षा राजतन्त्र राज्य को ही श्रेष्ठ समझते हैं ।

मज्झिमनिकाय—

दीघनिकाय की वर्णव्यवस्था में कर्मप्राधान्य का निरूपण हम कर चुके हैं, इस बात का भी विवरण कर दिया है कि वैदिक तथा जैन नीतिग्रन्थ सदृश अपराध के होने पर भी प्रतिवर्ण समान दण्ड का विधान नहीं करते, किन्तु बौद्धग्रन्थों के अनुसार अपराध के, न कि वर्ण के, दृष्टिकोण से अपराधी को दण्ड दिया जाता है ।

---

१. गणवृत्त के अनुसन्धानार्थ देखिये महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १०७, श्लो० ६-३२.

दीघनिकाय में दण्डों का विवरण ही नहीं। दण्डज्ञान के लिये सुत्तपिटक के अन्तर्गत मज्झिमनिकाय का आश्रय लेना पड़ता है।

अहिंसासिद्धान्त के प्रधान प्रचारक बौद्धधर्म से आकांक्षित होता है कि इसकी दण्डविधि वैदिक धर्म की अपेक्षा कठोर न होगी। किन्तु मज्झिमनिकाय के महादुक्खक्खन्धसुत्त की आलोचना से बौद्धदण्डविधि की अकठोरता आकांक्षामात्र रह जाती है। बौद्धधर्म के दण्डों की कठोरता का परिचय महादुक्खक्खन्धसुत्त के पढ़ने से ही बनता है।

महादुक्खक्खन्धसुत्त में कुछ अपराधों का ज़िक्र है:—जैसे सेंध लगाना, गांव उजाड़ना, चोरी करना, मार्ग में लूटना, परस्त्रीगमन आदि। इन तथा अन्य अपराधों के निमित्त कुछ दण्डों का विवरण इस प्रकार है:—(१) चाबुक से पिटवाना, (२) जुर्माना करना, (३) हाथ काटना, (४) पैर काटना, (५) हाथ-पैर काटना, (६) कान काटना, (७) कान-नाक काटना, (८) बिलंग-थालिक करना अर्थात् खोपड़ी हटाकर शिर पर तप्त लोहे का गोला रखना, (९) शंखमुंडिका, अर्थात् शिर का चमड़ा आदि हटाकर उसे शंख समान बनाना, (१०) राहुमुख, अर्थात् कानों तक मुंह को फाड़ देना, (११) ज्योतिर्मालिका, अर्थात् शरीर भर में तैलसिक्त कपड़ा लपेट बत्ती जलाना, (१२) हस्तप्रज्योतिका, हाथ में कपड़ा लपेट कर जलाना, (१३) एरकवर्तिका अर्थात् गर्दन तक खाल खींच कर घसीटना, (१४) चीरकवासिका, अर्थात् ऊपर की खाल को खींच कर कमर पर छोड़ना और नीचे की खाल को घुट्टी पर छोड़ देना (१५) ऐणेयक अर्थात् केहुनी और घुटने में लोहशलाका ठोक उनके बल भूमि पर स्थापित कर आग लगाना, (१६) वडिशमंसिका, अर्थात् वंशी की तरह के लोह-अंकुशों को मुंह से डाल कर निकालना, (१७) कार्षापणक, अर्थात् पैसे पैसे भर के मांस के टुकड़ों को सारे शरीर से काटना, (१८) खारापतच्छिका, अर्थात् शरीर में घाव कर क्षार लगाना, (१९) परिघपरिवर्तिका, अर्थात दोनों कानों से कीला पार कर उसे जमीन में गाड़ कर पैर पकड़ उसी के चारों ओर घुमाना, (२०) पलालपीठक, अर्थात् मुंगरों से हड्डी को भीतर ही भीतर चूरकर शरीर को मांस-पुंज-सा बना देना, (२१) तप्त तैल से स्नान करवाना, (२२) कुत्तों से कटवाना, (२३) जीते जी शूली चढ़वाना, (२४) तलवार से सिर कटवाना।

संयुत्तनिकाय—

संयुत्तनिकाय में नीतिविषयक सामग्री नहीं है। इसलिए यहां पर संयुत्तनिकाय की आलोचना अप्राकरणिक है।

अंगुत्तरनिकाय—

अंगुत्तरनिकाय के दुकनिपात में भी अड्ढदण्डक, बिलङ्गथालिक, राहुमुख, जोतिमालिक, हत्थपज्जोतिक, एरकवत्तिक चीरकवासिक, ऐणेयक आदि घोर दण्डों का वर्णन है। अंगुत्तरनिकाय तथा मज्झिमनिकाय के इन दण्डविषयक प्रकरणों से सिद्ध होता है कि अपराध के निमित्त घोर दण्ड देने में बौद्ध राजा को कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं।

खुद्दकनिकाय—

सुत्तपिटक के अन्तर्गत खुद्दकनिकाय के जातकों से हमें बौद्धशासनसिद्धान्तों का प्रचारात्मक ज्ञान होता है। जातकों की संख्या ५५० है। अशोक के राज्य में अर्थात् ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्यभाग में बौद्धधर्मप्रचारक मलिन्द इन जातकों को सिंहलद्वीप में लेगये। वहां पर उन्होंने इन जातकों का पालीभाषा से सिंहलीभाषा में अनुवाद करवाया। कुछ समय के अनन्तर पालीभाषा में लिखे हुए मूल जातकों का लोप होगया। तब ईसा से पश्चात् पांचवीं शताब्दी में बुद्धघोष ने सिंहलीभाषा से पालीभाषा में जातकों का अनुवाद किया। मूलपालीभाषा के जातक सर्वथा ही लुप्त हो गये हैं।

ऊपर लिख चुके हैं कि जातकों की संख्या ५५० है। जातकों में नीतिविषयक प्रकरण भी पर्याप्त संख्या में हैं। सिंहलीभाषा से पालीभाषा में अनूदित ये जातक खुद्दकनिकाय के मूल पाली भाषा में लिखे हुए लुप्त जातकों से किसी अंश में भिन्न ही होंगे। इसलिए जातकों की नीतिविषयक आलोचना पृथक् लेख में ही ठीक रहेगी।

II. विनयपिटक

सुत्तविभंग—

त्रिपिटक में विनयपिटक का प्रथम स्थान है। क्योंकि बौद्धसिद्धान्तों के अनुसार सृष्टिरचना के अनन्तर वर्णोत्पत्ति तथा राजा के चुनाव का जिक्र सुत्तपिटक में आता है इसलिए क्रमानुसार द्वितीय स्थान होने पर भी इस लेख में सुत्तपिटक को प्रथम स्थान दिया गया है। नीतिविषयक्रम से विनयपिटक का स्थान सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक के मध्य में है। इसलिए सुत्तपिटक की नीतिविषयक आलोचना के अनन्तर विनयपिटक का नीतिविषयक अनुसन्धान यहां पर अपेक्षित है।

ऊपर दिखा चुके हैं कि विनयपिटक चार विभागों में विभक्त हैं:—

(१) सुत्तविभंग, (२) खण्डकग्रन्थ, (३) परिवारपत्त (४) पातिमोक्ख। सुत्तविभंग के दो विभाग हैं:—(१) पाराजिक, (२) पाचित्तिय।

पाराजिक में चार नियमों का वर्णन है। इस वर्णन में असत्यप्रतिज्ञा, चौर्य, जीवघात, असत्यभाषण आदि कुछ अपराधों का ज़िक्र है जिनके कारण भिक्षु पराजित तथा सङ्घदूषित हो जाते हैं। इससे असत्यप्रतिज्ञादि अपराधों की पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है।

पाचित्तिय के निन्यानवें नियम हैं अर्थात् पाचित्तिय में निन्यानवें अपराधों के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इनमें से पृथ्वीखनन आदि कुछ अपराध तो मामूली हैं, (अर्थात् कुछ अपराध भिक्षुओं के लिये ही हैं, यदि साधारण पुरुष उन अपराधों को करे तो उन्हें अपराध ही नहीं समझा जाता) किन्तु कुछ अपराध प्राणिमात्र के लिये एक-से हैं। मज्झिमनिकाय अंगुत्तरनिकाय और सुत्तविभंग की यह अपराधसंख्या बौद्ध अपराधकोष की रचना में पर्याप्त सहायक हो सकती है।

विनयपिटक के खण्डक—

विनयपिटक के दो खण्डक हैं:-(१) महावग्ग और (२) चुल्लवग्ग। इन खण्डकों में बौद्धभिक्षुसङ्घ की कार्यप्रणाली का निरूपण है जिससे बौद्धराज्य की तात्कालिक गणतन्त्र शासनपद्धति का अनुमान होसकता है। भिक्षुसङ्घ की आयोजना गणसङ्घ की आयोजना पर आश्रित है। गणसङ्घ की शासनप्रणाली के अनुमानतः ज्ञान के लिये खण्डकों में वर्णित भिक्षुसङ्घ की कार्यप्रणाली का निरूपण यहां पर प्राकरणिक होगा।

भिक्षुसङ्घ की कार्यप्रणाली के बारे जायसवाल ने हिन्दूराजनीति में चुल्लवग्ग और महावग्ग के उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणों से पता चलता है कि भिक्षुसभा में प्रत्येक भिक्षु को बैठाने के लिये आसनों का प्रबन्ध था। बैठाने के लिये आसनों का प्रबन्ध करने वाले का नाम चुल्लवग्ग में आसनपञ्ञापक (आसनप्रज्ञापक) दिया है।

कार्यविशेष पर विचार करने से पहले सभासदों को तद्विषयक सूचना दी जाती थी। विचार के लिये समय नियत कर लिया जाता था। 'सूचना' के लिये बौद्धसाहित्य में 'ञत्ति' (='ज्ञप्ति') शब्द का प्रयोग किया है। जब कार्यवाही के लिये सभा एकत्रित होती तब सभा के आगे प्रस्ताव रक्खा जाता था। बौद्धसाहित्य में 'प्रस्ताव' का नाम 'प्रतिज्ञा' है। जो भिक्खु प्रस्ताव के पक्ष में होते थे चुपचाप बैठे रहते थे और जो विरुद्ध होते थे उन्हें बोलना पड़ता था। इस तरह तीन वार प्रस्ताव रक्खा जाता था। भिक्षुसङ्घ के चुपचाप बैठे रहने पर प्रस्ताव पास हो जाता था। चुल्लवग्ग के

कई प्रकरणों में प्रस्तावों का ज़िक्र आता है। उदाहरणार्थ, यहां पर महाकस्सप के भिक्खुसम्बन्धी प्रस्ताव का हम निरूपण करते हैं।

महाकस्सप—

पूज्य सङ्घ मेरी बात सुने। यदि सङ्घ के लिये यह समय विचारार्थ अनुकूल हो तो सङ्घ आज्ञा देवे कि पांच सौ भिक्खू वर्षाऋतु को राजगृह में वास करें और वहां जाकर धर्म और विनय का पाठ करें। पांच सौ के अतिरिक्त और कोई भिक्खु वर्षा ऋतु में राजगृह को न जावे। यह प्रतिज्ञा है। पूज्य सङ्घ इस प्रतिज्ञा को सुने। सङ्घ पांच सौ भिक्खुओं को इस तरह नियुक्त करता है। पूज्य सङ्घ में से जो भिक्खु इस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हैं वे चुप रहें और जो अनुमोदन नहीं करते वे बोलें। मैं समझता हूं कि सङ्घ अनुमोदन करता है इसलिये सङ्घ चुप है।

भिक्खुसभा में भिक्खुओं की संख्या नियत होती थी। किसी भी प्रस्ताव पर विचार करने के लिये कम से कम बीस भिक्खुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। आवश्यक संख्या के अपूर्ण होने पर प्रस्ताव का पास करना अन्याय्य था। आवश्यक संख्या की पूर्ति के लिये भिक्खुसभा में भिक्खुओं को निमन्त्रित करना गणपूरक का कर्तव्य था।

यदि किसी प्रस्ताव का विरोध हो जाता था तो अधिकांश सभासदों की राय पर उसका निर्णय होता था। यदि अधिकांश सभासद विरुद्ध होते थे तो उस प्रस्ताव के लिये स्वीकृति नहीं दी जाती थी। महावग्ग में मत प्रकट करने को छन्द (=वोट) कहा है। अधिकांश छन्द से कार्यनिर्णय के लिये पालीभाषा में येभुय्यसिक पद का प्रयोग है। येभुय्यसिक पद की संस्कृत छाया येभूयसीयक है।

मत प्रकट करने के लिये शलाका का प्रकार था। शलाकाओं के भिन्न भिन्न वर्ण होते थे। वर्णभेद से मतभेद का तात्पर्य था। प्रत्येक सभासद अपना मत प्रकट करने के लिये अभीष्ट वर्ण की शलाका को ले सकता था। बौद्धसाहित्य में इसे 'शलाकाग्रहण' कहा है। किस मत को प्रकट करने के लिये किस वर्ण की शलाका लेनी चाहिये—यह बताने के लिये शलाकाग्राहक का भी ज़िक्र आता है। शलाकाग्राहक ही शलाकाओं को एकत्रित करता था।

शलाकाग्राहक के लिये पांच गुण आवश्यक हैं:—(१) पक्षपातशून्यता, (२) ईर्ष्याराहित्य, (३) मूर्खत्वाभाव, (४) निर्भीकता और (५) शलाकाविषयक ज्ञान।

शलाकाग्राहक के चुनाव के बारे भी चुल्लवग्ग से पर्याप्त सामग्री मिलती है। पहले जिस भिक्खु को शलाकाग्राहक बनाना हो सविनय उसकी स्वीकृति लेनी

चाहिये। यदि वह भिक्खु शलाकाग्राहक बनने को स्वीकृति दे देवे तब शलाकाग्राहक बनाने के प्रस्ताव को किसी निपुणभिक्षुद्वारा सङ्घ में रखवाना चाहिये। प्रस्ताव उपस्थित करने की विधि इस तरह है :—

प्रस्तावक—पूज्य भिक्खुसङ्घ मेरी बात सुने। यदि भिक्खुसङ्घ विचार के लिये इस समय को उचित समझे तो सङ्घ को चाहिये कि वह अमुक नाम के भिक्खु को शलाकाग्राहक नियुक्त करे। शलाकाओं का एकत्रीकरण शलाकाग्राहक का कर्तव्य होगा। धर्मैकचित्त भिक्खु लोग बहुसंख्या में जिस प्रस्ताव का समर्थन करेंगे वही प्रस्ताव माना जायेगा।

प्रस्ताव पर प्रत्येक भिक्खु की अनुमति लेने के तीन प्रकार थे :—(१) गूल्हक (२) सकण्णजप्पक, और (३) विवटक। गूल्हक से गूढ़ का अभिप्राय है। यदि कोई भिक्खु गूढ़ अनुमति देना चाहता था तो शलाकाग्राहक का कर्तव्य था कि वह एकान्त में उसके पास जाकर उसे समझावे कि प्रस्तुतविषय के निर्णय में अमुक वर्ण की शलाका का अमुक मत से सम्बन्ध है। तब सभासद को चाहिये कि वह जिस पक्ष का समर्थन करना चाहता हो उसी पक्ष के सूचक वर्ण की शलाका को शलाकाग्राहक से लेकर फिर उसे दे देवे और साथ ही उसे कह दे कि वह उसको शलाका किसी को न दिखावे।

जब कभी सङ्घ में किसी प्रस्ताव का निर्णय न होसके तो सङ्घ को अधिकार था कि वह उस प्रस्ताव पर एकदेशाधिकारिणी कमेटी को नियुक्त करे। यदि एकदेशाधिकारिणी कमेटी भी किसी निर्णय पर न पहुंच सके तो सङ्घ को निर्णय करने का पूर्ण अधिकार था। प्रस्ताव के विवादास्पद होने पर बहुमत के अनुसार ही निर्णय करने की प्रथा प्रचलित थी।

जब कभी एक बार कमेटी किसी प्रस्ताव का निर्णय करलेती थी तो वह निर्णय सदा के लिये माना जाता था। उस प्रस्ताव का फिर से उद्घाटन नहीं हो सकता था।

यदि किस प्रस्ताव की विवेचना पर सङ्घ में से कोई भिक्खु अनुचित वाग्व्यवहार करे तो उसे यथोचित दण्ड देने का सङ्घ को पूर्ण अधिकार था।

महावग्ग और चूलवग्ग में वर्णित भिक्खुसङ्घ की कार्यपद्धति के नियमों से गणसङ्घ राज्य के नियमों का ज्ञान हो सकता है। सम्भव है कि गौतम बुद्ध ने भिक्खुसङ्घ की कार्यप्रणाली की नींव गणतन्त्र राज्य की प्रचलित शासनपद्धति पर ही रक्खी हो।

गणतन्त्र राज्य की तात्कालिक शासनप्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ने के साथ ही दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं:—एक तो गणतन्त्र राज्य की शासनप्रणाली में लोकमत का विशेष आदर था; और दूसरा लोकमत के यथार्थ ज्ञान के सभी प्रकार मर्यादित और नियमित थे।

ਆਧੁਨਿਕ ਬੰਗਲਾ-ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਚਾਲ

ਬੰਗਲਾ ਸਾਹਿਤ ਨੂੰ ਰਾਬਿੰਦਰ ਨਾਥ ਟੈਗੋਰ (ਰਵਿੰਦ੍ਰ ਨਾਥ ਠਾਕੁਰ) ਦੀ ਮਹਾਨ ਪ੍ਰਤਿਭਾ ਤੋਂ ਜੇਹੜਾ ਮਹਾਦਾਨ ਪ੍ਰਾਪਤ ਹੋਇਆ, ਓਸਨੂੰ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਸ ਰਾ ਸੰਸਾਰ ਜਾਣਦਾ ਹੈ। ਬੰਗਲਾ ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਆਕਾਰ ਨੂੰ ਵਧਾਣ ਤੇ ਉਸਨੂੰ ਵਿਸ਼ਾਲ ਕਰਨ ਦਾ ਜੱਸ ਵੀ ਟੈਗੋਰ ਨੇ ਹੀ ਖਟਿਆ ਹੈ। ਸਾਹਿਤ ਦੇ ਹਰੇਕ ਅੰਗ ਨੂੰ ਆਪ ਨੇ ਨਵੀਂ ਸ਼ੈਲੀ ਬਖ਼ਸ਼ੀ ਹੈ ਤੇ ਉਸਨੂੰ ਆਪਣੀਆਂ ਉੱਚੀਆਂ ਭਾਵਨਾਂਵਾਂ ਨਾਲ ਵਿਗਾਸ ਤੇ ਉਨੱਤ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਕਵੀ ਤੋਂ ਵਧ ਕੇ ਆਪ ਸਾਡੀਆਂ ਨਜ਼ਰਾਂ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਮਹਾ ਕਵੀ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਉਪਸਥਿਤ ਹਨ; ਆਪ ਦਾ ਕਾਵਯ ਸਾਹਿਤ ਅਮਰ ਰਹੇਗਾ, ਪਰ ਵਰਤਮਾਨ ਕਾਲ ਦੀ ਕਾਵਯ-ਧਾਰਾ ਟੈਗੋਰ-ਕਾਵਯ ਦੇ ਉਲਟ ਤੇਜ਼ੀ ਨਾਲ ਵਗ ਰਹੀ ਹੈ ਤੇ ਸਾਹਿੱਤ ਵਿੱਚ ਟੈਗੋਰ ਦੇ ਜੁਗ ਨੂੰ ਹੁਣ ਮੁਕ ਚੁੱਕਾ ਸਮਝਣ ਲਗ ਪਏ ਹਨ। ਏਹਦੇ ਕਈ ਕਾਰਨ ਹਨ। ਟੈਗੋਰ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਸਾਡੀ ਦੁਨੀਆਂ ਨਾਲੋਂ ਵਧੇਰੇ ਇਕ ਅਜੇਹੇ ਵਿਸ਼ਵ ਨਾਲ ਸੰਬੰਧਿਤ ਹੈ ਜਿਥੇ ਬਹੁਤ ਥੋੜਿਆਂ ਆਦਮੀਆਂ ਦੀ ਪਹੁੰਚ ਹੈ। ਉਹਦਾ ਤਅੱਲੁਕ ਸਾਡੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਬਾਹਰਲੇ ਹਿੱਸੇ ਨਾਲ ਨਹੀਂ, ਬਲਕਿ ਅੰਦਰਲੇ ਹਿੱਸੇ ਨਾਲ ਹੈ ਤੇ ਅਜਕਲ ਦੇ ਮਾਨਵ-ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਜੇਹੜਾ ਖ਼ੂਨ ਖ਼ਰਾਬਾ, ਇਨਕਲਾਬ ਹੋ ਰਹਿਆ ਹੈ ਉਹਦੇ ਵਿਚ ਮਨੁੱਖ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰਲੇ-ਹੁਸਨ ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਮੁਸ਼ਕਲਾਂ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਹੱਲ ਵਲ ਜ਼ਿਆਦਾ ਧਿਆਨ ਦੇ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਮਨੁਖ ਨੂੰ ਹੁਣ ਪਰਲੋਕ ਦੀ ਭਾਵਨਾ ਤੋਂ ਉਪਜਿਆ ਦਰਸ਼ਨ ਓਨੀ ਖਿੱਚ ਨਹੀਂ ਪਾਂਦਾ ਜਿੰਨਾ ਏਸ ਦੁਨੀਆਂ ਦੀਆਂ ਔਕੜਾਂ ਤੋਂ ਉਗਮੀਆਂ, ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਘਟਨਾਂਵਾਂ ਦਾ ਗ਼ੈਰ ਮਾਮੂਲੀ ਚਿਤਰਣ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਏਹੀ ਕਾਰਨ ਹੈ ਕਿ ਟੈਗੋਰ ਦੀਆਂ ਦਾਰਸ਼ਨਿਕ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਦਿਆਂ ਉੱਚਿਆਂ ਭਾਵਾਂ, ਬੁਲੰਦ ਖ਼ਿਆਲਾਂ, ਤੀਕ ਪੁਜਣਾ ਅਜਕਲ ਟੈਗੋਰ ਹੀ ਜਹਿਆਂ ਸਾਧਕਾਂ ਦਾ ਕੰਮ ਹੈ। ਆਮ ਲੋਕਾ ਦਾ ਨਹੀਂ, ਤੇ ਖ਼ਾਸ ਕਰ

ਮੌਜੂਦਾ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਜਦ ਕਿ ਸਾਹਿੱਤ ਸੰਕੀਰਣਤਾ ਤੋਂ ਤੰਗ ਆ ਕੇ ਸਾਧਾਰਣ ਮਨੁੱਖਾਂ ਨੂੰ ਵੀ ਅਪਨਾਣ ਦੀ ਮਹੱਤਾ ਵਲ ਵੱਧ ਰਹਿਆ ਹੈ।

ਅਜਕਲ ਬੰਗਲਾ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਪ੍ਰਗਤੀ (ਚਾਲ) ਵਿਚ ਸਾਫ਼ ਬਗ਼ਾਵਤ ਦਾ ਜਜ਼ਬਾ ਦੀਹਦਾ ਹੈ। ਉਹਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਵਿਚ ਬੀਣ ਤੇ ਬੰਸੀ ਦੀ ਸੁਰ ਨਹੀਂ ਬਲਕਿ ਸੰਖ-ਨਾਦ ਦੀ ਗੁੰਜਾਰ ਹੈ ਜੇਹੜੀ ਜੀਵਨ ਜੁਧ ਵਿਚ ਜੂਝਣ ਦੇ ਫ਼ਰਜ਼ ਵਲ ਧਿਆਨ ਮੋੜਦੀ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਸੁਖ ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਦੁਖ, ਸਰਮਸਤੀ ਦੀ ਥਾਂ ਵੇਦਨਾ ਤੇ ਗੁਜ਼ਰੇ ਤੇ ਆਉਣ ਵਾਲੇ ਦੀ ਜਗ੍ਹਾ ਤੇ ਵਰਤਮਾਨ ਦਾ ਵਧੇਰਾ ਮਾਣ ਹੈ, ਓਥੇ ਇੱਛਾਂਵਾਂ ਭਵਿਖ ਸਾਜਣ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਗੜੂੰਦ ਰਹਿੰਦੀਆਂ ਬਲਕਿ ਪਰਸਥਿਤੀ ਉਸਦਾ ਨਿਰਮਾਣ ਕਰਦੀ (ਓਹਨੂੰ ਬਣਾਂਦੀ ਹੈ) ਤੇ ਉਥੇ ਉਮੇਦ ਵੀ ਮਹਿਦੂਦ (ਸੀਮਿਤ) ਨਹੀਂ ਹੈ। ਓਥੇ ਵਕਤ ਦੀ ਉਪਯੋਗਤਾ ਦੀ ਕਦਰ ਹੈ, ਆਰਾਮ ਨਾਲੋਂ ਮੇਹਨਤ ਦਾ ਵਧੇਰਾ ਮੁੱਲ ਹੈ, ਤੇ ਸਚ ਤਾਂ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਓਥੇ ਹਾਕਿਮ ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਪਰਜਾ, ਤੇ ਚੂਸਣ ਵਾਲੇ (ਸੋਖਕ) ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਚੂਸੇ ਗਏ (ਸੋਖਿਤ) ਦੀ ਵਧੇਰੀ ਪੁੱਛ ਹੈ। ਓਥੇ ਬਦਮਸਤ ਤਾਕਤ ਦੀ ਹਕੂਮਤ ਨਹੀਂ, ਉਦਾਰ ਬਰਾਬਰੀ (ਮੁਸਾਵਾਤ, ਸਾਮਜ) ਦੀ ਬਿਵਸਥਾ ਹੈ।

ਅਜਕਲ ਕਵਿਤਾ ਫੇਰ ਲੌਕਿਕ ਹੁੰਦੀ ਜਾ ਰਹੀ ਹੈ, ਜਿੱਦਾਂ ਮੁਕੰਦ-ਰਾਮ ਆਦਿਕ ਕਵੀਆਂ ਦੇ ਵੇਲੇ ਸੀ। ਅਜ ਦਿਆਂ ਕਵੀਆਂ ਵਿਚ ਏਹ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ਤਾ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਵਰਤਮਾਨ- ਚਾਲੂ ਮਨੁਖੀ ਜੀਵਨ ਦੇ ਦਿਸਦੇ ਸੱਤ ਨੂੰ ਅਪਣਾ ਕੇ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਉਠਾਣ ਵਾਲੀ ਗੰਭੀਰ ਵਿਅਥਾ (ਮੁਸੀਬਤ) ਨੂੰ ਦਿਲ ਦਿਆਂ ਕੁਦਰਤੀ ਜਜ਼ਬਿਆਂ ਵਿਚ ਸਰਲ ਭਾਖਾ ਦੁਆਰਾ ਵਿਅਕਤ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਨਿਕਿਆਂ ਨਿਕਿਆਂ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿਚ ਹਿਰਦੇ ਦੀ ਉਹ ਡੂੰਘੀ ਵੇਦਨਾ ਭਰ ਦੇਂਦੇ ਹਨ ਜਿਸ ਨਾਲ ਉਹ ਸਪਸ਼ਟ ਤੇ ਸਜੀਵ (ਸਾਫ਼ ਤੇ ਜ਼ਿੰਦਾ ਤਰ) ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਅਜ ਦਿਆਂ

ਪਾਠਕਾਂ ਦਾ ਦਿਲ ਮੂਰਤੀਮਾਨ ਚਿੱਤਰ ਚਾਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਓਸਨੂੰ ਕੋਰਾ ਕਾਲਪਨਿਕ ਸੱਤ ਨਹੀਂ, ਬਲਕਿ ਮੂਰਤੀ ਵਾਲੀ ਸੁੰਦਰਤਾ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ ਜੇਹੜੀ ਓਹਨੂੰ ਮੁਗਧ, ਮੋਹਿਤ ਕਰ ਸਕਦੀ ਹੋਵੇ, ਵਿਸਮਿਤ (ਹੈਰਾਨ) ਨਹੀਂ। ਕਵੀ ਨਜ਼ਰੁਲ ਇਸਲਾਮ ਆਪਣੀ ਇਕ ਨ ਮ ਵਿਚ ਐਉਂ ਲਿਖਦਾ ਹੈ :–

"ਮੈਂ ਓਸ ਜੋਬਨ ਦੇ ਗੀਤ ਗਾਉਂਦਾਂ ਹਾਂ ਜੇਹੜਾ ਅੱਜ ਆਵੇਸ਼ ਵਿਚ ਮਤਵਾਲਾ ਹੋ ਕੇ ਇਕ ਨਾਮੁਮਕਿਨ ਲਖਸ਼ ਵਲ ਵੱਧ ਰਹਿਆ ਹੈ. ਜਿਸਦੇ ਧੌਂਸੇ ਦੀ ਕਹਾਣੀ ਇਤਿਹਾਸ ਲੱਖਾਂ ਵਰਿਹਾਂ ਤੋਂ ਲਿਖਦਾ ਆ ਰਹਿਆ ਹੈ, ਜਿਸਦਿਆਂ ਗਰਮ ਸਾਂਹਾਂ ਦੀ ਲਪਟ ਵਿਚ ਪੁਰਾਣਿਆਂ ਗ੍ਰੰਥਾਂ ਦੇ ਵਰਕੇ ਸੜ ਕੇ ਸੁਆਹ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ, ਜੇਹੜਾ ਜ਼ਾਲਿਮ ਦੇਵਤਿਆਂ ਦਿਆਂ ਮੰਦਿਰਾਂ ਤੇ ਦਰਵਟਣੀਆਂ ਨੂੰ ਨਸ਼ਟ ਕਰਦਾ ਤੁਰਦਾ ਹੈ, ਉਹਨਾਂ ਮੰਦਿਰਾਂ ਤੇ ਮਸਜਿਦਾਂ ਦੀ ਇੱਟ ਨਾਲ ਇਟ ਖੜਕਾ ਦੇਂਦਾ ਹੈ, ਜੇਹੜੇ ਬਗਲੇ ਭਗਤਾਂ ਦੇ ਪੁਰਾਣੇ ਤਾੜੀ ਖ਼ਾਨੇ (ਜਾਂ ਚੰਡੂ ਖ਼ਾਨੇ) ਹਨ; ਉਹ ਜੋਬਨ ਜਿਸਦੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਵਹਿਣ ਵਿਚ ਪ੍ਰਾਚੀਨਤਾ ਦੇ ਜੰਜਾਲ, ਸੰਸਕਾਰ ਦੀਆਂ ਸਿਲਾਂ ਤੇ ਸ਼ਾਸਤ੍ਰਾਂ ਦੀਆਂ ਹੱਡੀਆਂ ਰੁੜ੍ਹ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ, ਜੇਹੜਾ ਮਿਥਿਆ ਮੋਹ ਦਿਆਂ ਪੂਜਾ ਮੰਡਪਾਂ ਵਿਚ ਬਰਬਾਦੀ ਦੇ ਸਨੇਹੇ ਲੈ ਕੇ ਬੇਡਰ, ਨਿਰਭੈ ਹੋਕੇ ਕਦਮ ਰਖਦਾ ਹੈ, ਜੇਹੜਾ ਚੀਨ ਜਹੇ ਮੁਲਕ ਵਿਚ ਵੀ ਬੇਹਦ ਹਿਮਤ ਨਾਲ ਸੰਸਕਾਰ ਦੀਆਂ ਬੰਦਸ਼ਾਂ (ਪ੍ਰਾਚੀਨਤਾ) ਨੂੰ ਤੋੜ ਸੁਟਦਾ ਹੈ, ਜੇਹੜਾ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੀ ਸ਼ਾਮ ਵਿਚ ਅੱਜ ਅਮਰ ਜੀਵਨ ਦੇ ਗੀਤ ਗਾ ਰਹਿਆ ਹੈ ਮੈਂ ਓਸੇ ਦੇ ਗੀਤ ਗਾਉਂਦਾ ਹਾਂ।"

ਏਸ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਮਾਜ਼ੀ ਦੇ ਬਰਖ਼ਿਲਾਫ਼ ਹਾਲ ਦੀ ਬਗ਼ਾਵਤ ਦੀ ਤਸਵੀਰ ਖਿਚੀ ਗਈ ਹੈ, ਤੇ ਧਰਮ ਦੇ ਢੋਂਗ ਵਾਸਤੇ ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਦੀ ਤੇਜ਼ ਭਾਵਨਾਂ ਦਸੀ ਹੈ, ਜਿਸਨੇ ਇਨਸਾਨ ਨੂੰ ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਦੀ ਜ਼ਿੱਲਤ ਕਰਨੀ ਸਿਖਾਈ ਹੈ। ਜੋਬਨ ਦੇ ਇਸ ਬਾਗ਼ੀ ਤੇ ਤਬਾਹ-ਕਰੂ ਰੂਪ ਵਿਚ

ਨਜ਼ਰੁ ਇਸਲਾਮ ਨੇ ਮੁਸਾਵਾਤ (ਸਾਮਜਵਾਦ) ਦਾ ਸਨੇਹਾ ਦਿੱਤਾ ਹੈ। ਕ੍ਰਾਂਤੀ ਵਿੱਚ ਸ਼ਾਂਤੀ ਦਾ ਵਿਗਾਸ ਛਪਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਏਸ ਤਰਹਾਂ ਕਵੀ ਇਕ ਨਵੇਂ ਜੁਗ ਨੂੰ ਬੁਲਾਰਾ ਦੇ ਰਹਿਆ ਹੈ।

ਅੱਜ ਦੀ ਬੰਗਲਾ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਆਕਰਖਣ ਹੈ, ਜੀਵਨ ਦੀ ਅਨੁ-ਭੂਤੀ ਹੈ, ਦੁਖੀ ਇਨਸਾਨੀ ਦਿਲ ਦਾ ਅਕਸ ਹੈ, ਗੂੰਜ ਹੈ। ਉਸਦਾ ਖੇਤਰ ਹਿਰਦਾ ਨਹੀਂ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਉਹ ਸੰਕੀਰਣ-ਸੁੰਗੜਿਆ-ਨਹੀਂ, ਵਿਸ਼ਾਲ, ਖੁਲ੍ਹਾ ਹੈ। ਉਹਦੇ ਵਿਚ ਉਸ ਇਨਸਾਨੀ ਸਮਾਜ ਦੀਆਂ ਤਸਵੀਰਾਂ ਹਨ, ਜਿਸਦੀ ਗਿਣਤੀ ਬਹੁਤ ਜ਼ਿਆਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਜੇਹੜਾ ਚੂਸਣਵਾਲਾ ਨਹੀਂ, ਚੂਸਿਆ ਹੋਇਆ ਹੈ। ਅੱਜ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਇਹਨਾਂ ਦੁਖੀ ਮਜ਼ਦੂਰਾਂ ਦੀ ਜੁਗਾਜੁਗਾਦ ਤੋਂ ਸੁਤੀ ਹੋਈ ਮੁਸਾਵਾਤ ਦੀ ਧੁਨੀ ਹੈ, ਓਸ ਵਿਚ ਇਹਨਾਂ ਲਈ ਉਸ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ ਵਲ ਤੁਰਨ ਦਾ ਬੁਲਾਰਾ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਈਸ਼੍ਵਰ ਦਾ ਪ੍ਰਕ੍ਰਿਤਿ ਰਾਜ ਹੈ, ਮਨੁਖ ਦੀ ਖ਼ੁਦ ਗ਼ਰਜ਼ਾਨਾ ਹਕੂਮਤ ਨਹੀਂ। ਓਥੇ ਪ੍ਰਕ੍ਰਿਤਿ ਦੇ ਨੇਮ ਹਨ, ਮਨੁੱਖ ਦੇ ਸੁਆਰਥ-ਭਰੇ ਬਿਧਾਨ ਨਹੀਂ। ਓਥੇ ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਦਾ ਆਦਰ ਭਾ ਕਰਨਾ ਪੁਨ ਕਰਮ ਹੈ, ਓਹਦੀ ਬੇਇਜ਼ਤੀ ਕਰਨਾ ਪਾਪ ਤੇ ਕਾਬਿਲ ਸਜ਼ਾ। ਵਰਤਮਾਨ ਕਵੀ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਅਕਾਸ਼ ਦੀ ਵਸਤੂ ਨਹੀਂ, ਪ੍ਰਿਥਵੀ ਦੀ ਹੈ ਕਿਉਂਕਿ ਕਵੀ ਪ੍ਰਿਥਵੀ ਤੇ ਹੀ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ ਤੇ ਓਥੇ ਹੀ ਓਹਦੀ ਸਾਰਥਕਤਾ ਹੈ।"

ਵਰਤਮਾਨ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵੀਆਂ ਵਿਚ ਬੁਧਦੇਵ ਬਾਸੂ, ਕਾਜ਼ੀ ਨਜ਼ਰੁਲ ਇਸਲਾਮ, ਅਖੈਕੁਮਾਰ ਬੜਾਂਲ, ਕੁਮੁਦ ਰੰਜਨ ਮਲਿਕ, ਪਿਆਰੀ ਮੋਹਨ ਸੇਨ ਗੁਪਤਾ, ਪ੍ਰੇਮਇੰਦਰ ਮਿਤਰਾ, ਅਚਿੰਤਕੁਮਾਰ ਸੇਨ ਗੁਪਤਾ, ਜਿਤਿੰਦਰ ਮੋਹਨ ਬਾਗਚੀ, ਕ੍ਰਿਸ਼ਨ ਧਨ ਡੇ, ਕਾਮਿਨੀ ਰਾਇ, ਤੇ ਪ੍ਰਬੋਧ ਕੁਮਾਰ ਆਦਿ ਪੇਸ਼ ਪੇਸ਼ ਹਨ। ਪਰ ਅਜੇ ਇਹਨਾਂ ਦਾ ਪ੍ਰਤੀਨਿਧੀ ਕਵੀ ਕੋਈ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਕਾਜ਼ੀ ਨਜ਼ਰੁਲ ਇਸਲਾਮ ਦੇ ਏਸ ਖੇਤਰ ਨੂੰ ਛੱਡ ਕੇ ਸੰਗੀਤ ਦੇ ਖੇਤਰ ਵਿਚ ਚਲੇ ਜਾਣ ਦੇ ਕਾਰਨ, ਓਹਨਾਂ ਦੀ ਕਵਿਤਾ

ਵਰਗਾ ਤੇਜ ਸੰਗੀਤਾਂ ਵਿਚ ਅਜੇ ਤੀਕ ਨਹੀਂ ਸੁਣ ਪਇਆ। ਵਰਤਮਾਨ ਇਨਕਲਾਬੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਕਾਜ਼ੀ ਸਾਹਿਬ ਨੂੰ ਪ੍ਰਵਰਤਕ, ਮੋਢੀ, ਕਹਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਦੇ ਮੁਤਅੱਲਿਕ ਉਹਨਾਂ ਮਾਮੂਲੀ ਮਜ਼ਮੂਨਾਂ ਉਤੇ ਸੁਭਾਵਿਕ ਤੇ ਮੁਅਸਿਰ ਕਵਿਤਾਵਾਂ ਲਿਖੀਆਂ ਜਾਂਦੀਆ ਹਨ, ਜਿਹਨਾਂ ਮਜ਼ਮੂਨਾ ਵਲ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਧਿਆਨ ਘਟ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਦੂਰ ਦੀ ਚੀਜ਼ ਦੀ ਨਿਸਬਤ ਕੋਲ ਦੀ ਵਸਤੂ ਹੀ ਅਜ ਦਾ ਕਵੀ ਮੱਹਤਾ-ਪੂਰਣ ਸਮਝਦਾ ਹੈ। ਏਸ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਦਿਲ ਦੀ ਹੁਸਨ-ਪਿਆਸ ਦੀ ਥਾਂ ਤੇ ਅਸੀਂ ਜੀਵਨ ਦੇ ਜ਼ਾਹਿਰ, ਪਰਤੱਖ ਸੱਤ ਦੀ ਅਨੁਭੂਤੀ ਨੂੰ ਤ੍ਰਿਖੀ ਵੇਦਨਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਭੁੜਕਦਾ ਵਖਦੇ ਹਾਂ। ਅੰਨ੍ਹੀ-ਵਹੁਟੀ (ਅੰਧ-ਬਧੂ) ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਜਿਤਿੰਦਰ ਮੋਹਨ ਬਾਗਚੀ ਅੰਨ੍ਹੀ ਬਹੂ ਦਿਆਂ ਭ੍ਹਾਂਵਾਂ ਨੂੰ ਕਿਤਨੀ ਦਰਦ-ਨਾਕ ਤਸਵੀਰ ਵਿਚ ਪਰਗਟ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਏਸਦਾ ਅੰਦਾਜ਼ਾ ਹੇਠਲੀਆਂ ਸਤਰਾਂ ਤੋਂ ਲਾਓ। ਅੰਨ੍ਹੀ ਬਹੂ ਆਪਣੀ ਨਨਾਣ ਦਾ ਹੱਥ ਫੜਕੇ ਨਹਾਉਣ ਚੱਲੀ ਹੈ ਤੇ ਤੁਰਦਿਆਂ ਤੁਰਦਿਆਂ ਆਪਣਿਆਂ ਭਾਂਵਾਂ ਨੂੰ ਵਿਅਕਤ ਕਰਦੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ

ਪਾਯੇਰ ਤਲਾਯ ਨਰਮ ਠੇਕੁਲ ਕਿ ਆਸਤੇ ਏਕਟੁ ਚਲਨਾ ਠਾਕੁਰ-ਝਿ
ਓ ਮਾ, ਏ ਯੇ ਝਰਾ-ਬਕੁਲ ਨਯ ?
ਤਾਇਤ ਬਲਿ ਬਸੇ ਦੋਰੇਰ ਪਾਸ਼ੇ, ਰਾਤਿਰੇ ਕਾਲ ਮਧੁ ਮਦਿਰ ਬਾਸੇ,
ਆਕਾਸ਼–ਪਾਤਾਲ–ਕਤਦਿ ਮਨੇ ਹਯ !

"ਪੈਰਾਂ ਦੇ ਹੇਠ ਕੇਹੜੀ ਮੁਲਾਇਮ ਜਹੀ ਚੀਜ਼ ਪਈ ਹੋਈ ਹੈ ? ਨਨਾਣ ਜੀ, ਹੌਲੇਂ ਚੱਲੋ ਨਾ। ਅੱਛਾ ਪੈਰਾਂ ਹੇਠ ਮੌਲਸਰੀ ਦੇ ਫੁਲ ਪਏ ਹੋਏ ਨੇ ਨਾ ? ਏਸੇ ਕਰ ਕੇ ਤਾਂ ਜਦ ਮੈਂ ਰਾਤ ਨੂੰ ਦਰਵਟਣੀ ਤੇ ਬਹਿੰਦੀ ਹਾਂ, ਤਾਂ ਖ਼ੁਸ਼ਬੋ ਨਾਲ ਮਸਤ ਹੋਈ ਹਵਾ ਦੇ ਵੱਗਣ ਵੇਲੇ ਮੈਨੂੰ ਅਕਾਸ਼ ਪਤਾਲ ਦੀਆਂ ਕਿੰਨੀਆਂ ਹੀ ਗਲਾਂ ਸੁਝਦੀਆਂ ਹਨ।"

ਦੀਘਿਰ ਘਾਟੇ ਨਤੁਨ ਸਿੰਘ ਜਾਗੇ
ਸ਼ੇਓ ਲਾ-ਪਿਛਲ ਏਮਨਿ ਸ਼ੰਕਾਂ ਲਾਗੇ
ਪਾ ਪਿਛਲਿਯੇ ਤਲਿਯੇ ਯਦਿ ਜਾਯ !

ਮੰਦ ਨੇਹਾਤ ਹਯ ਨਾ ਕਿੰਤੁ ਤਾਯ-
ਅੰਧ ਚੋਖੇਰ ਦੂੰਦੂ ਘੁਚੇ ਜਾਯ !

ਦੁਖ ਨਾਇਕ ਸਤਿਜ ਕਥਾ ਸ਼ੋਨ,
ਅੰਧ ਗੇਲੇ ਕਿ ਆਰ ਹਬੇ, ਕੋਨ ?
ਬਾਂਚਬਿ ਤੋਹਾਂ-ਦਾਦਾ ਤ ਤੀਰ ਆਗੇ,
ਏਇ ਆਸ਼ਾਢੇਇ ਆਬਾਰ ਬਿਯੇ ਹਬੇ,
ਬਾੜੀ ਆਸਾਰ ਪਥ ਖੁੰਜੇ ਨਾ ਪਾਬੇ-
ਦੇਖਬਿ ਤਖਨ ਪ੍ਰਬਾਸ ਕੇਮਨ ਲਾਗੇ ।

"ਪੋਖਰ ਸੁੱਕ ਚਲਿਆ ! ਨੰਵੀਆਂ ਪੌੜੀਆਂ ਨਿਕਲ ਆਈਆਂ । ਪੈਰ ਵੀ ਤਿਲ੍ਹਕਦੇ ਨੇ । ਡਰ ਲਗਦਾ ਹੈ ਕਿ ਕਿਧਰੇ ਤਿਲ੍ਹਕ ਕੇ ਪਾਣੀ ਵਿਚ ਹੀ ਨਾ ਡੁੱਬ ਜਾਂਵਾਂ। ਪਰ ਜੇ ਡੁਬ ਵੀ ਜਾਂਵਾਂ ਤਾਂ ਵੀ ਕੀ। ਅੰਨ੍ਹੀਆਂ ਅਖੀਆਂ ਦਾ ਸਿਆਪਾ ਤਾਂ ਮੁੱਕ ਜਾਏ । ਸੱਚ ਆਖਦੀ ਹਾਂ, ਅੰਨ੍ਹੀ ਦੇ ਮਰ ਜਾਣ ਨਾਲ ਕਿਸੇ ਦਾ ਕੋਈ ਨੁਕਸਾਨ ਨਹੀਂ । ਭੈਣ ਤੂੰ ਤਾਂ ਹੋਵੇਂਗੀ ਹੀਨਾ, ਤੇਰੇ ਭਰਾ ਜੀ ਹੋਣਗੇ । ਆਉਂਦੇ ਹਾੜ ਵਿਚ ਹੀ ਫਰ ਵਿਆਹ ਕਰ ਲੈਣਗੇ ਸੌਹਰਿਓਂ ਘਰ ਆਉਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੀ ਨਾ ਲੈਣਗੇ। ਘਰ ਦੀ ਵਾਟ ਹੀ ਭੁਲ ਜਾਣਗੇ। ਤਦ ਤਾਂ ਤੂੰ ਸਮਝ ਹੀ ਜਾਏਂਗੀ ਕਿ ਤੇਰੇ ਭਰਾ ਜੀ ਨੂੰ ਪ੍ਰਵਾਸ (ਪਰਦੇਸ) ਕਿੰਨਾ ਚੰਗਾ ਲਗਦਾ ਹੈ ।"

ਕਿ ਬੱਲਿ ਭਾਇ, ਕਾਂਦਬੇ ਸੰਧਯਾ-ਸਕਾਲ ?
ਹਾ ਅਦ੍ਰਿਸ਼ਟ ਹਾਯ ਰੇ ਆਮਾਰ ਕਪਾਲ !
ਕਤ ਲੋਕੇਇ ਜਾਯ ਤ ਪਰਬਾਸੇ—
ਕਾਲ-ਬੋਸ਼ੇਖੇ ਕੇ ਨਾ ਬਾੜੀ ਆਸੇ ?

× × ×

ਆਸੁਨ ਫਿਰੇ—ਅਨੇਕ ਦਿਨੇਰ ਆਸ਼ਾ,
ਥਾਕੁਨ ਮਾਰੇ, ਨਾ ਥਾਕ ਭਾਲ ਬਾਸਾ—
ਤਬੁ ਦੁ ਦਿਨ ਅਭਾਗਿਨੀਰ ਕਾਛੇ।
ਜਨਮ ਸ਼ੋਧਰੇ ਵਿਦਾਯ ਨਿਯੇ ਫਿਰੇ,
ਸੇ ਦਿਨ ਤਖਨ ਆਸਬ ਦੀਘਿਰ ਤੀਰੇ। "ਕੀ ਕਹਿਆ

ਤੁਸਾਂ ? ਰਾਤ ਦਿਨ ਰੋਵੋਗੇ ? ਹਾਇ ਕਿਸਮਤ, ਭੈਣ, ਕਿੰਨੇ ਹੀ ਲੋਕੀ ਪਰਦੇਸ ਜਾਂਦੇ ਨੇ। ਗਰਮੀਆਂ ਦਿਆਂ ਦਿਨਾਂ ਵਿਚ ਕੌਣ ਘਰ ਨਹੀਂ ਮੁੜ ਆਉਂਦਾ। ਮੇਰੀ ਕਿੰਨਿਆਂ ਹੀ ਦਿਨਾਂ ਦੀ ਆਸ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਘਰ ਆਉਣ ਤੇ ਦੋ ਦਿਨ ਮੈਂ ਅਭਾਗਨੀ ਦੇ ਕੋਲ ਰਹਿਣ, ਭਾਵੇਂ ਓਹ ਮੈਨੂੰ ਆਕੇ ਪਿਆਰ ਕਰਨ ਭਾਵੇਂ ਨਾ ਕਰਨ। ਓਹਨਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਮਗਰੋਂ ਇਕ ਦਿਨ ਬਾਕੀ ਉਮਰ ਕੋਲੋਂ ਵਿਦਿਆ ਹੋ ਕੇ ਏਸ ਤਲਾ ਦੇ ਕੰਢੇ ਪਹੁੰਚਾਂਗੀ।"

ਏ ਬਾਰ ਏਲੇ, ਹਾਤਟਿ ਦਿਯੇ ਗਾਯੇ,
ਅੰਧ ਆਂਖਿ ਬੁਲਿਯੇ ਖਾਨਿਕ ਪਾਯੇ,
ਬੰਦ ਚੋਖੇਰ ਅਸ਼ੁ ਰੁਧਿ ਪਾਤਾਯਾ।
ਜਨਮ ਦੁਖੀਰ ਦੀਰਘ ਆਯੁ ਦਿਯੇ,
ਚਿਰ ਬਿਦਾਯ ਭਿਖਸ਼ਾ ਜਾਬ ਨਿਯੇ,
ਸਕਲ ਬਾਲਾਇ ਬਹਿ ਆਪਨ ਮਾਥਾਯ!
ਦੇਖਿਸ ਤਖਨ, ਕਾਣਾਰ ਜਨਜ ਆਰ
ਕਸ਼ਟ ਕਿਛੁ ਹਯ ਨਾ ਯੇਨ ਤਾਂ'ਰ।

× × ×

ਪਇ ਖਾਨੇ ਪਇ ਬੇਤੇਰ ਬਨੇਰ ਧਾਰੇ
ਡਾਹੁਕ—ਡਾਕਾ ਸੰਧਯਾ ਅੰਧਕਾਰੇ
ਸ਼ੇਓਲਾ—ਦੀਘਿਰ ਸ਼ੀਤਲ ਅਤਲ ਨੀਰੇ
ਮਾਯੇਰ ਕੋਲਟਿ ਪਾਇ ਜੇਨ ਭਾਇ ਫਿਰੇ

"ਐਤਕੀ ਓਹਨਾਂ ਦੇ ਆਉਣ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਪਿੰਡੇ ਨੂੰ ਛੋਹ ਕੇ ਉਹਨਾਂ

ਦਿਆਂ ਚਰਨਾਂ ਉਤੇ ਅੰਨ੍ਹੀਆਂ ਅਖੀਆਂ ਨੂੰ ਇਕ ਮਿੰਟ ਲਈ ਧਰ ਕੇ, ਬਧੀਆਂ ਅਖੀਆਂ ਦੇ ਅਥਰੂ ਪਿਮਣੀਆਂ ਉਤੇ ਹੀ ਰੋਕ ਕੇ, ਅਪਣੇ ਅਭਾਗੇ ਜੀਵਨ ਦੀ ਉਮਰ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਦੇ ਕੇ, ਸਦਾ ਲਈ ਸਾਰੀਆਂ ਬਿਪਤਾਵਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਸਿਰ ਲੈਕੇ, ਉਹਨਾਂ ਤੋਂ ਦੂਰ ਵਿਦਿਆ ਹੋ ਕੇ ਚਲੀ ਜਾਵਾਂਗੀ। ਪਿਛੋਂ ਭੈਣ ਤੂੰ ਓਹਨਾਂ ਨੂੰ ਸਾਵਧਾਨੀ ਨਾਲ ਰਖੀਂ। ਕਿਧਰੇ ਮੈਂ ਅੰਨ੍ਹੀ ਲਈ ਓਹਨਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਵਿਚ ਦੁਖ ਨਾ ਉਪਜੇ।

ਓਹਦੇ ਮਗਰੋਂ ਏਥੇ ਹੀ ਇਕ ਦਿਨ ਜਦੋਂ ਸ਼ਾਮ ਨੂੰ ਪੰਛੀ ਗਾਉਂਦੇ ਹੋਣਗੇ ਚੌਹਾਂ ਪਾਸੇ ਅਨ੍ਹੇਰਾ ਹੋਵੇਗਾ, ਏਸੇ ਤਲਾ ਵਿਚ ਡੁਬ ਕੇ ਮਰ ਜਾਵਾਂਗੀ; ਭੈਣ ਤੂੰ ਅਸੀਸ ਦੇਹ ਕਿ ਏਸ ਠੰਡੇ ਪਾਣੀ ਵਿਚ ਮੈਨੂੰ ਆਪਣੀ ਮਾਂ ਦੀ ਝੋਲੀ ਵਰਗਾ ਸੁਖ ਮਿਲੇ।"

ਅੰਨ੍ਹੀ ਬਹੂ ਦੀ ਵੇਦਨਾ, ਉਸਦੀ ਨਿਰਾਸ਼ਾ ਤੇ ਉਸਦੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਅਕਾਰਥਪਨੇ ਨੂੰ ਕਵੀ ਨੇ ਕਿਤਨੇ ਕੁਦਰਤੀ ਤਰੀਕੇ ਨਾਲ ਖਿਚਿਆ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਅੰਦਰ ਦੀ ਵਿਥਿਆ ਦਾ ਦੀਲ-ਚੀਰਵਾਂ ਬਿਆਨ ਦਿਤਾ ਹੈ, ਤੇ ਸਭ ਤੋਂ ਵਧ, ਉਸਦੀ ਤਿਆਗ-ਭਾਵਨਾ, ਤੇ ਪਤੀ ਲਈ ਮੰਗਲ-ਕਾਮਨਾ ਦਾ ਜਜ਼ਬਾ, ਸੱਚ ਮੁਚ ਇਸਤਰੀ-ਜੀਵਨ ਦੀ ਆਦਰਸ਼-ਮਹੱਤਾ ਦਾ ਸੂਚਕ ਹੈ।

ਅਜ ਦੇ ਕਾਵ ਬਾਰੇ ਪ੍ਰੇਮ ਇੰਦਰ ਮਿਤਰਾ ਆਪਣੀ ਇਕ ਨਜ਼ਮ ਵਿਚ ਲਿਖਦੇ ਹਨ:—

ਮ੍ਰਿਤਯੁਰੇ ਕੇ ਮਨੇ ਰਾਖੇ? ਮ੍ਰਿਤਯੁ ਸੇ ਤੋ ਮੁਛੇ ਜਾਯ।

ਜੇ ਤਾਰਾ ਜਾਗਿਯਾ ਥਾਕੇ ਤਾਰੇ ਲਯੇ ਜੀਵਨੇਰ ਖੇਲਾ, ਭੁਵਨੇਰ ਮੇਲਾ। ਜੇ ਤਾਰਾ ਹਰਾਲੋ ਦਯੁਤਿ, ਜੇ ਪਾਖੀ ਭੁਲਿਯਾ ਗੇ ਲੋ ਗਾਨ,

ਜੇ ਸ਼ਾਖੇ ਸੁਖਾਲੋ ਪਾਤਾ, ਏ ਭੁਵਨੇ ਕੋਥਾ ਤਾਰ ਸਥਾਨ?

ਨਿਖਿਲੇਰ ਓਸ਼ਠ ਪੁਟੇ ਓਸ਼ਠ ਰਾਖਿ ਕਰਿਛੇ ਜੇ ਪਾਨ। ਹੇ ਕਵਿ ਆਜਿ

ਕੇ ਤਾਰ ਤਾਰ ਤਰੇ ਰਚੋ ਸ਼ੁਧੁ ਗਾਨ।
ਰਚੋ ਗਾਨ ਯੌਵਨੇਰ। ਯੇ ਪ੍ਰੇਮੇਰ ਚਿਹਨ ਨਾਇ ਲਾਜ ਰਕਤ ਕੋਮਲ ਕਪੋਲੇ
ਕਮਪਮਾਨ ਹ੍ਰਿਦ ਪਿੰਡੇ ਦੁਰਿਨਿਵਾਰ ਰੁਧਿਰੇਰੇ ਦੋਲੇ
ਤਾਰ ਤਰੇ ਅਕਾਰਣ ਸ਼ੋਕ।

"ਮੌਤ ਨੂੰ ਕੌਣ ਯਾਦ ਰਖਦਾ ਹੈ! ਮੌਤ! ਉਹ ਤਾਂ ਭੁਲ ਜਾਂਦੀ ਹੈ। ਜੇਹੜੇ ਤਾਰੇ ਜਾਗਦੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਲੈਕੇ ਜੀਵਨ ਦੀ ਖੇਡ ਤੇ ਸੰਸਾਰ ਦਾ ਮੇਲਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਜਿਸ ਤਾਰੇ ਦੀ ਜੋਤੀ ਗੁਮ ਗਈ, ਜੇਹੜਾ ਪੰਛੀ ਗਾਣਾ ਭੁਲ ਗਇਆ, ਤੇ ਜਿਹਨਾਂ ਟਾਂਹਣੀਆਂ ਦੇ ਪੱਤਰ ਸੁੱਕ ਗਏ ਨੇ, ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਏਸ ਜਿਮੀਂ ਉਤੇ ਥਾਂ ਕਿਥੋਂ? ਸ਼ਾਇਰ, ਤੂੰ ਅਜ ਸਿਰਫ਼ ਓਸੇ ਦਿਆਂ ਗੀਤਾਂ ਦੀ ਰਚਨਾ ਕਰ ਜੇਹੜਾ ਦੁਨੀਆਂ ਦਿਆਂ ਬੁਲ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਬੁਲ੍ਹ ਲਾ ਕੇ ਪੀ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਜਵਾਨੀ ਦੇ ਗਾਣੇ ਬਣਾ। ਸ਼ਰਮ ਨਾਲ ਲਾਲ ਸੁਰਖ਼ ਨਰਮ ਕਪੋਲਾਂ ਵਿਚ ਤੇ ਕੰਬਦੇ ਹੋਏ ਦਿਲ ਵਿਚ ਜਿਥੇ ਨਿਰੰਤਰ ਲਹੂ ਦਾ ਸੰਚਾਰ ਹੋ ਰਹਿਆ ਹੈ, ਪ੍ਰੇਮ ਦਾ ਚਿਹਨ ਨਹੀਂ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਲਈ ਤੂੰ ਫ਼ਜ਼ੂਲ ਚਿੰਤਾ ਕਰਦਾ ਹੈਂ?"

ਬੰਗਲਾ ਦੀਆਂ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਵਿਚ ਨਜ਼ਰੁਲਇਸਲਾਮ ਦੀਆਂ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਹੀ ਜ਼ਿਆਦਾ ਲੋਕ-ਪ੍ਰਿਯ ਤੇ ਉਚੀ ਸਰੇਣੀ ਦੀਆਂ ਹਨ। ਵੀਰ-ਕਾਵ ਲਿਖਣ ਵਿਚ ਉਹਨਾਂ ਵਾਂਗਰ ਹੁਣ ਤੀਕ ਕੋਈ ਹੋਰ ਸਫਲ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ, ਉਹਨਾਂ ਦੀਆਂ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਵਿਚ ਨਵੇਂ ਜੁਗ ਦੇ ਆਉਣ ਦੀ ਇਤਲਾਹ ਹੈ, ਸਬੂਤ ਹੈ। ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਨੌਜਵਾਨਾਂ ਦੀ ਸ਼ਾਇਰੀ ਹੈ, ਉਹ ਸਾਮਜ-ਵਾਦ ਦੇ ਸਮਰਥਕ (ਤਾਈਦ ਕਰਨ ਵਾਲੇ) ਹਨ। ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਮੁਤਫ਼ਰਕ ਘਟਨਾਂਵਾਂ ਨਾਲ ਉਹਨਾਂ ਦੀਆਂ ਨਜ਼ਮਾਂ ਦਾ ਤਅੱਲੁਕ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ। ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਨੁਕਤਾਨਜ਼ਰ ਰਾਜਨੀਤਿਕ ਹੈ, ਧਾਰਮਿਕ ਰੂਹੜੀਆਂ, ਸਾਮਾਜਿਕ ਬੁਰਿਆਈਆਂ ਦੇ ਲਈ ਵੀ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਬਗ਼ਾਵਤ ਦਾ ਜਜ਼ਬਾ ਲਭਦਾ ਹੈ। ਓਹ ਵੀਰ-ਰਸ ਪਰਧਾਨ ਹਨ। ਪਰ ਨਾਲ ਹੀ ਉਹ ਪ੍ਰੇਮ-ਭਾਵ ਲਿਖਣ

ਲਈ ਵੀ ਮਸ਼ਹੂਰ ਹਨ। ਹਾਂ ਬੰਗਾਲ ਵਿਚ ਤੇ ਬਾਹਰ ਵੀਰ ਰਸ ਦੀ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵਿਤਾ ਲਿਖਣ ਦੇ ਕਾਰਨ ਹੀ ਹਰ ਦਿਲ ਅਜ਼ੀਜ਼ ਹਨ। ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਸਭ ਤੋਂ ਚੰਗੀ ਨਜ਼ਮ 'ਵਿਦ੍ਰੋਹੀ' ਜਾਂ ਬਾਗ਼ੀ ਹੈ। ਈਸ਼੍ਵਰ, ਸਾਮਜਵਾਦੀ, ਮਾਨੁਖ, ਕੁਲਿ ਮਜੂਰ ਆਦਿ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਵੀ ਸਾਮਯਵਾਦ ਤੇ ਆਧੁਨਿਕ ਵਿਚਾਰਾਂ ਨਾਲ ਭਰੀਆਂ ਪਈਆਂ ਹਨ। ਵਿਦ੍ਰੋਹੀ ਨਜ਼ਮ ਵਿਚ ਕਵੀ ਲਿਖਦਾ ਹੈ ॥

ਮਹਾਵਿਦ੍ਰੋਹੀ ਰਣ-ਕਲਾਂਤ ਆਮਿ ੇਇ ਦਿਗ ਹਬ ਸ਼ਾਂਤ !

ਜਬਿ ਉਤਪੀੜਿਤੇਰ ਕ੍ਰੰਦਨ-ਰੋਲ ਆਕਾਸ਼ੇ ਬਾਤਾਸੇ ਧ੍ਵਨਿਬੇ ਨਾ ਅਤਯਾਚਾਰੀਰ ਖੜਗ ਕ੍ਰਪਾਣ ਭੀਮ ਰਨ-ਭੂਮੇ ਰਣਿਬੇ ਨਾ। "ਮੈਂ ਬਾਗ਼ੀ ਹਾਂ, ਮੈਨੂੰ ਜੁਧ ਦੀ ਤ੍ਰੇਹ ਹੈ। ਮੈਂ ਓਸੇ ਦਿਨ ਸ਼ਾਂਤ ਹੋਵਾਂਗਾ ਜਦ ਦੁਖੀਆਂ ਦਾ ਵਿਰਲਾਪ ਆਕਾਸ਼ ਵਾਯੂ ਵਿਚ ਗੂੰਜਦਾ ਨਾ ਸੁਣੀਵੇਗਾ, ਜਦ ਤੀਕ ਅਤਿਆ-ਚਾਰਾਂ ਦੀ ਤਲਵਾਰ ਭਿਅੰਕਰ ਸਮਰ ਭੂਮੀ ਵਿਚ ਵਗਦੀ ਨ ਦਿੱਸੇਗੀ।"

ਅਖੈਕੁਮਾਰ (ਅਖਸ਼ੇ ਕੁਮਾਰ) ਬੜਾਲ ਸ਼ੋਕ ਭਰੇ ਭਾਂਵਾਂ ਨੂੰ ਸਰਲ ਭਾਖਾ ਵਿਚ ਵਿਅਕਤ ਕਰਨ ਵਿਚ ਅਜੀਬ ਕਮਾਲ ਵਿਖਾਂਦਾ ਹੈ। ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵੀਆਂ ਵਿਚ ਏਹਦਾ ਖ਼ਾਸ ਅਸਥਾਨ ਹੈ। ਮੌਤ ਦੇ ਬਾਰੇ ਉਹ ਲਿਖਦਾ ਹੈ :—

ਜੇਤੇ ਛਿਲੋ ਜੀਵਨ ਬਹਿਯਾ-
ਨਿਜ ਖਸ਼ੁਦ੍ਰ ਸੁਖ ਦੁਖ ਨਿਯਾ।
ਸਰਲ ਵਿਸ਼ਵਾਸੇ
ਆਚਮਬਿਤੇ ਸਿੰਧੁ ਸ਼ੈਲੇ ਠੇਕਿ,
ਮਰਣੇ ਪ੍ਰਤਯਖਸ਼ ਆਜ ਦੇਖਿ
ਜਾਗਿ ਸਰਬਨਾਸ਼ੇ,

ਜੀਵਨੇਰ ਏ ਸ਼ੋਕ ਬਿਸਵਾਦ-ਸ਼ੁਧੁ ਕਿ ਜੀਵੇਰ ਅਪਰਾਧ

ਜੀਵੇਰ ਨਿਯਤਿ ?

ਏਕ ਦਿਨ- ਕੇਹ ਏਕ ਬਾਰ

ਕਰਿਬੇ ਨਾ ਤੋਮਾਰ ਵਿਚਾਰ, ਹੇ ਅੰਧ-ਸ਼ਕਤਿ !

"ਜੀਵਨ ਆਪਣੇ ਹੀ ਨਿੱਕੇ ਨਿੱਕੇ ਸੁਖ ਦੁਖ ਲੈਕੇ ਸਰਲ ਬਿਸੁਆਸ ਵਿਚ ਵਗ ਰਹਿਆ ਸੀ। ਅਚਨਚੇਤ ਸਿੰਧੂ-ਸ਼ੈਲ (ਦਰੀਆ) ਨਾਲ ਟਕਰਾ (ਭਿੜ) ਗਇਆ । ਅੱਜ ਮੌਤ ਨੂੰ ਪਰਤੱਖ ਵੇਖਦਾ ਹਾਂ। ਸਰਬਨਾਸ਼ ਵਿਚ ਜਾਗ ਰਹਿਆ ਹਾਂ। ਜੀਵਨ ਦਾ ਏਹ ਕੌੜਾ ਸ਼ੋਕ ਕੀ ਸਿਰਫ਼ ਜੀਵ ਦਾ ਹੀ ਅਪਰਾਧ ਹੈ ? ਜੀਵ ਦੀ ਹੀ ਨਿਯਤਿ (ਕਿਸਮਤ) ਹੈ ? ਹੇ ਅੰਨ੍ਹੀ ਸ਼ਕਤੀ ! ਕੀ ਇਕ ਵੇਰ ਵੀ ਕੋਈ ਤੇਰਾ ਖ਼ਿਆਲ ਨਾ ਕਰੇਗਾ ?'

ਕਵੀ ਨੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਇਕ ਜ਼ਬਰਦਸਤ (ਕਟੂ) ਅਨੁਭਵ ਨੂੰ ਕਿਤਨੇ ਦਿਲ—ਚੀਰੂ ਭਾਵਾਂ ਵਿਚ ਵਿਅਕਤ ਕੀਤਾ ਹੈ, ਜਿਵੇਂ ਉਹ ਉਹਨਾਂ ਵਿਅਕਤੀਆਂ ਦੇ ਓਸ ਸਮੇਂ ਦਿਆਂ ਗ਼ਮਾਂ ਨੂੰ ਪਰਗਟ ਕਰ ਰਹਿਆ ਹੈ, ਜਿਹਨਾਂ ਨੇ ਕਦੀ ਆਪਣੇ ਆਤਮੇ ਨੂੰ ਮਰਦਿਆਂ ਵੇਖਿਆ ਹੈ। ਏਹ ਭਾਵ ਦਿਲ ਨੂੰ ਛੋਹ ਕੇ ਕਵੀ ਨੂੰ ਸਾਡੇ ਨੇੜੇ ਲੈ ਆਉਂਦੇ ਹਨ। ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਪਾਠਕ ਆਪਣੇ ਹਿਰਦੇ ਦਾ ਸਾਫ਼ ਸੱਫ਼ਾਫ਼ ਅਕਸ ਵੇਖਣਗੇ।

ਸ਼ਿਰੀਮਤੀ ਕਾਮਿਨੀ ਰਾਇ ਵੀ ਆਪਣੇ ਪੁੱਤਰ ਦੀ ਮੌਤ ਉਤੇ ਆਪਣੇ ਅਸ਼ੋਕ—ਸੰਗੀਤ (ਕਾਵ੍ਯ) ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਹੀ ਸੁਭਾਵਿਕ ਦਿਲ-ਚੀਰਵੇਂ ਭਾਂਵਾਂ ਨੂੰ ਚਿਤਰਦੀ ਹੈਃ—

ਤੋਮਾਰ ਦੇਹੇਰ ਸਾਥੇ ਹੋਲੋ ਭਸਮੀਭੂਤ ਆਮਾਰ ਅਗਣ੍ਯ ਆਸ਼ਾ । ਭੇਵੇਛਿਨੁ ਮਨੇ ਆਮਾਰ ਸ਼ਮਸਾਨੇ ਆਸਿ ਤੁਮਿ ਸਯਤਨੇ ਬਿਛਾਇਬੇ ਪੁਸ਼ਪਰਾਸ਼ਿ; ਓਰੇ ਪ੍ਰਿਯ ਸੁਤ, ਭੇਵੇ ਛਿਨ ਅਸ਼੍ਰ ਤਪ, ਭਕ੍ਤਿ ਰਸ—ਪੂਤ, ਅਮਰ ਕਰਿਬੇ ਮੋਰੇ; ਤੋਮਾਰ ਜੀਵਨੇ ਫੁਟਿਬੇ ਸੌਰਭੇ ਨਵ, ਮਾਨਵ-ਸ਼੍ਰਵਣੇ

ਬਾਜਿਯ ਨੂਤਨ ਸੁਰੇ, ਨਵ ਅਰਥ ਯੁਤ।

"ਹੇ ਪੁੱਤ੍ਰ ਤੇਰੇ ਨਾਲ ਹੀ ਮੇਰੀਆਂ ਅਣਗਿਣਤ ਆਸਾ ਉਮੈਦਾਂ ਸੁਆਹ ਵਿਚ ਰਲ ਗਈਆਂ। ਦਿਲ ਵਿਚ ਸੀ ਕਿ ਤੂੰ ਆਕੇ ਮੇਰੀ ਚਿਤਾ ਉੱਤੇ ਫੁਲ ਰੱਖੇਂਗਾ, ਸੰਸਾਰ ਵਿਚ ਮੇਰਾ ਨਾਂ ਅਮਰ ਕਰੇਂਗਾ, ਨਵੇਂ ਅਰਥ ਤੇ ਨਵੀਂ ਸੁਰ ਨਾਲ ਮਨੁਖਾਂ ਦਿਆਂ ਕੰਨਾ ਵਿਚ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਧਾਰਾ ਚਲਾਵੇਂਗਾ।"

ਆਮਾਰ ਹ੍ਰਿਦਯ ਖਸ਼ੇਤ੍ਰ ਸੁਪਤ ਬੀਜਚਯ,
ਤੋਮਾਰ ਹ੍ਰਿਦਯੇ ਉਪਤ, ਹਬੇ ਅੰਕੁਰਿਤ।
ਆਮਾਤੇ ਰਯੇਛੇ ਜਾਗ ਨਾ ਬਾਕਾਰਿ ਸਮ,
ਤੋਮਾਤੇ, ਉੱਜਵਲ ਹਯੇ ਬਾੜਾਯੇ ਵਿਸਮਯ।
ਸਕਲੇਰ, ਬਿਜਲਿ ਸੇ ਹਇਛੇ ਸਫੁਰਿਤ,
ਯਥਾ ਅਨੁਕੂਲ ਪਾਤ੍ਰ। ਹਾਯ ਸ੍ਵਪਨ ਮਮ!

"ਮੇਰੇ ਹਿਰਦ ਅੰਦਰ ਜੇਹੜਾ ਬੀਜ ਰੂਪ ਵਿਚ ਛਪਿਆ ਹੋਇਆ ਸੀ, ਉਹ ਤੇਰੇ ਵਿਚ ਅੰਕੁਰਿਤ ਹੋਵੇਗਾ (ਫੁੱਟੇਗਾ, ਉਗਮੇਗਾ, ਜੰਮੇਗਾ) : ਮੇਰੇ ਵਿਚ ਜਿਸ ਚੀਜ਼ ਦੀ ਸਿਰਫ਼ ਹਸਤੀ ਮਾਤਰ ਹੈ, ਉਹ ਤੇਰੇ ਕਰਕੇ ਉਜਲ ਹੋਕੇ ਸੰਸਾਰ ਨੂੰ ਹੈਰਾਨ ਕਰ ਦੇਵੇਗੀ; ਅਨੁਕੂਲ ਤੱਤਾਂ ਨਾਲ ਜਿਵੇਂ ਬਿਜਲੀ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਓਸੇ ਤਰਹਾਂ (ਤਰਹ) ਤੇਰੇ ਅੰਦਰ ਉਹ ਕਵਿਤਾ ਸ਼ਕਤੀ ਫੁੱਟ ਪਵੇਗੀ, ਪਰ ਹਾਇ ਅਫ਼ਸੋਸ, ਹੁਣ ਮੇਰਾ ਓਹ ਸੁਫਨਾ ਕਿਵੇਂ ਸਚ ਹੋਵੇਗਾ ॥"

ਪਿਆਰੀ ਮੋਹਨ ਸੇਨ ਗੁਪਤਾ, ਬੁਧਦੇਵ ਬਾਸੂ ਤੇ ਅਚਿੰਤ ਕੁਮਾਰ ਸੇਨ ਗੁਪਤਾ ਆਦਿ ਮਾਮੂਲੀ ਮਜ਼ਮੂਨਾਂ ਉਤੇ ਬੜੀ ਸੋਹਣੀ ਕਵਿਤਾ ਲਿਖਦੇ ਹਨ। ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਸਾਹਿੱਤ-ਰਚਨਾ ਲਈ ਬੁਧਦੇਵ ਬਾਸੂ ਅਜਕਲ ਬਹੁਤ ਮਸ਼ਹੂਰ ਹਨ। ਓਹਨਾਂ ਨੇ ਸਿਰਫ਼ ਨਜ਼ਮਾਂ ਹੀ ਨਹੀਂ ਨਾਵਲ ਤੇ ਕਹਾਣੀਆਂ ਵੀ ਲਿਖੀਆਂ ਹਨ।

ਪਿਆਰੀ ਮੋਹਨ ਸੇਨ ਗੁਪਤਾ ਤਾਂ ਖ਼ੂਬ ਹੀ ਲਿਖਦੇ ਹਨ। ਨੰਵਿਆਂ

ਨੌਂਵਿਆਂ ਵਿਸ਼ਿਆਂ ਉਤੇ ਉਹਨਾਂ ਦੀਆਂ ਨਜ਼ਮਾਂ ਆਪਣੀ ਸਰਲ ਸੁੰਦਰ ਭਾਖਾ ਤੇ ਸਪਸ਼ਟ ਭਾਵਾਂ ਦੀ ਵਜਹ ਨਾਲ ਬਹੁਤ ਪਸੰਦ ਕੀਤੀਆਂ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ। 'ਗਾਂਵ ਔਰ ਨਗਰ' ਨਾਮੀ ਨਜ਼ਮ ਵਿਚ ਕਵੀ ਨੇ ਦੋਹਾਂ ਦੀ ਤੁਲਨਾ ਕਰਦਿਆਂ ਗਰਾਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਸੱਚਾ ਹੁਸਨ ਦਰਸਾਇਆ ਹੈ:—

ਹੋਥਾਯ ਨਗਰੇ ਮਹਾਉਦਾਮ, ਨ੍ਰਿਤਯ ਚਪਲ ਪ੍ਰਾਣ;
ਹੇਥਾਯ ਨਿਥਰ ਤਰੁਰ ਤਲਾਯ, ਧੀਰੇ ਪ੍ਰਾਣ ਵਹਮਾਨ।

× × ×

ਹੋਥਾਯ ਲੋਭੇ ਓ ਸ੍ਵਾਰਥੇਰ ਸਾਥੇ, ਉਠੇ ਨਿਤਿ ਹਲਾਹਲ;
ਹੇਥਾਯ ਆਪਨ ਖਸ਼ੁਦ੍ਰ ਸੀਮਾਯ, ਸਬੇ ਰਹੇ ਅਚਪਲ।

"ਓਧਰ ਸ਼ਹਿਰ ਵਿਚ ਜੀਵ ਚੰਚਲ ਤੇ ਮਹਾਨ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਏਧਰ ਬੂਟਿਆਂ ਹੇਠਾਂ ਇਕੱਲ ਵਿਚ ਉਹ ਹੌਲੀ ਹੌਲੀ ਵਹੀ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਓਧਰ ਲੋਭ ਤੇ ਸੁਆਰਥ ਨਾਲ ਨਿੱਤ ਰਗੜਾ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ, ਏਧਰ ਅਸੀਂ ਨਿਕੀ ਜਹੀ ਹਦ ਬੰਦੀ ਅੰਦਰ ਸ਼ਾਂਤੀ ਪੂਰਬਕ ਰਹਿੰਦੇ ਹਾਂ।"

ਪਾਖੀਰ ਡਾਕੇਤੇ ਨੀਰਵ ਵਨੇਰ, ਮੁਖੇ ਜੇਨ ਕਥਾ ਫੁਟੇ;
ਸੇ ਕਥਾ ਬੁਝਿ ਨਾ, ਤਬੁ ਤਾਰਿ ਸਾਥੇ ਪ੍ਰਾਣ ਜੇਨ ਡੇਕੇ ਉਠੇ!

× × +

ੇਈ ਪੱਲੀਰ ਕੋਮਲ ਸ਼ਜਾਮਲ, ਬੁਕੇਤੇ ਬਾਂਧਿਯਾ ਘਰ;
ਕਾਟੁਕ ਆਮਾਰ ਨੀਰਵ ਜੀਵਨ, ਅਚਟੁਲ ਮਨਥਰ।

"ਪੰਛੀ ਦੇ ਚਹਿਕਣ ਨਾਲ, ਮਾਨੋ ਜੰਗਲ ਦੇ ਮੂੰਹੋਂ ਗੱਲਾਂ ਨਿਕਲ ਰਹੀਆਂ ਹਨ। ਉਹ ਗੱਲਾਂ ਨ ਸਮਝਦਿਆਂ ਹੋਇਆਂ ਵੀ ਸਾਡੇ ਪ੍ਰਾਣ ਉਹਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਬੋਲ, ਟਹਿਕ ਪੈਂਦੇ ਹਨ।

ਏਸੇ ਗਰਾਂ ਦੇ ਕੋਮਲ ਸ਼ਜਾਮਲ ਹਿਰਦੇ ਦਾ ਘਰ ਬਣਾ ਕੇ ਆਪਣੇ ਨੀਰਵ ਤੇ ਸਾਦੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਬਿਤਾਂਵਾਂਗਾ।"

ਬੰਗਲਾ-ਕਾਵਯ-ਸਾਹਿਤ ਦੀ ਏਸ ਪ੍ਰਗਤੀਸ਼ੀਲ ਧਾਰਾ ਵਿਚ ਅਜੇ ਓਨਾਂ ਪ੍ਰਾਣਾਂ ਦਾ ਸੰਚਾਰ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਿਆ ਹੈ ਜਿੰਨਾ ਗੁਜਰਾਤੀ ਤੇ ਹਿੰਦੀ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ। ਸਚ ਤਾਂ ਏਹ ਹੈ ਕਿ ਅਜੇ ਕਿਸੇ ਵੀ ਪ੍ਰਾਂਤੀ ਭਾਖਾ ਦੀ ਵਰਤਮਾਨ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦਾ ਪੂਰਾ ਵਿਗਾਸ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਿਆ। ਅਜੇ ਤਾਂ ਇਹਦਾ ਆਰੰਭਿਕ ਕਾਲ ਹੀ ਹੈ-ਸ਼ੁਰੂਆਤ ਹੀ ਹੈ। ਬੰਗਲਾ ਵਿਚ ਨਿੱਤ ਹੀ ਮਾਮੂਲੀ ਵਿਸ਼ਿਆਂ ਉੱਤੇ ਕਵਿਤਾਂਵਾਂ ਨਜ਼ਰ ਪੈਂਦੀਆਂ ਹਨ, ਜਿਵੇਂ ਥਰਡ ਕਲਾਸ, ਹਲ ਦਾ ਬੈਲ, ਕਿਸਾਨ ਦੀ ਝੌਂਪੜੀ, ਆਦਿ ਆਦਿ। ਪਰ ਇਹਨਾਂ ਵਿਚ ਜ਼ਿਆਦਾ ਤਰ ਕਵਿਤਾ ਨੀਵੀਂ ਜਹੀ ਹੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਵਿਚ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਕਰਨ ਦਾ ਗੁਣ ਨਹੀਂ ਲੱਭਦਾ। ਏਸ ਤਰਹਾਂ ਦੀਆਂ ਨਜ਼ਮਾਂ ਨੂੰ ਯਥਾਰਥਵਾਦੀ ਕਹਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਏਹਨਾਂ ਵਿਚ ਕਵੀ ਦੀ ਕਵਿਤਾ ਦੇ ਉਦੇਸ਼ ਦੀ ਸਾਰਥ-ਕਤਾ, ਸਫਲਤਾ ਤਾਂ ਹੋਣੀ ਹੀ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ। ਪ੍ਰਭਾਵ-ਹੀਨ ਕਵਿਤਾ ਦੀ ਸਾਰਥਕਤਾ ਕੀ ?

ਭਾਵੇ ਬਿਲਕੁਲ ਤਾਜ਼ਾ ਕਾਲ (ਅਤਿਆਧੁਨਿਕ) ਕਾਲ ਦੀ ਬੰਗਲਾ-ਕਵਿਤਾ ਵਿਚ ਅਜੇ ਜਾਗਰਤ ਜੀਵਨ ਦੀ ਥੁੜ ਹੈ, ਫੇਰ ਵੀ ਓਸ ਵਿਚ ਜੋ ਪ੍ਰਗਤੀਵਾਦ ਦਾ ਬੀਂ ਪੈ ਗਇਆ ਹੈ, ਉਹ ਅਵੱਸ ਪੂਰੀ ਤਰਹਾਂ ਫੁੱਟੇਗਾ। ਏਸ ਵਿਚ ਕੋਈ ਸ਼ਕ ਨਹੀਂ ਤੇ ਥੋੜੇ ਚਿਰ ਵਿਚ ਹੀ ਜੇ ਕਰ ਕੋਈ ਪ੍ਰਤਿਨਿਧ ਕਵੀ ਏਸ ਨਵੇਂ ਖੇਤਰ ਵਿਚ ਦਿਸ ਪਵੇ ਤਾਂ ਕੋਈ ਅਸਚਰਜ ਨਾ ਹੋਵੇਗਾ, ਕਿਉਂਕਿ ਬੰਗ-ਸਾਹਿਤ ਵਿਚ ਸਦਾ ਤੋਂ ਆਪਣੇ ਆਪਣੇ ਜੁਗ ਦੇ ਪ੍ਰਤਿਨਿਧ ਸਾਹਿੱਤਕਾਰ ਉਗਮਦੇ ਆਏ ਹਨ *

ਮੋਹਣ ਸਿੰਘ ਉਬੂਰਾ

* ਮਾਧੁਰੀ, ਲਖਨਊ, ਮਈ ੧੯੪੧, ਸ਼ਿਰੀ ਗੌਰੀ ਸ਼ੰਕਰ ਓਝਾ, ਆਧੁਨਿਕ ਬੰਗਲਾ-ਕਵਿਤਾ ਕੀ ਪ੍ਰਗਤਿ ॥

ਮੁਖਬੰਦ

(ਵਲੋਂ:– ਸਰਦਾਰ ਮਾਨ ਸਿੰਘ ਜੀ. ਬੀ. ਏ.,
ਐਲ. ਐਲ., ਬੀ., ਜੱਜ, ਗੁਰਦੁਆਰਾ ਟ੍ਰਿਬਯੂਨਲ, ਲਾਹੌਰ।)

ਮੈਨੂੰ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ ਜੀ ਕ੍ਰਿਤ ਦੋ ਨਾਟਕ, ਵੇਖਕੇ ਵੱਡੀ ਪ੍ਰਸੰਨਤਾ ਹੋਈ ਹੈ, ਇਹ ਪੁਸਤਕ ਮਿਰਜ਼ਾ ਫਤਹ ਅਲੀ ਦਰਬੰਦੀ ਜੀ ਲਿਖਿਤ ਦੋ ਏਕਾਂਕੀ ਤਾਤਰੀ ਨਾਟਕਾਂ ਦਾ ਪੰਜਾਬੀ ਵਿੱਚ ਉਲਥਾ ਹੈ। ਮਿਰਜ਼ਾ ਜੀ ਤਾਤਾਰੀ ਬੋਕੀ ਵਿੱਚ ਨਵੀਨ ਢੰਗ ਦੀ ਨਾਟਕ ਰਚਣਾ ਦੇ ਜਨਮਦਾਤਾ ਆਖੇ ਜਾ ਸਕਦੇ ਹਨ । ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਛੇ ਨਾਟਕ ਤਾਂ ਤਾਰੀ ਬੋਲੀ ਵਿਚ ਲਭਦੇਹਨ। ਗੁਣੀਆਂਦੀਆਂ ਅੱਖਾਂ ਵਿਚਇਨਾਂਨਾਟਕਾਂ ਦੀ ਕਦਰ ਦਾ ਅਨੁਮਾਨ ਇਸ ਗਲ ਤੋਂ ਲਾਇਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਦੋਂ ਇਹ ਨਾਟਕ ਮਿਰਜ਼ਾ ਜਾਫ਼ਰ ਵਰਗੇ ਵਿਦ੍ਵਾਨ ਦੀ ਨਜ਼ਰ ਪਏ ਤਾਂ ਇਸ ਨੇ ਫੌਰਨ ਹੀ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਫ਼ਾਰਸੀ ਵਿੱਚ ਉਲਥਾ ਅਰੰਭ ਕਰ ਦਿੱਤਾ ਤੇ ਉਹ ਕਈ ਔਕੜਾਂ ਦੇ ਹੁੰਦਿਆਂ ਵੀ ਮਿਰਜ਼ਾ ਫ਼ਤਹ ਅਲੀ ਰਚਿਤ ਸਾਰੇ ਪੁਸਤਕਾਂ ਦਾ ਠੇਠ ਫ਼ਾਰਸੀ ਵਿੱਚ ਉਲਥਾ ਮੁਕਾਕੇ ਹਟਿਆ। ਇਨ੍ਹਾਂ ਦ ਨਾਟਕਾਂ ਦਾ ਫਾਰਸੀ ਉਲਥਾ ਕੋਈ ਵੀਹ ਵਰ੍ਹੇ ਤੋਂ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੀ ਕਿਸੇ ਨਾ ਕਿਸੇ ਯੂਨੀਵਰਸਟੀ ਇਮਤਿਹਾਨਾ ਦਾ ਕੋਰਸ ਚਲਿਆ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਦੂਜੀਆਂ ਬੋਲੀਆਂ ਦੇ ਉੱਚ ਕੋਟੀ ਦੇ ਲਿਖਾਰੀਆਂ ਦੇ ਗ੍ਰੰਥਾਂ ਦੇ ਉਲਥੇ ਪੰਜਾਬੀ ਬੋਲੀ ਲਈ ਲਾਭਦਾਇਕ ਹਨ । ਇਨਾਂ ਦੁਆਰਾ ਹੀ ਪੰਜਾਬੀ ਪਾਠਕ ਦੂਜੇ ਦੇਸਾਂ ਦੇ ਰਸਮ ਰਵਾਜ ਰਹਿਣ ਬਹਿਣ ਦੇ ਢੰਗ ਤੇ ਗੁਣਾਂ ਨੂੰ ਜਾਣ ਸਕਦ ਹਨ। ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੇ ਪੁਸਤਕ ਨਾ ਕੇਵਲ ਸਾਧਾਰਣ ਪਾਠਕਾਂ ਦੀ ਦੂਜੇ ਦੇਸਾਂ ਬਾਬਤ ਸੁਆਦਲੀ ਤੇ ਸਿਖਿਆ-ਦਾਇਕ ਵਾਕਫ਼ੀ ਵਧਾਉਂਦੇ ਹਨ ਸਗੋਂ ਪੰਜਾਬੀ ਲੇਖਕਾਂ ਤੇ ਕਵੀਆਂ ਦੀ ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੀ ਕੋਣ ਨੂੰ ਬਹੁਤ ਖੁਲ੍ਹਾ ਕਰਦੇ ਤੇ ਸੁਤੰਤ੍ਰਤਾ ਵੱਲ ਲੈ

ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਇਸਾਂ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੇ ਜਤਨ ਪੰਜਾਬੀ ਬੋਲੀ ਵਿੱਚ ਮਾਨੋਂ ਨਵੇਂ ਲਹੂ ਦਾ ਪ੍ਰਵੇਸ਼ ਕਰਾਉਂਦੇ ਹਨ।

ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੋਹਾਂ ਨਾਟਕਾਂ ਦੀ ਵਾਰਤਾ ਤੇ ਅਸਥਾਨ ਤਾਤਾਰ ਦੇਸ਼ ਵਿਚ ਹਨ। ਪਹਿਲੇ ਨਾਟਕ—ਲੰਕਰਾਨ ਦਾ ਵਜ਼ੀਰ—ਦਾ ਅਸਥਾਨ ਸ਼ਹਿਰ ਲੰਕਰਾਨ ਹੈ ਜੋ ਸੂਬਾ ਕਾਕੇਸ਼ੀਆ ਵਿੱਚ ਖਿਜ਼ਰ ਸਾਗਰ ਦੇ ਕੰਢੇ ਤੇ ਇਕ ਪ੍ਰਸਿੱਧ ਨਗਰ ਹੈ ਤੇ ਦੂਜੇ ਨਾਟਕ—ਮਿਸਟਰ ਜਾਵਰਦਨ—ਬਨਸਪਤ ਵਿਗਯਾਨੀ-ਦਾ ਕਾਰਯ ਅਸਥਾਨ ਵੀ ਕਾਕੇਸ਼ੀਆ ਦਾ ਇੱਕ ਜ਼ਿਲਾ ਕਰ੍ਹਾਬਾਗ ਹੈ।

ਤਾਤਾਰੀ ਨਾਟਕ ਪੰਜਾਬੀਆਂ ਲਈ ਵਿਸ਼ੇਸ਼ ਦਿਲਚਸਪੀ ਰਖਦੇ ਹਨ ਕਿਉਂਕਿ ਦੋਹਾਂ ਦੇਸ਼ਾ ਦੇ ਰਹਿਣ ਬਹਿਣ ਦੇ ਤ੍ਰੀਕੇ ਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਉਪਰ ਨਵੀਆਂ ਲਹਿਰਾਂ ਦੇ ਅਸਰ ਬਹੁਤ ਕੁਝ ਮਿਲਦੇ ਜੁਲਦੇ ਹਨ। ਘਰਾਂ ਵਿੱਚ ਪੜਦਿਆਂ ਅੰਦਰ ਸੱਸਾ ਨੂੰਹਾਂ, ਸੌਕਣਾਂ ਤੇ ਨੌਕਰਾਣੀਆਂ ਦੇ ਪਰਸਪਰ ਸੰਬੰਧ, ਜਾਦੂ ਟੂਣੇ ਤੀਵੀਆਂ ਦੀ ਬੋਲ ਚਾਲ ਤੇ ਨੌਜਵਾਨਾ ਉੱਤੇ ਨਵੀਂ ਰੌਸ਼ਨੀ ਦੇ ਪ੍ਰਭਾਵ ਤੇ ਚਾ ਆਦਿ ਜੋ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੋਹਾਂ ਨਾਟਕਾਂ ਵਿੱਚ ਵਰਨਣ ਕੀਤੇ ਗਏ ਹਨ, ਸਾਡੇ ਦੇਸ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨਾਲ ਕਿੰਨੇ ਮਿਲਦੇ ਜੁਲਦੇ ਜਾਪਦੇ ਹਨ। ਸੁਯੋਗ ਮਿਰ ਾ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਇਹ ਨਾਟਕ ਓਦੋਂ ਲਿਖੇ ਸਨ ਜਦੋਂ ਪੱਛਮੀ ਸੱਭਯਤਾ ਤਾਤਾਰ ਪਰ ਅਸਰ ਪਾਉਣ ਲਗ ਪਈ ਸੀ ਪਰ ਪੁਰਾਣੀ ਸੱਭਯਤਾ ਉਸੇ ਤਰਾਂ ਕਾਇਮ ਸੀ ਅਤੇ ਪੱਛਮੀ ਨਾਟਕ ਰੰਗ ਭੂਮੀ ਵਿੱਚ ਦਿਖਾਏ ਜਾਣੇ ਸ਼ੁਰੂ ਹੋਏ ਸਨ। ਮਿਰਜ਼ਾ ਸਾਹਿਬ ਇਨ੍ਹਾਂ ਨਾਟਕਾਂ ਵਿੱਚ ਦੋਹਾਂ ਦੇ ਸੋਹਣੇ, ਫਬਦੇ ਤੇ ਮਨੋਰੰਜਕ ਦ੍ਰਿਸ਼ਯ ਦੱਸਣ ਵਿੱਚ ਚੰਗੀ ਤਰਾਂ ਕਾਮਯਾਬ ਹੋਏ ਹਨ। ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਐਉਂ ਪ੍ਰਤੀਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਕਿ ਮਾਨੋ ਉਹ ਤਾਤਾਰੀ ਘਰਾਂ ਦੇ ਦ੍ਰਿਸ਼ਯ ਅੱਖੀਂ ਦੇਖ ਰਹੇ ਹਨ। ਇਸ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਰਾਜ ਦਰਬਾਰ ਤੇ ਟਬਰਾਂ ਵਿੱਚ ਦੇ ਜੋੜ ਤੋੜ ਵੱਡੀ ਢੰਗੀ ਤਰਾਂ ਦਿਖਾਏ ਗਏ ਹਨ। ਦੂਜੇ ਨਾਟਕ-ਸਿਮਟਰ ਜਾਵਰਦਨ

ਵਿੱਚ ਸੁਯੋਗ ਲੇਖਕ ਨ ਅਖੀਰਲੀ ਝਾਕੀ ਵਿੱਚ ਜਾਦੂਗਰਾਂ ਦੇ ਕੌਤਕਾਂ ਨੂੰ ਕਿਸ ਖ਼ੂਬੀ ਨਾਲ ਨਿਭਾਇਆ ਹੈ ਕਿ ਜਿਸ ਵੇਲੇ ਉਹ ਜਾਦੂ ਕਰ ਰਿਹਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਉਸੇ ਵੇਲੇ ਮਿਸਟਰ ਜਾਵਰਦਨ ਨੂੰ ਫ਼ਰਾਂਸ ਤੋਂ ਉਸਦੇ ਦੇਸ਼ ਵਿੱਚ ਮਹਾਨ ਅੰਦੋਲਨ 'ਫ੍ਰੈਂਚ ਰੇਵੋਲਯੂਸ਼ਨ" ਦੇ ਹਿਰਦੇ ਵਿਹਦਕ ਸਮਾਚਾਰਾਂ ਦੀ ਖ਼ਬਰ ਪਹੁੰਚਦੀ ਹੈ ਜਿਸ ਨਾਲ ਕਿ ਜ਼ਨਾਨੀਆਂ ਦਾ ਵਿਸ਼ਵਾਸ ਮਾਨੋ ਜਾਦੂਗਰ ਤੇ ਹੋਰ ਵੱਧ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਲੇਖਕ ਦਾ ਭਾਵ ਇਹ ਦੱਸਣ ਤੋਂ ਜਾਪਦਾ ਹੈ ਕਿ ਕਈ ਵਾਰ ਸੁਭਾਵਕ ਹੀ ਅਜੇਹੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਹੋ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ ਜੋ ਜਾਦੂ ਮੰਤ੍ਰਾਂ ਨੂੰ ਅਸਰਾਂ ਵਾਲੇ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੀਆਂ ਹਨ ਤੇ ਲੋਕੀ ਉਨ੍ਹਾਂ ਤੇ ਵਿਸ਼੍ਵਾਸ ਲੈ ਆਉਂਦੇ ਹਨ ਪਰ ਹੁੰਦੀਆਂ ਉਹ ਅਸਲ ਵਿੱਚ ਸਹਿਜ ਸੁਭਾ ਇਤਫ਼ਾਕੀਆ ਹਨ।

ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਉਲਥੇ ਦੀ ਬੋਲੀ ਸ਼ੁਧ ਸਲੀਸ ਤੇ ਮਨੋਹਰ ਪੰਜਾਬੀ ਹੈ ਜਿਸ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹਦਿਆਂ ਸੁਆਦ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਮੈਂ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਸਾਹਿਬ ਨੂੰ ਇਸ ਕਾਮਯਾਬੀ ਨਾਲ ਇਸ ਉਲਥੇ ਨੂੰ ਨਿਭਾਉਣ ਲਈ ਦਿਲੋਂ ਵਧਾਈ ਦਿੰਦਾ ਹਾਂ ਤੇ ਆਸ਼ਾ ਕਰਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਪੰਜਾਬੀ ਪਾਠਕ ਇਸ ਰਚਨਾਂ ਦੀ ਕਦਰ ਕਰਨਗੇ।

ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਮਿਰਜ਼ਾ ਫਤਹ ਅਲੀ ਸਾਹਿਬ ਦੇ ਬਾਕੀ ੪ ਨਾਟਕਾਂ ਦਾ ਵੀ ਉਲਥਾ ਕੀਤਾ ਹੋਇਆ ਹੈ ਤੇ ਮੈਨੂੰ ਬਹੁਤ ਖੁਸ਼ੀ ਹੋਵੇਗੀ ਜੇਕਰ ਇਸ ਪੁਸਤਕ ਦੀ ਅਜਹੀ ਕਦਰ ਹੋਵੇ ਜੋ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਸਾਹਿਬ ਬਾਕੀ ਦੇ ਚਾਰ ਨਾਟਕ ਵੀ ਛਪਵਾ ਕੇ ਪੰਜਾਬੀ ਬੋਲੀ ਨੂੰ ਭੂਸ਼ਿਤ ਕਰ ਸੱਕਣ।

੧੪ ਜੇਲ ਰੋਡ, ਲਾਹੌਰ, ਮਾਨ ਸਿੰਘ,

੧੯–੫–੪੧

ਸਿਖ ਰਾਜ ਦੀਆਂ ਉਸਾਰੀਆ

ਆਖਦੇ ਹਨ ਕਿ ਮੁਗਲ ਬਾਦਸ਼ਾਹਾਂ ਨੂੰ ਇਮਾਰਤਾਂ ਬਨਾਉਣ ਦਾ ਬਹੁਤ ਸ਼ੌਕ ਸੀ ਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਬੜੀਆਂ ਬੜੀਆਂ ਆਲੀ ਸ਼ਾਨ ਉਸਾਰੀਆਂ ਉਸਾਰਕੇ ਆਪਣਾ ਇਹ ਸ਼ੌਕ ਪੂਰਾ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਸਦਾ ਲਈ ਆਪਣੀਆਂ ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਛਡ ਗਏ ॥

ਸ਼ੇਰ ਪੰਜਾਬ ਮਹਾਰਾਜਾ ਰੰਜੀਤ ਸਿੰਘ ਸਾਹਿਬ ਨੂੰ ਭੀ ਇਮਾਰਤਾਂ ਬਨਾਉਣ ਦਾ ਘਟ ਸ਼ੌਕ ਨਹੀਂ ਸੀ, ਪ੍ਰੰਤੂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਇਹ ਸ਼ੌਕ ਆਪਣੀਆਂ ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਦਾ ਨਹੀਂ ਸੀ ਬਲਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਪ੍ਰੇਮ ਸਿਖ ਗੁਰੂਆਂ, ਸ਼ਹੀਦਾਂ ਅਤੇ ਭਗਤਾਂ ਦੀਆਂ ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਵਲ ਸੀ, ਆਪ ਜਿੱਥੇ ਭੀ ਗਏ, ਜਿਸ ਥਾਂ ਭੀ ਪਤਾ ਲਗਾ ਕਿ ਇੱਥੇ ਕਿਸੇ ਗੁਰੂ ਨੇ ਚਰਨ ਪਾਏਹਨਜਾਕਿਸੇ ਸਿਦਕੀ ਸਿਖ ਨੇ ਕੋਈ ਕਾਰਨਾਮਾ ਕੀਤਾ ਹੈ ਤਾਂ ਆਪ ਨੇ ਝੱਟ ਹੁਕਮ ਦਿੱਤਾ ਕਿ ਇੱਥੇ ਗੁਰਦੁਆਰਾ ਬਣਾਦਿਆ ਜਾਵੇ, ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਵਿਚ ਆਪਦਾ ਪ੍ਰੇਮ ਅਤੇ ਸਰਧਾ ਇਥੋਂ ਤਕ ਪੁਜੀ ਹੋਈ ਸੀ ਕਿ ਜਦ ਆਪ ਕਲਗੀਧਰ ਪਾਤਸ਼ਾਹ ਜੀ ਦੇ ਅੰਤਮ ਸਥਾਨ "ਸ੍ਰੀ ਹਜ਼ੂਰ ਸਾਹਬ" ਗਏ ਤਾਂ ਕੋਈ ਗੁਰਦੁਆਰਾ ਨਾ ਬਣਿਆ ਦੇਖਕੇ ਹੁਕਮ ਦਿੱਤਾ ਕਿ ਇੱਥੇ ਛੇਤੀਂ ਤੋਂ ਛੇਤੀਂ ਗੁਰਦੁਆਰਾ ਬਣਾਇਆ ਜਾਵੇ, ਇਸ ਹੁਕਮ ਨੂੰ ਸੁਣਕੇ ਕੁਛ ਆਦਮੀਆਂ ਨੇ ਬੇਨਤੀ ਕੀਤੀ ਕਿ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਸਤਿਗੁਰੂ ਸੱਚੇ ਪਾਤਸ਼ਾਹਜੀਦਾ ਹੁਕਮ ਹੈ ਕਿ ਸਾਡੀ ਸਮਾਧ ਕੋਈ ਨਾ ਬਣਾਵੇ ਅਰਥਾਤ ਇਸ ਅੰਤਮ ਸਥਾਨ ਪਰ ਕੋਈ ਇਮਾਰਤ ਨਾ ਬਣਾਈ ਜਾਵੇ, ਜੇ ਕੋਈ ਬਣਾਵੇਗਾ ਤਾਂ ਉਸਦਾ "ਨਾਮੋ ਨਿਸ਼ਾਨ ਮਿਟ ਜਾਵੇਗਾ" ॥

ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਇਹ ਗਲ ਸੁਣਕੇ ਬੋਲੇ ਕਿ ਮੈਂ ਸਮਝਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਮਹਾਰਾਜ ਕਲਗੀਧਰ ਜੀ ਦਾ ਇਹ ਵਾਕ ਅਟੱਲ ਹੈ, ਪਰ ਤੁਸੀ ਇਹ

ਸਮਝਦੇ ਹੋ ਕਿ ਮੈਂ ਇੱਥੇ ਆਪਣੇ ਨਿਸ਼ਾਨ ਕਾਇਮ ਕਰਨ ਆਇਆ ਹਾਂ? ਮੈਂ ਉਸ ਗੁਰੂ ਦੇ ਦਰ ਦਾ ਸੇਵਕ ਹਾਂ, ਰਣਜੀਤ ਸਿੰਘ ਨੂੰ ਇਸ ਗਲ ਦੀ ਪਰਵਾਹ ਨਹੀਂ ਕਿ ਉਸਦਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਰਹੇ ਜਾਂ ਨਾ ਰਹੇ ਉਹ ਤਾਂ ਆਪਣੇ ਸਤਿਗੁਰੂ ਦੇ ਨਿਸ਼ਾਨ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਰਖਣਾ ਚਾਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਰਣਜੀਤ ਸਿੰਘ ਦਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਮਿਟਕੇ ਸਤਿਗੁਰੂ ਦਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਕਾਇਮ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਇਹ ਸੌਦਾ ਮਹਿੰਗਾ ਨਹੀਂ ਸਗੋਂ ਸਸਤਾ ਹੈ। ਇਹ ਜਜ਼ਬਾਤ ਸਨ ਅਤੇ ਇਹ ਦਿਲੀ ਪ੍ਰੇਮ ਸੀ ਉਸ ਮਹਾਰਾਜੇ ਦਾ ਜਿਸਦੇ ਵੱਸ ਉਸਨੇ ਸਾਰੀ ਪੰਜਾਬ ਹੀ ਨਹੀਂ ਬਲਕੇ ਸਾਰੇ ਦੇਸ਼ ਦੇ ਗੁਰਦੁਆਰਿਆਂ ਦੀਆਂ ਇਮਾਰਤਾ ਬਨਵਾਈਆਂ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਜਾਗੀਰਾਂ ਲਾਈਆਂ।

ਲਾਹੌਰ ਦੀਆਂ ਉਸਾਰੀਆਂ

ਲਾਹੌਰ ਵਿਚ ਭੀ ਉਸਨੇ ਸ੍ਰੀ ਡੇਹਰਾ ਸਾਹਿਬ, 'ਬਾਵਲੀ ਸਾਹਿਬ, ਜਨਮ ਅਸਥਾਨ ਸਤ ਗੁਰੂ ਰਾਮ ਦਾਸ ਜੀ, ਛੇਵੀਂ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਮੁਜੰਗ, ਸ਼ਹੀਦ ਗੰਜ ਸਿੰਘਣੀਆਂ, ਸ਼ਹੀਦ ਗੰਜ ਭਾਈ ਤਾਰੂ ਸਿੰਘ, ਮਨੀ ਸਿੰਘ ਅਤੇ ਕਈ ਗੁਰ ਅਸਥਾਨ ਬਣਾਏ ਜੋ ਹੁਣ ਤਕ ਮੌਜੂਦ ਹਨ॥

ਹੋਰ ਉਸਾਰੀਆਂ

ਧਰਮ ਅਸਥਾਨਾਂ ਤੋਂ ਬਿਨਾ ਪੁਰਾਣੀਆਂ ਸ਼ਾਹੀ ਇਮਾਰਤਾਂ ਦੀ ਮੁਰੰਮਤ ਕਟਾਈ ਚੁਨਾਚਿ ਤਾਰੀਖ ਵਿਚ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਜਦ ਲਾਹੌਰ ਪਰ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਦਾ ਕਬਜ਼ਾ ਹੋਇਆ ਤਾਂ 'ਸ਼ਾਲਾ ਮਾਰ ਬਾਗ' ਦੀ ਬੜੀ ਬੁਰੀ ਹਾਲਤ ਸੀ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਬੜੀ ਭਾਰੀ ਰਕਮ ਖਰਚ ਕਰਕੇ ਇਸਨੂੰ ਮੁਰੰਮਤ ਕਰਾਇਆ ਤੇ ਇਸਦੀ ਸੁੰਦ੍ਰਤਾ ਪਹਿਲੇ ਵਾਂਗ ਕਰਕੇ ਫੇਰ ਰੌਣਕ ਬਣਾ ਦਿਤੀ, ਇਸੇ ਤ੍ਰਾਂ ਹੋਰ ਕਈ ਇਮਾਰਤਾਂ ਨੂੰ ਮੁਰੰਮਤ ਕਰਾਕੇ ਬੇਆਬਾਦ ਤੋਂ ਆਬਾਦ ਕਰਾਇਆ।

ਬਾਰਾਂ ਦਰੀ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਗ

ਕਿਲੇ ਦੇ ਵੱਡੇ ਬੂਹੇ ਅਗੇ (ਜੋ ਹੁਣ ਬੰਦ ਹੈ) ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਇਕ ਸੁੰਦ੍ਰ ਬਾਗ ਬਨਵਾਇਆ, ਇਸ ਬਾਗ ਵਿਚ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਬੈਠਿਆ ਕਰਦੇ ਸਨ ਤੇ ਦਰਬਾਰ ਭੀ ਲਗਾਇਆ ਕਰਦੇ ਸਨ ਇਸ ਲਈ ਖਿਆਲ ਹੋਇਆ ਕਿ ਇੱਥੇ ਇਕ ਬਹੁਤ ਸੁੰਦ੍ਰ ਬਾਰਾ ਦਰੀ ਬਣਾਈ ਜਾਵੇ ਉਹ ਬਾਰਾ ਦਰੀ ਪੱਥਰ ਦੇ ਕੰਮ ਦੀ ਇਕ ਬੇਨਜ਼ੀਰ ਚੀਜ਼ ਹੋਵੇ, ਇਹ ਵਿਚਾਰ ਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇ ਪੱਥਰ ਦੇ ਉਸਤਾਦ ਕਾਰੀਗਰਾਂ ਨੂੰ ਇਕਠਿਆਂ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਇਕ ਬਹੁਤ ਵਧੀਆ ਨਮੂਨੇ ਦੀ ਚੀਜ਼ ਬਨਾਉਣ ਦਾ ਹੁਕਮ ਦਿੱਤਾ, ਇਸ ਬਾਰਾਦਰੀ ਨੂੰ ਲੋਕ ਦੂਰ ਦੂਰ ਤੋਂ ਦੇਖਣ ਆਉਂਦੇ ਹਨ ਇਸ ਪਰ ਪੱਥਰ ਦੇ ਥੰਮ, ਜਾਲੀਆਂ ਤਸਵੀਰਾਂ ਫਰਸ਼, ਫੁਲ ਪਤ੍ਰ ਹਰ ਤ੍ਰਾਂ ਦਾ ਕੰਮ ਹੈ, ਕਈ ਕਾਰੀਗਰ ਇਥੇ ਕੰਮ ਦੇ ਨਮੂਨੇ ਦੇਖਣ ਆਉਂਦੇ ਹਨ ॥

ਇਸ ਬਾਰਾਦਰੀ ਦੀਆਂ ਤਿੰਨ ਮੰਨਜਲਾਂ ਹਨ, ਇਕ ਮੰਨਜ਼ਲ ਤਾਂ ਜ਼ਮੀਨ ਦੇ ਅੰਦਰ ਹੈ, ਪੰਦਰਾਂ ਪੌੜੀਆਂ ਹੇਠਾਂ ਉਤ੍ਰ ਕੇ ਜਾਈਦਾ ਹੈ।

ਦੂਸਰੀ ਮੰਨਜ਼ਲ ਜ਼ਮੀਨ ਦੇ ਉਤੇ ਹੈ, ਬਾਰਾਦਰੀ ਦੇ ਗਿਰਦ ਜ਼ਮੀਨ ਤੋਂ ਤਿੰਨ ਫੁਟ ਉਚਾ ਇਕ ਥੜਾ ਹੈ, ਇਸ ਥੜੇ ਦੇ ਅਗੇ ਇਕ ਫੁਟ ਉਚੇ ਅਤੇ ਅਗੇ ਵਧਾਕੇ ਸ਼ਾਹ ਨਸ਼ੀਨ ਬਣਾਏ ਗਏ ਹਨ, ਜਿੱਥੇ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਦਰਬਾਰ ਦੇ ਸਮੇਂ ਬੈਠਿਆ ਕਰਦੇ ਸਨ, ਇਸ ਥੜੇ ਦੇ ਅਗੇ ਦੋ ਫੁੱਟ ਉਚੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਹੈ, ਇਸਦੇ ਉਪਰ ਤੀਸਰੀ ਮੰਨਜ਼ਲ ਹੈ। (ਜੋ ਹੁਣ ਗਿਰ ਚੁੱਕੀ ਹੈ, ਚੂੰਕਿ ਇਸਦੀ ਦੂਸਰੀ ਅਤੇ ਤੀਸਰੀ ਮੰਨਜਲ ਦੇ ਚੌਹੀ ਪਾਸੀ ਤਿੰਨ ਤਿੰਨ ਦਰ ਅਤੇ ਸਾਰੇ ਬਾਰਾਂ ਦਰ ਹਨ ਇਸ ਲਈ ਇਸਦਾ ਨਾਮ ਬਾਰਾਦਰੀ ਰਖਿਆ ਗਿਆ। ਚੂੰਕਿ ਇਸ ਬਾਰਾਦਰੀ ਪਰ ਸ਼ੇਰ ਪੰਜਾਬ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਅਪਣੇ ਦਰਬਾਰ ਲਗਾਇਆ ਕਰਦੇ ਸਨ ਤੇ ਲੋਕ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ "ਹਜ਼ੂਰ" ਦੇ ਮਾਣ ਨਾਲ ਬੁਲਾਉਂਦੇ ਸਨ ਇਸ ਲਈ

ਇਸਦਾ ਨਾਮ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਅਤੇ ਬਾਗ ਦਾ ਨਾਮ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਗ ਪੈ ਗਿਆ ॥

ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਕਿਲੇ ਤੋਂ ਬਾਹਰ ਜੋ ਭੀ ਦਰਬਾਰ ਲਗਾਉਂਦੇ ਸਨ ਇਥੇ ਹੀ ਲਗਾਇਆ ਕਰਦੇ ਸਨ ।

ਬਾਰਾਂ ਦਰੀ ਵਿਚ ਆਖਰੀ ਦਰਬਾਰ

ਇਤਿਹਾਸ ਵਿਚ ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਕਿ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਬਹੁਤ ਬੀਮਾਰ ਹੋਗਏ ਅਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਬਚਨ ਦੀ ਕੋਈ ਉਮੀਦ ਨਾ ਰਹੀ, ਤਾਂ ਤੇ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਨੇ ਭੀ ਆਪਣਾ ਅੰਤ ਸਮਾ ਆਣ ਪੁਜਾ ਜਾਣਿਆਂ ਅਤੇ ਇਕ ਭਾਰੀ ਦਰਬਾਰ ਕਰਨ ਦਾ ਹੁਕਮ ਦਿਤਾ, ਜਿਸ ਵਿਚ ਸ਼ਾਮਲ ਹੋਣ ਲਈ ਸਭ ਸ ਰਦਾਰਾਂ ਤੇ ਜਾਗੀਰ ਦਾਰਾਂ ਨੂੰ ਸਦੇ ਪੱਤ੍ਰ ਘਲੇ ਗਏ ਅਤੇ ੯ ਜੇਠ ਸੰਮਤ ੧੮੯੬ ਮੁਤਾਬਕ ਸੰਨ ੧੮੩੯ ਨੂੰ ਇਸ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਪਰ ਇਕ ਭਾਰੀ ਅਤੇ ਆਖਰੀ ਦਰਬਾਰ ਲਗਾਇਆ ਗਿਆ, ਜਦ ਸਾਰੇ ਸਰਦਾਰ, ਜਾਗੀਰਦਾਰ ਤੇ ਅਹਿਲਕਾਰ ਥਾਂ ਪਰ ਥਾਂ ਬੈਠ ਗਏ ਤਾਂ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਇਕ ਸੁਨਹਿਰੀ ਪਾਲਕੀ ਵਿਚ ਢਾਸਨਾ ਲਗਾਏ ਹੋਏ ਆਏ, ਸਭ ਦਰਬਾਰੀ ਖੜੇ ਹੋਗਏ. ਉਧਰੋਂ ਕਿਲੇ ਵਿਚੋਂ ੧੦੧ ਤੋਪਾਂ ਦੀ ਛਲਕ ਨੇ ਸਲਾਮੀ ਉਤਾਰੀ, ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਇਤਨੇ ਕਮਜ਼ੋਰ ਸਨ ਕਿ ਕੁਰਸੀ ਪਰ ਬੈਠਣਾ ਨਾਮੁਮਕਨ ਸੀ ਇਸ ਲਈ ਪਾਲਕੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਦੇ ਚਬੂਤ੍ਰੇ ਪਰ ਰਖੀ ਗਈ ।
ਸਾਰੇ ਚੁੱਪ ਵਰਤੀ ਹੋਈ ਸੀ ਤੇ ਸਭ ਦੇ ਚੇਹਰੇ ਚਿੰਤਾ ਅਤੇ ਅਖੀਆਂ ਜਲ ਨਾਲ ਭਰਪੂਰ ਸਨ ।

ਛੇਕੜ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਖੜਕ ਸਿੰਘ ਦੀ ਬਾਂਹ ਧਿਆਨ੍

ਸਿੰਘ ਦੇ ਹਥ ਫੜਾਈ ਤੇ ਆਖਿਆ ਕਿ ਤੂੰ ਸਿਖ ਰਾਜ ਤੋਂ ਬਹੁਤ ਕੁਛ ਖੱਟਿਆ ਹੈ ਤੇ ਹੁਣ ਇਸਦੇ ਪ੍ਰਤਾਪ ਨੂੰ ਕਾਇਮ ਰਖੀਂ, ਇਸਤੋਂ ਪਿਛੋਂ ਮਹਾਰਾਜਾ ਖੜਕਸਿੰਘ ਜੀ ਦੇ ਅਗੇ ਨਜ਼ਰਾਨੇ ਪੇਸ਼ ਹੋਏ ਤੇ ਦਰਬਾਰੀਆਂ ਨੂੰ ਸਿਰੋ ਪਾਉ ਦਿਤੇ ਗਏ, । ਸੋ ਇਹ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਗ ਵਾਲੀ ਬਾਰਾਦਰੀ ਸਿਖ ਰਾਜ ਨਾਲ ਗੂੜਾ ਸਬੰਧ ਰਖਦੀ ਹੈ, ਜਿਥੇ ਸ਼ੇਰ ਪੰਜਾਬ ਅਪਣੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਇਸ ਪਰ ਅਨੇਕ ਦਰਬਾਰ ਕਰਦਾ ਰਿਹਾ ਅਤੇ ਸਭ ਤੋਂ ਅੰਤਲਾ ਦਰਬਾਰ ਭੀ ਇੱਥੇ ਹੀ ਕੀਤਾ ਅਤੇ ਇੱਥੇ ਹੀ ਖੜਕਸਿੰਘ ਦੀ ਬਾਂਹ ਧਿਆਨ ਸਿੰਘ ਦੇ ਹੱਥ ਫੜਾਈ ॥

ਰਾਣੀ ਜਿੰਦਾ ਦੀ ਨਿਸ਼ਾਨੀ

ਮਹਾਰਾਣੀ ਜਿੰਦਾਂ ਪਾਸ ਸੰਗ ਮਰ ਮਰ ਦੀ ਇਕ ਬੜੀ ਸੁੰਦ੍ਰ ਪਾਲਕੀ ਸੀ ਜੋ ਸਦਾ ਸੰਮਨ ਬੁਰਜ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦੀ ਸੀ ਤੇ ਜਿਸ ਪਰ ਉਹ ਅਪਣਾ ਨਿਤਨੇਮ ਕੀਤਾ ਕਰਦੀ ਸੀ, ਚੂੰਕਿ ਮਹਾਰਾਣੀ ਸਾਹਿਬਾ ਇਸਨੂੰ ਧਾਰਮਕ ਚੀਜ਼ ਸਮਝਦੇ ਸਨ ਇਸ ਲਈ ਜਦ ਮਹਾਰਾਣੀ ਸਾਹਿਬਾ ਨੂੰ ਜਿਲਾ ਵਤਨੀ ਦਾ ਹੁਕਮ ਹੋਇਆ ਤਾਂ ਉਸਨੇ ਇਸ ਧਾਰਮਕ ਚੀਜ਼ ਨੂੰ ਗੋਰਾਂ ਦੇ ਹੱਥ ਵਿਚ ਰਹਿਣ ਦੇਣਾ ਪਸੰਦ ਨਾ ਕੀਤਾ, ਅਤੇ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਦੀ ਸਮਾਧ ਪਰ ਭੇਜ ਦਿਤਾ, ਇਹ ਪਾਲਕੀ ਸਮਾਧ ਦੇ ਭੋਰੇ ਵਿਚ ਖੁੱਲੀ ਪਈ ਸੀ, ਚੂੰਕਿ ਇਹ ਇਕ ਇਤਹਾਸਕ ਚੀਜ਼ ਹੈ ਇਸ ਲਈ ਇਸਨੂੰ ਕਿਸੇ ਗੁਰ ਅਸਥਾਨ ਪਰ ਲਗਾਉਣ ਦਾ ਪ੍ਰਬੰਧ ਕੀਤਾ ਜਾ ਰਿਹਾ ਹੈ ॥

ਖੂਨੀ ਦਰਵਾਜ਼ਾ

ਇਤਹਾਸ ਦਸਦਾ ਹੈ ਕਿ ਜਦ ਮਹਾਰਾਜਾ ਖੜਕ ਸਿੰਘ ਦਾ ਸਸਕਾਰ ਕਰਕੇ ਉਸਦਾ ਸਪੁਤ੍ਰ ਕੰਵਰ ਨੌ ਨਿਹਾਲ ਸਿੰਘ ਸਪਾਧ ਦੇ ਪਾਸ ਵਾਲੇ ਵੱਢੇ ਦਰਵਾਜੇ ਵਿਚੋਂ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਗ ਵਲ ਗਏ ਤਾਂ ਦੁਸ਼ਮਨਾਂ

ਨੇ ਅਪਣੀ ਗੋਂਦ ਅਨੁਸਾਰ ਉਪਰੋ ਬੰਨਾ ਸੁੱਟ ਦਿਤਾ। ਜਿਸਨੇ ਕੰਵਰ ਜੀ ਦਾ ਅੰਤ ਕਰ ਦਿਤਾ, ਇਹ "ਖੂਨੀ ਦਰਵਾਜ਼ਾ" ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਦੀ ਸਮਾਧ ਨਾਲ ਹਜ਼ੂਰੀ ਬਾਗ ਵਾਲੇ ਪਾਸੇ ਹੈ, ਜਿਸਦੇ ਉਪਰ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਜੀ ਤੇ ਭਾਈ ਬਾਲੇ ਮਰਦਾਨੇ ਦੀ ਤਸਵੀਰ ਬਣੀ ਹੋਈ ਹੈ, ਇਸ ਦਰਵਾਜੇ ਦਾ ਭੀ ਸਿਖ ਰਾਜ ਅਥਵਾ ਇਤਹਾਸ ਨਾਲ ਗੂੜ੍ਹਾ ਸਬੰਧ ਹੈ॥

ਹਵੇਲੀ ਨੌਨਿਹਾਲ ਸਿੰਘ

ਇਹ ਹਵੇਲੀ ਹੁਣ ਤਕ ਭਾਟੀ ਦਰਵਾਜੇ ਦੇ ਅੰਦਰ ਮੌਜੂਦ ਹੈ ਇਸ ਵਿਚ ਹੁਣ ਵਿਕਟੋਰੀਆ ਗਰਲ ਸਕੂਲ ਹੈ, ਇਹ ਬੜੀ ਆਲੀਸ਼ਾਨ ਸ਼ਾਹੀ ਹਵੇਲੀ ਹੈ ਜਿਸਨੂੰ ਕੰਵਰ ਸਾਹਬ ਨੇ ਬਨਵਾਇਆ ਤੇ ਜਿਸ ਵਿਚ ਆਪ ਰਿਹਾਇਸ਼ ਭੀ ਰਖਦੇ ਰਹੇ॥

ਹਵੇਲੀ ਮਹਾਰਾਜਾ ਖੜਕ ਸਿੰਘ

ਇਹ ਹਵੇਲੀ ਹੁਣ ਮੌਜੂਦ ਨਹੀਂ ਇਸ ਥਾਂ ਪਰ ਹੁਣ "ਨਿਹਾਲ ਚੰਦ ਦਾ ਬਾਗ ਹੈ, ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ੀ ਅਮਲ ਦਾਰੀ ਹੋਣ ਤੋਂ ਪਿਛੋਂ ਇਹ ਗਿਰਾਈ ਗਈ॥

ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਬ ਨੇ ਅਪਣੀ ਜੁਬਾ ਅਵਸਥਾ ਸਮੇਂ ਇਸਨੂੰ ਬਨਵਾਇਆ ਸੀ, ਜਦ ਹਵੇਲੀ ਬਣਨ ਲਗੀ ਤਾਂ ਨਾਲ ਛੋਟੀ ਜੇਹੀ ਖਰਾਸੀਆਂ ਦੀ ਮਸੀਤ ਸੀ ਜਿਸ ਦੇ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਕੰਧ ਵਿਚ ਵਿੰਗ ਪੈਂਦਾ ਸੀ, ਜਦ ਮਹਾਰਾਜਾ ਜੀ ਨੂੰ ਇਸਦੇ ਗਿਰਾਉਣ ਲਈ ਕਿਹਾ ਤਾਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਕਿਹਾ ਕਿ ਇਹ ਰੱਬ ਦਾ ਘਰ ਹੈ ਤੇ ਇਬਾਦਤ ਦੀ ਥਾਂ ਹੈ ਇਸਨੂੰ ਨਹੀਂ ਗਿਰਾਂਉਣਾ॥

ਮਹਾਰਾਜਾ ਸਾਹਿਬ ਅਪਣੀ ਬਾਰੀ ਵਿਚੋਂ ਨਮਾਜ਼ ਪੜ੍ਹਦੇ ਦੇਖਕੇ ਪ੍ਰਸੰਨ ਹੁੰਦੇ ਸਨ ਤੇ ਇਨਾਂ ਨੂੰ ਮਠਆਈ ਵੰਡਿਆ ਕਰਦੇ ਸਨ॥

ਸਿਖ ਸ਼ਾਹਾਂ ਦੀਆਂ ਸਮਾਧਾ

ਇਸਤੋਂ ਬਿਨਾ ਮਹਾਰਾਜਾ ਰਣਜੀਤ ਸਿੰਘ ਜੀ ਦੀ ਸਮਾਧ' ਮਹਾਰਾਜਾ ਖੜਕ ਸਿੰਘ ਜੀ ਦੀ ਸਮਾਧ ਅਤੇ ਕੰਵਰ ਨੌਨਿਹਾਲ ਸਿੰਘ ਜੀ ਦੀ ਸਮਾਧ ਗੁਰਦੁਆਰਾ ਡੇਹਰਾ ਸਾਹਬ ਦੇ ਨਾਲ ਹੀ ਹੈ, ਇਸਦੇ ਵਿਚ ਹੀ ਅਪਣੇ ਪਤੀਆਂ ਦੀ ਚਿਖਾਂ ਵਿਚ ਸੜ ਮਰਨ ਵਾਲੀਆਂ ਰਾਣੀਆਂ ਦੀਆਂ ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਭੀ ਨਾਲ ਹੀ ਬਣੀਆਂ ਹੋਈਆਂ ਹਨ।

ਮਹਾਰਾਜਾ ਸ਼ੇਰ ਸਿੰਘ ਸਾਹਿਬ ਦੀ ਸਮਾਧ ਸਿਖ ਨੈਸ਼ਨਲ ਕਾਲਜ ਦੇ ਪਿਛਲੇ ਪਾਸੇ ਪਿੰਡ ਖੂਹੀ ਮੀਰਾਂ ਵਿਚ ਤੇ ਮਹਾਰਾਜਾ ਸ਼ੇਰ ਸਿੰਘ ਜੀ ਦੇ ਨਾਲ ਵਫਾ ਦਾਰੀ ਕਰਨ ਕਰਕੇ ਕਤਲ ਕੀਤੇ ਗਏ ਪਿਆਰਿਆਂ ਦੀ ਯਾਦਗਾਰਾਂ ਭੀ ਉਥੇ ਹੀ ਹਨ, ਉਕਤ ਸਮਾਧਾਂ ਦਾ ਜਿਕਰ ਸਿਖ ਰਾਜ ਨਾਲ ਸਬੰਧ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਕੀਤਾ ਹੈ॥

ਹਰ ਇਮਾਰਤਾਂ

ਇਸਤੋਂ ਬਿਨਾ ਸਿਖ ਰਾਜ ਸਮੇਂ ਦੇ ਐਹਲਕਾਰਾਂ ਦੀਆਂ ਬੜੀਆਂ ਬੜੀਆਂ ਉਸਾਰੀਆਂ ਲਾਹੌਰ ਸ਼ਹਿਰ ਵਿਚ ਹਨ, ਜਿਨਾਂ ਵਿਚੋਂ ਰਾਜਾ ਧਿਆਨ ਸਿੰਘ ਦੀ ਹਵੇਲੀ ਤੇ ਜਮਾਦਾਰ ਖੁਸ਼ਹਾਲ ਸਿੰਘ ਦੀ ਹਵੇਲੀ ਖਾਸ ਜਿਕਰ ਗੋਚਰੀਆਂ ਹਨ ਜੋ ਕਈ ਘੁਮਾ ਜ਼ਮੀਨ ਵਿਚ ਬਣੀਆਂ ਹੋਈਆਂ ਹਨ ਤੇ ਜਿਨਾ ਦੀ ਇਮਾਰਤ ਬੜੀ ਆਲੀ ਸ਼ਾਨ ਹੈ, ਇਸਤੋਂ ਬਿਨਾ ਹਵੇਲੀ ਰਾਜਾ ਦੀਨਾਨਾਥ ਅਤੇ ਹੋਰ ਕਈ ਉਸਾਰੀਆਂ ਐਸੀਆਂ ਹਨ ਜੋ ਸਿਖ ਰਾਜ ਸਮੇਂ ਉਸਾਰੀਆਂ ਦੇ ਸ਼ੌਕ ਨੂੰ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦੀਆਂ ਹਨ।

(ਗਿਆਨੀ ਖਜਾਨ ਸਿੰਘ)

ਕੁਝ ਜ਼ਰੂਰੀ ਗੱਲਾਂ

ਇਸ ਮੈਗਜ਼ੀਨ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਖੋਜ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਵਿਚਾਰ ਭਰੇ ਲੇਖ ਹੀ ਛਾਪਨ ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੨) ਇਹ ਪਤ੍ਰਿਕਾ ਸਾਲ ਵਿੱਚ ਚਾਰ ਵਾਰੀ ਅਥਵਾ ਕਾਲਜ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਦੇ ਸਾਲ ਅਨੁਸਾਰ, ਨਵੰਬਰ, ਫ਼ਰਵਰੀ, ਮਈ ਅਤੇ ਅਗਸਤ ਵਿਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਵੇਗੀ ॥

(੩) ਇਸ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ਚੰਦਾ ੩) ਹੋਵੇਗਾ। ਅਰ ਵਿਦਯਾਰਥੀਆਂ ਕੋਲੋਂ ਕੇਵਲ ੧॥।) ਹੀ ਲਿਆ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੪) ਚੰਦਾ ਪ੍ਰਿੰਸੀਪਲ ਸਾਹਿਬ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ, ਲਾਹੌਰ ਦੇ ਨਾਮ ਭੇਜਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ॥

ਐਡੀਟਰ

ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ ਮੈਗਜ਼ੀਨ, ਲਾਹੌਰ।

ਹਿੱਸਾ ੧੭ ਵਾਂ ਨੰਬਰ ੪	ਅਗਸਤ ੧੯੪੧	ਕੁਲ ਨੰਬਰ ੬੬

ਐਡੀਟਰ—ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ

ਲੇਖ ਸੂਚੀ।